223

हिंदी संत काव्य में प्रतीक विधान

मित्रवर डा० राजेन्द्र कुमार वर्मा को

सप्रेम —

देवेन्द्र शर्मा

१९.५.६५

हिन्दी सन्त काव्य में प्रतीक विधान

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच. डी.
उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

•

हिन्दी सन्त काव्य में प्रतीक विधान



•

डॉ० देवेन्द्र आर्य
एम.ए., पी-एच.डी.

•

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

मूल्य : पैंतीस रुपये
प्रथम संस्करण : १९७१
आवरण : विजय परमार
प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, दिल्ली-६
मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

स्नेहमयी माता

और

देवतुल्य पिता को

जिनकी सद्प्रेरणा ने मुझे

लक्ष्य के प्रति सतत जागरूकता

प्रदान की है।

भूमिका

अध्यात्म-चिन्तन एक सूक्ष्म, निगूढ़ एवं जटिल प्रक्रिया है। भारतीय मनीषियों ने इस दुर्बोध प्रक्रिया को अनेक पद्धतियों से सरल एवं सहज बनाने का प्रयास किया है। ब्रह्मविद्या के प्रसंग में वैदिक ऋचाओं और उपनिषदों में जो मन्त्र उपलब्ध होते हैं उनसे स्पष्ट है कि इस विद्या को ऋषि-मुनियों ने सूक्ष्म चिन्तन के स्तर पर स्वीकार करते हुए भी सहज-संवेद्य या प्रतीतिजन्य बनाने के लिए कुछ माध्यम ग्रहण किये हैं। वे माध्यम, बोधव्य विषय के अनुरूप भौतिक और अभौतिक, सूक्ष्म और स्थूल, शब्द परक और शब्दातीत सभी प्रकार के हैं। इन्हीं माध्यमों को प्रतीक शब्द से व्यवहृत किया जाता है। अध्यात्म-चिन्तन के लिए ईश्वरीय शक्ति के जिन अधिष्ठानों की देवता के रूप में कल्पना की गई उनमें भी इस प्रतीक योजना का रूप लक्षित किया जा सकता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, शेष, नटराज, गरुड़, लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदि अनेकानेक देवी-देवताओं के स्वरूप या विग्रह आदि का निर्धारण प्रतीक-पद्धति से ही किया गया है और इनके साथ जिन तत्वों को संयुक्त किया गया है वे भी किसी न किसी भाव, विचार या कर्म के प्रतीक ही हैं। इन प्रतीकों को यथावत् समझना और उनका यथोचित विनियोग करना भी एक जटिल कार्य है। जो इन्हें ठीक-ठीक नहीं समझता उसे ये मूर्खतापूर्ण और उन्मत्त के प्रलापवत् प्रतीत हो सकते हैं।

वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त प्रतीकों को ठीक रूप से न समझने के कारण पाश्चात्य विद्वानों ने या तो उनका उपहास किया या उन्हें वीभत्स वर्णन ठहराया है। देव-विग्रहों की विचित्रता को देखकर विसेंट स्मिथ और मास्केल जैसे संस्कृतज्ञ विद्वानों ने भी इनका उपहास किया है। भारतीय कला में पशुओं के मस्तक तथा अन्य अंग-प्रत्यंग या पशुभाव की योजना इन विद्वानों की दृष्टि में एक बड़ा दोष है, प्रतीकात्मकता के लिए उनकी दृष्टि में यहाँ स्थान ही नहीं है। वस्तुतः वेद भारतीयों के लिए परम पवित्र, आर्षवाणी है जिनमें ब्रह्मविद्या के साथ जीवन और जगत् के विविध रूपों का वर्णन है। इस वर्णन में सर्वत्र स्पष्टता न होने का कारण प्रतीक शैली का विचित्र विधान है जिसे अधिकांश पाश्चात्य विद्वान समझ ही नहीं सके।

शुल्क यजुर्वेद में एक प्रार्थना-मन्त्र का उल्लेख करते हुए संस्कृतज्ञ विद्वान् विंटर निट्त्स तथा लियोपोल्ड फोन श्रोडर ने उसे उन्मत्त का प्रलाप ही समझा है। मन्त्र इस प्रकार है—

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व।
विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोह अन्तरिक्षमनुविक्रमस्व॥

शुल्क यजुर्वेद, १२-५

'इस मन्त्र को बुद्धि रहित तथा बेतुकी बात को दुहराने वाला, मूर्खतापूर्ण प्रलाप ठहराया गया है। विंटर निट्त्स ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में इसी प्रसंग में आगे चलकर श्रोडर का मत उद्धृत करते हुए लिखा है—"ऐसे कुछ मन्त्र मिलते हैं जिन्हें पागलों ने ही लिखा था और मनस्तत्व का अध्ययन करने वालों ने उन्हें सुरक्षित रखा है।' सर जॉन ने ऊँकार के विषय में अपने एक यूरोपीय मित्र का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऊँकार या ओ३म् के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि यह 'गला खखारने' की क्रिया है। मन्त्रोचार से पहले 'ओ३म्' का उच्चारण कोई तात्विक अर्थबोध नहीं कराता।' विचारणीय है कि जिन विद्वानों ने ऊँ का तात्पर्य नहीं समझा उन्हें यदि यह 'गला खखारने' की क्रियामात्र लगे तो आश्चर्य भी क्या है। मैक्समूलर जैसे संस्कृतज्ञ पंडित ने भी वैदिक ऋचाओं के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है। ऋग्वेद संहिता की भूमिका में उन्होंने वेद मन्त्रों के सम्बन्ध में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, "ये मन्त्र प्रारम्भ में लोक गीत, छोटी-छोटी स्तुतियों और कृतज्ञता ज्ञापन थे। कभी-कभी ये सत्य, यथार्थ और उच्च विचार वाले भी हैं किन्तु प्रायः विचारहीन गन्दे और अस्पष्ट हैं।" मैक्समूलर ने इन्हें अस्पष्ट क्यों ठहराया ? इसका प्रमुख कारण प्रतीकात्मकता ही है। प्रतीकों को ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण ही ये मन्त्र अस्पष्ट और विचार-विहीन ठहरा दिये गये हैं।

योरोपीय विद्वानों की चर्चा मैंने इस संदर्भ में जानबूझकर इसलिए की है कि प्रतीक योजना का बोध न होने से उत्पन्न भ्रान्ति का कुछ परिचय पाठक को मिल सके।

वस्तुतः प्राचीनकाल से ही प्रतीक विधान एक विशिष्ट विद्या के रूप में उपलब्ध होता है। आदिम मनुष्य ने अपने मनस्तोष के लिए सुन्दर और रमणीय को अंकित करने या रूप देने के लिए जिन रेखाओं और रंगों का उपयोग किया उन्हीं से प्रतीक का जन्म समझना चाहिए। उच्चरित ध्वन्यात्मक अक्षर को रेखाओं द्वारा रूपायित करना भी प्रतीक का ही एक रूप है। मनुष्य के विचार ज्यों-ज्यों विकसित और परिष्कृत होते गये प्रतीक भी उसी क्रम से विकसित होते गये और उनकी इयत्ता निर्धारण करना कठिन हो गया। विष्णु पुराण के प्रथम खण्ड के बाईसवें अध्याय में भगवान् विष्णु की विभूति का वर्णन प्रतीकात्मक शैली से किया गया है। विष्णु की समस्त विभूति कौस्तुभ मणि, गदा, शंख, चक्र, वैजयन्तीमाला, बाण समूह शार्ङ्ग धनु, खड्ग आदि किसी न किसी भाव, विचार या पदार्थ के प्रतीक ठहराये गये हैं। भागवत् पुराण में भी श्रीकृष्ण की विभूति को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करने वाले अनेक सुन्दर सन्दर्भ मिलते हैं। 'मुरली' को तो परवर्ती कवियों ने भी प्रतीक शैली से ही स्वीकार किया है।

अध्यात्म-चिन्तन से आगे बढ़कर साहित्य, कला और संगीत में भी इस प्रतीक शैली कोविविध रूपों में विकसित होता हुआ देखकर लगता है कि प्रतीक योजना वास्तव में एक स्वतन्त्र वाद या काव्य सिद्धान्त ही बन गई है। अंग्रेजी काव्यशास्त्र

में 'सिम्बोलिज्म' का वर्णन इस तथ्य को पुष्ट करने वाला है कि वर्णन की सूक्ष्म प्रणाली का आधार सिम्बल ही है अतः प्रतीकवाद (सिम्बोलिज्म) को स्वीकार करना काव्य मीमांसा के क्षेत्र में अनिवार्य है। प्रतीक योजना से कवि सूक्ष्म अभिव्यक्ति को मूर्त रूप देना चाहता है। किसी सादृश्य, सामंजस्य, साहचर्य आदि को मन में रखकर ही कवि मूर्त, दृश्य, श्रव्य आदि का प्रतीक द्वारा प्रतिविधान करता है। साहित्य में प्रतीक योजना का क्रम नवीन नहीं है। मैं इसे पूर्णतया पाश्चात्य सिद्धान्त या वाद के रूप में ग्रहण नहीं करता। मेरी मान्यता है कि मानव की अभिव्यक्ति की अपूर्णता ने प्रतीक को जन्म दिया है और शनैः-शनैः यह शैली विकसित होकर एक वाद या सिद्धान्त बन गई है। किसी भी सूक्ष्म, अमूर्त या अदृश्य का स्थूल, दृश्य या मूर्त विधान करने की प्रवृत्ति आदिम मानव में विद्यमान थी और उसी की परिणति प्रतीक विधान में हुई है।

काव्य में प्रतीकों का स्थान निर्धारित करते हुए इनके सदृश अन्य उपकरणों पर ध्यान जाना आवश्यक है। अलंकार, अन्योक्ति, रूपक आदि में प्रतीक के लक्षण देखकर इनको भी प्रतीक मानने का भ्रम हो सकता है। कहीं-कहीं तो उपमान को भी प्रतीक ठहराया गया है। किन्तु प्रतीक का यदि स्वरूप निर्धारण ठीक प्रकार से किया जाय तो इनका व्यावर्तक धर्म स्पष्ट हो सकता है और उपमान तथा प्रतीक समानार्थक समझने के भ्रम का निराकरण भी सम्भव है।

प्रतीकों का प्रयोग रहस्यात्मक भावना या विचार को व्यक्त करने के लिए अधिक हुआ है। यह निर्विवाद है कि रहस्यात्मक अनुभूति सामान्य स्थूल भाषा में पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं होती अतः उसके लिए प्रतीकात्मक शैली को स्वीकार करना होता है। रहस्यमयी अनुभूति की अभिव्यक्ति के क्षणों में कवि या साधक को अपने निकट के स्थूल और दृश्य उपकरण ही अभिव्यक्ति के लिए उपादेय प्रतीत होने लगते हैं और वह उन्हीं को प्रतीक बनाकर अपनी मनोदशा को व्यक्त करता है। यदि वह सूत कातकर जीवन-यापन करने वाला (जुलाहा) साधक है तो उसे चरखा शरीर का, रुई धुनना अपनी असद् वृत्तियों को धुनना प्रतीत होता है। पतझड़ में गिरते पीले पत्ते उसे जगत् की क्षणभंगुरता और जीवन के अवसान का तथा माली के कली चुनने में कालचक्र का बोध होता है। फलतः अपने परिवेश के ये दृश्य पदार्थ किसी न किसी भाव, विचार या तत्व के उद्घाटक बन जाते हैं और काव्य में प्रतीक कहलाते हैं। प्रतीति जितनी गूढ़ एवं रहस्यमयी होगी प्रतीक उतना ही स्पष्ट तथा स्थूल होगा यह विचित्रता हमें रहस्यवादियों की अभिव्यक्तिय लक्षित होती है।

हिन्दी सन्त साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है। कारण स्पष्ट है; सन्त कवि साधना को अपने जीवन में प्रमुख स्थान देते थे। उनका लक्ष्य काव्य प्रणयन न होकर साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति, ज्ञान प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति था। साधना की प्रमुखता के कारण उनकी कविता में भी तदनुरूप अभिव्यक्ति का प्राधान्य स्वाभाविक है। सन्त कवियों का लक्ष्य कविता न होकर

ज्ञान या भक्ति है। अतः अभिव्यक्ति का मुख्य विषय शृंगार आदि न होकर निर्गुण सगुणात्मक ज्ञान या भक्ति ही है। फलतः दार्शनिक भावभूमि इनके अधिक निकट पड़ती है, काव्य सौष्ठव या काव्य गुण पीछे छूट जाता है। दार्शनिक अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक योजना से बढ़कर और कोई दूसरी शैली अद्यावधि आविष्कृत नहीं हुई है। ऋग्वेद में भी परमात्मा और जीवात्मा का बोध कराने के लिए जो माध्यम गृहीत हुआ है वह शुद्ध प्रतीकात्मक ही है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' में विहग-युगल का प्रतीक इतना स्थूल एवं स्पष्ट है कि आत्मा-परमात्मा के दार्शनिक विवेचन को सामान्य पाठक के लिए बोधगम्य बना देता है। जीवात्मा का हंस के प्रतीक के रूप में वर्णन तो आज तक ज्यों का त्यों चला आ रहा है। कुछ आख्यान ऐसे हैं जो अपने स्थूल रूप में भ्रष्ट चरित्र का द्योतन कराते हैं किन्तु प्रतीकात्मक अर्थ का बोध होने पर उनका गूढ़ार्थ चमत्कृत करने वाला सिद्ध होता है। इन्द्र और अहल्या की जार कथा का प्रतीकार्थ इस सन्दर्भ में पठनीय है। भागवत पुराण की समस्त कथाओं को श्री वल्लभाचार्य ने अपनी सुबोधिनी टीका में प्रतीकार्थ द्वारा जो अर्थ प्रदान किया है वह प्रतीक की सार्थकता का सबसे उत्कृष्ट निदर्शन है।

हिन्दी सन्त-साहित्य में प्रतीक परम्परा को पूरी सार्थकता के साथ ग्रहण किया गया है। कबीर, नानक, रैदास, मलूकदास, दादू, दरियासाहब आदि अनेक सन्तों ने प्रतीकों का प्रभूत मात्रा में प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का गवेषणात्मक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन अत्यन्त उपयोगी एवं वाच्छनीय है। मुझे हर्ष है कि इस कठिन कार्य को डॉ० देवेन्द्र आर्य ने अपने शोध प्रबन्ध द्वारा पूर्ण किया है। इस गम्भीर शोध कार्य के लिए वे समस्त हिन्दी जगत् के धन्यवाद के पात्र हैं।

'हिन्दी सन्त काव्य में प्रतीक विधान' शीर्षक शोध प्रबन्ध में केवल सन्त कवियों के काव्य में प्रयुक्त प्रतीकों का ही अनुशीलन नहीं है वरन् प्रारम्भिक अध्याय में प्रतीक का अर्थ और स्वरूप, प्रतीक साहित्य का रहस्यात्मक स्वरूप, भारतीय वाङ्मय में प्रतीकों का विकास, हिन्दी साहित्य में प्रतीक परम्परा का उद्भव और विकास स्पष्ट करने के बाद सन्त काव्य में प्रतीक विधान पर विचार किया गया है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विद्वान् लेखक ने प्रतीक के स्वरूप विश्लेषण के साथ उसकी सम्पूर्ण परम्परा का भी इस शोध प्रबन्ध में प्रामाणिक शैली से उद्घाटन किया है। सन्त कवियों के द्वारा प्रयुक्त प्रतीकों का निरूपण करने में लेखक ने पूर्णतः वैज्ञानिक अनुसंधान परक शैली स्वीकार की है। मुझे यह देखकर हर्षजनित विस्मय हुआ कि सन्त परम्परा में जो प्रतीक आये हैं उनकी पृष्ठभूमि वैदिक परम्परा में भी लक्षित की जा सकती है और लेखक ने उन्हें सप्रमाण प्रस्तुत किया है। सिद्धों, नाथों, हठयोगियों आदि की परम्परा से जो प्रतीक सन्त कवियों ने लिये हैं उन्हें भी लेखक ने पृथक्-पृथक् वर्णित किया है। इस प्रकार इस शोध प्रबन्ध की आधार भूमि इतनी पुष्ट और प्रामाणिक है कि सामान्य पाठक भी प्रतीक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में सन्त काव्य की समस्त प्रतीक योजना को हृदयंगम कर सकता है।

सन्त साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास बहुत विस्तृत है। यदि समस्त सन्त साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय तो देश और काल दोनों दृष्टियों से यह अत्यन्त व्यापक और विशद् प्रतीत होता है। लेखक ने इस ग्रन्थ में बीस सन्त कवियों का चयन कर उनकी प्रतीक योजना का विश्लेषण किया है। बीस सन्त कवियों की प्रतीक योजना का गवेषणात्मक अध्ययन छोटी बात नहीं है। इन कवियों में कबीर, नानक, दादू, दरिया, धरमदास, तुलसी साहेब जैसे दार्शनिक कोटि के सन्त साधक हैं। इन सभी सन्त कवियों ने प्रतीक विधान को भरपूर रूप में अपनाया है और कुछ प्रतीक ऐसे हैं जिनमें प्रायः साम्य है। दरियासाहब की प्रतीक योजना लगभग वैसी ही है जसी कबीर की है। दादू और कबीर में भी बहुत साम्य है। यदि परिशिष्ट में साम्य-वैषम्य मूलक प्रतीकों को एकत्र कर दिया जाता तो पाठक को ज्ञान वर्द्धन की अच्छी सामग्री मिल सकती थी फिर भी जागरूक पाठक के लिए इस ग्रन्थ में इतनी अधिक सामग्री जुटाई गई है कि उसे प्रतीक विधान के लिए किसी दूसरे ग्रन्थ के अवलोकन की आवश्यकता शेष नहीं रहती।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन से रहस्यवादी साहित्य के अध्येता को भी प्रचुर मात्रा में उपयोगी सामग्री उपलब्ध हो सकेगी इसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं है। इस गम्भीर, गवेषणापूर्ण ग्रन्थ के लिए मैं डॉ० देवेन्द्र आर्य को बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे अपने अध्ययन क्रम को सतत बनाये रहेंगे तथा दार्शनिक चिन्तन एवं रहस्यानुभूति से संवलित हिन्दी काव्य पर भविष्य में अनुसंधान शैली से कार्य करेंगे।

—विजयेन्द्र स्नातक
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

दिनांक ५-११-७०

प्राक्कथन

ईश्वरीय विभूति से सम्पन्न इस प्रकृति के विशाल प्रांगण में विकीर्ण दिव्य ज्ञान-मौक्तिक का संचय ही सद्काव्य की सिद्धि है, और प्रतीक उस सिद्धि की अभिव्यक्ति का प्रबलतम कि बहुना एक मात्र साधन है। वृक्षाच्छादित वन प्रान्त के किसी एकान्त क्रोड़ में अवस्थित रहस्य द्रष्टा जिस अनन्त, असीम और विराट चेतन का साक्षात्कार अथवा अनुभव करता है, प्रतीक उस रहस्यमय अव्यक्त रूप को वाणी का मूर्तिमन्त सौन्दर्य प्रदान कर उसे जन-जन के लिए मुखरित कर देता है। जीवन और साहित्य के, सत्य और ज्ञान के अनेकानेक गतिशील आयामों को मुखरित करता हुआ प्रतीक उसे सुसम्बद्ध रूप में बाँधने का कार्य करता है। "अबरन कौं का बरनिये मो पैं लख्या न जाई" (कबीर) की भावना को प्रतीक किस प्रकार मुखरित कर देता हैं, इसका कुछ अधिक विस्तृत एवं मौलिक अध्ययन प्रस्तुत करना ही मेरे इस शोध कार्य की मूल प्रेरणा है। अर्थ-वैविध्य और परोक्षापरोक्ष भावव्यंजना को यमक, रूपक, उपमा, अन्योक्ति आदि अलंकार भी व्यंजित करते हैं पर इस दिशा में प्रतीक बहुत आगे की मंजिलें तय करता है, इस दृष्टिकोण का व्यापक विश्लेषण प्रबन्ध में अनुस्यूत है।

भारतीय साहित्य का, यदि अत्युक्ति न हो तो सगर्व कहूँगा कि समस्त विश्व साहित्य का मूल प्रेरणा स्रोत वह वैदिक वाङ्मय है जिसने बहुमुखी चिन्तनधारा को सतत गतिशीलता प्रदान की है। इस चिर प्रेरणा का अजस्र स्रोत इतना व्यापक रहा है कि अनेकानेक प्रतिकूल परिस्थितियां भी इसके 'नामो-निशां' को मिटा तो न सकीं, वरन् यहाँ की माटी की गन्ध में घुल मिलकर यहीं की बन कर रह गई। ऐसे विशाल और दिव्य वाङ्मय में प्रतीक दर्शन का जो भव्य रूप निखरा है उसमें सत्य और ज्ञान की चिरन्तन धारा बहुमुखी स्रोतों में प्रवाहित हुई है; आवश्यकता उस समग्र प्रवाह को हृदयंगम करने की है। प्रस्तुत प्रबन्ध में मैंने कुछ भाव-बिन्दुओं को संचित करने का प्रयास मात्र ही किया है। सत्य द्रष्टा, तपः पूत महर्षि अरविन्द ने वेद-गंगा में आपादमस्तक अवगाहन कर जिन रहस्यों का उद्‌घाटन किया है उसने मेरे प्रतीकात्मक विश्लेषण को उचित भावभूमि प्रदान की है। इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, वृत्र, वल, पणि तथा एतद्‌विषयक धारणाओं के प्रतीकात्मक विश्लेषण ने मुझे दूर तक प्रभावित किया है, मैं उस दिव्यात्मा का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों, पुराणों तथा रामायण-महाभारत आदि काव्य ग्रन्थों में प्रतीकों का समुचित निर्वाह और पल्लवन हुआ है। पुराणों में वैदिक कथा सूत्रों का उपबृंहण हुआ है। ब्रह्मा का स्वदुहितृ प्रेम, इन्द्र का जारत्व, चन्द्रमा का गुरु पत्नी

तारा का अपहरण आदि कथाएँ इसी परम्परा की कड़ियाँ हैं। पुराणों पर प्रायः अश्लीलत्व तथा मिथ्यात्व का आरोप किया जाता है, पर प्रतीकात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने पर वह सारा आरोपित कालुष्य स्वयमेव ही धुल जाता है, ऐसी मेरी धारणा है। रामायण, महाभारत और संस्कृत काव्य-ग्रन्थों में समानरूप से प्रवाहित होती हुई इस प्रतीक-धारा का सिद्ध-नाथ साहित्य में पर्याप्त प्रसार हुआ है। संस्कृत काव्य-ग्रन्थों में स्वतन्त्र प्रतीक विधान के स्थान पर अन्योक्तिपरक प्रतीक योजना ही अधिक दृष्टिगोचर होती है। महाभारत में कूट शैली का (जिसे प्रतीक का ही एक रूप माना जा सकता है) पर्याप्त विकास हुआ; आगे चलकर सूर में इस शैली का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है। सिद्ध साहित्य के प्रतीक वैदिक और बौद्ध परम्परा से आये हैं। वज्रयानी शाखा के इन सिद्धों में मैथुनपरक प्रतीकों (प्रज्ञा, उपाय युगनद्ध, आदि) का बाहुल्य है जिनका समुचित परिहार नाथ परम्परा में हो गया है। नाथ-साहित्य में वैदिक, सिद्ध परम्परा से गृहीत प्रतीकों के साथ-साथ हठयौगिक और उलटबाँसीगत प्रतीकों का भी चरमोत्कर्ष दीख पड़ता है। सिद्ध-परम्परा के प्रतीकों को स्वीकार करते हुए भी नाथों में उनका मिथुनपरक रूप तिरस्कृत हो गया है।

वैदिक, सिद्ध और नाथ परम्परा से प्राप्त प्रतीक योजना का सन्त साहित्य में आश्चर्यजनक रूप में प्रतिफलन हुआ है। तात्विक दृष्टि से देखा जाये तो सन्त साहित्य एक ऐसा विशाल और समृद्धतम सागर है जिसमें एक से एक अनमोल रत्न अनबूझ संख्या में भरे पड़े हैं। कबीर चाहे कह लें 'लालन की नहीं बोरियां' पर 'गहरे पानी पैठ' कर जो कुछ भी देखने को मिला है उसके आधार पर मैं तो यही कहूँगा कि वहाँ प्रतीक-रूपी लालों के गोदाम के गोदाम भरे पड़े हैं, बस मरजीवा बनने की आवश्यकता है। सन्त साहित्य पर लिखने वाले विद्वान् आलोचकों ने सन्तों की प्रतीक योजना पर यत्किंचित प्रकाश तो अवश्य डाला है पर इस सागर की उस गहनता, गम्भीरता और समृद्धता को देखकर मुझे वह विवेचन प्रायः अपर्याप्त ही लगा जिसमें जाने अनजाने ही असंख्य परम्पराओं के नदी, नद, नाले आकर समाहित होते चले हैं। अध्ययन-अध्यापन काल में सत्य, ज्ञान और भक्ति का जैसा भव्य रूप सन्त साहित्य में देखने को मिला है, उसे मैं घण्टों मुग्ध सा बना देखता रहा हूँ, सोचता रहा हूँ।

हिन्दी सन्त काव्य में प्रतीक विधान को अधिकाधिक पूर्ण बनाने की दृष्टि से मैंने कुछ व्यापक परिपेक्ष्य में देखने की चेष्टा की है। प्रस्तुत प्रबन्ध को नौ अध्यायों बाँटा गया है। प्रथम अध्याय में प्रतीक के अर्थ और स्वरूप को तो स्पष्ट किया ही है, सादृश्यमूलक अलंकार (उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि) तथा शब्द शक्ति आदि से साम्य-वैषम्य के आधार पर तुलना कर प्रतीक विषयक भ्रान्तियों का निवारण किया है। परिस्थिति और देशकाल प्रतीकों के निर्माण और अर्थ-परिवर्तन में सक्रिय होते हैं तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी इसके अर्थ-रूप विस्तार में सहायक होते हैं, इसका समुचित निर्वाह कर प्रतीक विषयक अध्ययन को अधिक

वैज्ञानिक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है। काव्य में प्रतीकों के अपरिहार्य महत्व को सिद्ध करते हुए इस अध्ययन को यथा सम्भव पूर्णता प्रदान की गई है। इसी दृष्टि से दूसरे अध्याय में प्रतीकों का रहस्यात्मक और दार्शनिक विवेचन किया गया है।

तीसरे अध्याय में प्रतीकों के परम्परागत स्वरूप का निर्वाह किया गया है। प्रतीकों की यह प्रबल धारा वेदों से निसृत होकर समस्त भारतीय वाङ्मय को रसार्द्र करती चली है। वेदों में रहस्यात्मकता को प्रतीकों के पर्दे के भीतर संजोया गया है। पुराणों में वैदिक कथा-प्रतीकों का उपबृहण हुआ है। लौकिक संस्कृत काव्य तथा प्राकृत काव्य में अन्योक्ति तथा रूपकों के माध्यम से जो प्रतीक योजना की गई है उसमें वैदिक और पुराण साहित्य की धारा अजस्र रूप में प्रवहमान है।

चौथे अध्याय में सिद्ध और नाथ साहित्य में प्रतीक योजना का चित्रण कर इस परम्परा को एक सूत्र में बांधा गया है। सिद्ध-नाथ साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक जहाँ एक ओर वैदिक परम्परा से प्रभावित हैं वहाँ दूसरी ओर बौद्ध-साहित्य से भी प्रभावित हैं। कुछ इनके अपने भी प्रतीक हैं जो समय और साधना पद्धति के कारण उतने ही गूढ़ तथा गुह्य हो गए हैं। सन्तों की प्रतीक परम्परा को समझने के लिए इस भावधारा का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है।

पांचवें अध्याय में सन्त काव्य में प्रतीकों की परम्परा और विकास को दिखाया गया है। सन्तों ने ज्ञाता-ज्ञात भाव से समस्त पूर्ववर्ती प्रभाव को ग्रहण कर उसे संतोचित चाशनी में पाग कर जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया है। सन्तों ने यह परम्परा वैदिक, सिद्ध और नाथ साहित्य से ग्रहण की है।

छठे अध्याय में सन्त साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों का विवेचन है। यहाँ मैंने सम्पूर्ण सन्त साहित्य के प्रतीकों का व्यापक रूप से निर्वाह किया है। सुविधा तथा अध्ययन को व्यवस्थित करने के लिए सम्पूर्ण प्रयुक्त प्रतीकों को पाँच श्रेणियों में विभक्त कर दिया है—(१) भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक (२) तात्विक या दार्शनिक प्रतीक (३) साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (४) संख्यावाचक प्रतीक और (५) विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)।

सातवें अध्याय में बीस सन्तों के साहित्य का प्रतीकात्मक दृष्टि से विवेचन किया गया है। वैसे तो सभी सन्तों के प्रतीकात्मक रूप को प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर अनुस्यूत किया गया है फिर भी विषय को समग्रता प्रदान करने की दृष्टि से प्रत्येक सन्त का प्रतीकात्मक दृष्टि से अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

आठवें अध्याय में सिद्ध-नाथ साहित्य की प्रतीक योजना का सन्त साहित्य पर भाव, साधना और शैली की दृष्टि से पड़े प्रभाव का चित्रण किया है। वैसे तो सिद्ध-नाथ परम्परा से आए प्रतीकों का अध्ययन करते समय इस विषय का यत्किंचित संकेत हो चुका है लेकिन इस प्रभाव की व्यापकता कुछ इतनी अधिक रही है कि पृथक अध्याय में इसका विवेचन करना आवश्यक सा हो जाता है।

सन्तकाव्य के प्रतीकों का भक्तिकालीन, रीतिकालीन और आधुनिक कालीन साहित्य पर जो व्यापक प्रभाव पड़ा है उसका विवेचन मैंने नवें अध्याय में किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल शोध प्रबन्ध का संशोधित रूप है। मूल शोध-प्रबन्ध में मैंने सूफीकाव्य, कृष्ण भक्ति काव्य और राम भक्ति काव्य का भी प्रतीकात्मक दृष्टि से अध्ययन किया था, पर सन्तकाव्य के सन्दर्भ में इन काव्यधाराओं का अध्ययन परम्परा की दृष्टि से ही स्वीकृत किया जा सकता है, यदि कभी अवसर मिला तो उक्त तीनों ही काव्य धाराओं पर कुछ विस्तार में कार्य करने की चेष्टा करूंगा।

यहाँ मैं सन्तों सी सहजता और सदाशयता के मूर्तिमन्त प्रतीक श्रद्धेय डा० विजयेन्द्र स्नातक जी (प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय) के चरणों में अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करता हूँ जिन्होंने ग्रन्थ की गवेषणापूर्ण भूमिका लिखने की कृपा की है। महानन्द मिशन कालेज, गाजियाबाद के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० जयचन्द राय जी, जोधपुर विश्वविद्यालय (हिन्दी विभाग) के रीडर डा० नित्यानन्द जी शर्मा, पी० जी० डी० ए० वी० कालेज, नई दिल्ली के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डा० महेन्द्र जी को सश्रद्ध स्मरण करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर महत्वपूर्ण सुझाव देकर ग्रन्थ को उपयोगी बनाया है। मित्रवर डा० विनय (हिन्दी विभाग, दयालसिंह कालेज, नई दिल्ली) के सक्रिय सहयोग के लिए कृतज्ञता ज्ञापन तो परम्परा का निर्वाह ही होगा। पूज्य माता-पिता एवं श्रद्धेय गुरुवर डा० ताराचन्दजी शर्मा, (अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, किशोरी रमण कालेज, मथुरा) जिनके निर्देशन में यह कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हुआ है, के श्रीचरणों में सादर नत हूँ जिनका प्रत्येक शब्द मेरे लिए नई प्रेरणा का सतत सृजन करता रहा है।

ज्ञान भारती प्रकाशन तथा अजय प्रिन्टर्स के समस्त सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सक्रिय योग के बिना इस ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव ही न था, अनेक कठिनाइयों के रहते हुए भी उनकी कार्य क्षमता स्तुत्य है। अन्त में उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों से परोक्षापरोक्ष रूप से सहायता ली गई है।

वैसे तो सन्तसाहित्य की अबूझ गहराइयों को भला कौन माप सका है फिर भी मेरे इस लघु प्रयास से साहित्य और विद्वत्समाज किंचित भी लाभान्वित हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

—देवेन्द्र आर्य

हस्तिनापुर कालेज (सांध्य)
नई दिल्ली-२३
१ जनवरी, १९७१

विषय-सूची

१. प्रतीक : अर्थ और स्वरूप

भाषा मानव की हृदयगत भावनाओं और अर्जित अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सबलतम माध्यम है पर मानव मस्तिष्क में जाने अनजाने ऐसी बातें जन्म ग्रहण करती रहती हैं जिनकी अभिव्यक्ति वह सामान्य भाषा में चाहकर भी नहीं कर पाता। यह समस्या उस समय और भी अधिक दुरूह हो जाती है जब अभिव्यक्ति का सम्बन्ध उस अनभिव्यक्त विराट चेतना से हो। वस्तुजगत का, दूर-दूर तक फैली सुरम्य दृश्यावली का जनोचित भाषा में चित्रण सरल है क्योंकि न्यूनाधिक पदार्थों के लिए शब्द नियत हैं पर अन्तर की अबूझ गहराइयों में उद्वेलित भाव तरंगों की अभिव्यंजना कुछ दुरूह ही होती है क्योंकि प्रत्येक अनुभावक का अपना एक अन्तर्लोक है जिसे वह अपने ढंग से देखता और अनुभव करता है। वह लोक भाषा से सम्बन्ध रखता हुआ भी उसके प्रचलित अर्थ को बहुत पीछे छोड़ आगे बढ़ जाता है; अपना अनुभूतार्थ भाषा को देकर तोष लाभ कर लेता है फिर भी अन्तराल में कुछ घुटा सा, अनभिव्यक्त सा शेष रह जाता है जो दृढ़तर प्राचीरों को ध्वस्त करके भी निर्झर सा बाहर फूट पड़ना चाहता है। इस प्रकार जब भाषा संवेदजन्य अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में अपने को कुछ असमर्थ सा पाती है तब एक ऐसी कलात्मक युक्ति का अन्वेषण किया जाता है जो अमूर्त, सूक्ष्म और भावप्रवण अनुभूतियों को वाणी का परिधान पहना सके। प्रतीक ऐसे ही अमूर्त भावों को रूप प्रदान करता है, वाणी देकर मुखरित करता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस तथ्य को काव्यात्मक शैली में वर्णित करते हुए कहा है कि प्रतीकों की सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त सी बनकर मौन धारण करने लगती है, और जब अनुभवकर्त्ता के विविध भाव शिला से चतुर्दिक टकराने वाले स्रोतों की भाँति फूट निकलने के लिए मचलने से लग जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए उनके साम्य की खोज अपने जीवन से विभिन्न अनुभवों में करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं उसका उपयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भावधारा को प्रवाहित कर देते हैं।[1] डा० रामधन शर्मा ने भी कहा है कि, "कवि जब अपने भावों को सामान्य शब्दों के द्वारा व्यक्त करने में असमर्थ पाता है तो वह प्रतीकों और रूपकों का आश्रय लेता है। प्रतीकों की आवश्यकता प्रायः आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रसंगों के वर्णन में अत्यधिक होती है जहाँ उनकी सहायता से उत्पन्न

---

१. **कबीर साहित्य की परख, पृ० १४२-४३**

सूक्ष्म और गहन तथ्यों को सरलता से अभिव्यक्त एवं भावनाओं से परिपूर्ण बनाया जाता है।"[1] इस प्रकार प्रतीक आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभूतियों की सफल अभिव्यंजना तो करता ही है वह जीवन के सामान्य क्षेत्र में भी प्रवेश कर गया है। सच तो यह है कि आज का बुद्धिजीवी प्राणी प्रतीकों के माध्यम से ही सोचता, समझता और व्यवहार करता है। वास्तव में "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिए किया जाता है जोकि अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त, दृश्य, श्रव्य, प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।"[2]

आधुनिक प्रतीकवाद का जन्म पश्चिम में हुआ था। सन् १८८५ में फ्रांस में जन्म ग्रहण कर इस धारा ने जर्मनी और अंग्रेजी साहित्य तथा कला में पर्याप्त विकास प्राप्त किया। जर्मन की आदर्शोन्मुखी दार्शनिक विचारधारा ने प्रतीकवाद की धारा को दूर तक प्रभावित किया। हीगेल और शोपेनहावर के प्रभाव से इस धारा में रहस्यवृत्ति और अस्पष्टता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। उनके अनुसार "दृश्य जगत वास्तविक सृष्टि का मिथ्या रूप-मात्र है। वास्तविक सृष्टि अलौकिक और शाश्वत है। उस सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ भी कहने के लिए रहस्य और अस्पष्टता का सहारा लेना पड़ता है, किन्तु जिन रचनाओं में दृश्य जगत की बात कही जाएगी उनमें निराशा, दुर्बलता और कुत्सा का प्रवेश हो जाएगा।"[3] इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने अलौकिक और शाश्वत की अभिव्यक्ति में प्रतीकों के महत्वपूर्ण योग को स्वीकार किया है। उन्होंने कल्पना, कला तथा अन्य काव्य विधाओं के समान प्रतीकों के स्वरूप एवं सीमाओं की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है।

विश्वकोश के अनुसार, "प्रतीक मानस प्रत्यक्ष और कल्पना के क्षेत्र में आने वाले विचारों, भावों और अनुभूतियों के गोचर संकेत या चिह्न हैं।"[4]

"प्रतीक (चिह्न) शब्द का व्यवहार किसी ऐसे दृश्य पदार्थ के लिए व्यवहृत होता है जो हमारे मन में किसी अतर्क्य और अप्रमेय वस्तु की अनुभूति उसके साथ

---

१. कूटकाव्य : एक अध्ययन, पृ० २१.

२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ४७१.

३. वही, पृ० ४७४.

4. A symbol is a visible or audible sign or emblem of some thought, emotion or experience interpreting what can be really grasped only by the mind and imagination by some thing which enter into the field of observation."

—*Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. XII, p. 139.*

अपने सम्पर्क के कारण करा देता है।"[1] यहाँ प्रतीकों की अप्रस्तुत के प्रस्तुतिकरण की प्रवृत्ति पर ही अधिक महत्व दिया गया है।

रहस्यवादी कवि कालरिज ने प्रतीक की व्याख्या कुछ भिन्न रूप से प्रस्तुत करते हुए उसे अनन्त की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम माध्यम माना है। वे कहते हैं कि, "प्रतीक व्यष्टि में विशेष अथवा विशेष में सामान्य अथवा सामान्य में किसी विश्व-व्यापी सत्ता का आभास देता है और सबसे ऊपर नश्वर में अनश्वर की ज्योति प्रतिभासित करता है।"[2]

कालरिज ने प्रतीक को अमूर्त को मूर्त रूप देने का प्रबलतम माध्यम स्वीकार किया है। पर प्रतीक केवल सान्त या अनन्त, नश्वर अथवा अनश्वर सत्ता की अभिव्यक्ति का ही माध्यम है, ऐसा कहना तात्विक विवेचन की दृष्टि से उतना उपयुक्त नहीं। प्रतीक अतीन्द्रिय या अनश्वर की अभिव्यक्ति के साथ-साथ ऐन्द्रिय तथा भौतिक भावनाओं को भी मूर्त रूप प्रदान करता है। कबीर के शब्दों में जब हम "काहे री नलिनी, तू कुमिलानी, तेरे नाल सरोवर पानी" कहते हैं तो आध्यात्मिक और अतीन्द्रिय अनश्वर की अभिव्यंजना होती है पर जब प्रसाद के शब्दों में "घिर जाती प्रलय घटाएँ कुटिया पर आकर मेरी; तमचूर्ण बरस जाता है, छा जाती अधिक अंधेरी" कहते हैं तो कुटिया, घटाएँ, तमचूर्ण और अंधेरी आदि क्रमशः हृदय, अवसाद, उदासी और क्षोभ के प्रतीक होकर भौतिक भावनाओं को ही मूर्त रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार प्रतीकों को केवल अतीन्द्रिय या अनश्वर की अभिव्यक्ति का माध्यम मानना उसका एकांगी चित्रण ही होगा। वास्तव में प्रतीक तो व्यापक अभिव्यक्ति का सबलतम माध्यम है चाहे उसका सम्बन्ध अतीन्द्रिय से हो या ऐन्द्रिय से। हाँ, अतीन्द्रिय के वर्णन में प्रतीक रहस्याभिभूत होकर अधिक आकर्षक जान पड़ते हैं।

वेबेस्टर डिक्शनरी में प्रतीक की परिभाषा कुछ अधिक विस्तृत पृष्ठभूमि पर आधारित है। उसके अनुसार, "प्रतीक अपने सम्बन्ध, सामंजस्य, परम्परा अथवा संयोग से किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करता है परन्तु वह सोद्देश्य सादृश्य मात्र नहीं है, वह तो विशेष रूप से मूर्त अथवा दृश्य वस्तु के लिए अमूर्त विधान किंवा

---

1. "The term (symbol) given to a visible object represents to the mind the resemblance of some thing which is not shown but realised by association with it."

—*Encyclopaedia of Bri. Vol. V. XXVI, p. 284*

2. A symbol is characterised by a translucences of a special in the individual, or of the general in the special, or of the universal in the general, above all by the translucence of the eternal through and in the temporal.

—*The States Mans Manual, Complete works, Vol. I S. T.Coleridge pp. 407-8*

संकेत है।"[१]

यहाँ हम वेबेस्टर की परिभाषा को कुछ अधिक पूर्ण एवं व्यापक पाते हैं। अदृश्य के दृश्य विधान को हम दूसरे शब्दों में आन्तरिक भाव-विचारों तथा अवस्था का बाह्य प्रगटीकरण कह सकते हैं। वास्तव में साधना के महत्वपूर्ण क्षणों में मानस की असीम गहराइयों में से जो कुछ उफन सा उठता है, भावातिरेक में अन्तर का चेतन जागृत हो कुछ अनजाना सा गुनगुनाने लगता है, प्रतीक ऐसे महत्वपूर्ण क्षणों को रूप प्रदान करता है, उन अनभिव्यक्त भावनाओं का प्रतिनिधि बनकर सामने आता है। सादृश्य विधान प्रतीक के मूल में विद्यमान अवश्य रहता है पर सादृश्य ही उसका एक मात्र उद्देश्य नहीं है, वह प्रभाव साम्य की भूमिका पर भी आधारित होता है। उदाहरणार्थ शूल और फूल दुःखद अथवा सुखद अनुभूति के प्रभाव साम्य पर ही दुःख, सुख, रुदन, हास आदि भावों के प्रतीक हैं। वैसे रूप और धर्म साम्य पर सुन्दरी के लिए चन्द्र, कमल आदि प्रतीक हैं परन्तु अधिकांश प्रतीक सादृश्य अथवा रूप-धर्म साम्य पर निर्मित न होकर प्रभाव साम्य पर आधारित होते हैं। हृदय में जो अमूर्त कल्पना जन्म लेती है प्रतीकों में उसका प्रस्फुटन प्रभाव साम्य के आधार पर ही होता है इसलिए वेबेस्टर का यह कथन कि प्रतीकों का उद्देश्य सादृश्य नहीं वरन् भाव या प्रभाव साम्य उपस्थित करना है, उचित ही है। प्रतीक मानव मन की गहराइयों से उत्पन्न आत्माभिव्यक्ति का सक्षम माध्यम है। मन की इन प्रबलतम भावनाओं को चित्रकार रेखाओं द्वारा तथा कवि काव्य द्वारा रूप प्रदान करता है, और उनके इस कृत्य में प्रतीक उनका सहयोगी बनकर आता है। बाउदोन के शब्दों में "प्रतीक जिसके द्वारा कल्पना-प्रवीण लेखक अथवा चित्रकार का मस्तिष्क आत्माभिव्यक्ति के ऐसे मार्ग का अन्वेषण करता है, एक ऐसे प्रभाव से समन्वित होता है जो अन्तर की गहराइयों से उत्पन्न होता है। अज्ञात अवकाश के क्षणों में भी दृष्टा अथवा पाठक के मन में कुछ ऐसी अनुभूति या प्रभाव होता है जो प्रस्फुटन के लिए आतुर सा रहता है। प्रतीकों की इस विश्वजनीन प्रभावशालिता का प्रमुख कारण यही है कि यह समष्टि रूप से मानव-जाति के उस व्यापार स्तर से उद्भूत है जो सभी में सम है।"[२]

---

1. Symbol is that which stands for or suggests something by reason of relationship, association, convention or a visible sign for something invisible, as an idea, a quality or a totality, such as a state or a church."—*Websters New International Dictionary of the English Language. Second Edition 1953. p. 2555*

2. "The symbol in which the mind of imaginative writer or the painter seeks self-expression are tinged with an effect that wells up from the depths and in the hidden recesses of mind of the observer or the reader there is an effect which sings responsive. It appeals so universally in the mind of all individuals that comprise the human race."— *Psychoanalysis and Aesthetics, p. 9*

यहाँ वेबेस्टर के समान बाउदोन भी प्रभाव साम्य को प्रतीकों का आधार मानते हैं। वास्तव में चित्रकार, कलाकार और कवि के हृदयाकाश में भावों का घटाटोप छा जाने पर ही प्रतीकों का सहज प्रस्फुटन होता है, प्रतीक तो वह सहज स्रोत है जिसमें आन्दोलित किंवा तरंगायित सरिता अपना मार्ग पाकर जन-मानस को आर्द्र करती हुई प्रवाहित हो जाती है। इसलिए बाउदोन का यह कथन प्रतीक के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है कि प्रतीक आत्माभिव्यक्ति का सक्षम माध्यम है, वह आत्माभिव्यक्ति चाहे ऐन्द्रिय हो या अतीन्द्रिय।

इस प्रकार पाश्चात्य समालोचकों की तात्विक विवेचना से स्पष्ट है कि प्रतीक अमूर्त अथवा अदृश्य का मूर्त या दृश्य विधान है। प्रतीक अरूप तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानवीय भावनाओं को रूप तथा वाणी प्रदान कर मूर्त किंवा सर्वग्राह्य बनाता है। हिन्दी की प्रतीकवादी विवेचना पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। वैसे प्रतीक तथा प्रतीकात्मक विवेचन अथवा चित्रण भारतीय साहित्यशास्त्र में कुछ नया नहीं है। वैदिक वाङ्मय तो आज भी अपने प्रतीकात्मक रूप में अद्वितीय एवं अनुपम है। समग्र विवेचन की दृष्टि से भारतीय साहित्य में प्रतीक के स्वरूप का अध्ययन भी अपेक्षित है। विश्वकोष[1] में प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है—"अवयव, अंग, पता, चिह्न, निशान, किसी पद्य या गद्य के आदि या अन्त के कुछ शब्द लिखकर या पढ़कर पूरे वाक्य का पता लगाना आदि।" अमरकोश[2] में भी प्रतीक का शाब्दिक अर्थ अंग, अवयव आदि माना है। प्रो० क्षेम ने प्रतीक की व्युत्पत्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि 'प्रतीक शब्द प्रति-पूर्वक 'इण्' धातु से बना है। गतिः गमनम्, गति प्राप्तिः, गतिर्ज्ञानम्' के अनुसार इसका अर्थ चलना, प्राप्ति या पहुँचना और ज्ञान होता है। 'प्रति + इण् (गतौ) में 'इण्' का 'इ' ही शेष रहेगा। इसमें 'क्विप' प्रत्यय और दीर्घीकरण से 'प्रती' बन जाता है, और फिर स्वार्थे 'कप्' प्रत्यय के योग से 'प्रतीक' शब्द सिद्ध हो सकता है। इस सिद्धि के अनुसार प्रतीक का अर्थ हुआ 'वह वस्तु जो अपनी मूल वस्तु में पहुँच सके, अथवा वह मुख्य चिह्न जो मूल का परिचायक हो।'[3]

डा० बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान' ने प्रतीक की व्युत्पत्ति कुछ भिन्न प्रकार से देते हुए कहा है, 'प्रतीक' शब्द 'प्र + तीक' धातु से 'अ' प्रत्यय द्वारा बना है। 'तीकृ' धातु का गति अर्थ है और सभी गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक एवं प्राप्त्यर्थक हुआ करती हैं अतः उसी के सहोदर 'टीकृ' धातु का 'टीका' अर्थ ज्ञापन करने वाली वृत्ति का नाम है। अतः प्र = प्रकृष्ट, तीकन = अर्थज्ञान या अर्थ प्राप्ति कराने वाले शब्द को प्रतीक कहना चाहिए—'प्रकृष्टं तीकते इति प्रतीकम्' (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः पाणिनिसूत्र ३,१, १३५)। व्यावहारिक दृष्टि से 'प्रतीक' उसी शब्द को कह सकते हैं जो अपनी-अपनी

---

१. नागेन्द्र नाथ बसु, विश्वकोश—भाग १४, पृ० ५४६

२. अंग प्रतीकाऽवयवोऽपवनोऽकलेवरम्। अमरकोश, मनुष्य वर्ग, श्लोक सं० ७०

३. छायावाद के गौरव चिह्न, पृ० २२६

विशेष लाक्षणिकता के कारण प्रकृष्ट अर्थ की व्यंजना करता है। यह अर्थ प्रकृष्ट इसलिए होता है कि इसे यदि सीधे वाच्यरूप में लाया जाए तो वह चित्रात्मकता से शून्य रहकर पूर्ण प्रकाश से सम्पन्न नहीं रहता जबकि प्रतीकात्मक शब्द द्वारा व्यक्त होने पर वह चित्रमयता लाभकर शब्द ब्रह्म के पूर्ण प्रकाश से सम्पन्न हो जाता है।[1]

बाल गंगाधर तिलक ने भी प्रतीक की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है, 'नाम, रूपात्मक वस्तु उपास्य परब्रह्म के चिह्न, पहचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधि के तौर पर उपासना के लिए आवश्यक है, उसी को वेदान्त शास्त्र में 'प्रतीक' कहते हैं। प्रतीक (प्रति + इक) शब्द का धात्वर्थ यह है—प्रति-अपनी ओर, इक = झुका हुआ, जब किसी वस्तु का कोई एक भाग पहले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।'[2]

व्युत्पत्यर्थक इन सभी परिभाषाओं में प्रतीक को वह साधन माना है जिसके माध्यम से मूलभूत भावनाओं या वस्तुओं तक पहुँचा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि प्रतीक मूलभूत आन्तरिक भावनाओं के प्रकाशन का सक्षम माध्यम है। अतीन्द्रियता अथवा ब्रह्मपरक अनुभूतियों को प्रतीक द्वारा ही पूर्ण प्रकाश तथा अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है, बाह्य रूप में भावनाएँ चित्रमयता से शून्य ही रह जाती हैं। भारतीय मनीषियों ने प्रमुख रूप से प्रतीक की रहस्यपरक व्याख्या ही प्रस्तुत की है। प्रतीक अपने व्यापक सन्दर्भ में मनोविकारों और भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। हिन्दी के मूर्धन्य समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इसी तथ्य का समर्थन इन शब्दों में करते हैं, 'किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार उसके स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट सामने आ जाती है उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकार या भावनाओं को जागृत करती हैं। कुमुदिनी शुभ्रहास की, चन्द्र मृदुल आभा की, आकाश सूक्ष्मता और अनन्तता की; इसी प्रकार सर्प से क्रूरता और कुटिलता का, अग्नि से तेज और क्रोध का, चातक से निस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है।'[3]

सन्त साहित्य के मूर्धन्य समालोचक श्री परशुराम चतुर्वेदी प्रतीक की अपेक्षाकृत पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'प्रतीक से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेत मात्र है और न उसका स्मरण दिलाने वाला कोई चित्र या प्रतिरूप ही है। यह उसका जीता जागता एवं पूर्ण क्रियाशील प्रतिनिधि है जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को उसके व्याज से उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। ऐसे प्रतीकों का प्रयोग अपनी भाषा में केवल किन्हीं चमत्कारों द्वारा अधिक क्षमता लाने के उद्देश्य से भी नहीं किया जाता और न इससे उसमें उचित

---

१. काव्य में रहस्यवाद, पृ० २१८-१९
२. गीता रहस्य, तेरहवाँ प्रकरण, भक्तिमार्ग, पृ० ४१५
३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० ११८

वैचित्र्य का ही समावेश कराया जाता है। सादृश्य मूलक दीख पड़ने के कारण इसे कभी-कभी उपमानों का स्थान दे दिया जाता है जो उचित नहीं है, यह उससे कहीं अधिक व्यापक है।[1] चतुर्वेदी जी ने प्रतीक को अधिक व्यापक परिपेक्ष्य में देखा है। वह वस्तु या भाव का जीता जागता रूप मूर्तिमान कर देता है, वह सब प्रकार की अनुभूतियों को, चाहे उसका सम्बन्ध भौतिक जगत से हो या अतीन्द्रिय-अदृश्य जगत से, अभिव्यक्त करने का सशक्त माध्यम है। वेबेस्टर के समान आपने भी प्रतीक को सादृश्य पर आधारित न बताकर प्रभाव साम्य पर स्थित बताया है, इसी कारण वह उपमानों से आगे की मंजिल है, उससे व्यापक अर्थ का द्योतन करने वाला साधन है।

प्रत्येक प्रतीक अपने भीतर किसी व्यक्ति, समाज तथा देश की व्यापक संस्कृति भी समेटे हुए रहता है। विशेष परिस्थितियों की परिचितता प्रतीक को रूप प्रदान करती है। प्रारम्भ में किसी कवि द्वारा अनुभूत तथा प्रयुक्त प्रतीक कालान्तर में सार्वजनिक बन व्यापक अर्थ के द्योतक हो जाते हैं। वास्तव में प्रतीक जीवन प्रवाह में डूबकर ही नए अर्थ प्राप्त करते हैं। यथार्थ जीवन के साहचर्य से उसमें अर्थ और रूप वैभिन्य की वृद्धि होती है। व्यक्तिगत जीवन और अनुभव से असम्पृक्त रहकर प्रतीक न तो अर्थवान हो सकते हैं और न उसमें जीवन को अभिव्यक्त करने की क्षमता ही आ पाएगी। इस प्रकार प्रतीक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सरल या परिचित से कठिन किंवा अपरिचित की ओर गमन करता है। प्रारम्भ में सामान्य व्यक्तिगत जीवन में अनुभूत भावनाएँ कालान्तर में उन्हीं भावनाओं की द्योतक प्रतीक बन जाती है, पर यही प्रतीक अधिक प्रयुंक्त होकर अपना व्यंजित अर्थ छोड़कर अभिधा मात्र रह जाते हैं और कवि को अन्य नए प्रतीकों के अन्वेषण में व्यस्त हो जाना पड़ता है।

पाश्चात्य और भारतीय समालोचकों की इस प्रतीक विषयक विवेचना के पश्चात् हम कह सकते हैं कि 'प्रतीक सूक्ष्मातिसूक्ष्म आन्तरिक भावनाओं का ऐसा मूर्त विधान है जो एकबारगी समस्त वातावरण को मुखरित कर देता है, चाहे उनका (भावनाओं का) सम्बन्ध अतीन्द्रिय और अलौकिक से हो या भौतिक ऐन्द्रिक लोक से।'

प्रतीक और संकेत

अप्रस्तुत विधान की प्रधानता के कारण प्रतीक और संकेत को साहित्य क्षेत्र में एक ही अर्थ का पर्याय माना गया है। 'दधाते ये अमृते सुप्रतीके'[2] मंत्र के भाष्य में सायण ने इसका अर्थ रूप किया है, अमरकोश में इसका अर्थ एक देश किया है।[3] संकेत का साधारण अर्थ 'इशारा' माना गया है। काव्य शास्त्र में इसको अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध के लिए रूढ़ माना गया है।[4] संस्कृत में संकेत सम्+कित् (ज्ञाने) धातु

---

१. कबीर साहित्य की परख, पृ० १४२

२. ऋग्वेद, १-१८५-६

३. प्रतिकूले प्रतीकस्त्रिष्वेकदेशेतु पुंस्ययम्। अमरकोश, ३७-७

४. संकेतो गृह्यते जातौ गुण द्रव्यक्रियासु च। साहित्य दर्पण २, कारिका ४.

से बना है जो 'ज्ञापक' अर्थ का प्रतिपादन करता है। 'प्रतीक और संकेत शब्दों का यौगिक अथवा रूढ़ अर्थ जो भी हो, इनका अधुनातन अर्थ १९वीं शती में फ्रांस उद्भूत तथा समस्त पाश्चात्य साहित्य में संक्रमित' 'स्कूल आफ सिम्बालिज्म' से प्रभावित है जिसका छायावाद, रहस्यवाद और प्रयोगवाद के निर्माण में काफी हाथ है। इसमें प्रस्तुत को छिपा हुआ रखकर प्रतीक के द्वारा ही अभिव्यक्त किया जाता है अथवा प्रस्तुत को वाच्य बनाकर अप्रस्तुत की ओर संकेत भर कर देते हैं। जब प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का अभेदारोप हो और प्रस्तुत स्वयं निगीर्ण रहे, तब अप्रस्तुत ही प्रस्तुत का स्थानापन्न बनकर प्रतीक का काम देता है। काव्य-परिभाषा में इसे उपचार वक्रता कहते हैं। उपचार, विश्वनाथ के शब्दों में 'बिल्कुल विभिन्न दो पदार्थों के मध्य परस्पर सादृश्यातिशय की महिमा के कारण भेद प्रतीति के स्थगन को कहते हैं जैसे अग्नि और ब्रह्मचारी में।[1] यह गौणी लक्षणा का विषय है क्योंकि यहाँ प्रस्तुत वस्तु का बोध लक्षणा द्वारा होता है। व्यंजना का कार्य यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत के मध्य गुण, क्रिया अथवा व्यापार-समष्टि का साम्य मात्र बताना होता है। इसी तरह प्रतीक हमें गुणी द्वारा गुण तक पहुँचाता है। शास्त्रीय भाषा में हम इसे व्यंग रूपक, अध्यवसित रूपक अथवा रूपकातिशयोक्ति कह सकते हैं। किन्तु प्रतीक जब बीच में लक्षणा का आश्रय न लेकर सीधा व्यंजना द्वारा प्रस्तुत की अभिव्यक्ति कराता है, तब वह अप्रस्तुत प्रशंसा का विषय बन जाता है। कभी-कभी प्रतीक में उक्त दोनों स्थितियाँ घुल मिलकर अंगांगिभाव बनाए रहती हैं। सूक्ष्म और रहस्यमय वस्तु का ज्ञान कराने के लिए साहित्य में प्रतीकों की बड़ी प्रयोजनीयता रहती है। इसके विपरीत संकेत समासोक्ति का निर्माण करते हैं, क्योंकि इसमें स्थूल, प्राकृतिक अथवा मानविक आधार बाच्य बनकर किसी अप्रस्तुत परोक्ष वस्तु की अभिव्यंजना रहती है, फलतः यहाँ वाच्य प्रस्तुत प्रधान रहता है और अभिव्यक्तमान वस्तु गौण।[2]

डा० जुंग ने प्रतीक और संकेत के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है, "जब परोक्ष या अज्ञात वस्तु का चित्रण किया जाता है वहाँ उस चित्र को प्रतीक कहा जाता है और जब किसी प्रत्यक्ष किन्तु सूक्ष्म और भावात्मक सत्ता की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक सामान्य और स्थूल वस्तु के चित्रण द्वारा होती है तो उसे संकेत कहते हैं।'[3] प्रतीक और संकेत एक ही भाव या स्थिति के यत्किंचित मात्रा में पर्याय ही हैं क्योंकि संकेत प्रस्तुत के माध्यम से अप्रस्तुत की ओर इंगित करता है जबकि प्रतीक अप्रस्तुत का विशेष अर्थ में प्रयुक्त स्थानापन्न प्रस्तुत विधान है। प्रतीक में आरोप्य वस्तु की प्रधानता रहती है लेकिन संकेत में आरोप्य विषय की।

---

१. उपचारो नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः (शब्दार्थयोः) सादृश्यातिशय-महिम्ना भेद स्थगन-मात्रं यथा अग्निमाणवकयोः। साहित्य दर्पण, परि० २१

२. हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति, पृ० ६८-६९।

३. डा० शम्भुनाथ सिह, छायावाद युग, पृ० १२७

सभी प्रतीक किसी रूप में संकेत होते हैं, किन्तु सभी संकेत प्रतीक नहीं होते। सामान्यत: प्रतीक और संकेत को स्पष्ट करने के लिए कोई दृढ़ विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, अन्यथा इन दोनों में कोई भ्रान्ति, जैसी आज है, नहीं होती। संकेत प्रतीकों का स्थान ले सकते हैं और प्रतीक संकेतों में परिवर्तित हो सकते हैं, फिर भी कुछ अन्तर तो करना ही पड़ेगा नहीं तो प्रतीकवाद की मूल भावना ही अर्थहीन हो जाएगी। ऐसी अवस्था में हम विशेष प्रकार के संकेतों को प्रतीक की संज्ञा दे सकते हैं।"[1]

वस्तुगत रूप, गुण, प्रभाव और कार्य का साम्य बतलाने की दृष्टि से प्रतीक और संकेत बहुत कुछ अंशों में उपमान का भी काम करते हैं। यथा—

राते कंवल करहिं अलि भवां, घूमहिं माति चहहिं अपसवां (जायसी) में कमल नेत्र के लिए और अलि नेत्र के भीतर की काली पुतली के लिए प्रयुक्त होकर रूप साम्य गत प्रतीक हैं। इसी प्रकार क्रिया साम्य—

ग्रास करने नौका स्वच्छन्द, घूमते फिरते जलचर वृन्द,
देखकर काला सिन्धु अनन्त, हो गया हा! साहस का अन्त। (महादेवी)

प्रदर्शित करते हुए उक्त कविता में नौका, जलचर और सिन्धु क्रमशः जीवन, वासनाओं और संसार के प्रतीक हैं। प्रभाव साम्य लेकर चलने वाले प्रतीक विधान प्रस्तुत और अप्रस्तुत का समान रूप रंग, आकार प्रकार अथवा क्रिया व्यापार लेकर नहीं चलता, प्रत्युत उसमें यह देखना पड़ता है कि उसका हमारे हृदय अथवा भावना पर कैसा प्रभाव पड़ता है? छायावाद में प्रेयसी के लिए मुकुल, नव यौवन के लिए उषा और यौवन सुख के लिए मधु इत्यादि प्रतीक प्रभाव साम्य पर आधारित हैं। वे हमारे भीतर शृंगार की मधुर भावना को उद्दीप्त कर देते हैं। रहस्यवाद का सारा का सारा प्रतीक विधान भी तो प्रभाव साम्य ही लिए हुए रहता है अन्यथा अरूप-रूप, निष्क्रिय—'नेति नेति' प्रतिपाद्य परोक्ष सत्ता के साथ भला किसका स्वरूप अथवा गुण क्रिया-साम्य हो सकता है? उसके प्रतिपादक शब्द और प्रतिनिधि मूर्त पदार्थ केवल संकेत मात्र ही हैं। छायावादी कवियों द्वारा प्रकृति के चित्रपट पर उतारा हुआ उसका रूप भी उसकी निरी स्थूल रेखाएँ हैं, जिनसे हृदय में उसका हल्का सा आभास अथवा प्रभाव पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में "प्रतीक अथवा संकेत गुण-क्रिया साम्य पर आधारित उपमान की सीमा से निकलकर अपना विस्तृत क्षेत्र बना लेता है और हृदय पर प्रभाव डालने वाले किसी भी स्थानापन्न वस्तु अथवा चिह्न (symbol) का रूप धारण कर लेता है। काव्य जगत से बाहर व्यावहारिक

---

1. ···Signs may become symbols and symbols may so to speak degenerate into signs. Some distinction must however be made, otherwise the entire notion of symbolism becomes meaningless. We may assume, then, that symbol may be best define as a special kind of sign." Language and Reality, *p. 404-405*

जीवन में भी प्रतीक भावोद्बोधक एवं प्रेरणादायक एक चिह्न ही तो रहता है।'[1]

संकेत और प्रतीक में सिद्धान्ततः चाहे भेद हो पर व्यावहारिक क्षेत्र में दोनों में साम्य है। कहा जा सकता है कि प्रतीक संकेत के और संकेत प्रतीक के पूरक और पर्याय ही हैं। प्रतीकों का अपना अस्तित्व है और वे हृदय या अनुभूति की अवर्णनीय स्थिति का स्थानापन्न होते हैं, वास्तव में एक संकेत ही है जो हमें किसी विशिष्ट भावना या अनुभव की ओर निर्दिष्ट करता है। सिद्धों, नाथों एवं अन्य रहस्यवादी कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीक किन्हीं अर्थों में आध्यात्मिक संकेत हैं। फिर भी संकेत की अपनी सीमा है। प्रतीक की सीमा संकेत से कुछ विस्तृत है, हम कह सकते हैं कि संकेत यदि जल की ऊपरी सतह है तो प्रतीक तल की अबूझ गहराई। संकेत भ्रमर कुंज के सौख्य का सूक्ष्माभास है तो प्रतीक उसकी शीतल स्निग्ध किंवा पूर्ण स्पर्श जन्य अनुभूति है। प्रतीक और संकेत एक ही सिक्के के दो अभिन्न पहलू या रूप हैं।

प्रतीक और अलंकार

सौन्दर्य के प्रति आकर्षण मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। प्रकृति की सुरम्य गोद में लहलहाती वनराजि में, उत्ताल तरंगों मिस थिरकते सागर में, गगन की सीमाओं को नापती हिमशैल की रजत सम श्वेतता में, टिमटिमाते नक्षत्र लोक में मानव ने अपनी सौन्दर्येषणा की परितृप्ति देखनी चाही है पर प्रत्यक्ष जगत के ये जड़ चेतन पदार्थ मनुष्य की इस स्वाभाविक सौन्दर्येषणा की तृप्ति नहीं कर पाते, ऐसी अवस्था में काव्य कला का आविर्भाव होता है। सौन्दर्य के सर्वांगीण चित्रण और सम्यक् आस्वादन के लिए काव्य को सर्वोत्तम साधन बनाया गया। यहाँ भी सौन्दर्यान्वेषण की भावना बनी रही और काव्य में निहित सौन्दर्य, जो परमानन्द में लीन कर देने में समर्थ है, पराकला के नाम से अभिहित किया जाता है। सौन्दर्य ही काव्य की आत्मा है। ऐसे परमानन्द सहोदर काव्य से जिसे लगाव नहीं वह पशु से कम नहीं।[2] अलंकार अपने उक्ति वैचित्र्य से काव्य में वह चमत्कार उत्पन्न कर देता है कि सहृदय का मन तुरन्त उस ओर आकृष्ट हो जाता है। अलंकार में 'अलम्' और 'कार' दो शब्द हैं। अलम् का अर्थ है भूषण और 'कार' जो अलंकृत या भूषित करे। अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म है, इस धर्म का फल काव्य का अलंकरण या सजावट है इसलिए इसका प्राचीनतम अभिधान अलंकार है। जिस प्रकार हारादि अलंकार रमणी के नैसर्गिक सौन्दर्य की शोभावृद्धि के उपकारक होते हैं उसी प्रकार उपमा आदि अलंकार काव्य की रसात्मकता के उत्कर्षक हैं। वास्तव में अलंकार वाणी के विभूषण

---

१. डा० संसारचन्द्र, हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ० ७०-७१

२. साहित्य संगीत कला-विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाणहीनः।

भर्तृहरि नीति शतक, १२

हैं। इनके द्वारा अभिव्यक्ति में स्पष्टता, भावों में प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता तथा भाषा में सौन्दर्य का सम्पादन होता है। स्पष्टता और प्रभावोत्पादन के हेतु वाणी अलंकार का रूप धारण करती है। इसलिए काव्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान है[१]। अग्निपुराण में अलंकार रहित वाणी की तुलना विधवा नारी से की गई है जो सदा हतश्री रहती है।[२] जयदेव ने भी काव्य के लिए अलंकारों को परमावश्यक घोषित करते हुए कहा है कि जो विद्वान् अलंकार विहीन शब्दार्थ को काव्य मानते हैं वे यह भी क्यों स्वीकार नहीं कर लेते कि अग्नि में उष्णता नहीं होती।[३]

अलंकार के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों का पृथक्-पृथक् निरूपण है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार, 'शब्द और अर्थ के उन अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं जो शब्दार्थधेय काव्य की शोभा को प्रवर्धित करते हैं तथा रस और भावादि के उपकारक एवं उत्कर्ष कारक हैं।[४] आचार्य मम्मट ने गुणों को रसों का अभिधर्म-शौर्यादिक आत्मांगी धर्मों के समान तथा रसों के उत्कर्ष के हेतु मानते हुए अलंकारों को हार आदि आभूषणों के सदृश्य गुणों का उपकारक माना है।[५] दण्डी ने काव्य के शोभा-कारक धर्म को अलंकार माना है।[६] इस प्रकार संस्कृत के विद्वानों ने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले तत्व या धर्म को अलंकार कहा है।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने भावानुभूति को उत्कर्षता और तीव्रता प्रदान करने वाले साधनों में अलंकार को प्रमुख माना है। अलंकार काव्य का शृंगार है,[७] प्राण है।[८] भाव, रस, गुणों के सौन्दर्य से अलंकारों का विकास होता है।[९] सब प्रकार

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६७.
२. अर्थालंकार रहिता विधवैव सरस्वती। अग्निपुराण ३४५-२
३. अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती।। चन्द्रालोक, १-८
४. शब्दार्थयोरंस्थिराये धर्माः शोभाति शायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तङ्गदादिवत्।।
साहित्य दर्पण। हिन्दीसंत साहित्य पृ, १११ से उद्धृत
५. येरसस्यांगिनोधर्माः शौर्यादिक इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तेस्पुरचलस्थि तयो गुणाः।।
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वोरण जातुचित्।
हारादिवलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। काव्य प्रकाश, ८७, ८८
६. काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श २-१
७. अलंकार ज्यौं पुरुष को हारादि मन आनि।
प्रसोपम आदिक कवित्त अलंकार ज्यौं जानि।।
चिन्तामणि, कविकुल-कल्पतरु, प्रक० २-१
८. देव, शब्द रसायन।
९. शब्द, अर्थ, रचना रुचिर, अलंकार सो जान।
भाव भेद गुन रूपते, प्रगट होत है आन।।—गोपकवि, रामचन्द्र भूषण।

से सरस और गुण युक्त कविता यदि अलंकार रहित है तो वह शोभा को प्राप्त नहीं हो सकती ।[1] अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य मानते हैं कि काव्य रोचक और आनन्ददायी तभी होता है जब उसमें अलंकारों की सुष्ठु योजना हो ।[2] वर्तमान आलोचकों में मूर्धन्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है, "भावों को उत्कर्ष दिलाने और वस्तुओं के रूप, गुण, क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है ।"[3] एक अन्य स्थान पर शुक्ल जी ने अलंकारों की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "अलंकार चाहे अप्रस्तुत वस्तु योजना के रूप में हो (जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा आदि में), चाहे वक्रता के रूप में हो (जैसे अप्रस्तुतप्रशंसा, परिसंख्या, व्याजस्तुति, विरोध आदि में), चाहे वर्णविन्यास के रूप में (जैसे अनुप्रास में) लाए जाते हैं, प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए ही कवियों की दृष्टि में भी अलंकार उपयोगी तत्व है ।[4] कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने भी बड़े ही सुन्दर शब्दों में अलंकार का स्वरूप इस प्रकार वर्णित किया है, "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं, भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं ।···वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं । जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटे में फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो जाती है ।"[5]

इस प्रकार अलंकार भावों का उत्कर्ष कर उन्हें प्रेषणीय बनाकर सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं । प्रतीक भी सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, भावों को अधिक प्रेषणीय और मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करते हैं । जब हृदयस्थ उद्दीप्त भावना और संवेदना आवेग रूप में कवि के मानसलोक को इस सीमा तक उद्वेलित कर देती है कि वह उन आवेगों को मूर्त रूप देने को व्याकुल सा हो उठता है तो अमूर्त का यह मूर्त विधान ही अलंकार की या दूसरे शब्दों में प्रतीक की सृष्टि करता है । मन की यह आवेग पूर्ण भावना सीधे सादे शब्दों में व्यक्त होकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती । वे काव्य के सौन्दर्यपूर्ण धरातल पर अवतरित होकर सहृदय को अपनी उपस्थिति से रसार्द्र करना चाहती है, यही सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति सादृश्यमूलक अलंकारों और प्रतीकों

---

१. जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषन बिन न विराजई, कविता बनिता मित्त ॥ —केशव, कविप्रिया, ५/१

२. तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।—अलंकार सर्वस्व ।

३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १२७-२८.

४. चिन्तामणि भाग १, पृ० २४७.

५. 'पल्लव' भूमिका ।

का आधार है। इस दृष्टि से अलंकार और प्रतीक एक वस्तु के दो रूप या पर्यायवाची हैं। क्रोचे ने भी प्रतीक और अलंकार को अभिव्यंजना की विधियाँ माना है। 'शब्द' अभिव्यक्ति के सबल माध्यम हैं जिनकी सफल अभिव्यक्ति अलंकारों में होती है और वास्तव में अलंकारों का प्रतीकात्मक महत्व शब्द की लक्षणा और व्यंजना शक्ति पर आधारित है। शब्द और उनके अर्थ विस्तार पर ही अलंकार तथा प्रतीक की आधारशिला प्रतिष्ठित है। पर अलंकार में प्रयुक्त प्रतीकात्मक शब्द विधान केवल चमत्कार की वस्तु नहीं, उसका महत्व तो विचारों और भावों को रमणीय और प्रभावोत्पादक रूप देने में है।

प्रतीक और अलंकार जहाँ एक दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रित हैं, वहाँ इनका पृथक्-पृथक् महत्व भी है। दोनों ही अप्रस्तुत को अपनी-अपनी सीमाओं में अधिक स्पष्ट, बोधगम्य, चमत्कारपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाना चाहते हैं पर प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं बल्कि भावना को जागृत करने की शक्ति में निहित है, जबकि अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। इसलिए सभी उपमान प्रतीक नहीं हो सकते और जो प्रतीक होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं।

प्रतीक और अलंकार की भेद रेखा सूक्ष्म तो है फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है। सम्यक् विवेचन के लिए प्रतीक और प्रमुख सादृश्यमूलक अलंकारों का विवेचन अपेक्षित है—

प्रतीक और उपमा—उपमा को काव्य की सम्पत्ति और कविवंश की माता माना जाता है।[1] उपमा समस्त सादृश्य मूलक काव्य में बीज रूप में विद्यमान रहती है। यह काव्य की रंगभूमि पर अनेक भूमिका भेदों से विविध रूपों में नटी के समान सहृदय का भरपूर मनोरंजन करती है।[2]

उपमा के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विचार किया है। संस्कृत के आचार्यों ने काव्यबन्धों में सादृश्य के आधार पर गुण-आकृति के आश्रय से तुलना को उपमा कहा है।[3] उपमा में उपमान-उपमेय दोनों में चमत्कृत सौन्दर्यमूलक सादृश्य होता है।[4] इसमें कार्य कारणादि का साधर्म्य नहीं होता बल्कि उपमान-उपमेय का साधर्म्य होता है।[5] शब्द और अर्थ दोनों की समता होती है, उपमान कल्पित नहीं

---

१. **अलंकार शिरोरत्नं सर्वस्वं काव्य सम्पदाम्।**
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम्॥—राजशेखर, अलंकार शेखर, पृ० ३२

२. **उपमैषा शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।**
रंजयति काव्य-रंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥—अप्पयदीक्षित, चित्रमीमांसा, पृ० ६

३. **यत्किंचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।**
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया।" —भरत, नाट्यशास्त्र, १७/४४

४. **उपमा यत्र सादृश्य लक्ष्मींरुल्लसिति द्वयोः।**—जयदेव, चन्द्रलोक, ५/११

५. **उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यम्।**
—मम्मट, काव्यप्रकाश, उल्लास १०, वृत्ति १२५

होता।[1] इस प्रकार उपमा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का समान रूप से कथन किया जाता है। लुप्तोपमा में प्रस्तुत लुप्त रूप में विद्यमान रहता है। साधर्म्य एवं सादृश्य का भाव भी बना रहता है। प्रतीक में केवल अप्रस्तुत ही होता है, प्रस्तुत ही अप्रस्तुत के स्थानापन्न रूप में विद्यमान होता है। प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत का सम्बन्ध किसी भावना को जागृत करने की निहित शक्ति पर आधारित होता है। जैसे—

लिपटे सोते थे मन में, सुख दुख दोनों ऐसे।
चन्द्रिका अंधेरी मिलती मालती कुंज में जैसे।[2]

यहाँ सुख-दुख प्रस्तुत हैं, चन्द्रिका और अन्धेरी का अप्रस्तुत प्रयोग भाव को अधिक प्रेषणीय बना देता है, वैसे चन्द्रिका और अन्धेरी का प्रयोग प्रतीकात्मक हो सकता है पर यहाँ सुख के लिए चन्द्रिका और दुख के लिए अन्धेरी का प्रयोग उपमानवत् (अप्रस्तुत) हुआ है प्रतीकवत् नहीं।

बीत रहे पल पल जीवन के
कभी अंधेरी कभी उजाली।[3]

यहाँ ,अंधेरी और 'उजाली' का प्रयोग प्रतीकवत् है।' अन्धेरी' जीवन के निराशात्मक दुखपूर्ण क्षण की और 'उजाली' सुखपूर्ण क्षण की अभिव्यक्ति है। उपमा में जो उपमान अथवा अप्रस्तुत है वही किसी भावना का प्रतीक भी है। जो अप्रस्तुत है वही उपमा का विषय हो सकता है। उपमा और प्रतीक में इस दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है, फिर भी दोनों में प्रयोग का अन्तर है। यदि अप्रस्तुत का प्रयोग किसी उपमेय का उपमानवत् हुआ है तो वह उपमा ही होगी, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध है, और यदि अप्रस्तुत का प्रयोग इस प्रकार हुआ है कि उसी से प्रस्तुत का आभास हो, तो वहाँ प्रतीक होगा, उपमा नहीं। उपमा और प्रतीक में अप्रस्तुत के प्रयोग का ही अन्तर है।

प्रतीक और रूपक—सादृश्यमूलक अलंकारों में रूपक का स्थान उपमा के पश्चात् आता है। संस्कृत आचार्य वामन ने रूपक को उपमा का प्रपंच मानते हुए कहा है कि उपमान के साथ उपमेय के गुण का साम्य होने से उपमेय में उपमान के अभेद का आरोप ही रूपक है।[4] इसमें उपमेय और उपमान का परस्पर भेद तिरोभूत हो जाता है।[5] हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी संस्कृत के आधार पर रूपक की व्याख्या अपने ढंग से

---

१. **शब्द अर्थ समता कहै, दोउन की जेहि ठौर।**
नहिं कलपित उपमान जहं, सो उपमा सिरमौर।।—कुलपति, रस रहस्य

२. **प्रसादआँसू**, पृ० ४८

३. **नरेन्द्र शर्मा शूलफूल**, पृ० १८

४. **उपमानोपमेयस्य गुण साम्यात् तत्वारोपो रूपकम्**। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४/३/६

५. **दण्डी काव्यादर्श**, पृ० २१४ ६६

की है ।[1] रूपक और प्रतीक को कुछ विचारक एक ही श्रेणी में रखते हैं। उनका कथन है कि प्रतीक रूपक ही होते हैं और केवल रूपक से ही आविर्भूत होते हैं। लेकिन एक ही सिक्के के दो रूप अथवा एक दूसरे के पूरक होते हुए भी प्रतीक रूपक से कहीं अधिक व्यापक अर्थ का द्योतन करता है। रूपक जिस सीमा पर आकर रुक जाता है, प्रतीक की यात्रा उससे भी आगे की मंजिल की ओर अग्रसर होती है।

रूपक में उपमेय-उपमान का अभेद स्थापन अपेक्षित है[2] इस कारण भिन्नता तो अवश्य रहती है पर ज्ञान अभेदात्मक होता है क्योंकि अभेदात्मकता आहार्य है, अनिवार्य नहीं। विषयी (आरोप्यमाण) में विषय (आरोप का पात्र) इस प्रकार लीन हो जाता है कि प्रतीति का अवसर ही उपस्थित नहीं हो पाता।[3] इस प्रकार रूपक में उपमेय और उपमान की अभिन्नता या तद्रूपता के रहते हुए भी दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है, दोनों का अपना-अपना महत्व है, इस तद्रूपता में भी बिलगता झाँकती रहती है परन्तु प्रतीक में ऐसा नहीं होता। प्रतीक का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। वह पूरे सन्दर्भ को अपने अन्दर समेटे रहता है। रूपक के समान प्रतीक में उपमान या उपमेय की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं रहती, इसमें उपमान (या कहीं-कहीं उपमेय) के द्वारा ही सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जाती है। डा० वीरेन्द्रसिंह के अनुसार जब उपमान में उपमेय विलीन या अन्तर्भूत हो जाता और उपमान ही पूरे सन्दर्भ को, किसी भाव, विचार का वाहक बनकर किसी विशेष अर्थ की व्यंजना करता है तो वह प्रतीक बन जाता है।···प्रतीक रूपक की सापेक्षता में व्यक्त और अव्यक्त का एक साथ अन्तर्लय अपने में कर लेता है। वह अपने में कार्य कारण का रूप मुखर करता है। वह (प्रतीक) मूर्त और अमूर्त की तरह अकेला कार्य करता है।[4] यथा—

कबीर काइआ कजली बनु, भइया मनु कुंजरु मयमंतु।
अंकसु ग्यानु रतनु है खेवट विरला संतु॥[5]

यहाँ रूपक के द्वारा नर और वन का चित्रण किया गया है। 'काइआ', मनु, ज्ञान, सन्त आदि उपमेय हैं जिन पर कजली वनु, मयमंतु कुंजरु, अंकसु, खेवट आदि उपमान का आरोप किया गया है। इस उदाहरण में उपमेय और उपमान का अपना-अपना महत्त्व है, उपमान का आरोप है पर बिनाउपमेय के उपमान की उतनी

---

१. 'उपमा के ही रूप सों मिल्यौ बरनि में रूप—केशव, कविप्रिया १३/१२
'बरनत विषयी विषयकों करि अभिन्न तद्रूप'—मतिराम, ललितललाम ६८
'कहुं कहिये ये दूसरौ कहुं न राखिए भेद— भिखारीदास, काव्यनिर्णय, १०
उपमा अरु उपमेय को भेद परे नहिं जान।
समता व्यंग रहे जहाँ, रूपक ताहि बखान॥—कुलपति रस रहस्य,
२. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः। काव्यप्रकाशः दशमोल्लास पृ० ३७७
३. वही, द्वितीयोल्लास, पृ० १५
४. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, पृ० ११४
५. सन्त कबीर, सलोकु २२४—पृ० २८०

सबल और सशक्त अभिव्यक्ति सम्भव नहीं थी। प्रतीक में तिरोहित उपमेय का उपमान द्वारा ही भान होता है—

काहे री नलिनी ! तू कुमिलानी, तेरे नाल सरोवर पानी।[1]
अस जुलाहा का मरम न जाना। जिन्ह जग आनि पसारिन्हि ताना।
महि अकास दोउ गाड खंदाया, चाँद सुरज दोउ नरी बनाया।[2]

× × ×

घिर जातीं प्रलय घटाएँ, कुटिया पर आकर मेरी।
तमचूर्ण बरस जाता है, छा जाती अधिक अंधेरी।[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में 'नलिनी=आत्मा का, पानी, जुलहा=ब्रह्म का, ताना=सांसारिक प्रपंच का, महि, अकास=पिंड और ब्रह्माण्ड का, चाँद और सुरज=इडा और पिंगला का, कुटिया, घटाएँ, तमचूर्ण और अंधेरी क्रमशः हृदय, अवसाद, उदासी और क्षोभ के प्रतीक हैं। यहाँ केवल मात्र उपमान कथन से ही सम्पूर्ण सन्दर्भ की भाव व्यंजना की गई है। प्रतीक की यही विशेषता है कि वह एक शब्द से ही समस्त वातावरण की सृष्टि कर देता है। वन के किसी अज्ञात कोने में एक छोटी सी निर्बल कुटिया पड़ी है, चारों ओर प्रलयंकारी घटाएँ उठ रही हैं, अन्धकार का साम्राज्य है। प्रकृति के सन्दर्भ में अब तनिक मन:स्थिति की कल्पना कीजिए—हृदय अवसाद से भरा है, चारों ओर जहाँ तक दृष्टि जाती है निराशा है, दु:ख है, क्षोभ है, आशा की कोई धुंधली किरण भी दिखाई नहीं पड़ती। यहाँ प्रकृति का वातावरण मन की सुख-दु:ख भरी अनेक स्थितियों को स्पष्ट करता चला है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रतीक रूपक का आधार मूल रूप से ग्रहण तो करता है पर जहाँ रूपक रुक जाता है, प्रतीक भाव पथ की अग्रिम मंजिलों को तय करने के लिए अनवरत उपमान बढ़ता जाता है।

प्रतीक और रूपकातिशयोक्ति—रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमान के द्वारा ही उपमेय का कथन होता है। उपमेय पूर्णरूपेण उपमान में अन्तर्लय हो जाता है। इस अभेद के मूल में रूप, धर्म अथवा प्रभाव का साम्य होता है। इसमें उपमान द्वारा उपमेय का निगरण(अन्तर्भूत)किए जाने पर उसके कल्पित अभेद का कथन होता है।[4]

कनकलतयानि इन्दु इन्दु माँहि अरविन्द, झरैं अरविन्दन तें बुंद मकरन्द के।[5]

× × ×

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १०८ पद ६४
२. बीजक, रमैनी २८
३. आँसू, पृ० १६,
४. 'जहं केवल उपमान ते प्रगट होत उपमेय'—मतिराम, ललितललाम पृ० १११
'उपमेयहि को कहत जहँ तजि सुअर्थ उपमान'—पद्माकर, पद्माभरण पृ० ६२
'विदित जान उपमानकों, कथन काव्य में देखि'—भिखारीदास, काव्य निर्णय ११
५. भूषण—शिवराज भूषण, १०६

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ता उपर अमरित फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव ता पर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द ता ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥[1]

× × ×

बाँधा है विधु को किसने इन काली जंजीरों में।
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।[2]

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में केवल उपमानों के कथन द्वारा उपमेय का वर्णन किया गया है।

रूपकातिशयोक्ति में प्रयुक्त उपमान प्रसिद्ध होना चाहिए, वे उपमान अपने एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं। जैसे उपर्युक्त उदाहरण में इन्दु, विधु=मुख के लिए, सिंह=कटि के लिए; सरवर=नाभि प्रदेश के लिए, गिरिवर=उन्नत पुष्ट उरोजों के लिए, कपोत=ग्रीवा के लिए, शुक=नासिका के लिए, पिक=मृदुवचन के लिए, खंजन=आँख के लिए, धनुष=बंक भौहों के लिए, मनिधर नाग=वेणी के लिए लोक प्रसिद्ध उपमान हैं और क्रमशः अपने अर्थ में रूढ़ हो गये हैं। ये उपमान दो अर्थ की व्यंजना नहीं करते। प्रतीक में और रूपकातिशयोक्ति में मूलरूप से बहुत कम अन्तर है, पर प्रतीक का व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है। रूपकातिशयोक्ति में प्रतीक का रूप अप्रस्तुत परक ही अधिक होता है, इसी से इन प्रतीकों को हम अप्रस्तुत प्रतीक की संज्ञा दे सकते हैं। रूपकातिशयोक्ति आकार और गुण के स्थूलत्व पर आधारित होती है जबकि प्रतीक पद्धति में यह आधार अधिक सूक्ष्म और भावव्यंजक होता हैं। प्रतीक अपने अन्य सहधर्मियों का प्रतिनिधित्व भी करता है, उसमें बहिरंग सम्बन्ध के अनुपलब्ध होने पर भी प्रभाव साम्य ही इष्ट होता है—

विचारों में बच्चों की साँस।[3]

यहाँ हम 'बच्चों की साँस' को अप्रस्तुत मानकर उसमें भोलेपन का अध्यवसान स्वीकार कर रूपकातिशयोक्ति मान सकते हैं पर वास्तव में यहाँ 'बच्चों की साँस' उसमें निहित 'भोलेपन' का प्रतीक है। बालक अबोध होता है, सांसारिक छल कपट उसे छू भी नहीं पाते, वह उतना ही मासूम होता है जैसा प्रकृति ने उसे बनाया है। 'बच्चों की साँस' कहने से कवि का तात्पर्य बच्चों में निहित 'भोलेपन' की ओर इंगित करना है। उसका उद्देश्य परम्परागत उपमान का प्रयोग या चमत्कार उत्पन्न करना

---

१. **सूरसागर, पद २७२८**
२. **प्रसाद—आंसू, पृ० २१**
३. **पन्त—आंसू की बालिका, पृ० ११**

नहीं है, अतः प्रभाव साम्य के आधार पर यह प्रतीक का उदाहरण है रूपकातिशयोक्ति का नहीं। प्रतीक का इस प्रकार सहारा लेकर रूपकातिशयोक्ति अधिक मार्मिक, व्यंजक और प्रेषणीय बन जाती है।

रूपकातिशयोक्ति और प्रतीक आपस में इतने घुले मिले हैं, लगभग समान वृत्तियों के कारण हम रूपकातिशयोक्ति पर आधारित प्रतीकों को अप्रस्तुत परक प्रतीक भी कह सकते हैं।

प्रतीक और अन्योक्ति

'अन्योक्ति काव्य का प्राण, कला का मूल और कवि की कसौटी है।'[१] व्यंजना (या ध्वनि) इसकी बहुत बड़ी शक्ति है और इस शक्ति का जब कवि उपयोग करता है तो कविता में एक आभा छलछला उठती है, अर्थ गौरव भी बढ़ जाता है।'[२] अन्योक्ति में कवि प्रकृति के किसी उपकरण या दृश्यमान जगत के किसी घटना-व्यापार को प्रतीक बनाकर उसके माध्यम से हृदयस्थ किसी प्रस्तुत लौकिक या अलौकिक वस्तु, सिद्धान्त अथवा व्यापार समष्टि का बोध कराता है और इस प्रकार सारा प्रसंग सीधा अभिव्यक्त न होकर प्रतिबिम्ब रूप से अभिव्यक्त होता है।[३] यह वह कथन है जिसका अर्थ सामर्थ्य के विचारों से कथित वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर घटाया जाए, या दूसरे शब्दों में इसमें अप्रस्तुत या प्रतीक के माध्यम से प्रस्तुत का व्यंगात्मक वर्णन किया जाता है।[४] अन्योक्ति और प्रतीक शब्दान्तर से एक ही वस्तु के दो नाम हैं। अन्योक्ति में प्रतीक की स्थिति नितान्त स्वतन्त्र रूप में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व और विशेषताओं के साथ उभर कर आती है। अन्योक्ति में (और प्रतीक में भी) उपमान और उपमेय की एकाकारिता प्राप्त होती है, एक की अभिव्यक्ति से ही दूसरे की स्थिति अधिक स्पष्ट और सबल रूप में उभर जाती है। वह वस्तु, व्यक्ति या भाव जिसे अन्योक्ति (या दूसरे शब्दों में व्यंग) का माध्यम बनाया जाता है उसका मुख्य धर्म उस प्रक्रिया में इतना विस्तार प्राप्त कर लेता है कि सम्पूर्ण सन्दर्भ को अपने भीतर समाहित करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है और वह पूरे सन्दर्भ का प्रतीकीकरण कर देता है। इस प्रक्रिया में अन्योक्ति परक अप्रस्तुत में जितना प्रतीकत्व होगा, व्यंगार्थ उतना ही ग्राह्य, सबल और मार्मिक होगा। इस प्रकार की अप्रस्तुत योजना द्वारा प्रस्तुत पर कल्पना का आवरण पड़ते ही उसमें हृदय को स्पर्श कर देने वाला एक विचित्र और अननुभूत खुमार सा जागृत हो जाता है जो काव्य को चेतनता से भर देता है। यह चेतनता प्रारम्भ में अणु रूप में विकास पाती है, पुनः सहृदय के प्रांगण में अपना जो रूप फैलाती है वह घनीकृत रूई के समान सर्वत्र फैल जाती है। यहाँ तक

---

१. **रामदहिन मिश्र—काव्य में अप्रस्तुत योजना, पृ० ७३**
२. **डा० सुधीन्द्र-हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० ३६४**
३. **डा० संसार चन्द्र-हिन्दी-काव्य में अन्योक्ति, पृ० १५**
४. **हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३८**

कि उस विस्तार में पूरा जीवन ही समाहित हो जाता है। प्रतीक परक यह अन्योक्ति अभिव्यक्ति का कितना सबल माध्यम हो जाती है, एक उदाहरण दृष्टव्य है—

पट्ु पांखै भखु कांकरै, सपर परेई संग।
सुखी, परेवा! पुहुमि मै, एकै तुहीं बिहंग।।[1]

"अरे ओ परेवा (कबूतर)! इस (व्यवधान, व्याधि, संघर्ष आदि से युक्त) संसार में बस तू ही एक ऐसा है जो सुखी है क्योंकि तेरे पंख ही तेरे वस्त्र हैं, सर्व सुलभ कंकड़ पत्थर ही तेरा भोजन है; मन माने रूप में धरती और आकाश में मुक्त उड़ान भर सकता है, सुखी पारिवारिक (या दाम्पत्य) जीवन का भोग करता है। प्रिया से कभी भी वियोग नहीं होता।" पारावत को सम्बोधित करते हुए कवि का यह प्रतीकात्मक व्यंग अपने अन्दर जीवन की विविध कुण्ठाओं को समेटे हुए है। चेतन जगत का पूरा एक दृश्य साकार हो जाता है। 'परेवा' (अप्रस्तुत विधान) को प्रस्तुत रूप में एक पुरुष माने तो देखिए पूरा एक जीवन पृष्ठ किस प्रकार खुल जाता है—

परेवा प्रतीक है एक ऐसे पुरुष का जो स्वतंत्र नहीं है। मन में अनेक महत्वाकांक्षाएँ, वासनाएँ निवास करती हैं। वह परेवा के समान स्वतंत्र रूप में विचरण नहीं कर पाता; नित नूतन वस्त्र धारण करना चाहता है, स्वादिष्ट भोजन खाना चाहता है, जो कुछ समय पर अच्छा या बुरा मिल जाए उसी से सन्तुष्ट नहीं होता। 'सपर परेई संग' कथन बहुध्वन्यक है। पत्नी है पर मन में पल रही कुण्ठाओं के कारण दोनों का मिलन नहीं हो पाता, या पत्नी रूठ कर नैहर चली गई है और एक मीठी टीस बदले में दे गई है। अथवा पत्नी है, साथ भी है, पर इस संघर्षमय संसार में जीवन की सुविधाएँ जुटाने में ही अधिकांश समय लग जाता है, पत्नी के पास बैठकर दो मीठी बातें करना भी नसीब नहीं होता। अथवा पुरुष विधुर है और जब भी संसार में युगल दम्पत्ति को देखता है मन में अज्ञात ईर्ष्या उभर आती है। परेवा दम्पत्ति के दर्शन से उठी यह ईर्ष्या या प्रियतमा से मिलनोत्कण्ठा वियोग-शृंगार का पूरा चित्र उपस्थित कर देता है, मन में एक मधुर टीस उठ-उठकर रह जाती है। इस प्रकार प्रतीक परक अन्योक्ति (परेवा-प्रसंग) में किस प्रकार जीवन का चित्र और व्यापक भावों का समावेश हुआ है।

अन्योक्ति में प्रतीकों का चयन मानवेतर जड़ प्रकृति या चेतन प्रकृति से किया जा सकता है; उद्देश्य है भाव और रस की अभिव्यंजना करते हुए उसमें अधिक प्रेषणीयता लाना। कलाकार प्रकृति से ऐसे अप्रस्तुत उपादानों का चयन करता है जिनके माध्यम से वह स्वसंवेद्य भावों की सफल अभिव्यक्ति कर सहृदय को रसार्द्र कर देता है। सफल भाव व्यंजना के बिना अन्योक्ति का प्रभाव न तो मर्मस्पर्शी ही हो सकता है और न चिर स्थायी। अन्योक्ति की सफलता तो कवि प्रतिभा पर आश्रित है, जिस सीमा तक वह 'वस्तु' को प्रतीक रूप में रूपान्तरित कर सकेगा, भाव का प्रभाव उतना ही गहरा होगा।

---

१. बिहारी रत्नाकर, दोहा सं० ६१९

अन्योक्ति के अप्रस्तुतों में प्रतीकत्व रहता है, पर ये प्रतीक स्वतंत्र प्रतीक के समान बलवान् नहीं होते। प्रसंग सापेक्ष एवं रूढ़िगत होने के कारण सीमित अर्थ की व्यंजना करते हैं। फिर भी अपनी सशक्त अर्थोत्पत्ति और भाव व्यंजना के लिए अन्योक्ति को प्रतीक की ओर देखना पड़ता है। प्रतीक ही अन्योक्ति के प्राण तथा भावों की खान है।

प्रतीक और रूपककाव्य (Allegory)

रूपक कथाकाव्य से तात्पर्य उस कथात्मक प्रबन्ध से है जिसमें प्रस्तुत कथा के भीतर कोई अन्य अप्रस्तुत कथा अन्तःसलिला की भाँति छिपी रहती है।[1] न्यू वेवेस्टर इन्टरनेशनल डिक्शनरी के अनुसार 'एलिगरी एक ऐसा लम्बा रूपकात्मक कथा काव्य है जिसमें एक कथा दूसरी कथा में प्रस्तुत या अप्रस्तुत रूप में छिपी रहती है, घटनाएँ प्रतीकात्मक तथा पात्र मानवीकृत या टाइप होते हैं।[2]

डा० नगेन्द्र के अनुसार 'एलिगरी एक प्रकार के कथा रूपक को कहते हैं। इस प्रकार की रचना में प्रायः एक द्व्यर्थक कथा होती है, जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है।'[3] कथा रूपक में कवि-लेखक एक बहुत बड़े सन्दर्भ का प्रतीकीकरण करता है क्योंकि वह इसके द्वारा किसी प्रस्थापना या 'सत्य' को व्यंजित करना चाहता है चाहे वह भौतिक जड़ माध्यम हो या चेतन, या कोई ऐसा व्यक्ति विशेष जिसके माध्यम से किसी अन्य तत्व, भाव या वस्तु की व्यंजना हो सके। रूपक कथा काव्य के सभी पात्रों का (चाहे मानवेतर प्रकृति से लिए गए हों या मानवीय व्यक्तित्व से) उद्देश्य किसी भाव या सत्य को कथा के माध्यम से अभिव्यक्त करना है।

रूपक कथा काव्य का चाहे अपने आप में कितना ही महत्व क्यों न हो, पर प्रतीक के बिना वह पंगु हो जाएगी। उसका सारा भवन प्रतीक की नींव पर खड़ा है। प्रतीक प्राण भूत तत्व बनकर काव्य को रूप प्रदान करता चलता है। प्रतीकवाद का ही आधार लेकर संसार के महान्तम काव्य ग्रन्थों की रचना हुई है। युगों की सांस्कृतिक चेतना, मानवी सभ्यता ने अपने आपको इसी शैली में सुरक्षित रखा है। इस शैली में लिखे गए काव्य ग्रन्थ अपने भीतर सांस्कृतिक सभ्यता के विकास की कहानी समेटे हुए हैं अन्यथा न जाने यह चेतना कब की रसातल में पहुँच चुकी होती। वेद, उपनिषद् और पुराणादि में यह प्रतीकात्मक कथा रूपक शैली अपने उन्नत और विकसित रूप में प्रयुक्त हुई है।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७२९

2. An allegory is a prolonged metaphor in which typically a series of actions are symbolic of other actions while the characters often are type or personifications."
Websters New International Dictionary—Page 68

३. साहित्य सन्देश, जिल्द १९५०-५१, पृ० ८९

रूपक कथा काव्य में प्रतीकों का महत्व है परन्तु इससे पृथक् प्रतीक के स्वतंत्र महत्व की ओर दृष्टिपात करें तो रूपक कथा में प्रयुक्त प्रतीक की अपेक्षा स्वतंत्र प्रतीक कहीं अधिक व्यापक अर्थ की व्यंजना करते हैं, क्योंकि रूपककथा काव्य के प्रतीक को रचयिता द्वारा प्रेरित अनेक क्रिया कलापों को पूरा करना पड़ता है, एक कथा प्रवाह में आने के कारण उनका अर्थ अपेक्षाकृत सीमित भी हो जाता है। वह कथा प्रवाह की सीमा को लाँघकर अन्य प्रदेश में स्वतंत्र विचरण नहीं कर सकता इसलिए व्यंजना और मार्मिकता में कुछ पीछे छूट जाता है।

ऊपर हमने कुछ प्रमुख सादृश्य मूलक अलंकारों और प्रतीक का संयुक्त विवेचन करते हुए अलंकारों से प्रतीक के साम्य और अन्तर पर प्रकाश डाला है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रतीक किसी वस्तु या भाव के समान धर्मी समस्त पदार्थों के प्रतिनिधि रूप में आते हुए भी अनेक नए-नए भावों की व्यंजना अनूठे ढंग से करता है परन्तु अलंकार किसी निर्दिष्ट धर्म, रूप, गुण, या भाव के सादृश्य प्रदर्शन के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। उनमें प्रयोगकर्त्ता के निर्दिष्ट अर्थ या भाव से विलग होकर सौन्दर्योत्पत्ति की उतनी क्षमता नहीं होती क्योंकि अलंकारों का सम्बन्ध या आधार प्रायः स्थूल एवं चाक्षुष प्रत्यक्ष से होता ह जबकि प्रतीक का सम्बन्ध सूक्ष्म और मानस प्रत्यक्ष से ही अधिक होता है। प्रतीक में प्रयुक्त शब्द प्रायः स्वतंत्र होते हैं। अपनी भावाभिव्यंजना के लिए उन्हें किसी अन्य प्रत्यक्ष या प्रस्तुत की आवश्यकता नहीं होती, अलंकारों में जबकि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रस्तुत की अपेक्षा रहती है।

प्रतीक में प्रथमतः हम स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त शब्द की विशेषताओं पर विचार कर लक्षण द्वारा सम्बन्धित वस्तुओं पर उन विशेषताओं का आरोप करते हैं (पर ऐसा करने में भी शब्द की स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है) पर अलंकार में प्रस्तुत के ही सन्दर्भ और सापेक्षता में अप्रस्तुत के गुण धर्म आदि पर विचार करते हैं क्योंकि अलंकार में हमारा उद्देश्य प्रस्तुत या अप्रस्तुत के द्वारा इच्छित सौन्दर्य की सृष्टि करना होता है।

प्रतीक रूप में प्रयुक्त शब्द या भाव में अलंकार की अपेक्षा अर्थ वैविध्य भी अधिक रहता है, इसका कारण है प्रतीक की स्वतन्त्र प्रकृति; जबकि अलंकारों में प्रयुक्त उपमान आदि किसी विशेष अर्थ में रूढ़ होकर आते हैं। जैसे उपमान रूप में प्रयुक्त सिंह रमणी की क्षीण कटि की ओर ही संकेत करेगा, शुक नासिका और सर्प वेणी का ही बोध कराते हैं, पर प्रतीक रूप में प्रयुक्त ये ही शब्द अनेकार्थवाची हो जाते हैं—

'एक अचम्भौ देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई
नित उठि स्यार स्यंघ सू जूझै।'[1]

उक्त उदाहरणों में सिंह ज्ञानवान मन और मलिन मन का प्रतीक है। इसी प्रकार सिंह का आत्मा, शक्ति, दृढ़ निश्चय के अर्थों में, सर्प का मन, माया आदि अर्थों में

१. **कबीर ग्रन्थावली**, पद ११६ तथा १२०।

भी प्रयोग होता है। 'कली' शब्द प्रतीक रूप में प्रयुक्त होकर नवयौवना या यौवन के द्वार पर आरूढ़ होने को आतुर नायिका के लिए,[१] हृदयस्थ भाव[२] और असहाय मरणशील प्राणी[३] का बोध कराता है। इसी प्रकार अलंकार की दृष्टि से (उपमान रूप में) गाय (गो) का अर्थ भोले और निरीह प्राणी के रूप में लिया जा सकता है, पर प्रतीक रूप में यह शब्द आत्मा,[४] वाणी,[५] माया,[६] जिह्वा,[७] किरण, वृषराशी, इन्द्रिय, सरस्वती, आँख-दृष्टि, माता[८] आदि अर्थों में भी प्रयुक्त हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतीक भावगत चमत्कार, आकर्षण, प्रभाव एवं प्रेषणीयता की दृष्टि से अलंकारों (जो किन्हीं अर्थों में सीमित भाव व्यंजना युक्त होते हैं) से बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

प्रतीक और शब्द-शक्ति :

शब्द में शब्द-शक्ति का बड़ा महत्व है। शब्द की सार्थकता उसकी शक्ति पर ही आश्रित रहती है। जब शब्द वाक्य में प्रयुक्त होता है तो उसकी शक्ति प्रत्यक्ष होकर उसकी विशेषता का प्रतिपादन करती है। शब्द-शक्ति को सुचारुता प्रदान करने के लिए शब्द का सार्थक, उपयुक्त एवं सुष्ठु प्रयोग नितान्त आवश्यक माना गया है। इससे काव्य में अभिप्सित अर्थ की प्रतीति के साथ-साथ भाषा में भी रमणीयता और चमत्कारिता उत्पन्न होकर कवि की वाणी को प्रभावोत्पादकता प्राप्त होती है। "अतएव श्रेष्ठ साहित्य या काव्य में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो रचयिता में तो सुप्त भावों का उदय करे ही, पाठक या श्रोता को भी अनुरंजित करते हुए उसमें यथावसर संवेदनशीलता को यहाँ तक उद्‌बुद्ध करने में समर्थ हो कि वह निष्क्रिय या निश्चेष्ट न रहकर सजग और सक्रिय हो जाये।"[९]

---

१. अली, कली ही सौं बंध्यो···। बिहारी रत्नाकर, दोहा ३८
२. क्या तुम्हें देख कर आते यों, मतवाली कोयल बोली थी,
उस नीरवता में अलसाई कलियों ने आँखें खोली थीं।
प्रसाद, कामायनी, कामसर्ग २०
३. माली आवत देखकर कलियन करी पुकार, कबीर ग्रन्था०, पृ० ७२
४. एक गाइ नौ बछड़ा, गोरखबानी, ११३
५. चारि ब्रिछ छव साषा वाके पंत्र अठारह भाई।
एतिक लैगम कीदृसि गइया, गैया अति हर हाई। कबीर बीजक, १६५
६. गैया पियै बछरुहिं दुहिया। कबीर बीजक १७१
(संसार में जीव के प्रपंच में रत हो जाने पर गाय (माया) ने बछड़े (जीव) का दूध (ज्ञान) दुहकर पी लिया।)
७. गाशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांस भक्षणं ततु महापातक नाशनम्॥ हठयोग प्रदीपिका—३/४३पृ० ६३
८. नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृ० ३३२
९. डा० प्रेमनाराण टण्डन 'सूर की भाषा, पृ० ४८८

काव्य में तीन ही शब्द-शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। अभिधा शक्ति से तो द्योतित वाच्यार्थ की उपलब्धि का पाठक शब्द या वाक्य का सीधे-सीधे तात्पर्य ग्रहण कर लेता है। सरलतापूर्वक शब्द के संकेतित अर्थ-बोध में अभिधा शक्ति ही सहायक होती है। यथा—

"आजु नन्द के द्वारे भीर।
इक आवत इक जात विदा है, इक ठाढ़े मन्दिर के तीर।"[1]

में अभिधा शक्ति की सहायता से पाठक सीधा अर्थ-ग्रहण कर लेता है, उसे कोई कठिनाई नहीं होती।

किन्तु कलाकार की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वह कोरे साधारण अर्थ-मात्र से अवगत कराने में ही कला की शक्ति नहीं मानता। वह अर्थबोध कराने के साथ-साथ ही वर्ण्य-विषय का संपूर्ण चित्र पाठक के समक्ष उतार देने के लिए उतावला रहता है। निस्सन्देह, ऐसे अवसरों पर भी अभिधा शक्ति उसकी बड़ी सहायता करती है किन्तु हृदय की दृढ़ भावनाओं और गम्भीर विचार-सरणियों के क्षेत्र में अभिधा कृतकार्य नहीं हो पाती। वहाँ अनेक स्थान ऐसे संकेतों एवं चमत्कारों से परिपूर्ण होते हैं कि लक्षणा-शक्ति का सहारा अपरिहार्य हो जाता है। निस्सन्देह, जहाँ प्रच्छन्न भावों की व्यंजना का प्रश्न उठता है वहाँ लक्षणा या व्यंजना शक्तियाँ ही अपना चमत्कार प्रस्तुत करती हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक निबन्ध में लिखा है कि "भावोन्मेष, चमत्कारपूर्ण अनुरंजन इत्यादि और जो कुछ भाषा करती है, उसमें अर्थ का योग अवश्य रहता है। अर्थ जहाँ होगा वहाँ उसकी योग्यता और प्रसंगानुकूलता अपेक्षित होगी। जहाँ वाक्य या कथन में यह योग्यता, उपपन्नता या प्रकरण संबद्धता नहीं दिखाई पड़ती, वहाँ लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों का आह्वान किया जाता है और योग्य अथवा प्रकरण सम्बद्ध अर्थ प्राप्त किया जाता है। यदि इस अनुष्ठान से भी योग्य या सम्बद्ध अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, तो वह वाक्य या कथन प्रलाप मात्र मान लिया जाता है।...अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धिग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है।"[2]

मनुष्य अपनी बौद्धिकता से यहाँ तक विवश है कि उसे "साधारण" से सन्तोष नहीं होता। इसी से कवि अपनी रचनाओं में साधारण शब्दावली या साधारण भावाभिव्यंजन प्रणाली को विशेष प्रश्रय नहीं देता। वह उन्हें अधिकाधिक सुन्दर और प्रभविष्णु बना देना चाहता है। वह सांकेतिक प्रणाली अपनाकर अपने हृदय का प्रस्फुटन करना अधिक समीचीन समझता है अन्यथा फिर साधारण व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व की विभाजन-रेखा कहाँ मानी जायेगी? कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्यकार की इसी प्रवृत्ति ने ही लक्षणा और व्यंजना शक्तियों को जन्म दिया है।

१. सूरसागर, १०-२५
२. **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, "इन्दौर-सम्मेलन का भाषण"**, पृ० ७

ध्वनि और प्रतीकों के उद्भव के मूल में भी यही वृत्ति मुझे क्रियाशील दिखाई देती है। "सुमनों की सुकुमारता का अनुभव करके किसी के कोमल करों को वह (कवि) "कमल" बताता है, उसकी स्निग्धता और सुगन्धपूर्ण सरसता देखकर किसी सुन्दर मुख की मधुर मनोहर वाणी को "फूलों का झड़ना" या उसकी सस्वरता को "कोकिल की कूजन" समझता है।...ऐसे प्रयोगों में वह शब्दों के मुख्य या साक्षात् संकेतित अर्थ से होता हुआ तत्सम्बन्धी एक नवीन अर्थ का बोध कराता है जो असाक्षात् होते हुए भी अयोग्य, अनुपयुक्त या असंगत तो होता ही नहीं, साथ-साथ पाठक या श्रोता के सामने वर्ण्य-विषय, वस्तु या व्यापार का साकार या मूर्त-सा चित्र भी उपस्थित करता है जो कभी कल्पना और कभी प्रकृत ज्ञान द्वारा सहज ही ग्राह्य होता है। काव्यभाषा की चित्रमयता नामक विशेषता प्रायः इस लक्षणा-शक्ति की ही देन होती है।"[1] वास्तविकता यह है कि रहस्यात्मक एवं आलंकारिक उक्तियों के मर्म को यदि कोई शक्ति स्पष्टता प्रदान करती है तो वह लक्षणा-शक्ति ही है। जब शब्द के वाच्यार्थ से अर्थ की कोई संगति नहीं बैठती तब 'लक्षणा' से ही काम चलता है। "चित्र भाषा शैली या प्रतीक-पद्धति में वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार होता है।"[2] यथा—

"पिय बिनु नागिन कारी राति,
कबहुंक जामिनि उबति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जात॥"[3]

"काली रात" को सर्पिणी-दंशन के समान भयानक कष्टप्रद स्वभाव वाली जानकर ही उक्त पद में उसे "नागिन" कहा गया है। निस्सन्देह, इस पद का जो आत्म-सौन्दर्य "लक्षणा" द्वारा प्रस्फुटित हुआ है वह "अभिधा" द्वारा किसी भी रूप में सम्भव नहीं हो पाता।

काव्य में कवि या साहित्यकार कभी-कभी ऐसे भी प्रयोग कर बैठता है जिनमें साधारण के साथ-साथ कुछ विशेषार्थ भी निहित रहता है। ऐसे निहित अर्थ का प्रस्फुटन करने में "व्यंजना" शक्ति ही कृतकार्य हो पाती है। काव्य या कथन का यह ध्वनितार्थ अभिधा और लक्षणा की क्रियायें सम्पन्न हो जाने के बाद व्यंजित होता है। जैसे—"कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।"[4]

इस वाक्य में जब 'अभिधा' द्वारा अर्थ की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती तब "लक्षणा" से शब्दार्थ की योग्यता प्रस्थापित हो जाती है (अर्थात् आपत्ति काल है और कोई शत्रु हमारे लेफ्टीनेण्ट साहब की वर्दी धारण करके हमारे शिविर में आ गया है)। किन्तु इससे भी गूढ़ एक और अर्थ कि "या तो हमारे 'लपटन' साहब पकड़ लिये गये हैं या उनका बध हो गया है" ध्वनित होता है जो व्यंजना-शक्ति का काम है।

---

१. डा० प्रेमनारायण टण्डन, सूर की भाषा, पृ० ४९२
२. श्री रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८०७
३. सूरसागर, ३८९०
४. श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, "उसने कहा था"

'प्रतीक' भी अपनी विहित शक्ति से अप्रस्तुत अर्थ की व्यंजना करता है। यहाँ भी जब शब्दों के वाच्यार्थ से अभीष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं होती, तब लाक्षणिकता का सहारा लेकर ही उसे प्रकट किया जाता है। गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो लाक्षणिक अर्थ, व्यंग्यार्थ और प्रतीकार्थ में कोई मूलभूत अन्तर दिखाई नहीं देता। भारतीय काव्यशास्त्र में शब्द शक्तियों के जिस व्यापक स्वरूप की चर्चा की गई है, उसमें 'प्रतीक' का अस्तित्व ही विलुप्त प्राय: दिखाई देता है और ध्वनि-साहित्य के अध्ययनकर्ता के लिए तो ध्वनि और प्रतीकार्थ में अन्तर स्पष्ट कर सकना एक समस्या बन जाती है। तथापि "प्रतीक" की अपनी कतिपय विशेषतायें इस प्रकार हैं—

१. 'प्रतीक' किसी भाव-विशेष के लिए रूढ़ होते हैं परन्तु 'लक्षणा' में रूढ़ता का प्राय: अभाव रहता है। (यह गुण-साम्य पर विशेष आधारित रहती है।)

२. 'प्रतीक' स्वतन्त्र होते हैं जबकि 'लक्षणा या व्यंजना, को प्रयुक्त शब्दावली का पल्ला पकड़कर ही अभीष्ट अर्थ की प्रतीति करानी पड़ती है।

३. प्रतीक में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का तादात्म्य रहता है जबकि शब्द-शक्तियों में नहीं।

४; 'प्रतीक' में भावाभिरंजन की चित्रोपमता का आग्रह होता है परन्तु शब्द-शक्तियाँ 'अर्थ' के प्रति विशेष उन्मुख होती हैं।

परिस्थिति और देशकाल के अनुसार प्रतीकों में अन्तर और उनका सृजन

प्रतीक भावाभिव्यंजना के प्रबल माध्यम हैं पर भिन्न-भिन्न देशों की सभ्यता संस्कृति, तज्जन्य धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आन्दोलन, जलवायु, प्रकृति एवं परिस्थितियों का इनके निर्माण और विकास में महत्वपूर्ण हाथ रहता है। प्रतीकों का भाव, रूप-विधान व्यक्ति तथा समाज सापेक्ष है। जैसी चले बयार पीठ तब तैसी दीजै, का मूर्त रूप प्रतीकों में देखने को मिलता है। ऐसे प्रतीक कम ही हैं जो सार्वभौम हैं जैसे 'सिंह' प्राय: सभी स्थानों पर शूरता, निर्भीकता का 'श्रृगाल' कायरता और चालाकी का, श्वेत रंग पवित्रता, स्वच्छता, प्रकाश, ज्ञान और सुख का एवं तम अज्ञान और दुख का प्रतीक माना जाता है।

जलवायु के आधार पर प्रतीक

भारत और यूरोपीय देशों की जलवायु में महान अन्तर है। भारत के अधिकांश भागों में उष्णता का प्राधान्य है जबकि योरोप के देशों में शीताधिक्य रहता है। इसलिए उष्ण कटिबन्ध के देशों में शीत आनन्ददायक है जबकि शीतप्रधान देशों में वह दुखदायी है। वहाँ उष्णता सुख, आनन्द और उल्लास का प्रतीक है, स्वागत के साथ उष्णता का प्रयोग 'वार्म वेलकम' (Warm Welcome) इसी का परिणाम हो सकता है, पर योरोप की यह आनन्ददायी उष्णता भारत के लिए कष्टप्रद ही है। कवियों ने इस व्याकुलता का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है—

वृष को तरनि तेज सहसा किरन करि।
ज्वालन के ज्वाल विकराल बरसत हैं।[१]

वैसाख और जेष्ठ मास की उष्णता, चारों ओर धूल भरे बवण्डर उठ रहे हैं, धरती तवे सी धधक रही है, पशुपक्षी व्याकुल हैं, ग्रीष्मराज का चारों ओर आधिपत्य है। छाया भी इस पीड़ा को न सहकर किसी आश्रय की तलाश में है।[२] ग्रीष्म की यह उष्णता उस समय असहनीय हो जाती है जब बिरहिन के कन्त परदेश में हों। यह तपन कन्त के रहने से कम हो जाती है।[३] पर प्रिय के न होने पर शीतलता देने वाली वस्तु भी जलाने लगती है,[४] जलन और भी बढ़ जाती है।[५] यही उष्णता शीत प्रधान देशों के लिए वरदान हैं। सूर्य की उजली धूप (आनन्द का प्रतीक) जनमन रंजन करती है, चारों ओर एक नई उत्फुल्लता फैल जाती है।[६] आन्तरिक शक्ति से अभिभूत प्रकृति में सौन्दर्य के साथ एक शक्ति, गति व्याप्त हो जाती है। मानव उससे तादात्म्य स्थापित कर उसी के स्वर में स्वर मिलाकर गुनगुनाना या आँसू बहाना चाहता है।[७] दुख-सुख की यह आँख मिचौनी जीवन में एक नया रस घोल देती है। सघन वनमाला, उच्च शैल शिखरावली, दूर-दूर तक फैली विस्तृत गम्भीर जलराशि भारत जैसे देश के लिए आनन्द के प्रतीक हो सकते हैं पर फारस वालों के लिए तो ये कष्ट और यातना के ही प्रतीक हैं।

सभ्यता और संस्कृति के आधार पर प्रतीक

भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति को यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो उनमें पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है। भारतीय संस्कृति का मूलभूत आधार आस्तिकवाद पर

---

१. **कवित्त रत्नाकर ५८/११**
२. **देखि दुपहरि जेठ की छांहौं चाहति छांह।**—बिहारी रत्नाकर, ५२
३. **ऋतु ग्रीष्म के तपनि न तहाँ। जेठ असाढ़ कन्त घर जहाँ**
जायसी ग्रन्थावली, षटऋतु वर्णन खण्ड, पृ० १४८
४. **भा वैसाख तपनि अति लागी चोआ चीर चन्दन भा आगि**—वही, पृ० १५६
५. **सीतल चन्द अगिन सम लागत**—सूरसागर, पद ३९७५
6. The Sun is warm, the sky is clear.
The waves are dancing fast and bright.
Shelley-Stanzas written in dejection near Naples
7. Make me thy lyre, even as the forest is;
What if my leaves are falling like its own !
The tumult of thy mighty harmonies,
× × ×
If winter comes, can spring be far behind ?
Shelley, Poems, Page 21-22 (Ode to the West Wind)

आधारित है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म और मोक्ष तक जाना जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष आत्मा का चरम गन्तव्य है। भौतिक मान्यताएँ नगण्य हैं। इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन में भौतिक जगत की व्याख्या और ज्ञान ही प्रमुख है। विज्ञान, गणित, सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था सम्बन्धी आग्रह इसी जड़ात्मवादी दर्शन की प्रक्रिया ही है। वहाँ के अध्यात्मवादी या प्रत्ययवादी विचारक प्रायः विश्व को परब्रह्म की अभिव्यक्ति ही कहते रहे हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार मायिक नहीं। यही कारण है कि जब भारतीय दर्शन ब्रह्म और आत्मा की व्याख्या के नए सोपान खोज रहा था, पाश्चात्य दर्शन से अभिभूत देश विज्ञान को वरदान मानकर शक्ति और समृद्धि की नई-नई मंजिल तय करने में जुटे हुए थे।

सभ्यता और संस्कृति के इस मूलभूत अन्तर के कारण प्रतीकों के सृजन और विकास में भिन्नता के दर्शन होते हैं। ब्रह्म और आत्मा के धार्मिक विश्लेषणवाद की छाया में पले भारत में गंगाजल, कैलाश, मानसरोवर, शंख, कामधेनु, कल्पवृक्ष, हंस, मयूर, स्वांति आदि शब्द जिस पवित्र अर्थ की अभिव्यक्ति या भावनाओं का प्रतिपादन करते हैं वह अन्य देश के लिए सम्भव नहीं है। इसी प्रकार बुलबुल, जाम, सुराही, कोहनूर तथा इसी श्रेणी के अन्यान्य शब्द फारस देश में जिस अर्थ या भावना का द्योतक करते हैं वह यहाँ सम्भव नहीं। गतिमान चक्र भौतिक प्रगति का स्पष्ट प्रतीक है। जान गैम्बल के मतानुसार 'क्रास' का आदितम रूप मृत्यु का द्योतक नहीं था वरन् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रतीक था;[1] क्रास की भावना में दुःखात्मक अवसाद का आरोप अनेक शताब्दियों के बाद हुआ। क्रास के व्यापक अर्थ का आरम्भ उस समय से होता है जब उसे जीवन वृक्ष के रूप में देखा गया।[2] क्रास का प्रतीकार्थ उस उर्ध्वगामी दशा का द्योतक है जहाँ पर समस्त पापों का शमन हो जाता है। अतः क्रास के प्रतीक रूप में मानवीय, भावनात्मक और विश्व सम्बन्धी तथ्यों का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। क्रास सम्पूर्ण ईसाई धर्म के नाटक का परम प्रतीक है समस्त पाप, पीड़ा, क्लेश और उनसे मुक्ति का द्योतक है। क्रास से ईसा मसीह के बलिदान की स्मृति सजग हो जाती है अतः यह चिन्ह्न पवित्रता, बलिदान, त्याग, उत्थान स्वर्गीय शान्ति आदि भावनाओं का प्रतीक बन गया। भारतीय संस्कृति से पोषित स्वस्तिक चिह्न भी इन्हीं भावनाओं का ही द्योतन करता है।

धार्मिक एवं जातिगत संस्कारों के आधार पर प्रतीक

दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित धर्म भारतीय संस्कृति का वह मूलभूत प्राण है जिसमें बहुदेववाद को सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों रूपों में सामान्यतः स्वीकार किया गया है। गणेश सभी देवताओं में शीर्षस्थ हैं जिनकी उपासना दो रूपों में की है

---

१. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, भाग १२ (१६२१)

२. साइकोलोजी ऑफ द अनकान्शस, युंग, पृ० १६३

आदिशक्ति परमात्मा ब्रह्म[१] और (२) गुणाभिमानी तथा निमित्ताभिमानी देवता के रूप में।[२] ऊँ को भी गणेश का प्रतीक माना गया है। ऊँ के ऊपर का भाग मस्तक का वृत्त, नीचे वाला भाग उदर का विस्तार, सूँड नाद और लड्डू बिन्दु है। इनको मोदक प्रिय माना जाता है। असंख्य जीव ही मोदक जो प्रतीकात्मक हैं जो इनके आकाश रूपी विशाल उदर में समाते हैं। गणेश का एक नाम 'लम्बोदर' भी है। इनका यज्ञोपवीत, तीन नेत्र,[३] चार भुजाएँ[४] (जिनमें पाश, अंकुश, वर और अभय सुशोभित हैं)[५] सूंड, वाहन[६] सभी कुछ प्रतीकात्मक हैं।

मूषिक विघ्न का प्रतीक है पर विशाल बुद्धि के (गणेश का विशाल शरीर) प्रभाव से समस्त विघ्न चाहे वे कितने ही विशाल क्यों न हों मूषिक से लघु, कृश और असहाय हो जाते हैं। 'सूंड' (लम्बी नाक) प्रखर बुद्धि का प्रतीक है और बुद्धि के अधीश्वर गणेश का गजानन के रूप में चित्रण प्रतीकात्मक है। स्वयंभू ब्रह्मा के चार मुख और चार भुजाएँ ऋग्वेदादि चारों वेद, कृत आदि चारों युग तथा ब्राह्मणादि चारों वर्णों के प्रतीक हैं।[७] वाहन राजहंस शुद्धता ,शान्ति, पवित्रता और प्राणशक्ति का प्रतीक है। कमल से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा को 'अब्जयोनि' कहा है, कमल के पत्ते प्रकृति का, केसर-परिवर्तन या विवर्त का और नाल चेतना का प्रतीक है।[८] झील के विस्तृत और धुंधले तल पर तैरते हुए उज्ज्वल कमलों में,

---

१. परब्रह्मरूपं चिदानन्दरूपं परेशं महेशं गुणाब्धिं गणेशम्।
गुणातीतमीशं मयूरेशवन्द्यं गणेशं नताःस्मो नताःस्मो नताःस्मः।
मयूरेश्वरस्तोत्रम्, श्लोक १, भा० प्र० विद्या पृ० ३६ से उद्धृत

२. यज्ञोपवीतं त्रिगुणस्वरूपं सौवर्णमेवं सहिनाथभूतम्।' (इनका यज्ञोपवीत कभी काल—सर्प और कभी त्रिगुणात्मक प्रणव है।)
गणेशमानस पूजा, श्लोक २१, भा० प्र० विद्या पृ० ४० से उद्धृत

३. शशिभास्करवीतिहोत्रहक्—गणेशस्तवराज, श्लोक ८

४. दिशश्चतस्रव्यय वाहवस्ते—विष्णुपुराण, ५-४-९६

५. 'रागः पाशः, द्वेषोऽकुशः'—भावनोपनिषद्—तथा
इच्छाशक्तिमयं पाशमंकुशं ज्ञानरूपिणम्।—वामकेश्वरतंत्रम्, भा० प्र० विद्या पृ० ४०

६. वृष, सिंह, गरुड़ और मयूर गणेश के वाहन माने जाते हैं जो धर्म के प्रतीक हैं। मूषिक धर्म के रूप में इनका एक प्रमुख वाहन माना जाता है—
अधुना सम्प्रवक्ष्यामि रहस्यं मूषिकस्य च। वृषाकारमहाकाय वृषरूप महावल।
धर्मरूप वृषस्त्वं हि गणेशस्य च वाहनम्।
कालीविलासतन्त्रम्, पटल १८, श्लो० १०-११, भा० प्र० विद्या से उद्धृत

७. ऋग्वेदादि प्रभेदेन कृतादियुगभेदतः।
विप्रादिवर्णभेदेन चतुर्वक्रां चतुर्भुजम्॥ रूपमण्डन, भा० प्र० विद्या, पृष्ठ ५१

८. प्रकृतिमय पत्रविकारमय केसरसंविन्नालादिवि शेषणशीलं पद्मम्।
ललितासहस्रनाम (सौभाग्य-भास्करभाष्य) पृ० ८१

प्रभातकालीन बालदिवाकर की रश्मियों के प्रथम आलिंगन से प्रस्फुटित होती और अस्ताचलगामी सूर्य के साथ बन्द होती कलियों में, कीचड़ की गहराइयों में छिपी विस्तृत जड़ों में सम्पूर्ण सृष्टि ही प्रतीक रूप में दिखाई पड़ती है।[१]

विष्णु और उनकी चार भुजाएँ चारों दिशाओं का प्रतीक है।[२] आकाश ही उनका मस्तक है,[३] सूर्य और चन्द्र उसके दो नेत्र हैं।[४] विष्णु की चार भुजाओं में शंख (वाक् या शब्द-ब्रह्म का प्रतीक, सृष्टि का कारण होने से रजोगुण का प्रतीक), चक्र (संहार शक्ति का प्रतीक होने के कारण अधर्म को मिटाकर धर्म की स्थापना करने में सहायक), गदा (तमोगुणात्मक संहार शक्ति का प्रतीक) और पद्म (सृष्टि विकास का प्रतीक) है। विष्णु का वाहन गरुड़ भी वेद और धर्म का प्रतीक है। शेषनाग की शय्या काल का प्रतीक है जो असंख्य रूपों में सृष्टि का विकास और संकोच करता है।[५]

शिव और उनके तीन नेत्र—इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्ति तीन गुण, सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के प्रतीक हैं।[६] दिशाएँ उनकी भुजाएँ हैं, उपदिशाएं कर्ण, चमकता हुआ आकाश ही उनका मुख है तथा नभोमण्डल ही उनका उदर है।[७] डमरू शब्दब्रह्म का प्रतीक है। धर्म रूप वृषभ इनका वाहन है।[८] मस्तक की चन्द्रकला अमृतमय आनन्द का प्रतीक है।

सरस्वती, गायत्री, दुर्गा, काली आदि को ब्रह्म की शक्ति के प्रतीक रूप में माना गया है। इनके वाहन इनकी शक्ति के प्रतीक हैं। हंस आत्मा का प्राचीन प्रतीक है। सिंह शौर्य का प्रतीक है। महिष काल का प्रतीक है। इन्द्र का ऐरावत हाथी उसके ऐश्वर्य का प्रतीक है। लक्ष्मी का वाहन उलूक मदान्धता का प्रतीक है।

---

1. "The shining lotus flowers floating on the still dark surface of the lake, their manifold petals opening as the Sun's rays touched them at break of day, and closing again at Sun set the, roots hidden in the mud beneath, seemed perfect symbols of creation."
   E. B. Havell, Chap. II. Indian Architecture, London. 1913
२. **दिशश्चतस्रव्ययवाहवस्ते।** विष्णुपुराण, ५-४-६६
३. **नभः शिरस्ते देवेशं।'** स्कन्द पुराण, विष्णुखण्ड २७·४०
४. **शशिसूर्यनेत्रम्—गीता,** ११/१६
५. **त्वमा धृतेऽयं धरणी विभर्ति चराचरं विश्वमनन्तमूर्ते।**
   कृतादि भेदैरजकालरूपो निमेषपूर्वो जगदेतदत्सि।। विष्णुपुराण ५/६/२६
६. **इन्द्वर्कवह्नित्रिनेत्रम्।**—वेदसारशिवस्तोत्रम्, श्लोक २१
   चन्द्रार्कवैश्वानर लोचनाय नमः शिवाय।—शिवपंचाक्षरस्तोत्रम्, श्लोक ४
७. **भा० प्र० विद्या, पृ०** ७३
८. **धर्मोऽसि वृषरूपधृक्।**—श्रीमद्भागवत, १·१७·२२

इस प्रकार भारतीय दर्शन से पोषित धर्म में देवी देवता और उनसे सम्बन्धित सभी वस्तुओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है। ईसाई धर्म में भी ऐसे प्रतीकों की प्रचुरता है जिसमें ईसाई धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति हुई है। मरणोपरान्त जीवन के प्रति आशा और भय के भाव प्रकट करने के लिए कब्र पर लगाए गए गुलाब तथा अन्य फलने-फूलने वाले पादप और पुष्प स्वर्ग के प्रतीक हैं। मंगलमय मेषपाल (गडरिया), मृतकों का अविरक्षक है, भेड़ें मृतक हैं। उनमें से एक मेष को वह अपने कन्धे पर बिठाए हैं। मछली ईसा से तादात्म्य का प्रतीक है। तसले या जग से पानी पीती हुई पेंडुकी (पण्डुक) जीवन द्रव से अपने को तृप्त करती आत्मा है। बारहसिंहा आत्मा का प्रतीक है। जहाज धर्म संघ का, मेष और सिंह ईसा के, मयूर अमरता का, फीनिक्स पुनरुज्जीवन का और सांप शैतान का प्रतीक है। मछली भी ईसा के लिए प्रयुक्त प्रतीकों में से एक है।'[1] इसी प्रकार कितने ही शब्द लौकिक दृष्टि से भिन्न अर्थ रखते हुए भी धार्मिक दृष्टि से प्रतीक हैं। इसी प्रतीकवाद के आधार पर किसी जाति द्वारा अपनाया गया कर्मकाण्ड, संस्कार, मूर्ति और मन्दिरों आदि का निर्माण अवलम्बित रहता है।

यदि विस्तृत रूप से देखा जाए तो मनुष्य का समस्त जीवन ही प्रतीकों से परिपूर्ण है। गम्भीर आध्यात्मिक तत्वों की अभिव्यक्ति ही नहीं सामान्य दैनिक जीवन की वस्तुओं के लिए भी प्रतीकों का प्रयोग प्रारम्भ काल से होता आया है। मनुष्य प्रतीकों के माध्यम से ही सोचता और व्यवहार करता है। इस प्रक्रिया में कुछ प्रतीक सार्वभौमिक हो गए हैं (जैसे—सिंह वीरता का, श्रृंगाल कायरता का, लोमड़ी चातुर्य का, श्वेत रंग पवित्रता और शुद्धता का, काला रंग अज्ञान और तमोगुण का प्रतीक माना जाता है) और कुछ प्रतीक विशेष कबीले, जातियों, समाजों, राष्ट्रों के राजनीतिक, सामाजिक, व्यक्तिगत चेतना या विशेषता को अभिव्यक्त करने के माध्यम बन गए हैं। भारत में पीपल, बरगद, आंवला, तुलसी, बेल, धतूरा आदि पेड़ पौधे विशिष्ट भावनाओं को प्रकट करते हैं। गाय हमारे लिए पवित्रता का प्रतीक है। कामधेनु रूप में वह मनुष्य की प्रत्येक अतृप्त इच्छाएँ पूरी करती है, वैतरणी पार करने में सहायक होती है। वही भारत के आर्थिक तन्त्र की धुरी है। कभी-कभी कोई पशु, पक्षी, पुष्प आदि किसी राष्ट्र के लिए गौरव के चिह्न बन जाते हैं। कमल भारत का राष्ट्रीय पुष्प है, उसी प्रकार गुलदाउदी चीन और जापान का, लिली इंगलैण्ड का राष्ट्रीय पुष्प है। मोर भारत का और कंगारू आस्ट्रेलिया का राष्ट्रीय पक्षी है। उलूक अमेरिका का बुद्धिमान पक्षी (Wisdom Bird) है (जबकि भारत में उलूक अज्ञान, मूर्खता और तम का प्रतीक है) इसी, प्रकार 'गर्दभ' भारत में मूर्खता का प्रतीक है परन्तु अमेरिका में यही पशु 'श्रम' का प्रतीक है। ध्वजा किसी राष्ट्र की एकता, चेतना और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रतीक मानी जाती है। उसके विभिन्न रंग विभिन्न भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भारत का तिरंगा ध्वज अपने पीछे एक

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १ पृ० ५१६

पूरा राजनैतिक इतिहास लिए है। उसका केसरिया रंग वीरता, विनय, बलिदान, पवित्रता और भक्ति का; शुभ्र रंग ज्ञान का और हरा रंग कर्मक्षेत्र, हरियाली तथा सौख्य का प्रतीक है।[1] यह ध्वज भारतीय चेतना का जागृत रूप है।[2] राष्ट्रीय ध्वजा का अर्द्धोत्तौलित फहराना शोक का प्रतीक है।

ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिवेश में प्रतीक

किसी देश की राष्ट्रीय चेतना, राजनीतिक उथल-पुथल तथा ऐतिहासिक सन्दर्भ में भी कतिपय प्रतीकों का निर्माण होता है। रावण, कंस, शिशुपाल आदि अत्याचार, अधर्म और असत्य के प्रतीक हैं जिन पर धर्म, दया और सत्य के साक्षात् अवतार राम और कृष्ण ने विजय प्राप्त की थी। सीता, मन्दोदरी, द्रौपदी, सावित्री, अनुसूया और दमयन्ती आदि स्त्रियाँ पातिव्रत की प्रतीक हैं, उर्वशी, पद्मिनी आदि सौन्दर्य की, लक्ष्मीबाई, जोधाबाई वीरता की, राधा, मीरा भक्ति की प्रतीक मानी जाती हैं। विभीषण, जयचन्द्र, मीर जाफर आदि देशद्रोह के, कृष्ण और चाणक्य कूटनीति के, हरिश्चन्द्र सत्य के, दधीचि त्याग के, दुर्वासा क्रोध के, कर्ण दान के, हनुमान भीष्मादि ब्रह्मचर्य के प्रतीक माने जाते है। इसी प्रकार पश्चिमी देशों में डेनियल न्याय का, शाइलाक सूदखोर, कंजूस व्यापारी का, रोमियो जूलियट, लैला-मजनू, शीरी-फरहाद हीर-रांझा आदि आदर्श, शुद्ध आत्मिक प्रेम के युगल प्रतीक माने जाते हैं।

सामाजिक वातावरण और जातिगत संस्कारों से प्रतीकों के निर्माण और सृजन में अन्तर आ जाता है। किसी भी जाति के जीवन की पृष्ठभूमि उसकी आध्यात्मिक चेतना और दार्शनिक मान्यता पर आधारित होती है। जो संस्कार उसे परम्परा से प्राप्त हुए हैं उसकी अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से होती रही है। जातिगत संस्कारों[3] के साथ-साथ युगगत प्रभाव भी कवि के चेतन मानस को उद्वेलित करते रहे हैं। सामाजिक अथवा व्यक्तिगत कुण्ठाएँ भी सांस्कृतिक और जातिगत परिधि से पृथक् होकर नए मार्ग का निर्माण करती चलती है—

---

१. **कर्म क्षेत्र हरा है अपना, ज्ञान शुभ्र मनमाना,**
बलि बलवती विनीत भक्ति का कल केसरिया बाना।
—मैथिलीशरण गुप्त, ध्वज-वन्दना

२. **हिन्द चेतना के जाग्रत ध्वज'। ध्वज वन्दन,** सुमित्रानन्दन पन्त।

३. **एक लड़ाकू जाति का महात्मा-कवि भी जातिगत संस्कारों से प्रभावित होकर तदनुरूप ही प्रतीकचुनता है। संकल्प शक्ति और श्रमपूर्ण शक्ति के साथ वह प्रहार के लिए इस्पात की तेज धार वाला शस्त्र रूपी उद्देश्य की प्रार्थना करता है—**

Grant us the will to fashion as we feel,
Grant us the strength to labour as we know,
Grant us the purpose, vibb'd and edged with steel.
To strike the blow.

John Drink Water—the way of Mysticism—Page-164.

—'सब भिन्न परिस्थितियों की है मादक घूँट पिए सी'[१]

—मांसल सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी।[२]

यहाँ 'मादक घूंट' और 'मांसल' निश्चय ही भारत की आदि संस्कृति के विरुद्ध पड़ेंगे, पर कवि ने भावनाओं को अधिक स्पष्ट करने में युगगत प्रभाव और व्यक्तिगत अभिरुचि के प्रदर्शन को ही मान्य समझा है। भारत भूमि पर भी सूफी कवियों ने ईरानी प्रभाव को व्यक्त किया है। विरहावस्था में हाड मास का सूख जाना'[३] रक्त के आँसू गिराना'[४] मांस का गल जाना[५] भारतीय परम्परा के विरुद्ध है, पर अति-शयता के प्रदर्शन में इस वर्णन को स्वीकार किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति में आत्मा को सदैव स्त्री रूप में चित्रित किया है पर सूफी कवियों ने परम प्रेम के आलम्बन को स्त्री रूप में चित्रित कर जीव को प्रेमी रूप में प्रस्तुत किया है। इसका कारण इस्लाम के जातिगत संस्कार ही हैं। वहाँ पुरुष पर संयमित जीवन बिताने के लिए धार्मिक और जातिगत बन्धन हैं। पर्दा प्रथा के कारण इन्होंने नारी को सदैव आकर्षण की वस्तु माना है। उनका यह आकर्षण स्वाभाविक रूप में उस नियन्ता तक भी जा पहुँचा, फलत: सूफियों ने ईश्वर की स्त्री रूप में आराधना की है।

सामाजिक परिवेश में यदि हम वैदिक युग में आरण्यक जीवन व्यतीत करने वाले ऋषि मुनियों की परिस्थितियों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि प्रकृति की क्रोड़ में रहने के कारण उन्होंने सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या, वन, वृक्ष, लताओं आदि को प्रतीक रूप में ही व्यवहृत किया है। यही परम्परा संस्कृत के कवियों वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि में भी पनपती रही। हिन्दी के कवि आचार्यों ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया। सिद्धों और नाथों ने अपनी रहस्यमूलक साधनात्मक अनु-भूतियों को विरोधात्मक शैली में प्रगट किया। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर इन सिद्ध कवियों ने भी वन में प्राप्त पर्वत, अहेरी, चोर, साह, मृग, सिंह, शावक, स्यार, सांप, मेंढक, मोर, गाय बैल, बछड़ा,[६] गंगा, यमुना, सरस्वती नौका, बालरंडा,

१. **कामायनी-आनन्द, पृ० २८६**

२. **वही-आनन्द, पृ० २६४**

३. **हाड़ भए सब किंगरी, नसें भई सब ताँति।**
रोवं रोवं ते धुनि उठै, कहों बिथा केहि भांति॥
जायसी ग्रन्था० नागमती सन्देश खण्ड २, पृ० १५६

४. **कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु धुधची वन वोई।**
वही, नागमती वियोग खण्ड १६, पृ० १५८

५. **रकत दुरा मांसू गरा, हाड़ भयउ सब संख।**
वही, नागमती वियोग खण्ड १० पृ० १५४

६. **बेंगस सांप बडहिल जाअ।···बलद बिआअल गविआ बांझे।**
पिटहु दुहिअइ ए तिनों सांझे।···जो सो चोर सोई साधी।
निति सिआला सिंहे सम जूझअ···।
सिद्ध ढेंढ़ण (तंति) पा, हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६४

चाँद सूरज,[1] शवरी बाला, भीलनी, गुंजामाला आदि को अपनी विरोध मूलक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। गोमांस, सुरा, अमर वारुणी[2] विशेष स्थितियों तथा मुद्राओं के रहस्य प्रतीक बने। सन्तों की सामाजिक स्थिति कुछ भिन्न थी। ये सन्त प्रायः समाज में कहे जाने वाले निम्नवर्ग से सम्बन्धित थे। कबीर जुलाहा, दादू धुनिया और रैदास चमार थे। इन सन्तों के प्रतीक विधान में व्यवसाय मूलक चरखा सूत, ताना, बाना, चदरिया[3] आदि का बाहुल्य है। अधिकांश सन्तों के समान कबीर पढ़े लिखे न थे, पर सन्त समागम और हरिकथा से जो ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ था वह अद्वितीय था। अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में उन्होंने खसम, राँड, जोरू,[4] बाँझ,[5] डाइन[6] आदि ग्राम्य शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है।

सगुण भक्त कवियों ने भक्ति की तल्लीनता में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है उसमें कामधेनु, कल्पतरु, चिन्तामणि, हीरा, मणि, कुरंग, चातक, चकोर, भ्रमर, चाँद, सूरज, घन, कालीरात, स्वांतिजल आदि प्रमुख हैं। रीतिकाल श्रृंगारी युग था, इस युग में जिन कोमल और सरस प्रतीकों की उद्भावना की गई है, उनमें मराल, कोकिल, भ्रमर, चकोर, सौरभ, कलि,[7] गुलाब आदि प्रमुख हैं। प्रतीकों का प्रयोग रीति कविता में अत्यन्त विरल है। जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे रूढ़ तथा

---

१. गंगा जउंना मांझे बहइ नाई। × × चंद-सूज्ज दुई चक्का सिठि संहार पुलिन्दा।
सिद्ध डोम्बिपा, चर्यापद १४, हि० का० धा०, पृ० १४०
'गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।' हठ० प्रदी० ३/१०९

२. गोमासं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः॥ वही, ३/४७

३. झीनी झीनी बीनी चदरिया। कबीर साहब की शब्दावली, शब्द १५, पृ० ६४
अथवा
'जो चरखा जरि जाइ, बढ़ैया न जरै।
'मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै।' कबीर बीजक शब्द ६७, पृ० १७४
'जो यह चरखा लखि परै, ताको आवागवन न होई।'—क० ग्र० पृ० १३८

४. 'खसम बिचारा मरि गया जोरु गावै तान।—पलटू साहब की बानी, पृ० ८२
'खसम न चीन्हैं बावरी, का करत बड़ाई।'
कबीर, पद ५९, पृ० २६९, सम्पा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
'खसम मरै तो नारि ना रोवै, उस रखवारा औरो होवै क० ग्र०, पृ० २८०

५. बैल बियाइ गाइ भई बाँझ'। वही, पद ८० पृ० ११३

६. इक डाइन मेरे मन में बसै रे। नित उठि मेरे जीव को डसै रे।
या डाइन के लरिका पाँच रे। निसि दिन मोहिं नचावैं नांच रे।
वही, पृ० १६८/२३६

७. अलि कली ही सौं बन्ध्यो···। बिहारी, बिहारी रत्नाकर, दोहा ३८, पृ० २२

—'सब भिन्न परिस्थितियों की है मादक घूँट पिए सी'[१]

—मांसल सी आज हुई थी हिमवती प्रकृति पाषाणी।[२]

यहाँ 'मादक घूंट' और 'मांसल' निश्चय ही भारत की आदि संस्कृति के विरुद्ध पड़ेंगे, पर कवि ने भावनाओं को अधिक स्पष्ट करने में युगगत प्रभाव और व्यक्तिगत अभिरुचि के प्रदर्शन को ही मान्य समझा है। भारत भूमि पर भी सूफी कवियों ने ईरानी प्रभाव को व्यक्त किया है। विरहावस्था में हाड मास का सूख जाना'[३] रक्त के आँसू गिराना'[४] मांस का गल जाना[५] भारतीय परम्परा के विरुद्ध है, पर अति-शयता के प्रदर्शन में इस वर्णन को स्वीकार किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति में आत्मा को सदैव स्त्री रूप में चित्रित किया है पर सूफी कवियों ने परम प्रेम के आलम्बन को स्त्री रूप में चित्रित कर जीव को प्रेमी रूप में प्रस्तुत किया है। इसका कारण इस्लाम के जातिगत संस्कार ही हैं। वहाँ पुरुष पर संयमित जीवन बिताने के लिए धार्मिक और जातिगत बन्धन हैं। पर्दा प्रथा के कारण इन्होंने नारी को सदैव आकर्षण की वस्तु माना है। उनका यह आकर्षण स्वाभाविक रूप में उस नियन्ता तक भी जा पहुँचा, फलत: सूफियों ने ईश्वर की स्त्री रूप में आराधना की है।

सामाजिक परिवेश में यदि हम वैदिक युग में आरण्यक जीवन व्यतीत करने वाले ऋषि मुनियों की परिस्थितियों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि प्रकृति की क्रोड़ में रहने के कारण उन्होंने सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, उषा, सन्ध्या, वन, वृक्ष, लताओं आदि को प्रतीक रूप में ही व्यवहृत किया है। यही परम्परा संस्कृत के कवियों वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास आदि में भी पनपती रही। हिन्दी के कवि आचार्यों ने भी इस परम्परा को आगे बढ़ाया। सिद्धों और नाथों ने अपनी रहस्यमूलक साधनात्मक अनु-भूतियों को विरोधात्मक शैली में प्रगट किया। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर इन सिद्ध कवियों ने भी वन में प्राप्त पर्वत, अहेरी, चोर, साह, मृग, सिंह, शावक, स्यार, सांप, मेंढक, मोर, गाय बैल, बछड़ा,[६] गंगा, यमुना, सरस्वती नौका, बालरंडा,

---

१. **कामायनी-आनन्द, पृ० २८६**

२. **वही-आनन्द, पृ० २६४**

३. **हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भई सब ताँति।**
रोवं रोवं ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥
जायसी ग्रन्था० नागमती सन्देश खण्ड २, पृ० १५६

४. **कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुघची वन वोई।**
वही, नागमती वियोग खण्ड १६, पृ० १५८

५. **रकत दुरा मांसू गरा, हाड़ भयउ सब संख।**
वही, नागमती वियोग खण्ड १० पृ० १५४

६. **बेंगस सांप बडहिल जाअ।···बलद बिआअल गविआ बांझे।**
पिटहु दुहिअइ ए तिनों सांझे।···जो सो चोर सोई साधी।
निति सिआला सिंहे सम जूझअ···।
सिद्ध ढेंढ़ण (तंति) पा, हिन्दी काव्यधारा, पृ० १६४

चाँद सूरज,[1] शवरी बाला, भीलनी, गुंजामाला आदि को अपनी विरोध मूलक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। गोमांस, सुरा, अमर वारुणी[2] विशेष स्थितियों तथा मुद्राओं के रहस्य प्रतीक बने। सन्तों की सामाजिक स्थिति कुछ भिन्न थी। ये सन्त प्रायः समाज में कहे जाने वाले निम्नवर्ग से सम्बन्धित थे। कबीर जुलाहा, दादू धुनिया और रैदास चमार थे। इन सन्तों के प्रतीक विधान में व्यवसाय मूलक चरखा सूत, ताना, बाना, चदरिया[3] आदि का बाहुल्य है। अधिकांश सन्तों के समान कबीर पढ़े लिखे न थे, पर सन्त समागम और हरिकथा से जो ज्ञान उन्हें प्राप्त हुआ था वह अद्वितीय था। अपनी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में उन्होंने खसम, राँड, जोरू,[4] बाँझ,[5] डाइन[6] आदि ग्राम्य शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है।

सगुण भक्त कवियों ने भक्ति की तल्लीनता में जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है उसमें कामधेनु, कल्पतरु, चिन्तामणि, हीरा, मणि, कुरंग, चातक, चकोर, भ्रमर, चाँद, सूरज, घन, कालीरात, स्वांतिजल आदि प्रमुख हैं। रीतिकाल शृंगारी युग था, इस युग में जिन कोमल और सरस प्रतीकों की उद्‌भावना की गई है, उनमें मराल, कोकिल, भ्रमर, चकोर, सौरभ, कलि,[7] गुलाब आदि प्रमुख हैं। प्रतीकों का प्रयोग रीति कविता में अत्यन्त विरल है। जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे रूढ़ तथा

---

१. गंगा जउंना मांझे बहइ नाई। × × चंद-सूज्ज दुई चक्का सिठि संहार पुलिन्दा।
सिद्ध डोम्बिपा, चर्यापद १४, हि० का० धा०, पृ० १४०
'गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।' हठ० प्रदी० ३/१०६

२. गोमासं भक्षयेन्नित्यं पिवेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः॥ वही, ३/४७

३. झीनी झीनी बीनी चदरिया। कबीर साहब की शब्दावली, शब्द १५, पृ० ६४
अथवा
'जो चरखा जरि जाइ, बढ़ैया न जरै।
'मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै।' कबीर बीजक शब्द ६७, पृ० १७४
'जो यह चरखा लखि परै, ताको आवागवन न होई।'—क० ग्र० पृ० १३८

४. 'खसम बिचारा मरि गया जोरु गावै तान।—पलटू साहब की बानी, पृ० ८२
'खसम न चीन्हैं बावरी, का करत बड़ाई।'
कबीर, पद ५६, पृ० २६६, सम्पा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
'खसम मरै तो नारि ना रोवै, उस रखवारा औरो होवै। क० ग्र०, पृ० २८०

५. बैल बियाइ गाइ भई बाँझ'। वही, पद ८० पृ० ११३

६. इक डाइन मेरे मन में बसै रे। नित उठि मेरे जीव को डसै रे।
या डाइन के लरिका पाँच रे। निसि दिन मोहि नचावैं नांच रे।
वही, पृ० १६८/२३६

७. अलि कली ही सौं बन्ध्यो···। बिहारी, बिहारी रत्नाकर, दोहा ३८, पृ० २२

सर्वसम्मत काम प्रतीक हैं। रीतिकाल के प्रतीक अधिकांशतः प्रसन्न और विकच हैं।[1] रीतिकाल की घोर शृंगारी प्रवृत्ति का परिष्कार तथा रूप परिवर्तन छायावादी कविता में हुआ। द्विवेदी काल की शुष्क इतिवृत्तात्मकता में जब सरसता दम सा तोड़ने लगी तो कवियों ने प्रकृति के उपादानों में शृंगारी भावना की उद्भावना प्रतीक रूप में की। इस काल में भाषा और भाव दोनों ही नए रूप में सामने आए हैं। शैलीगत और भावगत चमत्कार सर्वत्र देखने को मिलता है। सरस भावों की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से हुई है।[2]

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में मशीन के साथ-साथ काव्य का भी निर्माण हुआ है। समाज में फैली विषमता के प्रति रोष की भावना का व्यापक प्रदर्शन काव्य में हुआ है। विकट परिस्थितियों में मानव की कुण्ठाओं ने नए रूप धारण किए हैं। हंसिया, हथौड़ा, कुदाल, लाल रंग साम्यवादी क्रान्ति के और प्रगति के प्रतीक हैं। धधकते कोयलों में धुँआ उगलती मिल की चिमनी में मानों मजदूर का अस्तित्व जल रहा है, उसके खून को पीकर ही उषा का रंग लाल है।[3] पूँजीवादी दमन चक्की में पिसकर मानव की आत्मा चीख उठती है, वातावरण में एक अजीब दुर्गन्ध फैल जाती है, सुबह शाम, रक्त का सूर्य घुल रहा है।[4] दीन हीन आत्मा सूखे, विवश मौन-वृक्ष सी गिर जाती है।[5] समाज की कुत्सित मनोवृत्ति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण

१. डॉ० नगेन्द्र, रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता, पृ० १८२

२. शिथिल स्वप्निल पंखुड़ियां खोल, आज अपलक कलिकाएँ खिल।
गूंजता भूला भौंरा डोल सुमुखि, उर के सुख से वाचाल। पंत, गुंजन, पृ० ५२

३. जल उठे है तन वदन से, क्रोध में शिव के नयन से।
खा गए निशि का अंधेरा, हो गया खूनी सवेरा॥
जग उठे मुरदे बेचारे, बन गए जीवित अंगारे।
रो रहे थे मुंह छिपाए, आज खूनी रंग लाए॥
—के० अग्रवाल, 'कोयले' दूसरा तार सप्तक,

४. धरा पर गन्ध फैली है
हवा में सांस भारी है
रमक उस गन्ध की है
जो सड़ाती मानवों को
बन्द जेलों में,
सुबह में
साँझ में है
घुल रहा
यह रक्त का सूरज।
शकुन्तला माथुर 'ताजा पानी' दूसरा तार सप्तक, पृ० ५२.

५. शमशेर बहादुरसिंह, दूसरा तार सप्तक, पृ० ११२

करते हुए इन प्रयोगवादी कवियों ने सर्वथा नए प्रतीकों का सृजन किया है जिसमें सड़ी गली परम्पराओं से विरोध और नवनिर्माण का सुनहरा स्वप्न है।[1]

आज के वैज्ञानिक युग में संचार साधनों की तीव्रता ने संसार को एक लघु परिवार में बदल दिया है। एक देश की सभ्यता-संस्कृति, भाषा केवल उसी देश की बपौती मात्र नहीं है, वह विराट रूप का एक लघु अंश ही है। कोई देश अपने तक ही सीमित नहीं रह सकता। उसे विश्व के अन्य देशों के साथ कदम मिलाकर चलना पड़ता है। इस कारण एक देश की सभ्यता, संस्कृति, भाषा, खान-पान, रहन-सहन आदि में परिवर्तन परिवर्धन हो जाता है। भाषा एक गतिमान सरिता के समान है। अन्य भाषाओं के छोटे बड़े नदी, नद उसमें मिलते रहते हैं, इससे इसका रूप बनता है, बदलता है। एक भाषा में दूसरी भाषा के प्रतीक उसी अर्थ में या यत्किंचित परिवर्तित रूप में आकार ग्रहण कर लेते हैं। हिन्दी भी इस सर्वसम्मत प्रवाह से अछूती नहीं है। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रांस, अरबी, फारसी आदि विविध भाषाओं के शब्द इसमें प्रयुक्त होते हैं। अरबी, फारसी के साकी, शराब, प्याला, आबेहयात आदि प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग प्रायः उनके प्रचिलित अर्थ में ही हुआ है। इस सन्दर्भ में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि विराट विश्व का एक अंश होते हुए भी किसी देश विशेष का अपना पृथक् अस्तित्व होता है। इसी कारण भिन्न-भिन्न देशों में सभ्यता और संस्कृति का वैविध्य देखने को मिलता है। एक भाषा का शब्द तब तक किसी देश की भाषा का अंश नहीं बन पाता जब तक कि वह शब्द कुछ अपनापन छोड़कर दूसरे की प्रकृति में मिलने को तैयार नहीं हो जाता। अंग्रेजी के हॉस्पिटल को हमने 'अस्पताल' बॉटल को बोतल और स्टेशन को टेशन आदि बना दिया। यह भाषा की प्रकृति है। ऐसी अवस्था में विदेशी भाषा के प्रतीकों को ग्रहण करते समय सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। प्रतीकों पर किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति का प्रभाव होता है। भिन्न परिस्थितियों में उनका प्रयोग हास्यास्पद हो सकता है। जैसे मन्दिर में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए साकी, शराब आदि शब्दों का प्रयोग वर्जित हो सकता है। The Last mile stone of Life का प्रयोग अंग्रेजी साहित्य में जीवन

---

१. सड़ी झीलों से उड़ते आज
लोभी माँस के बगले
दबाये चोंच में मछली
वहीं बैठे हुए हैं गिद्ध
रहे हैं घूर
मछली को
गिरी जो
चोंच से मछली
लगाए घात बैठे है।
× × × नया मानस लगाता आ रहा है।
नया सूरज बनाना आ रहा है। शकुन्तला माथुर, दूसरा सप्तक, पृ० ५२

की अन्तिम यात्रा का प्रतीक है, इसके स्थान पर 'मेरे जीवन के अन्तिम पाषाण' लिखने से न तो अर्थ की समुचित अभिव्यक्ति ही होगी और न वर्णन में काव्यात्मकता तथा मार्मिकता ही आ सकेगी, हाँ यह हँसी का विषय अवश्य बन सकता है। इसी प्रकार मुहावरों की प्रतीकात्मकता को अन्य भाषा में शब्दशः अनुदित कर भावविभोर नहीं हुआ जा सकता, भाव सम्प्रेषण का तो प्रश्न ही नहीं।

प्रतीक योजना में प्रेरक चित्तवृत्ति या मनोदशा :

मनुष्य का मन वह अथाह सागर है जिसमें नित नवीन विचारोर्मियाँ तरंगायित हो अनुभूति के तट पर आकर रूप ग्रहण करती हैं। वाणी उन विशद् अनुभूतियों की सफल प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति चाहती है, पर जब भाषा का सामान्य रूप उससे सहयोग नहीं करता तो उसे अन्य माध्यम का सहारा लेना पड़ता है, इस प्रक्रिया में प्रतीक आकार ग्रहण करने लगता है। ये प्रतीक अधिक व्यंजक और प्रभावोत्पादक होते हैं। अतः सूक्ष्म से सूक्ष्मतम अनुभूतियों को व्यक्त करने में सूक्ष्म प्रतीक काव्य के लिए बहुत उपयोगी हैं। शतशः शब्द भी जहाँ किसी वस्तु-स्थिति को स्पष्ट नहीं कर पाते, वहाँ एक ही प्रतीक अलौकिक चमत्कार की सृष्टि कर देता है। एक सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है।[१] मनुष्य का जीवन नश्वर है, न जाने कब उस नियन्ता का बुलावा आ जाए, विश्व के शतदल पर ओस की बूंद सा जीवन फिर भी कितना सुन्दर है।[२] वाष्प के रूप में अन्तरिक्ष में निवास करने वाली, विभिन्न परिस्थितियों में रूप ग्रहण कर पुनः उसी में लीन हो जाने वाली 'ओस' से जीवन

---

1. The use and purpose of symbol is to set forth invisible or audible likeness what cannot be really or fully expressed to the physical eye or ear, or even clearly conceived by the limited faculties of human mind. All language is in the last resort symbolic, and religious language is an especial degree for it endeavourse to present a mystary, a reality to deep for words. The image or symbol serves the purpose also of providing in material and suitable form a convenient object of reverence, to meet the religious need.
   Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol XII. Page 139

२. **किसी नक्षत्र लोक से टूट**
विश्व के शतदल पर अज्ञात,
ढुलक जो पड़ी ओस की बूंद
तरल मोती-सा ले मृदुगात,
नाम से, जीवन से, अनजान,
कहो, क्या परिचय दे नादान। —महादेवी वर्मा, यामा, पृ० ९३

की तुलना कितनी सुन्दर है। आदि और अन्त जिसके अज्ञात में खोए हैं, केवल मध्य उसका व्यक्त रूप ही ज्ञात है। ओस का जीवन क्षणिक है पर मोती-सा सुन्दर भी है। जीवन की कितनी गहरी व्यंजना है ? यह प्रतीक का ही चमत्कार है। इसी प्रकार यौवन के सम्पूर्ण चित्रण के लिये 'वसन्त' कह देना ही पर्याप्त है।

अनादि काल से वाणी की असमर्थता के कारण प्रतीकों का प्रयोग होता आया है। वैदिक साहित्य में एक बड़ा सुन्दर उदाहरण देखने को मिलता है—

योऽस्मान् द्वेष्टि यंवयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः[1]

'जिसके साथ हम द्वेष करें या जो हमसे द्वेष करे, उनको हम अपनी दाढ़ों में रखते हैं'। बात सीधी सी है पर जरा इसकी व्यंजना तो देखिए—'जम्भे दध्मः' उस उग्र क्रोध का परिचायक है जो हम अपने शत्रु पर प्रकट करते हैं, अर्थात् हम अपने शत्रु को उसी प्रकार चबा डालें जिस प्रकार मुँह में ग्रास चबा दिया जाता है। स्पष्ट है कि हम शत्रु को प्रत्यक्षतः दाढ़ों से चबा नहीं सकते, उसे मार सकते हैं, क्रोधावेश में उसके टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं पर चबा नहीं सकते, लेकिन 'जम्भे दध्म' में भावों तीव्रता द्रष्टव्य है।

आध्यात्मिक जगत में जब साधक की उस असीम से तदाकार वृत्ति हो जाती है, उस समय जिस आह्लादोल्लास की उसे अनुभूति होती है वह वर्णनातीत है। वह मन ही मन मुस्कराता है आनन्दित होता है पर कह नहीं पाता, क्योंकि वह आनन्द वाणी से अगम है,[2] भाषा असमर्थ है, पर साधक चुप कैसे कहे ? रह रहकर उसके भाव निर्भरवत् बाहर फूट पड़ना चाहते हैं, उस अनुभूति को वह सबकी अनुभूति बना देने को व्याकुल हो उठता है, पर भाषा ऐन मौके पर साथ छोड़ देती है, साधक की स्थिति किनारे पर आकर डूबते हुए व्यक्ति की सी हो जाती है। डूबते को तिनके का सहारा, वह असीम की अभिव्यक्ति के लिए लौकिक जगत में विद्यमान प्रकृति के उन मनोरम स्थलों को चुनता है जो वैसा नहीं तो उससे मिलता जुलता समीपतम आनन्द का स्रोत है। प्रकृति की इस मनोरम विभूति का चित्रण कर वह समझ लेता है कि उसके मनोगत भावों ने अभिव्यक्ति की मंजिल पा ली। संसार में दाम्पत्य सुख सर्वोपरि माना जाता है उसी को दिशानान्तरण प्रदान कर कवि सुख लाभ करता है। आत्मा का मिलन होता है, अन्य सभी कुछ फीका पड़ जाता है।[3]

---

१. वाजसनेय संहिता, अध्याय १६. मंत्र ६४

२. अविगत गति कछु कहत न आवै
ज्यों गूंगे मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै।
× × ×
मनबानी को अगम अगोचर जो जानै सो पावै।—सूरसागर, पद, २, पृ० १

३. लिखा लिखी की है नहीं देखा देखी बात।
दूल्हा दुल्हिन मिल गए फीकी परी बरात।
कबीर वचनावली, दो० ७६, १०/१००

पर इतना करने पर भी अनुभूति बोधगम्य नहीं हो पाती केवल होठों पर मधु मुस्कान फैल जाती है।[1] अभिव्यक्ति की यही समस्या कवि-साधक को प्रतीकत्व की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त प्रतीक योजना के अन्य कारण भी हैं—

कवि जहाँ अपनी अनुभूति को व्यापक बनाना चाहता है उसके विपरीत उसमें जाति के (या किन्हीं अंशों में व्यक्ति के) आध्यात्मिक तथा आभ्यन्तरित ज्ञान, अनुभूति को छिपा कर रखने की भावना भी पाई जाती है जिससे अर्थ की रक्षा हो सके। क्योंकि प्रायः अध्यात्मज्ञानियों की यह धारणा है कि देवता सम्बन्धी आत्मज्ञान को गुप्त रखा जाए जिससे उसकी पावनता की रक्षा हो सके। कुत्सित मनोवृत्ति वाले स्वार्थवश उलट पुलट अर्थ लगाकर इस ज्ञान का दुरुपयोग कर सकते हैं। इसके साथ-साथ उन लोगों के सामने इसकी पवित्रता की रक्षा का भी प्रश्न था, फिर साधारण बुद्धि वाले मनुष्यों के लिए यह ज्ञान व्यर्थ किंवा भयप्रद भी था।[2] वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार का एक प्रसंग उल्लेखनीय है जिसमें विद्या ब्रह्मज्ञानी से प्रार्थना करती है कि मैं तुम्हारी निधि हूँ, मुझे चोर, कुत्सित मनोवृत्ति वाले, कुटिल और असंयत लोगों से बचाकर रखना। केवल उसी से मुझे कहना जो अधिकारी हो,

---

1. I boasted among men that I had known 404. They see your pictures in all works of mine. They come and ask me, "who is he ?" I know not how to answer them. I say "Indeed, I can not tell." They blame me and they go away in scorn. And you sit there smiling. I put my tales of you into lasting songs, the secret gushes out from my heart. They come and ask me" Tell me all your meaning." I know not how to answer them. I say, Ah, who know what they mean ? They smile and go away in utter scorn. And you sit there smiling."

—*Tagore, Gitanjali., Page 102*

2. The spiritual and psychological knowlegde of the race was concealed for reasons now difficult to determine, in veil of concrete and material figures and symbols which protected the sense from the profame and revealed it to the initiated. One of the leading principles of the mystics was the sacredness and secrecy of self knowledge of the Gods. This wisdom was, they thought, unfit, perhaps even dangerous to the ordinary human mind or in and case liable to perversion and misuse and loss of virtue, if revealed to vulgar and unpurified spirits."

—*Sri Aurobindo, On the VEDA—Page 8—9*

शुचि, मेधावी और मन वचन कर्म से ब्रह्मचारी हो।[1] साधक अपने प्रत्येक शब्द को अत्यन्त पवित्र और हीरे-सा मूल्यवान मानता है। सिद्धों, नाथों और अन्य तान्त्रिक उपासकों ने इसी कारण गुह्य साधनाओं को गुह्यभाषा (सन्धा-भाषा) के माध्यम से प्रकट किया है। अधिकारी उसे स्वयं ही खोज लेगा, अनधिकारी के लिए वह ज्ञान व्यर्थ ही है। इन योग साधकों ने बार-बार दुहराया है कि अमुक पद का अर्थ विरला ही समझ सकता है।[2] सिद्धों, नाथों और सन्तों की इस गुह्यात्मक प्रवृत्ति में तत्कालीन देशकाल और परिस्थितियों का भी पर्याप्त हाथ है। यह वह समय था जबकि सामाजिक परम्पराएँ टूट रही थीं, बौद्ध धर्म में विकृति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी। समाज में ब्राह्मणों, साधु, सन्तों का मान घट रहा था। ऐसी अवस्था में कौतुहल और चमत्कार के माध्यम से अपनी महत्ता बनाए रखने के लिए सांकेतिक किंवा गुह्यात्मक भाषा में रचना कर इन लोगों ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस गुह्यात्मक विद्वत्ता का भोली-भाली जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सीधे-सीधे बात न कहकर उल्टे ढंग से उन सिद्धनाथों ने अपने आध्यात्मिक ज्ञान को अभिव्यक्त किया है। यथा—माँस पसार कर चील रखवाली करती है,[3] चींटी पर्वत को उखाड़ फेंकती है,[4] हाथी को निगल जाती है, स्याल सिंह को खाकर तृप्त हो जाता है, जल में रहने वाली मछली अग्नि में सुखानुभव करती है, पंगु पर्वत पर चढ़ जाता है, काल स्वयं मृतक से डर जाता है,[5] इसी प्रकार बाँझ के पुत्र होना, बिना जड़ के वृक्ष का फलना फूलना, बिना बीज के अंकुर, बिना तना के वृक्ष बिना शाखाओं के फल लगना, रूपहीन नारी और परिमल हीन पुष्प तथा बिना जल के ही सरोवर का भरना[6] आदि अनेकानेक 'उल्टा ख्याल' द्वारा इन्होंने विद्वत्समाज को चुनौती देते हुए ललकारा है। अटपटी, सांकेतिक गुह्यता और उलटबांसियों के प्रयोग से इन सिद्ध सन्तों की बानी भी ब्रह्म के समान दुर्बोध, दुरूह और सर्वसाधारण की पहुँच से दूर हो गई है।

नवीनता के प्रति आकर्षण कवि समाज में सदैव से बना हुआ है। अज्ञेय के शब्दों में परिवर्तन की "यह क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है। और भाषा के

---

१. **विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय या शेवधिष्टऽहमस्मि।**

× × ×

यस्तेन द्रुह्येत् कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन।—निरुक्त २/४

२. **टेंटण पाएर गीत बिरले बूझअ। सिद्ध ढेण्ढणपा (८४५)**
— हिन्दी काव्य धारा पृ० १६४

कहै कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहि बिचारै। क० ग्र० पद, १६१

३. **'माँस पसारि चीलह रखवारी'**—क० ग्र०, पद ८०, पृ० ११३

४. **चींटी परवत ऊषण्याँ, ले राख्यो चौड़े**—वही, पद १६१, पृ० १४१

५. **सुन्दरदास, सुन्दर विलास, विपर्जय का अंग** ३, पृ० ८७

६. **कबीर ग्रन्थावली**, पद १५८, पृ० १४०

विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता रहता है। यों कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है: वह शब्दों को निरन्तर नया संस्कार देता चलता है और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठकर फिर ऐसे होजाते हैं कि उस रूप में कवि के काम के नहीं रहते।''[१]

"बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है'' इस सन्दर्भ में—सिंह, हस्ति, हंस, ठगिनी, घट, सागर आदि निर्गुण-पंथियों द्वारा प्रयुक्त शब्द आत्मा, मन, माया, शरीर, संसार आदि के अर्थ में रूढ़ या वाचक हो गए थे। चिरनवीन के अन्वेषक छायावादी कवियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए इन घिसे-पिटे उपमानों-प्रतीकों को अपर्याप्त किंवा व्यर्थ पाया। उक्ति में नवीन भाव व्यंजना और विलक्षण लाक्षणिक भंगिमा के लिए इन्होंने जिस प्रतीक विधान का निर्माण किया उसमें मेघ, ज्योत्स्ना, मोती, अचल बदली, अंधेरी रात, सूनातट, झंझा, नीरद, गर्जन आदि प्रवृत्ति परक शब्दों की प्रधानता है। हृदय के लिए वीणा, हृदयगत भावोन्मेष-तरंग के लिए वीणा की झंकार, नवयौवन के लिए वसन्त, उषा, प्रभात, वृद्धत्व के लिए पतझड़, सन्ध्या आदि शब्द छायावाद के साँचे में ढले प्रतीक हैं। पश्चिम की प्रतीकवादी धारा ने छायावाद की इस नवीन प्रतीक योजना को काफी दूर तक प्रभावित किया है। शैले, कीट्स, वर्ड्सवर्थ आदि कवियों के प्रकृति चित्रण को इन कवियों ने सतृष्ण नेत्रों से देखा, उसके रूप को सराहा और अपने देशकाल और वातावरण के अनुसार ग्रहण कर काव्य को नया रूप प्रदान किया। पर यह नवीन छायावादी प्रतीक विधान भी प्रयोग के परम्परागत प्रवाह में पड़कर किन्हीं अर्थों में अपनी व्यंजकता खो चुका है। यही कारण है कि आज के प्रयोगवादी या प्रगतिवादी कवि इन प्रतीकों पर नया मुलम्मा चढ़ा रहे हैं। समय बदल गया, मान्यताएँ बदल गईं, जीवन के मानदण्ड में परिवर्तन आ गया। कवि को उषा की लालिमा में आज जीवन का विकास नहीं किसी असहाय का रक्त बिखरा दृष्टिगोचर होता है,[२] खिलते पुष्प में उसे जीवन का अन्त नजर आता है,[३] हंसिया, कुदाल, हल की नोक आदि में वह जीवन का विकास खोजता है क्योंकि आधुनिक युग के श्रम के देवता

---

१. **दूसरा सप्तक भूमिका, पृ० ११**

२. **"खा गए निशि का अन्धेरा'**
हो गया खूनी सवेरा।—केदारनाथ अग्रवाल, 'कोयले'
तथा—**'सुबह में**
सांझ में है
घुल रहा
यह रक्त का सूरज।'' शकुन्तला माथुर 'ताजापानी,—दूसरा सप्तक पृ० ५२

३. **क्या खाक वसन्त मनाऊँ मैं।**
मैं देख रहा हूं आया वसन्त, लेकिन वसन्त का राग नहीं
वैधव्य भोगती तरुराजी, कोयल का क्या सुहाग नहीं—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

उसमें निवास करते हैं। खिलते गुलाब के लाल रंग में उसे किसी का दर्द नजर आता है।[1]

प्रतीक योजना के अन्य कारणों पर प्रकाश डालते समय यदि हम मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करें तो उसके मूल में व्यक्तिगत और समाजगत कुण्ठा को सक्रिय पाते हैं। भीतर की असीम आध्यात्मिक अनुभूति जब अभिव्यक्ति का प्रतीकात्मक मार्ग पा लेती है तो लौकिक सुखों की तीव्रतर एवं प्रत्यक्ष अनुभूति उसी माध्यम से रूप ग्रहण करने को आतुर हो जाती है और वासनाओं की असामाजिकता को स्वतन्त्र विचरण का मानों राजमार्ग मिल जाता है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह कुण्ठा दो रूपों में व्यक्त होती है—

व्यक्तिगत—व्यक्ति अपनी दमित इच्छाओं अथवा कुण्ठित, अपूर्ण कामवासनाओं का रेचन चाहता है। वह संसार के नानाविध पदार्थों को अपने ढंग से देखना और भोग करना चाहता है, पर जब उसकी इस इच्छा, भावना अथवा उलझन को अभिव्यक्ति का उचित माध्यम नहीं मिलता, वस्तुओं को उसे दूसरे की इच्छा से देखने को बाध्य होना पड़ता है तो मन व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में अनेक चित्र खींचता है। 'तुष्टि' विचित्र रूप ग्रहण करती चलती है। कला कुण्ठा ग्रस्त मन का सुन्दर उपचार माध्यम है। वह प्रतीक रूप में शब्दों में या तूलिका में ऐसा रंग भरता है जो उसके दमित मन के अनुकूल होता है। इस विधि से वह बहुत कुछ कहता हुआ भी समाज के नैतिक अंकुश की तीखी नोक से अपने को बचाए रखता है।

समाजगत—काल विशेष में जब समाज के नैतिक वन्धन अधिक रूढ़िग्रस्त होकर जकड़ जाते हैं तो चेतन मानस में जो कुण्ठाएँ पनप उठती हैं वे समस्त जाति और समाज को अपने अन्दर समेट लेती हैं। कलाकार व्यक्तिगत रूप से कुण्ठाग्रस्त न होते हुए भी सामाजिक कुण्ठा में बँधकर जिन प्रतीकों का चुनाव करता है उसमें तदनुरूप वातावरण ही प्रमुख होता है। उदाहरणार्थ, जब रीतिकाल की अतिशृंगारिक भावना को द्विवेदी काल में व्यापक नैतिक बन्धनों का सामना करना पड़ा तो एक बार अतिशय शृंगारिक अभिव्यक्ति कुछ कम-सी हुई, पर धीरे-धीरे यह आग सुलगती रही और छायावाद के रूप में समस्त कुण्ठा एकबारगी नया रूप धारण कर अभिव्यक्त हो उठी।

---

१. **अबे सुन रे गुलाब।**
भूल मत गर पाई खुशबू रंगोआब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट।
कितनों को तूने बनाया गुलाम।
माली कर रखा सहाय जाड़ा धाम। —'निराला' कुकुरमुत्ता पृ० ३

अब भोली नायिका ही मानों कुसुम बनकर मधुकर को यौवन रस पिलाने लगी।[1] नायक किसी का घूँघट पट खोलकर मुग्ध है,[2] तरुणी के स्नान करते रूप पर वह अधीर हो उठता है,[3] उस यौवन की मतवाली का वसन फट जाता है जिसमें से उसका सौन्दर्य बिखरा पड़ रहा है, बेसुधी में अंचल कहीं छूट जाता है।[4] प्रकृति के माध्यम से दमित भावनाओं की अभिव्यक्ति से कुण्ठाओं का शमन तो हुआ ही, काव्य को एक नया रूप भी प्राप्त हुआ। इस्लाम में सुरा का प्रयोग वर्जित है पर छिपे रूप में इसका सेवन व्यापक रूप से चलता रहा। कवि के चेतन मानस में विद्रोह भड़क उठा, उसने इस बँधी कुण्ठा के रेचन स्वरूप सुरा क्षेत्र से ही प्रतीकों का चयनकर अपनी आत्मा को, वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान की। मदिरालय, शराब, प्याला, सुराही, साकी आदि प्रतीकों के माध्यम से रूमी, उमर खैयाम, हाफिज़, राबिया आदि

---

१. देखता हूं जब उपवन
पियालों में फूलों को
प्रिये ! भरभर कर अपना यौवन
पिलाती है मधुकर को। पंत, पल्लव, पृ० १५

२. शिथिल स्वप्निल पंखड़ियाँ खोल,
आज अपलक कलिकाएँ बाल
गूँजता भूला भौंरा डोल,
सुमुखि, उर के सुख से वाचाल।—पंत, गुंजन, पृ० ५२

३. नग्न बाहुओं से उछालती नीर,
तरंगों में डूबे दो कुसुमों पर,
हँसता था एक कलाधर
ऋतुराज दूर से देख उसे होता था अधिक अधीर।—निराला, परिमल, पृ० ५०
(स्पष्ट ही दो कुसुम दो उरोजों के, कलाकार मुख और ऋतुराज नायक का प्रतीक है।)

४. पगली हाँ सम्भाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील बसन क्या
ओ यौवन की मतवाली।
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली भाली।

—प्रसाद, कामायनी, पृ० ४०

फ़ारसी सूफी कवियों ने उस परोक्ष सत्ता की चर्चा की है। वैराग्य प्रधान इस्लाम के प्रति इन कवियों के भीतर एक कलात्मक विद्रोह ने जन्म लिया, जिसमें कवि जाहिद को गाली देता है और शराब पीने का निमन्त्रण देता है जिसकी बेहोशी में उसे उसके दर्शन होते हैं। कवि इतनी मदिरा पी लेना चाहता है जिससे भूत के सन्ताप और भविष्य के भय भाग जाएँ। खैयाम के अनुसार तरुशाखा के तले रोटी का एक टुकड़ा, एक सुराही मदिरा, कविता की पुस्तक और पार्श्व में गाती हुई 'तुम' हो तो यह जंगल ही मेरे लिए स्वर्ग हो जाए। "यह पलायन और निराशा इसलिए है क्योंकि 'पैरों के नीचे बालू की जमीन खिसकती जाती है। न मालूम कितने बड़े-बड़े नरेश, सत्ताधारी एवं विद्वान् आए और चले गए। अतः जीवन शराब सूख जाए, इसके पहले ही उठो, और मदिरा पी पीकर भूख बुझालो।' 'अनागत कल अभी उत्पन्न नहीं हुआ और विगत कल मर चुका है अतः 'उसका' चिन्तन छोड़ आज को आनन्दमय बनाओ।"[1] हिन्दी काव्य में भी हालावाद अचानक ही उत्पन्न होने वाला स्फुलिंग मात्र नहीं था, यह समाजगत कुण्ठा की ही प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति है क्योंकि स्वतन्त्रचेता कवि किसी वस्तु को छिपकर नहीं सबके साथ मिलकर और खुलकर भोगना चाहता है।

तांत्रिक साधना में पंचमकारीय प्रतीक भी सामाजिक कुण्ठा के परिणाम हैं जो बौद्धधर्म के संयम प्रधान जीवन चर्या से उत्पन्न हैं। शक्ति पूजा से पूर्व पंचमकार (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) का सेवन अनिवार्य कहा गया है। आगे चलकर सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा अर्थ सम्बन्धी स्थितियों और वातावरण के बदल जाने पर इन तांत्रिक साधनाओं का विरोध प्रारम्भ हुआ और समाज विरोधी साधनाओं और अर्चना की भोग प्रधान विधि को यथावत् रखना कठिन हो गया तो पंचमकार को नए अर्थों से सुसज्जित किया गया। मद्य को ब्रह्मरन्ध्र से झरने वाले अमृत का, मांस को, मा = जिह्वा + अंश = भाग = जिह्वांश या वाणी का, मत्स्य को इडा-पिंगला में प्रवाहित होने वाले श्वास का, मुद्रा को कुसंग के त्याग और सुसंग के साथ का वाचक और मैथुन को शिवशक्ति या मूलाधारस्थ कुण्डलिनी का सहस्रारस्थ शिव के साथ सामरस्य या समागम का वाचक तत्व माना गया।[2] पंचमकारीय तत्वों को आध्यात्मिक साधना या अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाले प्रतीक मान लेने पर भी इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि पंचमकार तथा उसके समकक्ष युगनद्ध, महामुद्रा आदि साधनाओं द्वारा इन तांत्रिक साधकों, सिद्धों ने सामाजिक कुण्ठा का ही परिचय दिया है। जिसे हम स्पष्टतः भोग नहीं सकते, कह नहीं सकते उसे सैद्धान्तिक आदर्श या धर्म का मुलम्मा चढ़ाकर सुपाच्य बना लेते हैं और इस प्रक्रिया में नए या पुराने शब्दों का अभिनव प्रतीकीकरण करते चलते हैं।

---

१. **हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग,** पृ० ९९३-९९४।

२. **वही,** पृ० ९९५-९६।

प्रतीकों का एक कारण दमन (जैसा कि मनोविश्लेषणवादी कहते हैं) ही नहीं, भावातिरेक भी है। कवि चेतना के उस उच्चतम धरातल पर आसीन हो जाता है जहाँ स्थूल से उसका नाता टूट जाता है, कोई विशेष 'नाम' किसी विशेष 'रूप' का द्योतक नहीं रह जाता। रूप आगे बढ़ता रहता है नाम उसके साथ स्वतः ही जुड़ता चलता है। समस्त स्थूल चेतना का पराभव हो जाता है; सर्वत्र सूक्ष्म ही सूक्ष्म दृष्टिगोचर होता है। भावातिरेक में सर्वत्र नया ही नया होता है और कविता उस आत्मिक सूक्ष्म को नए शब्दों में स्वरूप प्रदान करती चलती है।[1] पर उसमें बनावट नहीं होती, अलंकारों का आग्रह नहीं होता क्योंकि शृंगार सज्जा या अलंकरण उस तक पहुँचने में बाधा उपस्थित करते हैं, अलंकारों की झनझनन उस मृदु वीणा के शान्त एकान्त रव को डुबा देती है जिसे सुनने को आत्मा व्याकुल रहती है।[2] उस महाकवि के चरणों में बैठकर कवि जो प्रतीक विधान करता है वह अभिनव, सात्विक सरल, सुघढ़ और अपरिमेय होता है। द्रष्टव्य है कि प्रतीक अभिव्यक्ति का एक माध्यम अथवा साधन है साध्य नहीं। सीमा लांघकर यदि प्रतीकों के प्रति आग्रह रहेगा तो न तो 'उसकी' सम्यक् अभिव्यक्ति ही हो सकेगी और न काव्य का रसात्मक रूप ही जीवित रह सकेगा। अतः प्रतीक आत्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने, मनोभावों के अधिक व्यंजक, अव्यक्त को व्यक्त, अमूर्त और सूक्ष्म को मूर्त, भावातिरेक को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने, गुह्य ज्ञान को अनधिकारी से गुप्त रखने और काव्य को नया रूप प्रदान करने के सबल माध्यम हैं, यही उसकी सीमा है और यहीं तक इसका प्रयोग श्रेयस्कर भी है।

---

1. So poetry arrives at the indication of infinite meanings beyond the finite intellectual meaning the word carries. It expresses not only the life soul of man as did the primitive word not only the ideas of his intelligence for wich speech now usually serves, but the experience, the vision, the ideas, as we may say, of the higher and wider soul in him. Making them real to our life-sould well as present to our intellect, if opens to us by the word the door of spirit.—The future poetry—*by Sir Aurobindo, Page 18.*

2. 'My song has put off her adornment. She has no pride of dress and decoration. Ornaments would mar our union, they would come between thee and me; their gingling would drown they whispers.

   My poet's vanity dies in shame before they sight. O Master poet, I have sat down at thy feet. Only let me make my life simple and straight, like a flute of read for thee to fill with music. *Ravindra Nath Tagore, Gitanjali. Page7.*

प्रतीक का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मन की सम्पूर्ण शक्तियों और चेतना के विकास तथा उसके नवीन स्तरों का उद्‌घाटन एवं अध्ययन ही मनोविज्ञान है। पाश्चात्य मनोविज्ञान मन के तीन स्तर (चेतन, अचेतन, उपचेतन) मानता है पर भारतीय मनोविज्ञान 'सम्पूर्ण मन' का ही अध्ययन करता है जिसका लक्ष्य मन से भी परे मानवीय शक्तियों का विकास दिखाते हुए अचेतन और उपचेतन की सीमा से परे उर्ध्व या अतिचेतन की ओर अग्रसर कर उस आत्मिक जगत् का साक्षात्कार कराना है जो उस परम ज्योति के चिर सानिध्य का मार्ग प्रशस्त कर दे। मन की चंचल वृत्तियों का दमन करके ही पुरुष नवद्वार वाले इस देह रूप घर में सुख से रहता हुआ[1] तथा कल्मष को दूर करता हुआ उस परम ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।[2] भारतीय दर्शन में मन और इन्द्रियों को उद्धत दुर्निवार और चंचल अश्व बताते हुए इनके सप्रयास निग्रह पर विशेष बल दिया है, मन को लगाम लगाकर[3] ही आत्मा उस परम पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है।[4] पाश्चात्य मनोविज्ञान में मन की क्रियाओं को दमित वासनाओं का रंगस्थल माना गया है। अचेतन मन में ये दमित वासनाएं अपनी अभिव्यक्ति के लिए जिस माध्यम को चुनती हैं उसमें स्वप्न तथा यौन प्रतीकों का बाहुल्य है। मनःस्थिति के सन्तुलन के लिए मनोविश्लेषणवादी रेचन को महत्वपूर्ण मानते हैं जबकि भारतीय विचारधारा 'निग्रह' पर आधारित है क्योंकि 'मन' चेतना का एक अंश मात्र ही है जिसे निग्रह कर मानवीय चेतना को निम्न स्तरों से उच्चस्थिति की ओर उन्मुख करना ही भारतीय साधना का लक्ष्य है।

प्रतीक सृजन की दृष्टि से मनोविज्ञान में मन के दो स्तर—चेतन तथा अचेतन—माने गए हैं, इन दोनों के मध्य उपचेतन मन को भी माना गया है। भारतीय मनोविज्ञान में चेतना के चार स्तर माने गए हैं—सुषुप्ति, स्वप्न, जागृत और तुरीयावस्था। अचेतन में सुषुप्ति और स्वप्न की अवस्थाएं समाहित हो जाती है। अचेतन के महासागर में न जाने कितनी दमित वासनाएं, कामनाएं, इच्छाएं और अभिलाषाएं निश्चेष्ट अवस्था में दबी पड़ी रहती हैं, सुषुप्ति की अवस्था में जब चेतन मस्तिष्क ढीला पड़ जाता है, मानव का अचेतन मन सक्रिय हो जाता है और दमित वासनाएं समय पाकर स्वप्न तथा यौन प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगती हैं। ये विचार प्रायः अश्रृंखलाबद्ध ही होते हैं। प्रतीकीकरण सम्बन्धी मनोविश्लेषण के सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने पर दो बातें प्रमुख रूप से सामने आती हैं, एक तो यह कि प्रतीकेय विषय-वस्तु का सम्बन्ध उन प्रमुख इच्छाओं और रुचियों से है जो

१. **नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।** श्रीमद्‌भगवदगीता ५/१३
२. वही ५/२५
३. **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।**
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ कठ० ३/३
४. गीता, ५/६

अत्यधिक पुरातन और प्राकृत हैं। दूसरे यह कि प्रतीकों का सम्बन्ध उन भावनाओं अथवा संवेगों से है जो आदिकाल से सहज रूप में दमित अवस्थाओं में पड़े हैं और प्रतिबन्ध के कारण ज्ञान या चेतन मन में नहीं आ पाते। आदिम विचारों से सम्बन्धित होने के कारण इनका संवेगात्मक पक्ष भी है, इसके लिए जिस भाषा का प्रयोग किया गया वह स्वाभाविक रूप से प्रतीकात्मक है। जोन्स ने मनोविश्लेषण के दृष्टिकोण से प्रतीक के आधार विषय माने हैं--'अज्ञात भाव ग्रन्थियां, अवरोधक शक्तियाँ, जो इन्हें दमित अवस्था में रखती हैं। अज्ञात ग्रन्थियों का निर्माण उन अवाँछनीय इच्छाओं द्वारा होता है जो सामाजिक मर्यादा, परम्परा एवं सीमाओं के कारण सन्तुष्ट नहीं हो पाती। दमन से ही प्रतीकों की विषय-वस्तुओं का निर्माण होता है। फ्रायड के अनुसार प्रतिबन्धक अवरोध का काम करते हैं और इच्छाओं को वास्तविक रूप में ज्ञात मन में आने से रोकते हैं। किसी भी प्रतीक का स्वरूप व्यक्ति-विशेष की मानसिक शक्ति को मूल प्रवृत्ति से हटाकर उसे असामाजिक से वांछनीय दिशा की ओर अभिमुख करने की क्षमता पर निर्भर है। अतएव किसी प्रतीक का अर्थ वास्तव में अज्ञात ग्रन्थियों पर ही आधारित है। अज्ञात विषय वस्तु को ज्ञातमन के पर्दे पर आने से रोकने वाली प्रतिबन्धक शक्ति का कुछ ही मात्रा में प्रतीक निर्माण पर प्रभाव पड़ता है और आंशिक रूप में ही प्रतीक का विषय परिमार्जित वृत्तियों से प्राप्त होता है।[1] फ्रायड के अनुसार प्रतीक किसी सूक्ष्म भाव की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि वह स्थूल इच्छाओं के वाहक हैं जो प्रमुख रूप से काममूलक होते हैं। फ्रायड जैसे मनोविश्लेषणवादी कला, काव्य आदि में ही नहीं, दैनिक जीवन की सामान्य घटनाओं में भी काम प्रतीकों को सक्रिय पाते हैं। लेखन की भूल, बोलते समय कुछ का कुछ कह जाना, कार्य सम्पादन में त्रुटि कर देना या इसी प्रकार की छोटी-छोटी बातें जो प्रायः हो जाया करती हैं, फ्रायड के अनुसार काम प्रेरित ही हैं। उनकी सामान्य निष्पत्ति है कि मनुष्य की बहुत सी क्रियाएं एवं व्यवहार शैलियां चाहे वे जटिल हों या सरल, प्रकृत हों या परिष्कृत, उसके अतीत जीवन की अतृप्त इच्छाओं की अभिव्यक्तियां हैं; ऐसी इच्छाएं जो चेतन अथवा ज्ञात मन से बहिष्कृत करदी गई हैं परन्तु पृष्ठभूमि से व्यवहार और आचरण को प्रभावित करती रहती है।"[2] स्वप्न में व्यक्ति के इस मानसिक संघर्ष और द्वन्द्व का प्रस्फुटन काम अथवा यौन प्रतीकों में होता है।

स्वप्न और प्रतीक :

स्वप्न अज्ञात मन में छिपी भाव ग्रन्थियों की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। "स्वप्न निष्क्रिय, काल्पनिक तत्वहीन असंगत तथ्यों का असम्बद्ध जमघट नहीं है, बाह्य रूप में यह जैसा भी अप्रासंगिक, विलक्षण लगे, यह ऐसी महत्वपूर्ण मानसिक

१. डा० पद्मा अग्रवाल, प्रतीकवाद, पृ० २०-२१
२. वही, पृ० २३

प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति है जिनका निश्चित अर्थ होता है और जिनका जीवन से सम्बन्ध होता है और जिनका प्रभाव पड़ता रहता है। इनमें स्वप्न द्रष्टा की आन्तरिक ग्रन्थियों-संघर्षों का प्रतिबिम्ब मिलता है।"[१] हैवलांक एलिस के अनुसार "स्वप्न संवेग एवं अपूर्ण-अविकसित विचारों का विशाल विस्तृत जगत है जिसके अध्ययन से हमें मानसिक जीवन के आदिम विकास के स्तरों का अनुमान होता है।"[२] फ्रायड, युंग, स्टेकल, एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों ने माना है कि अधिकांशतः स्वप्न प्रतीकात्मक होते हैं और इनका उद्भव मन के उस भाग से होता है जिसके विषय में मनुष्य या स्वप्नद्रष्टा को स्वयं ज्ञान नहीं होता। फ्रायड ने स्वप्न की प्रतीकात्मक प्रवृत्ति पर विशेष बल देते हुए कहा है कि स्वप्न उन दमित इच्छाओं का सामान्य तुष्टीकरण है जिनको किन्हीं विशेष आभ्यन्तरित सीमाओं, सामाजिक परम्पराओं तथा नैतिक बन्धनों के कारण व्यापक स्वीकृति नहीं मिल पाती। युंग ने माना है कि अज्ञात मन में जिन मूल तथ्यों का संगम होता है वे पूर्वजों से पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होते हैं। सारांश यह है कि मानसिक वृत्तियों का यह अस्वाभाविक दमन परम्परागत है जिसकी अभिव्यक्ति का प्रतीकात्मक प्रयत्न स्वप्न रूप में होता आया है। स्वप्न-प्रतीक के सम्बन्ध में प्रमुखतः दो समस्यायें उठती हैं, एक-अज्ञातमन अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक शैली ही क्यों अपनाता है? वह अपनी इच्छाओं-भावनाओं को अपने प्राकृतिक रूप में क्यों नहीं देखता? नाना प्रकार के छद्म रूप और वेश धारण करने में क्या तात्पर्य सिद्ध होता है? दूसरा यह कि मनुष्य की इच्छाएँ और भाव किस प्रकार विचित्र किंवा विकृत (प्रतीकात्मक) रूप धारण कर लेते हैं? इस सम्बन्ध में मनोविश्लेषण-शास्त्र का कथन है कि अज्ञात मन में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक परम्पराओं और बन्धनों के कारण कितनी ही इच्छाएं समाविष्ट और संग्रहीत हो जाती हैं जो ज्ञात मन की दृष्टि से विकृत और अवांच्छनीय हैं। ज्ञात मन चेतनावस्था में इन विकृत इच्छाओं को मूल रूप में अभिव्यक्त होने से रोकता है। चेतन मस्तिष्क के इस प्रबन्ध के कारण ये तथाकथित विकृत्त अभिव्यक्तियाँ या इच्छाएं अज्ञात मन के लिए सदैव एक बोझ बनी रहती हैं। स्वप्न ज्ञात और अज्ञात मन के मध्य एक सामंजस्य स्थापित करने का माध्यम है। स्वप्न में अज्ञात मन की प्रत्यावर्तनात्मक अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से प्रतीकात्मक होती है। स्वप्न में अज्ञातमन आदिम इच्छाओं को इस प्रकार व्यक्त कर लेता है जो ज्ञात मन के लिए भी अग्राह्य नहीं रहती, इस प्रतीकात्मक प्रत्यावर्तन से ही अज्ञात मन अपना बोझ हल्का कर पाता है। मानसिक क्षेत्र में इस प्रकार निरन्तर विचरण करने वाली ग्राह्याग्राह्य आदिम भाव प्रतिमाएं स्वप्न में निर्बाध रूप में प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। इस विवेचन के आधार पर हम उक्त दोनों समस्याओं के समाधानार्थ कह सकते हैं कि सामाजिक प्रतिबन्धनों से आक्रान्त अज्ञात मन स्वप्न-प्रतीकों के माध्यम से सर्वग्राह्य अभिव्यक्ति करता है।

---

१. वही पृ० ३५

२. हैवलांक एलिस : दि वर्ल्ड आफ ड्रीम्स, डा० पद्मा अग्रवाल, प्रतीकवाद, पृ० २३

फ्रायड ने स्वप्न प्रतीक की चार प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया है—(१) स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में प्रतीकों के माध्यम से निहित भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। निद्रावस्था में चेतन मस्तिष्क या मन की क्रियाएं शिथिल हो जाती हैं परन्तु अचेतन या अज्ञात मन अधिक सक्रिय हो उठता है, ऐसी अवस्था में अज्ञात मन की कुण्ठित, प्रताड़ित भावना या इच्छाएं क्रियाशील हो जाती हैं और वह अनैच्छिक, प्रतिबन्धित कामजन्य चेष्टाओं को सर्वग्राह्य और कामशून्य अवस्था में परिवर्तित कर प्रतीक रूप में व्यक्त करता है। इच्छाओं का यह परिवर्तन स्थानापन्न ज्ञात मन को ग्राह्य होता है।

दूसरी विशेषता—प्रतीक न केवल स्वप्न में वरन् जीवन के विभिन्न अंशों में, कला, काव्य, पौराणिक आख्यान, लोककथा या परीकथाओं में भी सक्रिय रहता है। कलाकार प्रतीकात्मक चित्रण के द्वारा मानव मन की आदिम, मौलिक एवं तात्विक अनुभूतियों-भावकल्पना की अभिव्यक्ति करता है। इसका भी एक कारण है मानव-प्रकृति, सभ्यता और संस्कृति सदैव से प्रवहमान रही है। विकास की प्रक्रिया में उसका जीवन क्रमशः सरलता से जटिलता की ओर, प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर तथा विस्तार से संक्षेपण की ओर बढ़ता चला गया है, यहां प्रतीकात्मक शैली का पग-पग पर उसे सहारा ग्रहण करना पड़ा है जिसमें ज्ञाताज्ञात मन की काम्याकाम्य भावकल्पनाओं का सफल प्रदर्शन सम्भव था।

स्वप्न-प्रतीक की तीसरी विशेषता है उनका काम भाव से प्रेरित होना। फ्रायड के इस संकुचित दृष्टिकोण की व्यापक आलोचना हुई है। युंग के अनुसार स्वप्न में केवल काममूलक भाव प्रतिमाओं का ही चित्रण नहीं होता, स्वप्न अज्ञात मन का दर्पण है, पर घटित कथानक-चित्रों का अपना अलग ही मूल्य है जिसमें व्यक्तिगत भाव इच्छाओं के अतिरिक्त जातिगत संस्कार, घोषित भाव प्रतिमाएं भी रूप ग्रहण करती हैं। मनोविश्लेषणवादियों ने काम (यौन सम्बन्ध, sex) की व्यापकता को इस सीमा तक स्वीकार करने से मना कर दिया है जिसमें व्यक्ति और समाज के समस्त सामाजिक, पारिवारिक, धार्मिक कृत्य, आकांक्षाएं और सौन्दर्य बोध समाहित हो जाएं। अबोध बालक की क्रियाएं प्रौढ़ व्यक्ति के समान कामाभिभूत नहीं होतीं। माना तो जा सकता है कि काम बीज रूप में बालक में विद्यमान रहता है जो समय के जल-वायु से सिंचित होकर विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, पर बीज को ही अपने मूल रूप में वृक्ष समझ लेना प्रवंचना मात्र ही है।

चौथी विशेषता—अपने बाद के अध्ययन और विश्लेषण में फ्रायड ने स्वप्न प्रतीकीकरण को एक स्वतन्त्र प्रक्रिया माना और स्वीकार किया कि नैतिक निषेध के अभाव में भी स्वप्न में मूल तथ्य विकृत ही रहते हैं।

स्वप्न प्रतीकों के मूल में काम की प्रमुखता का खंडन करते हुए फ्रायडेतर मनोविश्लेषणवादियों ने कहा है कि मानव की जीवन सम्बन्धी प्रेरणाएं और प्रवृत्तियाँ बहुमुखी होती हैं, एक ही घटना या वस्तु के प्रति विभिन्न व्यक्तियों का विभिन्न दृष्टिकोण या प्रभाव हो सकता है। जैसे—

"एक नववधू स्वप्न में एक व्यक्ति को अपने पीछे छुरा लेकर आती हुई देखती है, वह भयभीत होकर जाग उठती है।"[1] फ्रायड इस स्वप्न की परिभाषा काम भाव से करता है, पर सम्भव है नववधू में भय की यह भावना किसी ज्ञाता-ज्ञात अपराध के कारण हो, और उसके 'नैतिक मन' ने स्वाभाविक ताड़ना स्वरूप यह स्वप्न उपस्थित कर दिया हो। यह स्वप्न वधू की हीनत्व ग्रन्थि या डरपोक प्रवृत्ति का सूचक भी हो सकता है।

फ्रायड ने काम स्वप्न-प्रतीक का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"स्वप्न दृष्टा अपनी लिखने की मेज की दराज के सामने खड़ी है और वह जानती है कि यदि कोई भी उसे स्पर्श करेगा तो वह सचेत हो जाएगी।"[2] यहाँ लिखने के मेज की दराज, अन्य दराजों, वक्ष और सन्दूकों के समान स्त्री योनि का प्रतीक है, स्पर्श सम्बन्धी ज्ञान यौन-सम्बन्ध का प्रतीक है।[3]

युंग ने मन की तुलना सागर से करते हुए ज्ञात मन को द्वीप के समान बताया है। मनोवैज्ञानिक सत्य यह है कि अनुभूति कैसी भी अस्पष्ट और धुंधली क्यों न हो यह पूर्ण रूप से मिटती नहीं है। प्रयास करने पर स्मृति और भी गहरी हो जाती है। अतीत की धुंधली और स्पष्ट तस्वीरें तथा अनुभूतियां धीरे-धीरे अज्ञात मन में संग्रहीत होती रहती हैं जो ज्ञातरूप में सम्पूर्ण व्यक्तित्व का संचालन करती हैं। फ्रायड ने अज्ञात मन को वर्जित इच्छाओं का समृद्ध संग्रहालय माना है। गतिशील स्वभाव के कारण इच्छाएं अभिव्यक्ति चाहती हैं पर नैतिक मन का बलिष्ठ पहरेदार उन्हें द्वार से ही लौटा देता है, यह संघर्ष चलता रहता है। आभ्यन्तरिक क्षेत्र में संघर्ष विद्रोह का रूप धारण कर लेता है और निद्रावस्था में वर्णित इच्छाएं छद्मवेष (प्रतीकात्मक रूप) में बाहर निकल पड़ती हैं। काम ही नहीं, स्वप्न-प्रतीकों का क्षेत्र व्यापक है जो जीवन के अन्य पहलुओं को भी अपने भीतर समेट लेता है।

---

१. डा० पद्मा अग्रवाल, 'प्रतीकवाद', पृ० ४४

2. "The dreamer was standing in front of her writing table drawer which she knows so well that, if anyone touched ıt, she would immediately be aware of it."—*Sigmund Fraud, Introductory lectures on psycho-Analysis*. p. 161

3. The writing table drawer, like all drawers chests and boxes, is a symbol of the female genital. She knew that when sexual intercourse (or, as she thought, any contact at all) has taken place the genital shows certain indications of the fact, and she had long had a fear of being convicted of this."

Sigmund Fraud, Introductory lectures on psycho Analysis, p. 161.

जैसे—'जल में प्रवेश करना या बाहर आना—जन्म का प्रतीक है; 'यात्रा' मृत्यु की सूचक है; 'वस्त्र' नग्नावस्था के लिए; मैदान, कमरा, महल, किला, सन्दूक, जेब, तितली, गिरजाघर-स्त्री के लिए; घड़ी, पिस्तौल, सूई, चाकू, पेंसिल, गुम्बज-पुरुष के लिए; 'सर्प' मनुष्य की पशु प्रवृत्ति के लिए; स्वप्न में गांठ खोलना'—जटिल समस्याओं को सुलझाने का प्रतीक है; 'पहरेदार' चेतन क्रिया का; 'अजायबघर' उस मस्तिष्क का प्रतीक है जिसमें विभिन्न स्मृतियां संचित हैं; 'मोटर के यंत्र' मन की जटिलता का, 'घड़ी का घण्टा' अज्ञात मन के क्रियात्मक स्वभाव का प्रतीक है; ओटो-मोबाइल का स्वप्न इंगित करता है कि किस प्रकार मानव मन की बलवती संवेगात्मक इच्छाएँ अभिव्यक्ति का नवीन उपाय खोजती हैं; 'थैला' जीवन यात्रा में संचित पाप के बोझ का प्रतीक है; पहाड़ पर या सीढ़ी पर चढ़ना काम का प्रतीक है; वायु का बहना कायिक प्रतीक है; पैर का फिसलना आचरण से गिरे हुए नैतिक मन का प्रतीक है।

अतः स्वप्न सम्बन्धी विचित्रताओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि समाज द्वारा प्रतिबन्धित आदिम भावकल्पनाओं, इच्छाओं का दमन अथवा भावातिरेक ही प्रतीकों का कारण नहीं है, समाज द्वारा स्वीकृत एवं बहुकाँक्षित भाव-स्मृतियां भी मानव के अज्ञात मन को इस दूर तक प्रभावित करती हैं कि अन्तरतम की गहराइयों से जो भी चित्र मानस पटल पर उभरते हैं वे छद्मवेश किंवा प्रतीक रूप में होते हैं। स्वप्नावस्था में आत्मा अपनी विभूति का दर्शन कर पूर्वानुभूत वस्तुओं का पुनः पुनः स्वप्न रूप में चित्रण करती है।[1]

काव्य में प्रतीक की महत्ता :

प्रतीक अभिव्यक्ति का वह सबल माध्यम है जो अनभिव्यक्त भावों को मूर्त रूप प्रदान करता है। भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन यहाँ तक कि मनुष्य जीवन का नित्य प्रति का कार्य व्यवहार भी प्रतीकों का चिर अवलम्बन लिए चलता है।[2]

भाषा-वैज्ञानिकों के मतानुसार भाषा का प्रारम्भिक प्रतीक रूपों में ही था। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम व्यक्ति द्वारा कहे गए प्रथम शब्द के साथ ही प्रतीकवाद का आरम्भ माना जा सकता है। विचार या भावों से संयुक्त जिस लिपिबद्ध शब्द से अभिव्यक्ति हुई वह प्रतीकपरक ही थी। भाव या अर्थ के समन्वय के बिना वर्णों

---

१. **प्रश्नोपनिषद् चतुर्थ प्रश्न-५, ईशादि नौ उपनिषद्**, पृ० १७१

२. "Man lives in a symbolic universe, language, myth, art and religion are the parts of this universe. They are the varied threads which weave the symbolic net, the tangled web of human experience"

—*'An essay on Man, by Earnest Cassiner, Quoted in exploring Poetry by M. L. Rusentheland & A. J. M. Smith*—Page 497.

या शब्दों का अपना कोई स्वतन्त्र रूप सम्भव नहीं हो सकता। शब्द के साथ ही वस्तु का रूप और उस रूप के साथ उसकी प्रवृत्ति आदि उत्पन्न होती है। शब्द के इस प्रतीकात्मक रूप ने ही भाषा को सशक्त जीवन, दृढ़ता और कवित्व पूर्ण गति प्रदान की है।[1]

आध्यात्मिक तथा साहित्यिक क्षेत्र में प्रतीकों की महत्ता स्पष्ट है। बहुनाम-धारी, जगत् के कण-कण में व्याप्त उस अरूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति के लिए सामान्य भाषा सक्षम और पर्याप्त नहीं, साधना एवं योग की चरम स्थिति में पहुँचकर साधक ने परम रहस्यमय, अगोचर ब्रह्म का वर्णन सांकेतिक भाषा में किया है क्योंकि बहुनाम धारी होकर भी वह नाम रहित है, समस्त वर्णनों से परे है जबकि समस्त वर्णन उसी में समाए हुए हैं, इसी कारण वह मस्तिष्क की शक्तियों से परे है।[2]

रहस्यवादी और छायावादी कवियों ने अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकात्मक शैली को ही चुना है। आध्यात्मिक ज्ञान की उपलब्धि किस प्रकार होती है इसका वर्णन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि 'जब साधक के

---

१. "The word 'Wolf' the origin of which is no longer present in our minds, denotes to our intelligence a certain living object and that is all, the rest we have to do for ourselves. The Sanskrit word 'Vrika' (वृक) tearer come in the end to do the same thing, but originally it expressed the sensational relation between the wolf and man which most affected the man's life, and it did so by a certain quality in the sound which readily associated it with the sensation of tearing. This must have given early language a powerful life, a concrete vigour, in one direction a natural poetic force which it has lost, however greatly it has gained in precision, clarity utility."

Sri Aurobindo—The future poetry. Page 17—18

२. "The doctrine of the mystics recognises as unknowable, Timeless and Un-nameable behind and above all things and not seizable by the studious pursuit of mind. Impersonally, it is that, the one existence, to the pursuit of our personality it reveals itself out of secrecy of things as the god or Deva; nameless though he has many names, immeasurable and beyond description, though he holds in himself all description of name and knowledge and all measures of form and substance, force and activity."—*Sri Aurobindo—On the Veda*, p.—423-24

हृदय-देश में हृदय की भेजी हुई ज्योति की किरण झलक की तरह क्षणमात्र के लिए आ जाती है तब या तो उस परमतेज का चकाचौंध कम करने के लिए अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक कुछ पहुँचाने योग्य बनाने के लिए उस प्रेषित ज्ञान के तथ्य को व्यंजित करने के उपयुक्त पार्थिव जगत का कुछ अनूठा रूप विधान-रूपक सामने आ जाता है। सूफियों में इसी परम्परा का निर्वाह शराब, प्याले आदि के रूपकों में मिलता है जो एक प्रकार के प्रतीक से हो गए हैं। निर्गुण पंथ की बानियों में विशेषतः कबीर की बानी में जो वेदान्त आदि की बातों को लेकर पहेली के ढंग के रूपक बाँधने की प्रवृत्ति पाई जाती है वह भी इसी रूढ़ि का निर्वाह है।"[1]

कवि परम्परा में यह बात सर्वत्र देखने को मिलती है कि वह कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों को भर देना चाहता है। 'गागर में सागर' भरने वाला कविश्रेष्ठ ही अपने अभियान में सफल हो पाता है, प्रतीक कवि की इस उद्देश्य पूर्ति में दूर तक सहायक होते हैं। प्रतीक हमारे मन में भावों की एक सम्पूर्ण रूप रेखा ही प्रस्तुत कर देते हैं, साधारण शब्द भावों का इतना विशद और सर्वांगीण चित्रण नहीं कर पाते। यथा :

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ घेरा डाला।[2]

झंझावात से हम सभी परिचित हैं। झंझा के आने पर चारों ओर का वातावरण एक अजीब सी घुटन से भर जाता है, एक नीरव विक्षुब्धता छा जाती है, फिर कुछ ही क्षण में सब कुछ उथल-पुथल कर देने वाली स्थिति पैदा हो जाती है, बीच-बीच में बिजली की चमक वातावरण को और भी अधिक गम्भीर बना देती है। कवि के मन में भी कैसी उथल-पुथल है! भावों की तीव्रता, मन की चंचलता और इन सबके बीच डांवाडोल अस्तित्व; यह सारा चित्रण झंझा, बिजली, शून्यता आदि शब्दों से साकार हो उठता है।

प्रतीकों में लाक्षणिक चमत्कार उत्पन्न करने की अपूर्व शक्ति होती है जिसके प्रयोग से भाषा में लाक्षणिकता और व्यंजकता का विकास होता है, यदि प्रतीकों का प्रयोग भाषा में न होता तो न जाने कितने भाव अनकहे और अनसुने ही रह जाते, क्योंकि प्रतीक कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक कह सकने में समर्थ हैं।[3]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सूरदास पृ० ६९

२. प्रसाद, आंसू, पृ० १५

३. The symbols may vary in their contexts, but their meaning is always clear, they save much explanation, and they give a concrete form to ideas that would otherwise be dim.

—*C. M. Bawra. Heritage of Symbolism*, p. 212.

अन्त में 'हिन्दी साहित्य कोश' (पृ० ४७३) के वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि—

(क) प्रतीक किसी विषय की व्याख्या करते हैं,

(ख) प्रतीक किसी विषय को स्वीकृति प्रदान करते हैं,

(ग) प्रतीक पलायन का पथ भी प्रस्तुत करते हैं,

(घ) प्रतीक चेतन अथवा अचेतन मन में सुप्त किंवा दमित आदिम भाव-कल्पनाओं को व्यक्त तथा जागृत करते हैं,

(ङ) प्रतीक अलंकारों की भांति किसी उक्ति को उत्कर्ष तथा सौन्दर्य प्रदान करते हैं,

(च) प्रतीक कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भावों को गति प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं।

प्रतीक विषयक भ्रान्तियां और उनका निराकरण

प्रतीक आन्तिरक भावों की अभिव्यक्ति का एक ऐसा सफल साधन है जिसका अपना पृथक अस्तित्व है पर कुछ विद्वान् उपमा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति प्रभृति अलंकारों को न्यूनाधिक्य साम्य के कारण प्रतीक मान बैठे हैं। अप्रस्तुत के प्राधान्य के आधार पर यह भ्रान्त धारणा सम्भव है। उदाहरणार्थ—

"चन्द्रबदीन मृग सावक लोचनि" में पं० रामदहिन मिश्र ने (काव्य विमर्श-पृ० २७५) 'चन्द्रबदीन' को प्रतीक रूप माना है और 'मृग सावक लोचनि' को उपमान। उनका कथन है कि बदन को 'चन्द्र' कहने से चन्द्रमा की शीतलता, स्निग्धता, आह्लादकता, मनोहरता, उज्ज्वलता आदि विविध भाव मन में जागृत हो जाते हैं, इस प्रकार 'चन्द्र' इन विविध भावनाओं का प्रतीक है, जबकि सीता जी के नेत्र मृगशावक के समान विशाल, सुन्दर हैं अतः विशेषण रूप या उपमान रूप हैं।

एक अन्य उदाहरण 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा' में मिश्र जी के कथनानुसार 'मुख ससि, नयन चकोरा' दोनों ही प्रतीक रूप हैं क्योंकि 'चकोर' कहते ही आदर्श प्रेमी का रूप उभर आता है। चकोर प्रवृत्ति के अनुसार चन्द्रमा को अंगार समझकर भी उसके भक्षण को तत्पर रहता है।

परन्तु उपर्युक्त दोनों ही उदाहरण उपमा-रूपक के अधिक समीप हैं प्रतीक से तो दूर ही हैं। 'चन्द्र' और 'मृग सावक' उपमान रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। 'चन्द्र' कहने से उसका भावनागत रूप ही अधिक उभरता है, भौतिक या जड़ रूप में 'चन्द्र' भी पृथ्वी आदि विविध ग्रहों के समान एक ग्रह है, और आज के वैज्ञानिकों के मतानुसार 'चन्द्र' के कठोर, गड्ढे युक्त धरातल को यदि स्वीकार किया जाए तो नायिका के मुख का समस्त लावण्य ही तिरोहित हो जाएगा। इसीलिए 'चन्द्र' कहने से उसका स्निग्ध, उज्ज्वल, कोमल और मनोहारी रूप ही उभरता है, और इस भावमयी रूप को नितान्त उपमान स्वीकार करने में कोई भी वैधानिक कठिनाई उपस्थित नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'मृग सावक' कहने से उसके नेत्रों का सौन्दर्य, विशालता आदि

का ही भाव-रूप उभरता है। यहाँ साधारण धर्म का लोप है अतः लुप्तोपमा का ही रूप है, प्रतीक नहीं। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'ससि-मुख' तथा 'नयन-चकोरा' में रूपक अलंकार है, मुख में ससि का और नयन में चकोरा का आरोप किया गया है। चकोर कहने से चकोर की समस्त विशेषता उभर आती है, भाव सौन्दर्य साम्य के कारण ही नयन को चकोर कहा गया है।

इसी प्रकार

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेव च ॥[1]

में रथ, रथी, सारथी और लगाम को क्रमशः शरीर, आत्मा, बुद्धि और आत्मा का प्रतीक मानना भी भ्रमपूर्ण है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में उक्त शब्द प्रतीक रूप में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। शरीर, आत्मा, बुद्धि और मन के पारस्परिक सम्बन्ध को रथ, रथी, सारथी और लगाम के रूपक से समझाया गया है, जिस प्रकार सारथी रथ के चंचल घोड़ों को लगाम के द्वारा वश में करती है उसी प्रकार बुद्धि मन से समस्त शरीर की क्रियाओं का संचालन करता है। यहां प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का ही स्पष्ट कथन किया गया है, इसलिए प्रतीक के स्थान पर उत्प्रेक्षा है।

इसी प्रकार रूपकातिशयोक्ति को प्रतीक रूप में चित्रित करना भ्रमपूर्ण है—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग।[2]

यहाँ साम्याविक्य के कारण रूपकातिशयोक्ति है पर कमल, गजवर, सिंह को क्रमशः चरण, गति और कटि का प्रतीक मान लेना नितान्त भ्रम ही है। कमल, सिंह आदि काव्य के प्रसिद्ध उपमान है और एक विशेष अर्थ (चरण, कटि) में प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ि हो गए हैं।

प्रतीक, जैसा पूर्व विवेचन से सिद्ध हो चुका है, अपनी व्यापकता में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति आदि सादृश्यमूलक अलंकारों को अपने भीतर किन्हीं अंशों में समेटे हुए तो अवश्य है पर फिर भी प्रतीक और अलंकारों का अपना अपना अस्तित्व है। प्रतीक और अलंकारों को एक ही वस्तु के दो नाम समझना भ्रान्त धारणा मात्र है।

---

१. कठोपनिषद, तृतीय बल्ली, श्लोक ३
२. सूरसागर, पद, २७-२८, पृ० ६६६

२. प्रतीक साहित्य का रहस्यात्मक स्वरूप

बाल दिवाकर की भोली अरुणिमा अनजाने ही जिस ज्योतिमय का आलोक कणकण में बिखरा देती है, शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर की बेसुधी एक छोर से दूसरे छोर तक बहकर जिसके गीत मर्मर स्वर में गुनगुना जाती है, रात्री में मौक्तिक-हार पहने कुछ लजाती सी, छिटकी सी ज्योत्स्ना जिस अव्यक्त सत्ता की सत्ता को व्यक्त करने की चेष्टा करती है, उसकी अनुभूति और उसको अभिव्यक्त करने की कठिनाई के मूल में ही रहस्यात्मकता का उद्गम स्रोत माना जाता है। रहस्यभावना मनुष्य की स्वाभाविक मनोवृत्ति रही है, और यह वृत्ति उस समय और भी अधिक रहस्यमय हो जाती है जब उसका सम्बन्ध उस अव्यक्त से हो। काव्य और कला के इस क्षेत्र में इस गुह्य वृत्ति को लेकर जिस वाद की सृष्टि की गई है उसे रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया गया है। अमरकोश[1] में 'रहस्' का अर्थ एकान्त, निर्जन, गुप्त, गुह्य है, उससे सम्बन्धित वस्तु रहस्य (रहसिभवं-रहस्यं) कहलाती है, इस प्रकार रहस्य का अर्थ हुआ 'एकान्त सम्बन्धित विषय'। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'रहस्य' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ देते हुए कहते हैं, 'रहस्य' शब्द का मूल 'रहस्' पर आधारित है जो स्वयं 'रह त्यागे' के अनुसार 'त्याग करना', अर्थ रखने वाली धातु 'रह' से, उसके आगे 'असुन' प्रत्यय लगाकर बना कहा जा सकता है। ऐसे 'रहस्' का अर्थ साधारणतः 'विविक्त', 'विजन', 'गुह्य' और 'एकान्त' होता है जिस कारण इसके द्वारा अधिकतर 'गोपनीयता' का बोध होना स्वाभाविक है।'[2] इस प्रकार इन व्युत्पत्तिपरक व्याख्याओं से भी यही सिद्ध होता है कि किसी अव्यक्त या गोपनीय से सम्बन्धित कथन रहस्यवाद है।

रहस्यवाद, उसके स्वरूप और विशेषताओं का उल्लेख करते हुए पाश्चात्य तथा भारतीय चिन्तकों ने अनेक परिभाषाएं दी हैं। आर० एल० नेटलशिप ने रहस्यवाद को अनुभूति की कोटि में रखते हुए कहा है, 'सच्चा रहस्यवाद इस बात का बोध हो जाना है कि जो कुछ हमारे अनुभव में आता है वह वस्तुतः एक अंश अथवा

---

१. विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः।
रहश्चोपांशु चालिङ्गे रहस्यं तद्भवे त्रिषु ॥
—अमरकोश, काण्ड २, वर्ग ८, श्लोक २२, २३

२. परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद, पृ० १

केवल एक अंश मात्र है अर्थात् अपने वास्तविक रूप में, वह अपने से अधिक किसी वस्तु का प्रतीक मात्र है।"[१] रहस्यवाद के आलोचकों ने इसे 'चेतना', 'संवेदन', 'अनुभूति' और 'मनोवृत्ति' का भी नाम दिया है। ई० केयर्ड इसे एक मनोवृत्ति बताते हुए कहते हैं कि, "रहस्यवाद अपने चित्त की वह मनोवृत्ति विशेष है जिसके बन जाने पर अन्य सारे सम्बन्ध ईश्वर के प्रति आत्मा के सम्बन्ध के अन्तर्गत जाकर विलीन हो जाते हैं।"[2] इसी प्रकार डा० रानाडे भी शब्दान्तर से रहस्यवाद को एक मनोवृत्ति विशेष ही मानते हुए कहते हैं, 'रहस्यवाद उस मनोवृत्ति को सूचित करता है जिसमें ईश्वर का स्पष्ट, अव्यवहित एवं प्रत्यक्ष प्रातिभ ज्ञान हो जाया करता है और जिसमें उसका हमें कोई मौन आस्वादन तक होने लगता है।'[3] यहाँ स्पष्ट है कि रहस्यवाद केवल एक मनोवृत्ति मात्र ही नहीं है जिसमें ईश्वरीय सम्बन्ध की ओर मौन संकेत भर कर दिया जाता है वरन् उससे कुछ निकट का सानिध्य सा हो जाता है। कण-कण में वह उसकी सत्ता को ही व्यक्त हुआ पाता है। सुरम्य प्रकृति के किसी अज्ञात क्रोड में बैठा सत्य धर्मा साधक उसी सानिध्यावेश में चरणनत हो प्रार्थना करता है कि हे पूषन्! हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख आवृत्त है कृपया उसे अनावृत कर दो ताकि मैं उसे देख सकूँ,[४] क्योंकि (तेरे सानिध्य से आज) मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मैं और तुम कोई दो नहीं हैं, जो तू है वही मैं हूँ, और जो मैं हूँ वही तू है, अतः तुम अपनी किरणों को समेट लो, मैं सम्पूर्णतः तुम्हारा रूप निहार कर निहाल हो जाना चाहता हूँ,[५] यह ज्योतिर्मय आवरण (भी) जब तक बना हुआ है सत्य रूपी परम तत्व का साक्षात्कार कठिन हो जाता है। यह रागात्मक सम्बन्ध ही तो साधक का सब कुछ है। पर रहस्यवाद के क्षेत्र में चेतना, संवेदन, अनुभूति और मनोवृत्ति एक

---

१. "True mysticism is the consciousness that every thing that we experience is an element and only an element in fact i.e. that in being what it is, it is symbolic of something more."
—*R. L. Nettleship, Quoted in 'Mysticism in Religion' by Dr. W. R. Inge (New York)* P. 25.

२. "It (Mysticism) is that attitude of the mind in which all other relations are swallowed in the relations of the soul to God,"
E. Caird, Quoted in *Mysticism in Religion by W. R. Inge,* P. 25.

३. Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, first hand, intuitive apprehension of God."
Mysticism in Maharastra (Poona) P. I. Preface, in
'रहस्यवाद' पृ० १६ से उद्धृत।

४. **हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।**
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय द्रष्टये॥ ईश० १५

५. वही, श्लोक १६

सीमित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, उसमें क्रियात्मकता का होना भी आवश्यक है। प्रिंगल पैटिसन ने इसी क्रियात्मकता की ओर संकेत करते हुए कहा है कि 'रहस्यवाद मानवीय चित्त द्वारा किए गए उस प्रयास के सम्बन्ध में दीख पड़ता है जो सारी वस्तुओं के ईश्वरीय सार तत्त्व अथवा अन्तिम तथ्य को आत्मसात् करने के लिए तथा सर्वोत्कृष्ट सत्ता को प्रत्यक्ष सानिध्य का परम सौभाग्य प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है। इनमें से प्रथम अंश रहस्यवाद के दार्शनिक पक्ष का है और दूसरा उसके धार्मिक अंश या पक्ष से सम्बद्ध है जहां ईश्वर केवल एक बाह्य वस्तु ही न रहकर अनुभूति का भी रूप ग्रहण कर लेता है।"[1] यहाँ पैटिसन महोदय ने स्पष्ट ही रहस्यवाद के व्यावहारिक पक्ष की ओर निर्देश किया है। साधक के सभी प्रयासों का लक्ष्य उस रहस्यमय का सानिध्य पाना ही है। आत्मा का अन्तिम लक्ष्य उस परम सत्ता में अपने को लीन कर देना ही है। इस प्रकार रहस्यवाद एक जीवन दर्शन है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी बड़े ही सुन्दर और काव्यात्मक शैली में कहते हैं कि 'रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसका मूल आधार, किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता का परमात्म-तत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो सकता है।"[2] इस परिभाषा में मुख्य रूप से पाँच बातों की विवेचना की गई है। एक तो रहस्यवाद एक 'जीवन दर्शन है, द्वितीय-परमतत्व के स्वरूप को किसी न किसी प्रकार निर्धारित करना, तृतीय उसकी 'प्रत्यक्षानुभूति' का परिचय देना, चतुर्थ, ऐसे अनुभव की अनिर्वचनीयता पर विचार करना तथा पंचम—रहस्यवादी पुरुष के व्यवहार का निरूपण।

उक्त सभी परिभाषाओं में रहस्यात्मक अनुभूति को अनिर्वचनीय और दुर्बोध कहा है। इस अनुभूति का सम्बन्ध उससे है जो तत्त्वतः अनिर्दिष्ट, निर्विशेष एवं शब्दातीत है। प्रतीकात्मक दृष्टि से हम ब्रह्म के इस अनभिव्यक्त या अनिर्वचनीय रूप को ही मूर्त रूप प्रदान करते हैं। सामान्यतः रहस्यात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त करने का उपयुक्त माध्यम का अभाव ही रहता है। हम अपनी सामान्य अनुभूतियों को तो सामान्य भाषा के माध्यम से प्रकट कर देते हैं क्योंकि उनका जन्म उस लौकिक जगत में ही होता है जिनके लिए शब्द नियत हैं, पर उस रहस्यानुभूति को अनुभव कर्ता लाख प्रयत्न करने पर भी सामान्य भाषा में अभिव्यक्त नहीं कर पाता। हर बार हृदय में तूफान सा उठता है पर होठों तक आते-आते उसका समस्त यौवन मानों क्षत-विक्षत सा हो टूट जाता है, बस मौन रहकर ही उसे कसमसाना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मिठाई खाकर गूंगे को। वह अतीव आनन्द के उन क्षणों को व्यक्त करना चाहता है पर सिर्फ होठ हिलाकर या हाथ चमका कर रह जाता है। इस

१. **परशुराम चतुर्वेदी**, रहस्यवाद, पृ० १८

२. वही, पृ० २५

रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता का कारण यह भी है कि सामान्य अनुभूतियों की दशा में हम बुद्धि से काम लेते हुए तदनुरूप भाषा का निर्माण कर लेते हैं पर जो स्वयं ही अव्यक्त है, असीम और अनुपम है उसकी अनुभूति भी विचित्र तथा अवर्ण्य है। उसकी विवशता, आचार्य चतुर्वेदी के शब्दों में 'उस मधू में आघूड़ निमग्न मक्षिका की जैसी हो रही है जो लाख प्रयत्न करने पर भी अपने पंख नहीं मार पाती और न इसी कारण कभी उड़ान ही भर पाती है। ऐसा अनुभव कर्ता अपनी अभिव्यक्ति में बार-बार प्रयास करता है किन्तु अपने गूढ़ भावों द्वारा प्राय: अभिभूत बने रहने के कारण वह कभी पूर्ण सफल नहीं हो पाता।[1] अनुभव कर्ता अनुभव करते हुए भी इतना कह पाता है···'आसीनो दूरं व्रजति···। और फिर अपनी असमर्थता प्रकट कर देता है कि उसे बाह्येन्द्रियों द्वारा प्राप्त अथवा प्रगट नहीं किया जा सकता, वहाँ मन और वाणी की कोई गति नहीं।[2] ऐसी असहायावस्था में कुछ विभिन्न वर्णन शैलियों (प्रतीकात्मक शैली) का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए अपनी अतीन्द्रिय अनुभूतियों की सम्यक् अभिव्यंजना के लिए रहस्य काव्य को अनिवार्यत: प्रतीकों के सहारे चलना पड़ता है, क्योंकि प्रतीक ही अर्थ को रुढ़ियुक्त कर गत्यात्मकता प्रदान करते हैं। इस प्रकार रहस्य उस विराट की अनिर्वचनीय अनुभूति है तो प्रतीक उस अनुभूति की अभिव्यंजना का प्रबलतम माध्यम। रहस्य उदात्त भावना है, प्रतीक भी उसकी अभिव्यक्ति में उदात्त हो जाते हैं। वे प्रतीक जो लौकिक प्रेम भावना को स्पष्ट करते हैं, रहस्यात्मकता के समावेश से उनका उदात्तीकरण हो जाता है अथवा इसे हम यूँ भी कह सकते हैं कि लौकिक प्रेम के काव्य में भी उदात्त प्रतीकों के समावेश से अलौकिकता, रहस्यात्मकता आ जाती है। इस दृष्टि से देखें तो लौकिक प्रेम प्रधान सूफी काव्य रहस्यपूर्ण और उदात्त हो गया है। विशाल प्रकृति में चहुँ ओर फैला हुआ अनुपम सौन्दर्य कवि की प्रेरणा का अजस्र स्रोत रहा है। मन्द-मन्द मुस्कराते फूल सहज ही जनमानस को विमोहित कर लेते हैं। प्रकृति के इस व्यापक क्षेत्र से प्रतीकों का चयन प्रेयसी के हास[3] को ईश्वरीय आभा की क्षणिक अनुभूति का रूप देता है, प्रतीकों का यह रहस्यात्मक स्वरूप ही काव्य को अनुपम सौन्दर्य और गरिमा प्रदान कर देता है।

रहस्यात्मक अनुभूति में की जाने वाली प्रतीक योजना का वास्तविक आधार उस एकत्व की अनुभूति से भिन्न नहीं जिसका परिचय किसी रहस्यवादी को क्षण-क्षण में हो जाता है। रहस्य-भावना से उदात्त रहस्यवादी का चित्त भौतिक जगत की छोटी से छोटी वस्तु में उस विराट सत्ता का संकेत पाकर जो प्रतीक विधान करता है, उस प्रकाश में वह वस्तु मूल्यवान हो जाती है। अब वह रुई धुनने में अपने

---

१. **आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद**, पृ० ८१

२. **'नैव वाचा न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।** कठ० २/३/१२
यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। तैत्तरीय० ब्रह्मानन्दवल्ली, अनु० ४

३. **विकसित सरसिज वन-वैभव, मधु ऊषा के अंचल में।**

चित्त की असद्वृत्तियों को ही धुना पाता है, चंचल चुहिया उसके चंचल चित्त का प्रतीक हो जाता है, पतझड़ में गिरते पीले पात में उसे जगत की नश्वरता तथा जीवन के अन्तिम क्षणों का आभास होता है, माली के कलिका-चयन में उसे कालचक्र ही सक्रिय दीख पड़ता है, व्यावसायिक क्षेत्र के चरखा-शरीर और बढ़ैया-ब्रह्म का बोध कराने लगते हैं। इस प्रकार रहस्यात्मक स्वरूप से प्रतीकों का व्यापक उदात्तीकरण हो जाता है; अनेकत्व में एकत्व की भावना तथा प्रत्यक्ष वैषम्य के भीतर व्यापक साम्य की अनुभूति मुखर हो जाती है।

रहस्यवादियों की अनुभूति के स्वरूप की ओर ध्यान रखते हुए कु० अण्डरहिल ने जिस प्रतीक योजना का निर्वाह किया है उसमें जीवात्मा के विवाह (Marriage of soul) का भी उल्लेख है।[1] सन्त काव्य और सूफी काव्य में इस आध्यात्मिक विवाह का पदे पदे उल्लेख किया है। सूफी काव्य में उपास्य और उपासक को पत्नी और पति के रूप में चित्रित किया गया है पर सन्त काव्य में यह क्रम उलट कर पति-पत्नी भाव में परिणत हो गया है। सन्तों ने इस आध्यात्मिक विवाह के एक से एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। उनका वह अदृष्ट-अलेख ब्रह्म कन्त, पिय-पिया, परदेसी, साजन, भरतार, बलम, स्वामी है जिसके साथ आत्मा (दुलहिन, सोहागिन, विरहिन) अद्भुत विवाह रचाती है। वे रामदेव पाहुन बनकर आते हैं, यौवन मदमाती दुलहिन को राजा राम भरतार आज 'ब्याहन' आए हैं, सब मिलकर मंगलाचार गाओ, इस परिणय वेला में साधकात्मा का शरीर ही वेदी है, स्वयं ब्रह्मा वेद मंत्रों का गायन करते हैं, पांचों तत्त्व बराती हैं, धरती और आकाश के सभी देवता कौतुक देखने आए हैं, और इन सभी विधानों के पश्चात् एक अविनाशी पुरुष ब्याह कर चले जाते हैं।[2] उस परम पुरुष से परिचय होने पर 'नेहरवा' (माया-शवलित संसार) अच्छा नहीं लगता। पिया मिलन के बाद भी आत्मा का उस सम्पूर्ण सत्ता में लय नहीं होता, इसके लिए विरह का भाव जागृत करना आवश्यक है। विरह की धधकती ज्वाला में समस्त द्वैत जनित कालुष्य भस्म हो जाता है, आँसुओं की धार में मैल बह जाता है। इस चिर विरह के पश्चात् जो मिलन होता है आत्मा उसमें अपने प्रिय के साथ होली का आयोजन करती है, मजीठ रंग में आत्मा सराबोर हो जाती है। प्रिय के साथ प्रेम हिंडोलना झूलकर जीवन लाभ प्राप्त करती है। इस प्रकार सन्तों ने इस आध्यात्मिक विवाह का अनेकशः प्रतीकात्मक चित्रण किया है। प्रतीक साहित्य का यह रहस्यात्मक स्वरूप बड़े भव्यरूप में सन्त साहित्य में चित्रित हुआ है। वस्तु की सूक्ष्मता और रहस्यमयता को सम्पन्न करने में प्रतीकों का बड़ा हाथ रहता

उपहास करावे अपना, जो हंसी देखले पल में॥ प्रसाद, आँसू

१. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—रहस्यवाद, पृ० ८३

२. दुलहिन गावहु मंगलचार, हम घरि आए हो राजाराम भरतार।

× × ×

कहि कबीर मोहि ब्याह चले हैं पुरिष एक अविनासी। क० ग्र०, पद १

है तथा रहस्यमयता से प्रतीकों में नई वैभव गरिमा भर जाती है। रहस्यात्मक प्रतीकों का निर्माण सादृश्य या प्रभाव-साम्य पर आधारित होता है। सुख, आनन्द, यौवनादि के लिए उषा, प्रभात, मधुकाल आदि का प्रयोग मन में मूल वस्तु जैसा प्रभाव ही उत्पन्न करता है। प्रभाव-साम्य की सार्वभौमिकता के आधार पर कुछ रहस्यपरक प्रतीक तो सर्वसम्मत रूप में प्रचलित हो गए हैं। यथा:—प्रिया के लिये मुकुल, कली; प्रेमी के लिए मधुप, मलयानिल; अस्पष्ट धुंधले रहस्याभास के लिये स्वप्न या स्वप्निल; मन के कोमल भावों के लिए लहर; विषाद के लिए अंधकार, अमा, सन्ध्या की छाया; विक्षोभ के लिए झंझा[1] आदि। बालक स्वभाव से ही कोमल, सरल, निष्कलमष और पवित्र मुग्ध होता है। रहस्यवादी काव्य में बालक को इन सभी भावनाओं का जीता जागता प्रतीक माना है। बाइबिल में तो 'बालक के स्निग्ध-मुग्ध हृदय को ईश्वर का राज्य कहा है। ब्लेक और वर्ड्‌सबर्थ ने भी प्राकृतिक और पवित्र जीवन का प्रतीक बालकों को ही बनाया है।' बालक वास्तव में ईश्वरीय विभूति है, वह अपने समस्त भोलेपन और निश्छलता को बाल-रूप में ही साकार करता है, इस दृष्टि से बालक सभी पवित्र, निश्छल भावनाओं का प्रतीक है। पंत ने 'विचारों में बच्चों की साँस' तथा 'बालक के कंपित अधरों सी'[2] कह कर इसी कोमलता को अभिव्यंजित किया है।

इस प्रकार 'रहस्य' उस विराट चेतना की व्यापक अनुभूति है तो प्रतीक उस स्वरूप का व्याख्यता किंवा उद्‌घोषक है।

प्रतीक साहित्य का दार्शनिक स्वरूप :

प्रत्येक ज्ञान का महाविकास अथवा अन्त दर्शन के महा ज्ञान में होता है। सभी ज्ञान क्षेत्रों का ऊर्ध्वगामी रूप दार्शनिक तत्व चिन्तन में परिणत हो जाता है। महाज्ञान सम्मत इस दार्शनिक तत्व चिन्तन को उदात्त प्रतीकों द्वारा अधिक तर्क-सम्मत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। भारत की समस्त दार्शनिक पद्धतियाँ जिस ज्ञान का उद्‌घाटन करती हैं उससे सारा जीवन और काव्य उदात्त भावनाओं से पूर्ण हो गया है।

धर्मप्रधान देश की समस्त विचारधारा दर्शन पर ही आधारित है। दर्शन 'विचारों के सत्यासत्य का निर्णय एवं उसके सामान्यीकरण द्वारा विभिन्न सिद्धान्तों की स्थापना करता है।'[3] वह 'सत्' (सत्ता) की खोज करता है। सत् को ही तत्त्व या पदार्थ कहते हैं। यही परमतत्त्व, सत्य और अन्तिम सत्ता है। यह सत् है कि नहीं? यह भाव है या अभाव? यह एक है या अनेक आदि प्रश्नों के फलस्वरूप

---

१. **झंझा झकोर गर्जन था बिजली थी नीरद-माला।**
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ घेरा डाला॥ प्रसाद—आँसू, पृ० १५
२. **पल्लविनी**, पृ० ३
३. **डा० गणपति चन्द्र गुप्त**, साहित्य विज्ञान, पृ० १६२

अनेकानेक वादों का जन्म हुआ है।[1] कुछ लोग सत् को एक मानते हैं, कुछ अनेक, कुछ सत् को न एक मानते हैं न अनेक। जो सत् को एक मानते हैं उनके सिद्धान्त को एकत्ववाद: जो दो मानते हैं उसे द्वित्ववाद और जो दो से अधिक मानते हैं उसे बहुत्ववाद के नाम से अभिहित किया जाता है। सत् को एक मानने वाले सिद्धान्त को एकत्ववाद या अद्वैतवाद कहा जाता है। अद्वैतवाद का प्रमुख सिद्धान्त है—ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मनापरः। अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जीव उसी ब्रह्म का एक अंश है, जीव और ब्रह्म के बीच जो भेद या व्यवधान है उसका मूल कारण माया है। जगत मिथ्या है पर उसकी अनुभूति भ्रमवश ही होती है। ज्ञान होने पर साधक त्रिगुणात्मिका माया के बन्धन से मुक्त होकर उस अंशी में तदाकार हो जाता है। वेदान्त का ध्येय ब्रह्म का अद्वैत प्रदर्शन है जिसके लिए काव्य में अनेक प्रतीकों की उद्भावना की गई है। इस दार्शनिक चिन्तन की तरलता में ही प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। सन्त काव्य में इस अद्वैत प्रदर्शन को विभिन्न प्रतीकों (पिंड और ब्रह्माण्ड, जल और कुम्भ तथा बूँद, लहर और समुद्र) द्वारा अभिव्यंजित किया गया है।

इस समस्त अस्थिर चराचर जगत की रूपराशि के पीछे भी एक स्थिर तत्व परब्रह्म है। यह अनन्त रूपराशि और असीम की एकसूत्रता ब्रह्मांड और पिंडाण्ड में स्थित समतत्व से प्रतिभासित होती है। वेदान्त के अनुसार इस पिण्ड में ही समस्त ब्रह्माण्ड समाहित है अथवा इस ब्रह्माण्ड में ही पिण्ड समाया हुआ है। कबीर ने इस तथ्य को इस प्रकार कहा है—

खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई।[2]

सन्त पलटू दास भी कहते हैं —

खालिक खलक खलक में खालिक ऐसा अजब हजूरा है।
घट औ मठ ब्रह्मंड सब एक है।[3]

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक तत्व की समानता से तात्पर्य शरीर और उससे बाहर भासित जगत मात्र नहीं है। पिण्ड वह दृश्य जगत है जो काल और समय की क्षुद्र सीमाओं में आबद्ध है अतः क्षर है और ब्रह्माण्ड वह तात्विक जगत है जो काल और समय की सीमा से परे है अतः अनन्त, असीम और अक्षर है। गीता (१५/१६) में इस क्षर और अक्षर के सम्बन्ध में कहा है—

द्वाविभौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्चते॥

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १८

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८३

३. पलटू बानी, ३, शब्द १२० पृ० ६७, वही २, रेखता १७ पृ० ६

इस असीम और ससीम का परमतत्व में पर्यवसान हो जाता है। इस अमरतत्व को 'हरि' कहते हुए कबीर कहते हैं—

प्यंड ब्रह्मण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मण्ड छांडि जे कथिए, कहै कबीर हरि होई ।।[१]

जो तत्व पिण्ड और ब्रह्माण्ड में निहित है वह आदि, अन्त से रहित है, अनन्त और असीम है, वही परमतत्व है।

असीम में ससीम का तिरोभाव—इस भाव को सन्तों ने जल और कुम्भ के प्रतीक से स्पष्ट किया है। कबीर कहते हैं—

जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी ।।[२]

असीम में अन्तिम रूप से विलय से पूर्व ससीम (कुंभ) का अस्तित्व बना रहता है, इस स्थिति को वेदान्त के शब्दों में मिथ्याभास कह सकते हैं, ज्ञानोदय होने पर कुंभ का कुंभत्व विलीन हो जाता है और वह अन्तिम रूप से असीम की अनन्त सत्ता में लय हो जाता है। इसी तथ्य को सन्तों ने समुद्र और लहर के प्रतीक से भी स्पष्ट किया है—

बूंद समानी समंद में सो कत हेरी जाय।[३]

पर केवल बूंद (पिण्ड, ससीम) ही समुद्र में नहीं समाती, समुद्र (ब्रह्माण्ड, असीम) भी बूंद में समाहित हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रतीत होता है कि समुद्र और बूंद अपने व्यक्तिगत परिवेश में लघु अथवा महान् होते हुए भी एक 'महा अस्तित्व' में विलीन होने का उपक्रम करते हैं—

समुद्र समाना बूंद में सो कत हेरा जाय।[४]

तात्विक दृष्टि से बूंद अथवा समुद्र अथवा लहर में एक ही तत्व विद्यमान है, जीव की निष्पत्ति उस परमतत्व से होती है और अन्त में उसी में विलीन भी हो जाती है। भीखा साहब कहते हैं:—

जहां तक समुद्र दरियाब जल कूप है,
लहरि अरु बुंद को एक पानी।

× × ×

भीखा इक आतमा रूप बहुतै भयौ,
बोलता ब्रह्म चीन्है सो ज्ञानी ।।[५]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४६
२. वही, पृ० १०३
३. वही, पृ० १७
४. वही, पृ० १७
५. भीखा साहब की बानी, रेखता ८, पृ० ५४-५५

ब्रह्म और जीव के पारस्परिक सम्बन्धों में द्वैतवाद अद्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। 'द्वैतवाद अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया में आविर्भूत हुआ। मध्वाचार्य ने श्रुति और तर्क के आधार पर सिद्ध किया कि संसार मिथ्या नहीं है, जीव ब्रह्म का आभास नहीं है और ब्रह्म ही एकमात्र सत् नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवाद के अभेद का खण्डन करते हुए उन्होंने पांच नित्य भेदों को सिद्ध किया, (१) ईश्वर का जीव से नित्य भेद है, (२) ईश्वर का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है, (३) जीव का जड़ पदार्थ से नित्य भेद है, (४) एक जीव का दूसरे जीव से नित्य भेद है और (५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से नित्य भेद है।[1]

ब्रह्म और संसार के सम्बन्ध को लेकर निम्बाकाचार्य ने द्वैताद्वैतवाद की प्रतिस्थापना की। उनके अनुसार ब्रह्म से संसार की भिन्नता और अभिन्नता दोनों समान महत्व की है, इसलिए इस मत को द्वैत (भिन्नता मानने वाला मत) और अद्वैत (अभिन्नता मानने वाला मत) दोनों एक साथ कहा जाता है। यह बात कुछ विपरीत सी लगती है पर है वास्तव में ठीक। 'जैसे कार्य (घट) कारण (मिट्टी) से अभिन्न है, क्योंकि दोनों की सामग्री एक ही है, और साथ ही भिन्न भी है क्योंकि दोनों के नाम, रूप, आकार और प्रयोजन आदि पृथक्-पृथक् है। वैसे ही संसार (कार्य) और ब्रह्म (कारण) से भिन्न और अभिन्न दोनों नित्य सत्य है। अद्वैतब्रह्म (कारण) ही द्वैत संसार का वास्तविक रूप धारण करता है।[2]

बिशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर, जीव (चित्) और प्रकृति (अचित्) ये तीन नित्य और स्वतंत्र पदार्थ हैं। परमात्मा अन्तर्यामी रूप से जीवन और प्रकृति में विद्यमान है। वह (अंगी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंशी) हैं। चित् और अचित् से विशिष्ट परमात्मा ही एक मात्र सत् है। ईश्वर का चित्-अचित् के साथ विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध है। वह ईश्वर ही अपने अन्दर से मकड़ी के जाले के समान जगत की सृष्टि करता है। वह जगत का निमित्त और उपादान कारण है। सृष्टि माया नहीं, वास्तविक है। जीव (चित्) अजड़, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार और ज्ञानाश्रय है। क्योंकि उसमें शेषत्व है इसलिए वह सदा अपने शेषी-ईश्वर पर निर्भर करता है। मुक्त होने पर भी जीव की ईश्वर से भिन्नता बनी रहती है। अचित् (प्रकृति) तत्व ज्ञान शून्य है।'[3] यही अविद्या, माया के नाम से अभिहित की गई है।

शंकराद्वैत में ब्रह्म माया-शबल है। इसके विरोध में वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की। इसमें ब्रह्म माया सम्बन्ध से रहित होने के कारण शुद्ध है। कारणरूप और कार्यरूप, दोनों प्रकार से ब्रह्म शुद्ध है, मायिक नहीं। मायारहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्व है। सारा जगत् प्रपंच उसी की लीला का विलास है। 'सर्वं' खलु इदं ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है। वही ब्रह्म एक अद्वितीय सत्

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३४८
२. वही, पृ० ३४९
३. वही, पृ० ७२२-२३

है जिसे उपनिषदों ने ब्रह्म, गीता ने पुरुषोत्तम तथा भागवत् ने परमात्मा या कृष्ण कहा है। कृष्ण ही ब्रह्म ईश्वर या परमात्मा है। उसके स्वरूप से ही (शक्ति या माया से नहीं) समस्त जगत आविर्भूत होता है, और ऐसा होने पर भी वह अविकृत रहता है। जगत कार्यरूप से ब्रह्म ही है। जगत की उत्पत्ति या विनाश नहीं होता, प्रत्युत आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनुभव योग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव योग्य न होने पर तिरोभाव। इस मत में जगत और संसार में विलक्षण भेद किया गया है। ईश्वर की इच्छा के विलास से सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ को जगत् कहते हैं और अविद्या या अज्ञान के द्वारा जीव से कल्पित ममता अहन्ता रूप पदार्थ को संसार कहते हैं। संसार की सत्ता अविद्या, अज्ञान के कारण है, ज्ञानोदय होने पर संसार का नाश होता है पर जगत् ब्रह्मरूप होने से सदा अविनाशी तथा नित्य रहता है। वल्लभाचार्य ने अक्षर ब्रह्म की कल्पना की है। जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जीवन और जगत निकलते हैं।[1]

इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति के परस्पर सम्बन्ध को लेकर विभिन्न आचार्यों ने अनेकानेक मतों की प्रस्थापना की है। प्रतीकात्मक चित्रण की दृष्टि से (संतों के विशेष सन्दर्भ में) ईश्वर, जीव और प्रकृति (जगत या संसार) के जिस रूप का चित्रण हुआ है उसमें अद्वैत ज्ञान की ही प्रधानता है। सन्तों ने परब्रह्म को अंशो रूप में चित्रित करते हुए उसे तरुवर,[2] तापस,[3] बाजीगर,[4] बढ़ैया,[5] कुम्हार,[6] आदि विविध प्रतीकों से चित्रित किया है। इसी प्रकार जीव को पंखी[7], कली,[8] हंस,[9] बूँद[10], लहर[11]आदि से; माया को नारी,[12] सर्प,[13] बेल,[14] डाइन,[15] ठगिनी,[16]

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७६६-६७
२. बीजक, शब्द ५३
३. वही, सम्पा०, पूरनसाहब, पृ० ४६७
४. संत कबीर, रागु सोरठि ४, मलूक बानी, शब्द १४, दादू बानी २, शब्द ३०६
५. बीजक (कबीर) शब्द ६८
६. संत कबीर, रागु आसा १६
७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १४, ७७, बीजक, साखी, पृ० ११०
८. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ७२
९. वही, पृ० १५, ३५, दादू बानी, २, पद २४७, पलटू बानी १, शब्द २४०, धनी-धरमदास बानी पृ० ३८
१०. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १७
११. भीखा बानी, पृ० ५४-५५
१२. कबीर ग्रन्थावली पृ० ३९-४०, मलूक बानी, साखी ७४, दादू बानी १, माया को अंग १६०, १७१, गुलाल बानी, पृ० १७, सुन्दर विलास, पृ० ५१
१३. बीजक, साखी ८२, दादूबानी १, पृ० ११६, २४, संत कबीर, रागु आसा, १९
१४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३४, ३६, दादू बानी १, पृ० २४३
१५. कबीर ग्रन्थावली, पद २३६, बुल्ला शब्द सागर, पृ० २९
१६. कबीर बीजक, शब्द, ५९, पलटू बानी ३, पद १३५

बहन[1] सुहागिन[2] (वेश्या) तथा संसार को हाट, नगर,[3] सैंमल का फूल,[4] टेसू का फूल[5] आदि विविध प्रतीकों में चित्रित किया है।

इस प्रकार दार्शनिक ज्ञान का समष्टिकरण प्रायः प्रतीकों द्वारा होता है। दार्शनिक प्रतीकों का स्वरूप संकल्पात्मक होता है इसलिए जब इनको विशाल और व्यापक अर्थ की व्यंजना करनी होती है तो ये भी तदनुरूप अर्थ धारण कर उदात्त हो जाते हैं, सामान्य व्यंजित अर्थ बहुत पीछे छूट जाते हैं। दार्शनिक अर्थ की समस्त आधारशिला उनके प्रतीकों के प्रयोग और विवेचन पर निर्भर करती है। ये प्रतीक जिनके उदात्त, व्यापक और मूल्यवान् होंगे, दार्शनिक अर्थगरिमा भी उतनी व्यापक, उदात्त और सर्वग्राही होगी, क्योंकि ज्ञान मूल्य सापेक्ष है अर्थात् बिना मूल्य के ज्ञान मानव सापेक्ष नहीं हो सकता। दर्शन का महत्व भी मानव सापेक्ष है। ब्रह्म, जीव, जगत आदि की भावना और उनका महत्व भी मूल्य सापेक्ष है क्योंकि उनके सम्यक् ज्ञान द्वारा ही मानव सत्यासत्य का निर्णय कर जीवन को ऊर्ध्वगामी करने का सफल अभियान करता है। इन दार्शनिक मूल्यों को स्थिर करने तथा उन्हें उनके अर्थपरक तत्व को स्वरूप प्रदान करने का महती कार्य प्रतीक द्वारा ही सम्पादित होता है, पर केवल प्रतीक द्वारा ही दार्शनिक ज्ञान का मूल्यीकरण हो ऐसा नहीं है। स्वयं प्रतीक भी दर्शन से रूप तथा तात्विक अर्थ ग्रहण कर मूल्यवान् हो जाते हैं। दर्शन से साधारण से साधारण प्रतीक भी अर्थ गौरव की उच्चतम बुलन्दियों पर पहुँच जाते हैं। दर्शनगत गाम्भीर्य से ही बूंद और समुद्र जैसे साधारण प्रतीक गहनतम अभिव्यंजना करने में सफल हो पाते हैं। इस प्रकार अन्योन्याश्रित भाव से यदि दर्शन प्रतीक को अर्थ गाम्भीर्य की ऊँचाइयों की ओर अग्रसर करता है तो प्रतीक दर्शन को ऐसी व्यापक अनुभूति प्रदान करता है कि उसका रूप अगणित आभाओं से दमक उठता है।

इस प्रकार उस विराट चेतना के आध्यात्मिक एवं रहस्यात्मक स्वरूप को मूर्त एवं व्यक्त रूप प्रदान करता हुआ प्रतीक दार्शनिक भावभूमि से अर्थगाम्भीर्य का जो आदान-प्रदान करता है उससे दोनों के ही रूपों में निखार और अलौकिक उज्ज्वलता भर जाती है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २७०
२. वही, पद ३७०; पलटू बानी १, पृ० १७
३. कबीर ग्रन्थावली, पद ११३
४. वही, चितावणी अंग १३/२१
५. वही, ८/२१

३. भारतीय वाङ्मय में प्रतीकों का विकास

वैदिक साहित्य में प्रतीक

वेद प्राचीन काल से ही पवित्र ज्ञान-निधि के रूप में समादृत हैं। अन्तःस्फुरित दिव्य ज्ञान के इस विशाल संग्रह को तपःपूत ऋषियों, अन्तर्द्रष्टा सन्तों की ऐसी आदर्श कृति माना जाता है जिसमें उन्होंने काल्पनिक उड़ान के स्थान पर एक महान्, व्यापक, शाश्वत, चिर एवं अपौरुषेय सत्य को अपने अन्तर्मन में सम्पूर्णतः प्रकाशित एवं धारण कर दिव्य शक्ति युक्त मन्त्रों को मूर्तरूप प्रदान किया है; ये मन्त्र सामान्य धरातल से नहीं वरन दिव्य स्फुरण एवं स्रोत से निसृत थे। ये ऋषि-कवि सत्य के द्रष्टा, दिव्य-सत्य को श्रवण करने वाले थे।[1] रहस्यवादी इन कवियों ने विश्व के बाह्य रूप के अन्तराल में छिपे एक सत्य को, वास्तविकता को जाना था। प्रकृति के रहस्यों, शक्तियों को खोजा था जो भौतिक जगत की रहस्य और शक्तियाँ नहीं थी परन्तु जिनके द्वारा भौतिक जगत और वस्तुओं पर गुप्त प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता था; पर इन रहस्यवादियों ने चिर अभीप्सित इस कार्य में पर्याप्त गुप्तता बरती है। प्रतीकों का एक पर्दा रचा गया जिसकी ओट में ये रहस्यात्मक बातें आश्रय ग्रहण कर सकती थीं। बोलने के कुछ सूत्र भी बनाए गए थे जो दीक्षितों द्वारा ही समझे जा सकते थे, जो स्वभावतः अन्यों को या तो अविदित ही होते थे या उनके द्वारा एक ऐसे बाह्य अर्थ ही समझे जाते थे जिससे उनका असली अर्थ और रहस्य सावधानतापूर्वक छिपा रहे।[2] वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि उनके मन्त्र चेतना के उच्चतम स्तरों से अन्तःप्रेरित हुए हैं, इसलिए तत्ववेत्ता ही उस रहस्य को समझ सकता है। ऋग्वेद में वामदेव ऋषि कहते हैं कि मैं अन्तःप्रकाश से युक्त अपने को विचार तथा शब्दों के द्वारा व्यक्त कर रहा हूँ। पथप्रदर्शक या आगे ले जाने वाले और गुह्य वचनों को, ये द्रष्टज्ञान के शब्द हैं जो कि द्रष्टा या ऋषि के लिए अपने आन्तर अर्थ को बोलने वाले हैं।[3] इस गुह्यता के कारण वेदों में प्रतीक निर्वाह उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं वेद हैं। वेद ने स्वयं स्वीकार किया है कि वेद का अर्थ अपनी प्रतीकात्मक गुह्यता के कारण सभी के लिए सुलभ नहीं। केवल सत्य द्रष्टा ही इसके गुह्य अर्थ

---

१. **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः**—यजुर्वेद ४०/८ तथा ईश० ८
कवि कविनामुपमश्रवस्तमम्'—ऋग्० २/२३/१

२. **श्री अरविन्द, वेद रहस्य, तृतीय खण्ड, प्राक्कथन**, पृ० १४-१५

३. **एता विश्वा विदुषे तुभ्यं वेधो नीथान्यग्ने निण्या वचांसि .
निवचना कवये काव्यान्यशंसिषं मतिभिर्विप्र उक्थैः ॥** ऋग्० ४/४/१६

का साक्षात्कार कर सकते हैं अन्य लोग जो वाणी के वेद रूपी गौ के दूध पीने में असमर्थ होते हैं यूँ ही साथ-साथ फिरते हैं जैसे यह गौ दूध देने वाली है ही नहीं; या उनके लिए वाणी उस वृक्ष के समान है जो फल और पुष्प रहित है।[1]

वैदिक साहित्य में प्रतीकों का प्राचुर्य है; पर सबका विवेचन न तो विषयानुकूल होगा और न सम्भव ही है। प्रतीक परम्परा को स्पष्ट रूप से समझ सकने के लिए प्रतीकों का संक्षिप्त विवेचना दृष्टव्य है। वैदिक प्रतीकों को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं—

१. ब्रह्म सम्बन्धी प्रतीक
२. जीव सम्बन्धी प्रतीक
३. दैविक एवं प्राकृतिक शक्तियों में वर्णित प्रतीक
४. दस्युपरक आख्यानों का प्रतीकात्मक स्वरूप

ब्रह्म सम्बन्धी प्रतीक

वैदिक साहित्य में ब्रह्म के प्रतीक रूप में ऊंकार की बड़ी महिमा है। कठोपनिषद् में यमराज परब्रह्म के वाचक ऊंकार को प्रतीक रूप में बतलाते हुए कहते हैं कि समस्त वेद नाना प्रकार और नाना छन्दों से जिसका प्रतिपादन करते हैं; सम्पूर्ण तप आदि साधनों का जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है, जिसकी इच्छा से मुमुक्षु ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस परम ब्रह्म को संक्षेप में कहता हूँ—वह है ऊँ।[2] यही एक अक्षर ब्रह्म और परम ब्रह्म है तथा इसी अक्षर को जानकर समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है।[3]

ब्रह्म—परमात्मा का जीवात्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, एक प्रकृति चित्र के माध्यम से ब्रह्म और जीव का प्रतीक रूप दृष्टव्य है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्यो अभिचाकशीति ।।[4]

यहाँ दो सुपर्णों-विहगों के प्रतीक में जीव और परमात्मा का विवेचन किया गया है। विहगों के समान वे भी उत्तम पंख-सुपर्ण वाले हैं। सयुज—समान योग—सम्बन्ध वाले हैं। जीवात्मा का माया से सम्बन्ध विदित ही है। परमात्मा का अपना रूप जीवात्मा है अतः दोनों में अभेद सम्बन्ध है। दोनों में 'आत्मा' समान रूप से विद्यमान होने से समान ख्यान (नाम) वाले हैं। 'सायण' के मतानुसार 'ख्यान' का

---

१. ऋग्०—१०/७१/५
२. कठ० १/२/१५
३. कठ० १/२/१६ गीता (८/१३) में की ऊँकार का स्वरूप वर्णित है।
४. ऋग्० १/१६४/२० अथर्व० ६/६/२० मुण्डक ३/१/१, श्वे० ४/६-७ भागवत ११/११/६ वायुपुराण ६/११० में ही इस मंत्र की विस्तृत व्याख्या की गई है।

ज्ञान अर्थ भी है क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनों चिद्रूप हैं पर ऊपर से माया के आवरण के कारण भेदपरक द्वैत बुद्धि बनी रहती है। दोनों सखा भाव से एक ही वृक्ष-संसार में रहते हैं; नाशवान प्रकृति के कारण संसार को वृक्ष कहा है। उन दोनों में एक-जीवात्मा तो स्वादु मनोहर पके फल-पाप, पुण्यमय कर्म के सुख-दुःख रूप फल का भोग करता है और दूसरा = आप्तकाम परमात्मा कोई फल नहीं खाता, साथी मात्र होकर सर्व द्रष्टा बनकर संसार को देखता है।

विहगों के प्रतीक द्वारा जीव-ब्रह्म के इस प्राकृतिक रूपक का आधुनिक युग के प्रमुख छायावादी कवि पंत ने बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है—

दो पक्षी हैं सहज सखा, संयुक्त निरन्तर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर।
एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन, दूसरा देखता अन्तर्लोचन।[1]

वेदों में ब्रह्म का वर्णन अनेक रूपों में हुआ है। सभी शक्तियाँ उसी से उत्पन्न होती हैं और उसी में समाहित भी हो जाती हैं। विभिन्न गुणों के कारण ही वह इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा है, वही गरुत्मान और दिव्य 'सुपर्ण' है।[2] वही आदित्य, वायु, चन्द्रमा, प्रजापति भी है।[3] वैदिक साहित्य में उस अनन्त शक्ति सम्पन्न ब्रह्म का अनेकशः वर्णन किया है। वर्णनातीत उसका वर्णन सर्वत्र प्रतीकात्मक ही है।

२. जीव सम्बन्धी प्रतीक

वैदिक साहित्य में जीवात्मा को विविध प्रतीकात्मक रूपों में चित्रित किया गया है—

हंस[4] प्रतीक

'हंस' वेदों और उपनिषदों का बहुचर्चित प्रतीक है। यह कहीं जीवात्मा के अर्थ में और कहीं परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

---

१. स्वर्णकिरण, पृ० ६४.

२. ऋग्० १/१६४/४६

३. यजु० ३२/१

४. मन की मुक्त हुई शक्तियाँ विस्तृत पंखों वाले पक्षी हैं, यह मानसिक सत्ता या आत्मा ऊपर की ओर उड़ने वाला हंस है जो अगणित अज्ञानान्धकार रूपी लोह भित्तियों को तोड़कर बाहर निकल आता है और आनन्द धाम के ईर्षालु संरक्षकों से सोम की सुरा (आनन्द तत्व) छीन लाता है।
अरविन्द—वेदरहस्य, खण्ड, ३ पृ०, ४७-४८,

हंस का परमात्मा के रूप में

एक हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।[1]

यहाँ स्पष्ट ही भुवन=ब्रह्माण्ड रूपी जलाशय का प्रतीक है,
हंस=प्रकाशस्वरूप परमात्मा का और
मृत्यु=संसार सागर का प्रतीक है ।

हंस का जीवात्मा के रूप में

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदातिथिर्दु रोणसत् ।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।।[2]

यहाँ जीवात्मा को हंस, वसु, होता और अतिथि के प्रतीक रूप में चित्रित किया गया है । गुण साम्य के आधार पर इन भिन्न रूपों का चित्रण किया गया है—

हंस—शुद्ध ब्रह्म में निवास करने वाला,

वसु—शरीर के भीतर हृदयाकाश में रहने के कारण जीवात्मा वसु है ।

होता—जिस प्रकार वेदि के सामने स्थित होकर यज्ञादि कर्म करता है उसी प्रकार होतृरूप जीव तीनों नाचिकेत अग्नि का चयन करता है ।

अतिथि—जिस प्रकार अतिथि आश्रम की कुटिया को अपना घर समझकर बैठा नहीं रहता उसी प्रकार जीवात्मा इस शरीर रूपी कुटिया में अतिथि रूप में ही आती है, सदा के लिए अपना घर नहीं समझती क्योंकि उसकी मंजिल तो कुछ और ही है । इस प्रकार हंस, वसु, होता, और अतिथि रूप जीवात्मा उत्तरोत्तर विकास करती हुई क्रमशः नरदेह से वरदेह, ऋतदेह और व्योमदेह में प्रवेश कर जाती है ।

इसी प्रकार—

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।।[3]

श्लोक में—

नवद्वार=शरीर की इन्द्रियाँ ही हैं;

पुरे=शरीर तथा

हंस=उस शरीर रूपी नगर में रहने वाला शुद्ध आत्मा का प्रतीक है एक अन्य स्थान पर शरीर रूपी पुर को ग्यारह द्वारों वाला बताया है ।[4]

---

१. **श्वेताश्वतर**—अध्याय ६, श्लोक १५

२. **कठ०**, २/२/२

३. **श्वे०** ३/१८

४. **पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः** । कठ० २/२/१

जीवात्मा का अज के रूप में चित्रण

> अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णं बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
> अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥[१]

अर्थात् अपने ही सदृश्य बहुत से भूत समुदायों को रचने वाली तथा लाल, सफेद और काले रंग की एक अजा को निश्चय ही एक अज आसक्त हुआ भोगता है और दूसरा अज इस भोगी हुई को त्याग देता है।

यहाँ अज (बकरा) और अजा (बकरी) का वर्णन प्रतीकात्मक है। 'न जायते इति अजा' इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रकृति ही 'अजा' है क्योंकि यह अनादि काल से चली आ रही है। 'अजा' के तीन रंग माने हैं—लाल, श्वेत और कृष्ण जो क्रमशः सत्व, रज और तम प्रकृति[२] के प्रतीक हैं। सत्वगुण निर्मल एवं प्रकाशक होने से श्वेत, रजोगुण रागात्मक होने से लाल और तमोगुण अज्ञानरूप एवं आवरक होने से कृष्ण माना गया है। अज (बकरे) से माया मोह में फंसे हुए जीवात्मा (क्योंकि जीवात्मा ही अजन्मा है) की ओर संकेत होता है। तीन रंगों वाली बकरी—प्रकृति ही बकरे—बद्ध जीव के संयोग से अपने ही जैसी तिरंगी—त्रिगुणमयी सन्तान पैदा करती है। अज, अजा और उसकी प्रजा से जीव, प्रकृति और संसार का बोध होता है। भुक्त भोगी अन्य अज से तात्पर्य मुक्त आत्मा से है।

गीता में अपरा प्रकृति[३] और परा अथवा चेतन प्रकृति के नाम से,[४] क्षेत्रज्ञ के नाम से[५] तथा अक्षर पुरुष[६] के नाम से जिसका वर्णन किया गया है उसके दो भेद हैं, एक तो वे जीव, जो उस अपरा प्रकृति में आसक्त होकर उसके साथ एक रूप होकर उसके विचित्र भोगों को अपने कर्मानुसार भोगते हैं। दूसरा समुदाय उन ज्ञानी महापुरुषों का है, जिन्होंने इसके भोगों को भोगकर इसे निस्सार एवं क्षणभंगुर समझकर उसका सर्वथा परित्याग कर दिया है। ये दोनों प्रकार के जीव स्वरूपतः अजन्मा और अनादि हैं अतः 'अज' कहे गए हैं।

3. दैविक और प्राकृतिक शक्तियों में वर्णित प्रतीक

अग्नि—वैदिक देवताओं में अग्नि सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक है। भौतिक जगत में वह सामान्यतः भक्षक और उपभोक्ता है। वह प्राण का भी संकल्प है, क्रियाशील जीवन शक्ति है। 'अग्नि के बिना यज्ञिय ज्वाला आत्मा की वेदी पर

---

१. श्वे० ४/५
२. सत्वराजस्तमसां साम्यवस्था प्रकृतिः। सांख्य दर्शन
३. गीता—७/४
४. वही, ७/५
५. वही, १३/१
६. वही, १५/१६

प्रदीप्त नहीं हो सकती ।' 'अग्नि' की वह ज्वाला संकल्प की सप्त जिह्व शक्ति तथा ज्ञान के प्रेरित परमात्मा की एक शक्ति है। यह सचेतन (जागृत) तथा बलशाली संकल्प शक्ति हमारी मर्त्यता के अन्दर अमर्त्य अतिथि है, एक पवित्र पुरोहित[1] और दिव्य कार्य-कर्ता है,' पृथ्वी और द्यौ के बीच मध्यस्थता करने वाला है। जो कुछ हम हवि प्रदान करते हैं उसे वह उच्चतर शक्तियों तक ले जाता है और बदले में उनकी शक्ति, प्रकाश और आनन्द हमारी मानवता के अन्दर ले आता है।[2]

वैदिक साहित्य में अग्नि का प्रतीकात्मक चित्रण स्थान-स्थान पर हुआ है—

अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भवति योधो न शत्रुन्त्स वना न्यृञ्जते ।[3]

अग्नि अपनी तीक्ष्ण द्रंष्ट्राओं से वन को निगलती है। जैसे कोई योद्धा अपने तीक्ष्ण-शस्त्रों से अपने शत्रुओं का नाश करता है। यहाँ तीक्ष्ण द्रंष्ट्राएं = भीषण ज्वालाओं का प्रतीक है।

अग्नि की उत्पत्ति का एक अन्य प्रतीकात्मक वर्णन द्रष्टव्य है जिसमें वह उत्पन्न होते ही अपनी माता को निगल जाती है।[4] अग्नि के तीन जन्म स्थान माने गए हैं—आकाश में सूर्य के ताप के रूप में, जल में विद्युत और पृथ्वी में दो समिधाओं के संघर्ष के रूप में। प्राचीन काल में दो लकड़ियों को परस्पर रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती रही है अतः ये दो समिधाएं मातृस्वरूपा हुईं जिन्हें भस्म करके ही अग्नि रूप धारण करती है।

इन्द्र—वैदिक साहित्य में दूसरे पराक्रमी देव हैं जो कि शुद्ध अस्तित्व और दिव्य मन के रूप में स्वतः अभिव्यक्त शक्ति है। इन्द्र की स्तुति ब्रह्म की अजेय शक्ति के प्रतीक रूप में की गई है।[5] वही सोमरस (आनन्द) का पानकर वृत्र (अंधकार, आवरणकर्ता) का वध करता है,[6] और उसके पंजे से ज्योति का उद्धार करता है।[7]

विजयाभियान में इन्द्र का औजिष्ठ वज्र प्रमुख आयुध है। वह दुष्ट कर्म करने वालों को जो चोर या भेड़िया के समान अनाचारी, छली और अत्याचारी हों, चमकते तेजस्वी शस्त्र से प्रहारकर पराभूत कर देता है।[8] अध्यात्म पक्ष में ओजिष्ठ वज्र तप, ज्ञान, वैराग्य का प्रतीक है। इन्द्र मन की शक्ति का और विशेषकर दिव्य या स्वतः प्रकाश मन का प्रतीक है। शक्ति से आविष्ट प्रकाश रूप में वह इन्द्र द्यौ से हमारे

१. **अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ।** ऋग्० १/१/१
२. **श्री अरविन्द, वेदरहस्य भाग** ३, पृ० ४२
३. ऋग्०—१/१४३/५
४. **तद्वामृतं रोदसी प्रब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति ।**
नाहं देवस्य मर्त्यश्चिकेताग्निरंग विचेताः सप्रचेता ॥ ऋग्० १०/७९/४
५. वही १/१/४, ५, ६
६. वही १/४/८
७. वही २/१/११/१८
८. वही ४/४१/४

जगत् (पृथ्वी) पर एक पराक्रमी वीर योद्धा के रूप में उतरता है; अपने चमकीले घोड़ों के साथ और अपनी विद्युतों, वज्रों के द्वारा अन्धकार तथा विभाजन का हनन करता है, जीवन दायक दिव्य जलों की वर्षा करता है, शुनि (अन्तर्मन) की खोज के द्वारा सोई हुई या छिपी हुई ज्योतियों को खोज निकालता है, हमारी मनोमयता के द्यूलोक में सत्य के सूर्य को ऊंचा चढ़ा देता है।[१]

शिल्पीऋभुगण—इन्द्र के (दिव्य मन के) मानसिक रूपों के निर्माता हैं, शिल्पी ऋभुगण। ये मनुष्य शक्ति के प्रतीक हैं इन्होंने मन के द्वारा इन्द्र के अश्वों का,[२] अमृत देनेवाली विश्वरूपा गौ[३] का ब्रहस्पति[४] के लिए निर्माण किया। ये अश्विनों के रथों, देवताओं के शस्त्रों तथा यात्रा और युद्ध के समस्त साधनों का निर्माण करते हैं।

मरुत्—सत्य के, प्रकाश के प्रदाता[५] और वृत्रहन्ता के सहायक रूप[६] में है मरुत् जो संकल्प, वातिक या प्राणिक बल की शक्तियाँ हैं, समस्त विचार और वाणी के प्रेरक रूप हैं, तथा परम चेतना के प्रकाश, सत्य और आनन्द को पहुँचाने के लिये युद्ध करते हैं। मरुत् वायुओं का प्रतीक है।[७]

सूर्य—दैविक शक्ति के रूप में सत्य का स्वामी (सत्ता का सत्य, ज्ञान का सत्य, प्रक्रिया, क्रिया, गति और व्यापार का सत्य) है इसलिए सूर्य सब वस्तुओं का स्रष्टा तथा अभिव्यंजक है, हमारी आत्माओं का पिता, पोषक और प्रकाश दाता है। जिन ज्योतियों की हम निरन्तर प्रार्थना करते हैं वे सूर्य के गोयूथ हैं, गोएँ। हैं सूर्य ही दिव्य उषाओं के पथ से आकर हमारे अन्दर रात्री के अन्धकार में पड़े एक के बाद एक जगत् (ज्ञान) का उद्घाटन और प्रकाशन[८] करता हुआ हमारे लिए

---

१. **वेद रहस्य, खण्ड ३, पृ० ४२-४३**

२. **ये हरी मेधयोकथा मदन्त इन्द्राय चक्रुः युयुजा ये अश्वाः।** ऋग्० ४/३३/१०

३. **वही,** ४/३४/९ **तथा १/१६१/३**

४. **वही,** १/१६१/६

५. **वही,** १/८६/१०

६. **वही,** १०/११३/३

७. **मैक्डानल, ए० ए,— वैदिक देवशास्त्र, पृ०** २०३ **अनु० डा० सूर्यकान्त**

८. **ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वा सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।**
दश शता सह तस्थुस्तदेक देवानां श्रेष्ठ वपुषामपश्यम्॥ ऋग्०—५/६२/१.
सत्य से ढका एक सत्य है जहाँ कि वे सूर्य के घोड़ों को खोल देते हैं। ईशोपनिषद में यही भाव इस प्रकार आया है—
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ ईश० **१५.**
सांसारिक भोगों में रत मनुष्य के लिए आध्यात्मिक ज्ञान छिपा ही रहता है परम सत्य और ज्ञान का देवता सूर्य उस सत्य को स्पष्ट कर देता।

सर्वोच्च परम आनन्द का द्वारमुक्त कर देता है। सूर्य ही यज्ञ की शक्तियों को क्रम से स्थापित करने वाला, सब दृश्यों को जानने वाला, वन्दनीय है।[1] सूर्य के स्वरूप का वर्णन प्रतीकात्मक[2] शैली में इस प्रकार किया गया है :—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाभि तस्थुः।[3]

सूर्य सप्त चक्र रथ है। गतिमान होने से रथ है। व्यापक होने से अश्व[4] है। सात ग्रह उसमें लगते हैं। वह सातों को धारण करता है। स्वयं अपने, ग्रह और उपग्रह तीनों को बाँधने से त्रिनाभि है अथवा तीनों लोकों को बाँधने के कारण त्रिनाभि है। ध्रुव होने से अजर और अचर है। स्वतः गतिमान होने से अनर्वा है। ये सब पृथिवी आदि लोक उसी पर आश्रित हैं। यहाँ सप्त अश्व=सात रंगों के; त्रिनाभि=ग्रीष्म, वर्षा, शीत इन तीनों ऋतुओं की प्रतीक है।

(आत्मा से संयुक्त देह एक आत्मा रूपी रथी से युक्त रथ भी इसका अन्य अर्थ हो सकता है। सप्त अश्व=सात गौण प्राण और मुख्य प्राण अश्व के रूप में; त्रिनाभि वात, कफ,पित; तीन धातु या अग्नि, जल, वायु तीन तत्वों का प्रतीक है। परमात्मा पक्ष में—रथ=सबका संचालक होने से स्वयं परमेश्वर, तीनों लोकों, प्रकृति के तीनों गुणों को बाँधने वाला होने से त्रिनाभि है।

सूर्य के साथ अन्य देव भी जुड़े हैं जो उसके कार्य व्यापार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं क्योंकि सत्य को हमारी मर्त्य प्रकृति में स्थापित होना है तो कुछ अवस्थाओं का होना आवश्यक है। इन सहायक देवताओं में एक है **'वरुणदेव'** जो पवित्रता और स्वच्छ विशालता को स्थापित करते हैं तथा पाप एवं कुटिल मिथ्यात्व का विनाश करते हैं। प्रेम और समावेशन की ज्योतिर्मय शक्ति के रूप में दूसरे सहायक हैं **'मित्र देव'** जो हमारे विचारों, भावों और संवेगों में सामन्जस्य स्थापित कर आगे बढ़ाते हैं। अभीप्सा और प्रयत्न की एक अमर शक्ति—पराक्रम के रूप में **'अर्यमा'** तथा समस्त पाप, दुख, भ्रान्ति, पीड़ा का विनाश कर समस्त ऐश्वर्य, सुखमय स्वयं स्फूर्ति स्वरूप **'भग'** भी सूर्य की सहायिका शक्ति रूप में है।

सोम—आनन्द का प्रतिनिधिभूत देवता सोम है जो आनन्द के रस (सुरा) रूप में पृथिवी के उपचयों में, पौधों और सत्ता के जलों में छिपा रहता है। वेद में सोम तथा सोमरस का बार-बार प्रयोग हुआ है। इसी सोमरस का पान कर सभी

---

१. ऋग्० ५/८१/१
२. ऋग्० १/१६४/३.
३. ऋग्० १/१६४/२.
४. **एक अन्य मंत्र में भी अश्व सूर्य के प्रतीकरूप में प्रयुक्त हुआ है जिसमें उषा एक श्वेत अश्व को ले जाती है—'देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुहशीकमश्वम्।**—ऋ ७/७७/३ एवं १/१६३/२

देवता और ऋषिगण आनन्द विभोर हो उठते हैं। यह सोम सच्चिदानन्द आनन्दामृत है, यही ब्रह्मानन्द का उन्माद है। अपने शुद्धतम रूप में सोम (इच्छाशक्ति) ब्रह्म का आनन्द स्वरूप ही है। सारे देव और मनुष्य जिसको मधु कहते सर्वत्र घूमते हैं यथार्थ में हमारा भीतरी प्राण या जगदम्बा अदिति ही है। उस सोम (आनन्द का प्रतीक) का पान करते ही हम अमृतमय हो जाते हैं, हमें 'ज्योति' मिल जाती है, देवता मिल जाते हैं।[१] ब्रह्माण्ड के सोम का गुण प्रकाशत्व है; वह सूर्य के समान चमकता है[२] अपने प्रकाश से अन्धकार को मारता है[३] वह सूर्य[४] और विद्युत[५] से उत्पन्न होता है, पर्जन्य इसका पिता है।[६] सोम चन्द्रमा भी है।[७] सोमरस का कलश (जिसमें इन्द्र के पान हेतु सोमरस संचित किया जाता है) मनुष्य के भौतिक शरीर का प्रतीक है जिसमें छान कर सोमरस परिशुद्ध किया जाता है वह द्यौ के स्थान (पृष्ठ) पर तनी छाननी (परिशुद्ध करने का उपकरण ज्ञान—चेतस्) से प्रकाशित हुआ मन का प्रतीक) है।[८] चितकबरे बैल (पृश्नि) के रूप में सोम परम पुरुष और गौ अर्थात् स्त्रीरूप शक्ति का प्रतीक है।[९]

सोम के दिव्य आनन्द के प्रबल और प्रचण्ड मद को हर कोई नहीं सम्भाल सकता। जीवन की बड़ी-बड़ी अग्नि ज्वालाओं में तपाई गई कठोर ज्वालाओं के उत्पीडन पर विजय प्राप्त करके ही इस रहस्यमय सोम की आग्नेय तीव्रता को सम्भाला जा सकता है, अन्यथा सचेतन सत्ता चखते ही या चखने से पूर्व इसे खो देगी, बिखेर देगी या वह इसके स्पर्श से मानसिक और भौतिक रूप में मग्न हो जाएगी।[१०]

---

१. ऋग्०, ८/४८/ १, ३
२. वही, ९/१/६; ७२/३; ११३, ३
३. वही, ९/९/७, ९ १६—२२; ६६, २४; १००, ८; १०८, १२
४. वही, ९/९३/१/८
५. वही, ९/८२/३
६. वही, ९/८२/३
७. **वैदिक साहित्य में चन्द्रमा को एक राजा के रूप में चित्रित किया है। वह ब्राह्मण की जाया को (हरण या जबरदस्ती छीनकर) बिना लज्जा किए निर्लज्जतापूर्वक लौटा देता है।**
   (सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमाणः। अथर्व० ५/१७/२) एक अन्य स्थान पर भी बृहस्पति सोम द्वारा लौटाई गई अपनी जाया को प्राप्त करते हैं (तेन जायामन्वविन्दत् बृहस्पतिः सोमेन नीताम्। अर्थव० ५/१७/५.) बुद्ध सोमपुत्र है जो बृहस्पति-जाया से उत्पन्न हुआ है। वेद की इस संकेत पूर्ण प्रतीकात्मक शैली का पुराणों में पूर्ण कथा के रूप में विकास हुआ है।
८. ऋग्० /८३/२.
९. वही, ९/८३/१
१०. वही, ९/८३/३

सोम पर श्री अरविन्द का कथन द्रष्टव्य है—

'बल विजय और सिद्धि के लिए सोम पीने की अलंकृति वेदों में सर्वत्र पाई जाती है। इन्द्र और अश्वी बड़े सोमपायी हैं किन्तु अमरत्व प्रदान करने वाले इस पीने में सभी सम्मिलित हैं। अंगिरा भी सोम के बल पर जीतते हैं, देवशुनि सरमा पणियों को धमकाती है। यह एक बड़ी भारी शक्ति है जिससे लोगों को सत्य मार्ग पर चलने का बल मिलता है। इन्द्र मुझे सोम के उसी मद की आवश्यकता है जिससे तुमने स्व: के बल को बढ़ाया (अथवा स्वरात्मा स्वर्णरम्) जो दशरश्मि को मत्त कर देते हैं और ज्ञान का प्रकाश देते हैं अथवा अपनी शक्ति से समस्त सत्ता को हिला देते हैं। (दशग्वन् वेपयन्तम्) जिससे तुमने समुद्र को पुष्ट किया; वह सोम मद जिससे तुमने रथ की तरह बड़ी जलराशि को समुद्र की ओर बहाया...सोम इतना शक्तिशाली है कि वह पर्वत को नष्ट कर खोल देता है, अन्धकार के पुत्रों को मार देता है। सोम ही वह मधु है जो ऊपर के अदृश्य विश्व से आता है, वही सप्तसिन्धु में बहता है, वही रहस्यात्मक यज्ञ का घृत है। यही मधुमय तरंग है जो जीवन सागर से उठती है। ऐसे रूपों का एक ही अर्थ हो सकता है कि यह सभी सत्ताओं के भीतर छिपा वह दिव्य आनन्द है जो एक बार प्रकट होने पर समस्त उत्तमोत्तम कार्यों का अवलम्बन बन जाता है। यह वह शक्ति है जो देवताओं का अमृत है तथा मर्त्य को अमर बना देता है।[1] 'सोम का दिव्य आनन्द समग्र रूप से हमारी प्रकृति में स्थापित हो जाए इसके लिए हमारे शरीर, मन और प्राण की अवस्था का सुखमय, प्रकाशमय एवं अविलांग होना आवश्यक है, यह कार्य अश्विनी युगल द्वारा सम्पन्न होता है। प्रकाश की दुहिता से विवाहित, मधुपान करने वाले, पूर्ण सन्तुष्टियों को लाने वाले, व्याधि और अंगभंग के भेषज्यकर्ता ये अश्विनीकुमार माहमारे ज्ञान के भागों और हमारे कर्म के भोगों को अधिष्ठित करते और हमारी मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ता को एक सुगम और शक्तिशाली आरोहण के लिए तैयार कर देते हैं।[2]

देवत्रयी—ब्रह्मा, विष्णु और महेश पौराणिक त्रिमूर्ति के मूल हैं। वेदों में इनका वर्णन गौण रूप से ही हुआ है।

ब्रह्मा—स्रष्टा हैं जो अपने शब्द के द्वारा,[3] रव के द्वारा सर्जन करते हैं। वह अभिव्यक्त करता है, समस्त अस्तित्व, सचेतन ज्ञान, जीवन की गति तथा अन्तिम परिणत रूपों को निश्चेतना के अन्धकार से बाहर निकालकर प्रकट करता है। ब्रह्मा ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं।[4]

विष्णु—जो तीन पादक्रमों से इन सब लोकों को धारण करते हैं अत: त्राता हैं।[5] ये तीनों क्रमश वही नाम, रूप, कर्म; अथवा वाक्, मन, प्राण हैं जो एक दृष्टि

---

१. **श्री अरविन्द, ऑन दी वेद**, पृ० २०६, १०.
२. **वेदरहस्य**, स० ३, पृ० ४४
३. ऋग्० १०/८१/७; १०/८२/३.
४. वही, १०/८२/४; ७/९९/३; १००/४.
५. वही, १/१५४/१, ३/४; १/१५५/४; ६/४९, १३,

से सर्वत्र विद्यमान होते हुए भी यथार्थतः कारण शरीर (विज्ञानमय) सूक्ष्म शरीर (मनोमय) और स्थूल शरीर (प्राणमय, अन्नमय) में स्पष्ट होते हैं। दो 'क्रमण' तो मर्त्यजन की पहुँच में हैं पर तीसरा क्रमण (जिसे विष्णु का परमपद भी कहा गया है) उसकी पहुँच से परे है। वाक् (गायत्री) मन (त्रिष्टुप) प्राण (जगती) में से वाक् ही, जो गरुड़[1] का प्रतीक है, (विष्णु का वाहन भी गरुड़ है) उस पद तक पहुँच पाता है।

विष्णु के तीन पद सूर्य पथ के बोधक हैं। प्रकृतिपरक व्याख्या के अनुसार विष्णु के तीन पद सूर्य के उदय, मध्याह्न और अस्त के प्रतीक हैं। 'गतिमान' स्वरूप होने से विष्णु सूर्य के तद्रूप ठहरते हैं।

पुराणों में विष्णु के वामनावतार की कल्पना की गई है जो तीन पदों से तीन लोकों को नाप लेते हैं। वेदों में इस रूपक का गौण रूप से चित्रण मिलता है—विष्णु ने पीड़ित मनु के लिए तीन बार परिक्रमा की। उन्होंने पृथिवी[2] की परिक्रमा उस पर मनुष्यों के आवास स्थापित करने के लिए की;[3] पार्थिव लोकों की परिक्रमा जीवन को उरु गाय बनाने के लिए की;[4] इन्द्र के साथ उन्होंने 'उरुक्रमण' किया और हमारे जीवन के लिए अन्तरिक्ष और लोकों को विस्तृत बनाया।[5]

विष्णु इन्द्र के सहायक, मित्र[6] हैं, वृत्र हनन में इन्द्र की सहायता करते है[7]। वेदों में विष्णु भी इन्द्र का ही एक (पालक) रूप है।

महेश—(रुद्र) प्रचण्ड और दयालु अर्जस्वी देव हैं जो अपने आपको सुस्थित करने के लिए होने वाले जीवन के संघर्ष के अधिष्ठाता हैं। वे परमेश्वर की शस्त्र सज्जित, मन्युयुक्त तथा कल्याणकारी उस शक्ति के प्रतीक हैं जो सृष्टि को ऊपर की ओर उठाती है और जो कोई विरोध या प्रतिरोध करता है उस पर प्रहार करती है; परन्तु जो क्षत, दीन दुखी है, विनय की प्रार्थना करता है तो आशुतोष रूप में उसे नवजीवन दान करती है, आनन्दमय बना देती है। इस प्रकार रुद्र को दो रूपों में चित्रित किया गया है, एक-पालनात्मक रूप में जिसमें रोग, व्यसन आदि से ग्रस्त शरीर, मन के अनुपयुक्त अशुभ पक्ष के विनाश द्वारा शुभ और कल्याणकर पक्ष की सृष्टि हो जाती है, और दूसरा-प्रलयात्मक रूप जिसमें समस्त नाम रूप कर्म मूल प्रकृति में लीन हो जाता है—रात्री में प्रविष्ट कर जाता है।

---

१. ऋग्०—४/२६/४—५,७; ४/२७/१—३
२. वही, ६/४९/१३
३. 'वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुये दशस्यन्। वही, ७/१००/४
४. यः पार्थिवानि त्रिभिरिद्विगामभिरु क्रमिष्टोरुगायाय जीवसे। वही, १/१५५/४
५. वही, ६/६९/५
६. इन्द्रस्यः युज्यः सखा। वही १/२२/१९
७. वही, ६/२०/२

वेद में रुद्र को भी इन्द्र ब्रह्म का एक संहारक रूप माना है; वे द्यूलोक के अरुण वराह हैं,[1] वे वृषभ[2] हैं, वे वृहत्,[3] दृढ़,[4] बलवानों में बलिष्ठ,[5] अजेय,[6] कवि[7] हैं। कल्याणकारी होने से शिव है।[8]

स्त्रीलिंगी शक्तियों में सरस्वती (वाणी, दिव्य अन्तःप्रेरणा की देवी), गौ (ज्योति तथा प्रकाश का प्रतीक)[9], अदिति (देवों की असीम माता), भारती, इडा, सरमा (अन्तर्ज्ञान की देवी द्यूलोक की शुनि जो अवचेतना की गुफा में प्रवेशकर छिपी हुई ज्योतियों को खोज लेती है) और दक्षिणा आदि हैं जिनका प्रतीकात्मक रूप वेदों में प्राप्त होता है।

वैदिक साहित्य में गौ के साथ-साथ अश्व, वृषभ आदि के बड़े सुन्दर प्रतीकात्मक वर्णन उपलब्ध होते हैं। वैदिक अश्व का प्रतीकात्मक अभिप्राय बड़ी स्पष्टता और बल के साथ इस प्रकार प्रकट हुआ है—

देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती, श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम्।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता, चित्रमघा विश्वमनु प्रभूता ॥[10]

यहां श्वेतमश्वम् प्रकाश युक्त किरणों = अग्नि का प्रतीक है।

वृषभ—का अनेकार्थवाची प्रतीक रूपक वेद में बड़े आकर्षक रूप में चित्रित हुआ है—

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥[11]

उलटवांसियों जैसा चत्वारि शृंगा[12] इस बैल का वर्णन सर्वथा प्रतीकात्मक है।

---

१. ऋग्० १/११४/५
२. वही, २/३३/७
३. वही, ६/१०/४
४. वही, १/४३/१
५. वही, २/३३/३
६. वही, ६/४६/१
७. वही, १/११४/४
८. वही, ७/४६/१
९. वही, १०/९२/९
१०. वही, ७/७७/३
११. वही, ४/५८/३
१२. **चत्वारि शृंगा**—इस मंत्र की दो प्रकार की व्याख्याएं पुराणों में मिलती हैं—स्कन्दपुराण के काशी खण्ड (७३ अ०, ९३-९६ श्लोक) में इसका शिवपरक अर्थ किया गया है। भागवत (८/१६/३१) ने इस मंत्र की यज्ञपरक व्याख्या की है। वृषभ को धर्म के प्रतीक रूप में भी चित्रित किया गया है—भाग० १/१७/१, २, ३, ४, ७, २२, २४, २५, ४२

सायण के अनुसार यहां वृषभ (वर्षतीति वृषभः) से फलों के देने वाले यज्ञ से तात्पर्य है। इस यज्ञ के चार सींग हैं—चार ऋत्विक्=होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा; तीन पैर—प्रातः, माध्यन्दिन और सायं सवन इसके अंग हैं; गायत्री आदि सात छन्द इसके हाथ हैं; ऋग्वेद, यर्जुवेद और सामवेद इसके तीन बन्धन हैं क्योंकि यज्ञ कर्म इन्हीं तीनों वेदों की व्याख्या के अनुसार ही सम्पन्न होता है; स्तोत्र एवं शास्त्र पाठ से मुखरित यह यज्ञ देवता है।

पतंजलि मुनि के अनुसार वृषभ प्रस्तुत 'वाक्' है। चार सींग चार प्रकार के शब्दों—नाम, आख्यान, उपसर्ग और निपात का प्रतीक है; तीन पैर—भूत, भविष्य औद वर्तमान काल; दो सिर—सुप् और तिङ् प्रत्यय है; सात हाथ-सात विभक्तियां हैं तथा तीन बांधने के स्थान—हृदय, कण्ठ और मुख हैं।

अध्यात्म पक्ष में—अध्यात्म ज्ञान रूपी वृषभ है, सत्-चित् और आनन्द स्वरूप होने के कारण त्रिधा बद्ध है; साधन चतुष्टय चार सींगों का प्रतीक है; तीन पैर—श्रवण, मनन, और निदिध्यासन है; दो सिर—जीवन और मोक्ष है, चिदनुभूति की अविद्या, आवरण, विक्षेप, परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान, शोकापगम और तृप्ति ये सात अवस्थाएँ ही इसके सात हाथ है; अहं ब्रह्मास्मि, आदि इसका रव है।

प्राणमय आत्मा पक्ष में—अन्तःकरण चतुष्टय—चार सींग; मन, वाणी और कार्य—तीन पाद; प्राण और उदान—दो सिर; सप्त शीर्षगत अंग सात हाथ; शिर, कण्ठ और नाभि तीन स्थान पर बद्ध है, वह बलवान प्राण सब में विद्यमान है।

सूर्यपक्ष में, चार सींग—चार दिशा; तीनपाद—तीन चातुर्मास्य ऋतु, दो सिर—दो अयन, सात हाथ—सात मास, तीन लोकों में बद्ध होकर संवत्सर रूप होकर व्याप रहा है।

एक अन्य अर्थ के अनुसार अज्ञानान्धकार नाशक चार वेद ही चार सींग हैं; ऋग्, यजु और सामगान से तीन प्रकार उसके तीन चरण हैं; अभ्युदय और निःश्रेयस दो सिर हैं—मुख्य ध्येय हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण और आत्मा—सात हाथ साधन हैं; मन, वाणी और कर्म तीनों नियमों से बँधा होने से त्रिधाबद्ध है।

हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने वेद के इस अनेकार्थ-वाची प्रतीकात्मक चित्रण को 'ज्योति वृषभः' शीर्षक से इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

स्वर्ण शिखर—से चतुर्शृंग हैं उसके शिर पर,
दो उसके शुभ शीर्षः सप्त रे ज्योति हस्त पर,
तीन पाद पर खड़ा, मर्त्य इस जग में आकर
त्रिधाबद्ध वह वृषभ, रंभाता है दिग्ध्वनि कर।
महादेव वह, सत्य : पुरुष और प्रकृति शीर्ष द्वय,
चतुर्शृंग सच्चिदानन्द विज्ञान ज्योतिमय।
सप्त चेतना-लोक, हस्त उसके निःसंशय,
महादेव वह सत्यः ज्योति का वृषभ वह निश्चय।

सत् रज तम से त्रिधा बद्ध पद अन्न प्राण मन,
मर्त्य लोक में कर प्रवेश वह करता रेभण।
महादेव वह सत्यः मुक्ति के लिए अनामय
फिर फिर हंभा रव करता जय ज्योति वृषभ जय।[1]

'भुवनस्य नाभिः, अमृतस्य नाभिः[2] आदि का वेदों में कई बार प्रयोग हुआ है। प्रतीक रूप में यही विष्णु की नाभि है। जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है, यही सदाशिव की नाभि है जिससे सृष्टि कमल उत्पन्न होता है जिस पर ब्रह्मा की तरह त्रिपुरा बैठी रहती है। सृष्टि की उत्पत्ति[3] का वेदों में उलटबांसी[4] के रूप में वर्णन हुआ है—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥[5]

"मेरे जन्मदाता पिता द्यौ हैं, बन्धु नाभि है, यह विस्तृत पृथ्वी माता है। यहाँ सीधे पड़े हुए दो चमू (सोमपात्र) के भीतर मध्य भाग में पिता ने पुत्री में गर्भदान किया।"

यहाँ द्यावापृथिवी का विस्तार चिदाकाश का विस्तार है; नाभि तथा दो चमूपात्र ये तीन बिन्दु त्रिशक्ति के प्रतीक हैं जो शिव जिन और बुद्ध के त्रिशूल तथा अन्य देवों में रंग, रूप और आयुध के प्रतीक रूप में विद्यमान हैं।

पिता ने पुत्री में गर्भादान किया—बाह्य रूप से देखने में यह वर्णन विचित्र सा लगता है, बाद की परम्परा में सिद्ध, नाथ और सन्तकवियों में इस प्रकार की उलटी बात (उलटबांसी) के विशद रूप में दर्शन मिलते हैं जिसमें उन्होंने दृढ़तम आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति की है। इसका अर्थ है जिस त्रिशक्ति को बिन्दु ने उत्पन्न किया, उससे ही सृष्टि की रचना की। यहाँ त्रिबिन्दु का बना हुआ त्रिकोण योनि है।

दस्युपरक आख्यानों का प्रतीकात्मक स्वरूप

वृत्र, बल, पणि और दस्यु—वैदिक साहित्य में देव और दानव युद्ध का अतिरंजित चित्रण स्थान-स्थान पर हुआ है। पाश्चात्य अध्येताओं ने इस युद्ध को केवल भौतिक रूप से ही देखकर वेदों को गडरियों का गीत और आर्य तथा द्रविड़ जाति का युद्ध बता दिया। उन्होंने द्रविड़ प्रान्त के रहने वालों को राक्षस या वैदिक

१. स्वर्ण धूलि, पृ० २,
२. ऋग्०, १/१६४/३३
३. वही १०/१२/१९०/१,२,३
४. इसी प्रकार का अन्य वर्णन उपनिषदों में ही आया है
ऊर्ध्वमूलो वाक्शाखः एषोऽश्वत्थ सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥ कठ० २/३/१
५. ऋग्० १/१६४/३३

दस्यु कहा है, । उनके अनुसार आर्य बाहर से आई एक जाति है जिसे यहाँ के मूल निवासियों (द्रविड़ों) से कठिन संघर्ष करना पड़ा था, उसी का वेदों में वर्णन है । पर पाश्चात्य या आधुनिक भौतिकवादी अध्येताओं की यह धारणा भ्रान्त ही है क्योंकि वेद न तो गडरियों के गीत हैं और न द्रविड़-आर्य का संघर्ष भौतिक संघर्ष है । वेद भारतीय मनीषियों की साधना की अन्त:प्रेरित दिव्यता हैं जिसे अनधिकारी से बचाने के लिए प्रतीक का पर्दा रचा गया है ।

हमारा जीवन एक यज्ञ है, अनवरत यात्रा है, युद्ध है, देवों के प्रतिग मन है । हम अग्नि को (आन्तरिक ज्वाला को) अपना नेता और मार्गदर्शक बनाकर जीवन यात्रा को अमरत्व के सोपान तक ले जाना चाहते हैं । वस्तुतः हमारा जीवन सत्य और प्रकाश की (देवों की शक्तियों) तथा अन्धकार की शक्तियों के बीच चलने वाला चिर संघर्ष है । अन्धकार की ये शक्तियाँ विविध नामों—वृत्र, वल, दस्यु आदि से पुकारी गई हैं । अन्धकार की इन शक्तियों के विरोध को नष्ट करने के लिए हम देवों की शक्तियों को पुकारते हैं[१] क्योंकि ये विरोधी शक्तियाँ हमारे प्रकाश (गौ) को छिपा देती हैं, हमसे छीन लेती हैं । ये विरोधी शक्तियाँ ही सत्य की धाराओं[२] और द्युलोक की धारा के बहने में बाधा डालकर आत्मा की उर्ध्वगति में प्रतिरोध उपस्थित करती हैं ।

"देव पैदा हुए हैं 'अदिति' से, वस्तुओं के उच्चतम सत्य में; दस्यु या दानव पैदा हुए हैं 'दिति' से, निम्नतर (अवर) अन्धकार में । देव प्रकाश के अधिपति हैं और दस्यु रात्री के अधिपति है; पृथ्वी द्यौ और मध्य के लोक (शरीर, मन और इनको जोड़ने वाले जीवन प्राण) इस त्रिगुण लोक के आरपार इन दोनों का आमना सामना होता है ।"[३] वृत्र (आवृत करने वाला) वह दस्यु है जो शुद्ध बुद्धि को मलिनता से आवृत्त कर देता है । जब ज्ञान अज्ञान से आवृत्त हो जाता है तो प्राणी मोह में पड़ जाता है—अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः । वृत्र जलों को और प्रकाश को अवरुद्ध करता है । यही गौओं (प्रकाश, ज्ञान) को चुरा कर तम रूपी गुहा में छिपा देता है । परमात्म-शक्ति ही अविद्या (वृत्र) का नाश करती है इसलिए वेदों में केवल इन्द्र[४] ही नहीं, वृहस्पति,[५] सरस्वती[६] आदि भी वृत्रहन्ता हैं ।

ऋग्वेद में इन्द्र-वृत्र संघर्ष पर सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से वृत्र त्वष्टा के पुत्र हैं, पर यास्क ने वृत्र (आवृत करने वाला) को मेघ और इन्द्र को वायु के प्रतीक रूप में चित्रित किया है । मेघ और वायु के संघर्ष से वृष्टि तथा बिजली

---

१. ऋग्० ६/५१/१४
२. वही, ५/१२/२; ७/४३/४
३. वेद रहस्य, प्रथम खण्ड पृ० ३२२
४. ऋग्० २/११/१८
५. वही, ६/७३/२
६. वही, ६/६१/५

के संयोग से गर्जन-तर्जन का होना एक वैज्ञानिक सत्य है। प्रकृति के इस निरन्तर संघर्ष को तत्वदर्शी आप्तकाम ऋषियों ने प्रतीक रूप में ही प्रस्तुत किया है। वृत्र और इन्द्र के साथ मेघ और वायु का रूपक वेदों में इस प्रकार घुला मिला चलता है कि स्पष्टतया कोई एक अर्थ नहीं लिया जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से ईरानी पुराण ग्रन्थों में, तथा पारसियों के प्राचीन धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' में भी इस व्यापक युद्ध का वर्णन आया है। जरथुस्त्र (ईरान का प्राचीन धर्म) में 'सत्' और 'असत्' इन दोनों शक्तियों के निरन्तर संघर्ष को ही जीवन माना है। सत् का देवता अहुरमज़्द है और असत् प्रवृत्तियों का देवता 'अहिमन' है; ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ मानव जीवन को अपनी रणस्थली बनाकर सदैव जूझती रहती हैं परन्तु इस संघर्ष में सदैव सत् (अहुरमज़्द) की ही विजय होती है, क्योंकि संसार के प्रत्येक धर्म ने आनन्दवाद की प्राप्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना है।

वल, पणि, दस्यु आदि सभी अज्ञान और अविद्या के पारिवारिक जन हैं जो मर कर भी बार-बार जीवित हो जाते हैं तथा प्रकट होकर ब्रह्मप्राप्ति में बाधक होते हैं। ब्रह्म की समस्त शक्तियां और रूप इसी वृत्र[1] (और उसके परिवार) का नाश कर साधकों का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में वर्णित आर्यों या दस्युओं का संघर्ष या देव-दानवों का संघर्ष प्रतीकात्मक ही है। हम रोज के कार्य व्यापार में भी इस युद्ध को घटित होता देखते हैं। जीवन प्रवाह में कभी सद्वृत्तियाँ (शान्ति, क्षमा, दया, करुणा आदि देवता) प्रबल हो जाती हैं और कभी असद्वृत्तियाँ (काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दानव) प्रबल हो उठती हैं। सद्वृत्तियाँ जहाँ बाह्य जगत का निर्माण, सृजन करती हैं, वहाँ असद्वृत्तियाँ विनाश करती हैं। निर्माण और विनाश का यह क्रम-संघर्ष चलता रहा है और भविष्य में भी अनवरत रूप से चलता रहेगा। मनुष्य की आत्मा सत्ताओं से भरा हुआ एक संसार है, एक राज्य है जिसमें परम विजय पाने के लिए या उसमें बाधाएँ डालने के लिए सेनाएँ संघर्ष करती हैं। एक घर है जिसमें देवता हमारे अतिथि हैं और जिसे असुर अधिकृत करना चाहते हैं; इसकी शक्तियों की पूर्णता और इसकी सत्ता की विशालता यज्ञ के किसी स्थान को उसके स्वर्गीय अधिवेशन के लिए विस्तृत, व्यवस्थित और पवित्रीकृत कर देती है।"[2]

निष्कर्ष—अन्त में हम कह सकते हैं कि अपौरुषेय कहे जाने वाले वेदों में अन्तर्द्रष्टा तपः पूत ऋषियों ने जो दिव्य ज्ञान-निधि संजोई है उसमें प्रतीकात्मकता को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि प्रतीकों के दिव्यावरण में अद्भुत और जनहितकारी ज्ञान संजोकर ऋषियों ने मानव जाति का चिर कल्याण किया है;

---

१. पुराण वृत्र और बल को युग्मरूप (मद मोह) देकर आध्यात्मिक युद्ध क्षेत्र में लाते हैं, गीता (३/३७/३८/३९ में इन्हें) ही संयुक्त रूप से काम और क्रोध कहा गया है।

२. वेद रहस्य, तृतीय खण्ड, पृष्ठ ८४

और इसका स्पष्ट प्रमाण यही है कि वेदों की भावभूमि पर पनप कर इस प्रतीक-पादप ने अपनी शाखा प्रशाखाओं से समस्त भारतीय, और विशाल दृष्टिकोण से देखें तो भारतीयेतर साहित्य को भी आच्छादित कर लिया है।

पौराणिक साहित्य में प्रतीक

प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से जिस मूल सिद्धान्त का वेदों में प्रतिपादन हुआ है उसको यथार्थतः समझना एक विषम पहेली है। पुराणों में इसकी कुंजी अन्तर्निविष्ट है। पुराणों की सहायता से वेदों का यह गम्भीर तत्व उद्घाटित किया जा सकता है। जो तत्व वेदों में रूपकालंकार तथा प्रतीकों के आवरण में गुह्यरूप से निर्दिष्ट है, वही पुराणों में सरल, सरस, सुबोध शैली में जनसामान्य के ज्ञान वर्धन और मनोरंजनार्थ अभिव्यक्त हुआ है। वैदिक प्रतीकों की व्याख्या पुराणों में कहीं सुबोध शैली में और कहीं ऐतिहासिक शैली में हुई है।

पुराण वेदों के उपबृंहण[1] ही हैं। पुराणों के वर्णनों में असम्बद्धता, असंगति तथा व्यवहार विरुद्धता आदि का जो दोष दृष्टिगोचर होता है उसका प्रमुख कारण वैदिक प्रतीकों को सम्यक् रूप से न समझना ही है। पुराण तो वैदिक प्रतीकों की रहस्यात्मकता के रोचक व्याख्याता हैं। यहाँ हम पुराणों में अभिव्यक्त प्रतीक पद्धति का संक्षेप में वर्णन कर इस बात की पुष्टि करेंगे—

पुराणों में वैदिक मन्त्रों की बहुशः व्याख्या मिलती है जिसमें मूलमन्त्र का तात्पर्य कभी थोड़े ही शब्दों में और कभी विशदतः वर्णन किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया···वैदिक साहित्य का एक प्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें प्रतीकात्मक रूप से ईश्वर और जीव की स्थिति को स्पष्ट किया गया है; पुराणों में इस मन्त्र की व्याख्या विशद रूप से हुई है—

दिव्यौ सुपर्णौ सयुजौ सशाखौ पटविद्रुमौ।
एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः।[2]

भागवत[3] में भी इस मन्त्र की व्याख्या विशद रूप में प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार 'चत्वारि श्रृंगा त्रयोऽस्यपादा'···वेद के इस अनेकार्थ वाची मन्त्र की पुराणों में दो प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं। स्कन्द पुराण[4] ने इस मन्त्र की शिव-परक और भागवत[5] ने यज्ञपरक व्याख्या की है।

---

१. **इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।**
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति। पद्मपुराण २/५२
२. **वायुपुराण**—९/११/११९
३. **भाग०** ११/११/६
४. **स्कन्द० काशीखण्ड** ७३ अ०, ९३-९६
५. **भाग०** ८/१६/३१

अश्वत्थ[1] वृक्ष भी एक ऐसा ही लोकप्रिय प्रतीक रहा है जिसको वैदिक साहित्य के बाद पुराणों ने विस्तृत रूप से अपनाया है। इसकी परम्परा आगे सिद्ध-सन्तों में भी पाई जाती है। कठोपनिषद् (२/३/१) में भी इस अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन आया है।

यह वृक्ष ऐसा है जिसकी जड़ें ऊपर गई हैं परन्तु शाखाएं नीचे गई हैं, तथा यह पत्तों से खूब ढका है, यह अव्यय-अविनाशी है अतः वेदविद् ही इसके रहस्य को समझ सकता है। अश्वत्थ एक विशेष जाति का वृक्ष (पीपल) होता है। इसका दूसरा अर्थ 'कल तक न ठहरने वाला अस्थायी या नश्वर (अ=नहीं, श्व=कल और त्थ=ठहरने वाला) है। यह आध्यात्मिक अर्थ तिलक के अनुसार निरुक्त के पीछे का कथन है[2]। प्राचीन धर्मों में भी इस वृक्ष को 'जगतवृक्ष' या विश्ववृक्ष के नाम से अभिहित किया गया है। गीता में इस विश्वरूप वृक्ष को और भी अधिक स्पष्ट रूप में चित्रित किया गया है।[3] छन्द=वेद ही इस वृक्ष के पत्ते हैं। इस संसार का मूल कारण वह ईश्वर है जो ऊपर (उर्ध्व) नित्यधाम में रहता है और जिसका प्रसार (शाखा, प्रशाखाएं) नीचे मनुष्य लोक में होता है। वह अव्यय-अनश्वर है। अश्वत्थ वृक्ष से नश्वरता का बोध होता है परन्तु इस नश्वरता का सम्बन्ध उस परमशक्तिमय से नहीं वरन् सांसारिक पदार्थों से है, जिनमें निर्माण और विध्वंस की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। यह संसार-प्रकृति भी ब्रह्म के समान नित्य है जो अनादि काल से समष्टि रूप में धारावाहिक चली आ रही है और चलती रहेगी; प्रलय के बाद भी निर्माण क्रम की पुनरावृत्ति होती है। इसलिए इस प्रवाह नित्यता के कारण इसे अविनाशी कहा गया है। वेद ही इस अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते हैं। उचित वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान से इस जगत-समाज रूपी वृक्ष की वृद्धि होती रहती हैं अधर्म या अव्यवस्था से यदि ये पत्ते झड़ गए तो यह वृक्ष भी शुष्क् हो जाएगा।

भागवत में इस शाश्वत सतातन वृक्ष का वर्णन इस प्रकार आया है—

द्वे अस्यबीजे शलमूलस्त्रिनालः पंचस्कन्ध पंचरसप्रसूतिः।
दशैकाशाखा द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विकलोऽर्क प्रविष्टः॥[4]

यहां विश्वरूपी वृक्ष के दो बीज—पाप, पुण्य हैं, सैकड़ोंमूल—अनगिनत आकाँक्षाएं हैं, तीन नाल—सत्व, रजस् और तमस् हैं; पांच स्कन्ध—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं; पांच रसीले फल—इन्द्रियानुभव-हैं; दशैक शाखाएं—दस इन्द्रियां और

---

१. 'ऋग्० (१/२४/७ तथा ५/५४/१२) में वर्णन है कि वरुणलोक में एक ऐसा वृक्ष है कि जिसकी किरणों की जड़ ऊपर (उर्ध्व) है और उसकी किरणें ऊपर से नीचे (निचीनाः) फैलती हैं,

२. तिलक—गीता रहस्य, पृ० ८००

३. गीता, १५/१, २, ३, ४

४. भागवत, ११/१३/३२। कूटकाव्य एक अध्ययन, पृ० ६५ से

अन्तःकरण हैं; दो सुपर्ण-पक्षी—जीव और परमात्मा हैं, तीन वल्कल—तीन लोक हैं; दो फल—सुख और दुख हैं। एक और श्लोक इसी भाव को प्रकट करता है—

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पंचविधः षड़ात्मा।
सप्त लगष्ट विटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः ॥[१]

इस संसार रूपी आदि वृक्ष का प्रकृति ही एक अयन-आश्रय है; दो फल—सुख और दुख हैं; तीन शाखाएं—सत्व, रज,तम हैं; चार रस—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, हैं; पांच प्रकार—पंचेन्द्रियाँ हैं; छः आत्माएं—उत्पत्ति, स्थिति उन्नति, परिवर्तन, क्षति, विनाश हैं; सात वल्कल—रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र हैं; आठ शाखाएं—पांच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), मन, बुद्धि और अहंकार हैं; नौ आंखें—एक मुख, दो नासाछिद्र, दो नेत्र, दो कर्ण, एक गुदा भाग, एक मूत्रेन्द्रिय=९ हैं; दस पत्ते—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान. भाग, कर्म, कमल, देवदत्त और धनंजय हैं; दो पक्षी—जीव और ईश्वर हैं।

वायु पुराण[२] में इस वृक्ष का वर्णन प्रतीकात्मक के स्थान पर रूपकात्मक अधिक है।

सम्भवतः आदिमानव भी वृक्ष की इस प्रतीकात्मकता से अपरिचित न था। उसने 'वनदेवता' के रूप में इसकी पूजा की है। वह वृक्ष को सृष्टि का, प्रजनन का, जीवन तथा ब्रह्म का प्रतीक मानता आया है।

वृक्ष के इस प्रतीक को सिद्धों,[३] नाथों[४] और सन्तों[५] ने विभिन्न रूपों में अपनाया है। आधुनिक कवि पंत[६] ने इसका रोचक चित्रण कर इस परम्परा को और आगे बढ़ाया है।

पुराणों में इस प्रकार वैदिक मंत्रों की व्याख्या से स्पष्ट हो जाता हैं कि पुराणों के रचयिताओं ने वेदमन्त्रों के तात्पर्य का विशदीकरण इस प्रकार किया है कि वे सामान्य जनता के लिए सरल और बोधगम्य हो गए है।[७] शैली यहां भी

१. वही, ७०/२-२७
२. वायुपुराण—(९/११४, १५, १६, १७)
३. सिद्ध सरहपाद, दोहा कोष, पृ० ३१३
४. गोरखबानी, पद १७,१८, पृ० १०६-९
५. कबीर बीजक (हनुमानप्रसाद पोद्दार) पृ० ३६१; बीजक (पूरन साहब) पृ० १४४ पद ५३; धनीधरमदास की बानी, शब्द ६ पृ० ३३; गरीबदास जी की बानी, अरिल ३, पृ० १२४; पलटू बानी पद ३१ पृ० ५९; भीखा साहब की बानी; पद ४ पृ० ४०-४१; तुलसी साहब की शब्दावली, भाग १ पृ० १००
६. स्वर्ण किरण, पृ० ६४
७. बलदेव उपाध्याय के शब्दों में—वैदिक साहित्य में—संहिता तथा ब्राह्मण में-प्रसंगवश अनेक आख्यान स्थान-स्थान पर विभिन्न देवताओं के स्वरूप विवेचन के समय वर्णित हैं। इन समस्त आख्यानों के सूक्ष्म वैदिक संकेतों की पुराणों ने बड़े ही वैशद्य के साथ व्याख्या की है। यह व्याख्या पद्धति पुराण की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है। पुराणों का प्रणयन लोक समाज को सुलभ शैली में गम्भीर वैदिक तत्वों का लोकप्रिय उपदेश देने के निमित्त ही किया गया है।"
पुराण विमर्श, पृ० २४७

प्रतीकात्मक रही है परन्तु पर्दा इतना झीना है कि उस पार की वस्तुओं की झलक स्पष्ट मिल जाती है। पुराणकार ने जहाँ आवश्यक समझा है वहां वह इस झीने पर्दे को भी उतार कर यथार्थ चित्रण की ओर अग्रसर हो गया है। ऐसे स्थानों पर प्रतीक रूपक या उपमा के माध्यम से व्यक्त हुआ है।

पुराणों में वैदिक मंत्रों के साथ-साथ वैदिक कथाओं का (जो सूक्ष्म या संकेत रूप में विद्यमान थी) उपबृंहण हुआ है। यहां पुराणों में प्रतीकवाद के विकास की दृष्टि से कुछ मुख्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

ऋग्वेद के सूक्तों में उरुगाय त्रिविक्रम विष्णु का अनेकशः वर्णन हुआ है। वे वामन रूप में असुरों से पृथ्वी छीनकर देवों को दे देते हैं,[1] पुराणों में इस वामन रूप का विस्तार इस सीमा तक हुआ कि एक पृथक पुराण (वामन पुराण) इसी घटना का विस्तार से वर्णन करने के लिए है।

अहल्या का जार—इन्द्र :

'इन्द्र अहल्या का उपपति (जार) था', यह कथा संकेत रूप में अनेक वैदिक ग्रन्थों में मिलती हैं।[2] 'पूर्व दिशा का स्वामी इन्द्र सहस्राक्ष हो जाने से अतिपश्य या क्रान्तदर्शी हुआ' अर्थात अहल्या का जार इन्द्र सहस्र नेत्र सम्पन्न था।[3] इस कथा-सूत्र का विकास पौराणिक ग्रन्थों[4] में गौतम और अहल्या की लोक विश्रुत कथा रूप में हुआ है। देवराज इन्द्र गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या का धर्षण करते हैं; क्रुद्ध होकर ऋषि अहल्या को पाषाण और इन्द्र को सहस्रभग होने का शाप देते हैं, बाद में प्रार्थना करने पर अहल्या को भगवान राम के चरण स्पर्श से मुक्ति पाने का तथा इन्द्र को 'सहस्रनेत्र' होने का आशीर्वाद देते हैं।

पर इस कथानक का रहस्य क्या है? इन्द्र, अहल्या, गौतम क्या वास्तव में कोई शरीर धारी प्राणी थे? इन प्रश्नों का समाधान कुमारिल भट्ट (सप्तमशति) ने अपने ग्रन्थ तन्त्रवार्तिक में बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार यह सारी कथा प्रतीकात्मक है जिसमें सूर्य और रात्री के दैनिक व्यवहार को अंकित किया गया है।

चन्द्रमा ही गौतम है (उत्तम गावो रश्मयो[5] यस्य सः गौतमः), रात्री ही उसकी पत्नी अहल्या है (अहर्लीयते यस्यां सा—अर्थात् दिन जिनमें लीन हो जाए—स्पष्टतः

---

१. शतपथ ब्राह्मण, १/२/५/१
२. शत० ३/३/४/१८; तैति० १/१२/४; लाट्यायन श्रोत सूत्र १/३/१
३. अथर्व० ११/२/१७
४. देवी भागवत १/५/४६, ब्रह्म वैवर्त, कृष्ण जन्म खण्ड ६१/४४/४६; वा० रामायण, बालकाण्ड अ० ४८
५. सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व निगमो भवति। सोऽपि गोरुच्यते...... सर्वेऽपि रश्मयो गावः उच्यन्ते। निरुक्त २/२/२

रात्री दिन को निगल जाती है), परमैश्वर्य होने के कारण सूर्य ही इन्द्र[1] है। चन्द्र की पत्नी अहल्या (रात्री) सूर्य के उदय होने पर क्षीण होकर भाग जाती है, यही सूर्य (इन्द्र) का धर्षण या जारत्व[2] है।

पुराणों में इस कथा का उपबृंहण हुआ है। वाल्मीकि रामायण[3] में इन्द्र के इस धर्षण का कारण वर्णित है। एक बार गौतम अपनी तपस्या के बल पर समस्त सृष्टि को नष्ट करने में समर्थ हो गए थे, स्वभाव से भीरु देवताओं ने भयाक्रान्त होकर मुनि की तपस्या को भंग करना चाहा। तपस्या के फल को भंग करने के लिए क्रोध उत्पन्न करना आवश्यक था; सबकी भलाई की कामना से इन्द्र इस कार्य में प्रवृत्त होते हैं; वे अहल्या का धर्षण करते हैं। इस घटना से क्षुब्ध ऋषि शाप देते हैं, इस इस प्रकार उनका तप भंग हो जाता है।

पुराणों में इन्द्र को इस दुष्कर्म के लिए दण्डित किया जाता है जिसका विधान वेदों में नहीं है। उसे वृषणहीन (कल्पान्तर से सहस्रभग) होना पड़ता है, पर परमार्थ हित किए गए कार्य से देवता सन्तुष्ट होते हैं और वे मेष का वृषण इन्द्र को लगा देते हैं। ऊपर से देखने में यह घटना निन्दनीय हो सकती है पर जब हम इसके प्रतीकार्थ पर विचार करते हैं तो समस्त कालुष्य धुल जाता है।

चन्द्रमा द्वारा गुरु पत्नी तारा का अपहरण :

चन्द्रमा और देवगुरु बृहस्पति से सम्बन्धित आख्यायिका सूत्र रूप में वेदों[4] में उपलब्ध है, जिसको एक साथ गुंफित करने पर कथा का रूप इस प्रकार निखरता है—

"चन्द्रमा अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का हठात् अपहरण कर लेता है—हजार बार मांगने पर भी जब चन्द्रमा तारा को नहीं लौटाता तो घनघोर देवासुर संग्राम छिड़ जाता है। ब्रह्मा बीच बचाव करते हैं। इसी बीच तारा से 'बुध' नामक पुत्र उत्पन्न होता है, तारा बृहस्पति को और 'बुध' चन्द्रमा को लौटा दिया जाता है।" पुराणों[5] में भी यह कथा इसी रूप में प्राप्त होती है परन्तु वेद कथा रूप से इसका प्रतीकार्थ स्पष्ट नहीं खुलता। भागवत[6] इसका रहस्योद्घाटन इस प्रकार करता है—

सुरासुर विनाशोऽभूत् समरस्तारकामयः।[7]

---

१. **य एष सूर्यस्तपति, एष उ एव इन्द्रा।** शतपथ ४/५/६/४
२. **आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्र्जरयिता।** निरुक्त ३/३/४
३. **वा० रा०, बालकाण्ड ४६**
४. **अथर्ववेद,** ५/१७/२; ५/१७/४-५
५. **विष्णु पुराण**—चतुर्थ अंश, अध्याय ६, श्लोक १०-३३
६. **भागवत**—६/१४/४-१४
७. **वही**—६/१४/७

इस घटना के पश्चात् जो देवासुर संग्राम छिड़ गया था वह ऐतिहासिकता से दूर तारकाओं का युद्ध था। 'समरस्तारकामयः ही इस प्रतीकात्मक कथा की कुंजी है। भागवत के अनुसार जब बार-बार कहने पर भी चन्द्रमा ने तारा को वापिस नहीं किया तो शुक्राचार्य ने चन्द्रमा को (बृहस्पति के द्वेष के कारण) असुर पक्ष में मिला लिया, उधर शिव और इन्द्र ने देवगणों के साथ बृहस्पति का पक्ष लिया। देवासुर संग्राम छिड़ता है, अन्त में बृहस्पति को तारा मिल जाती है और 'बुध' को चन्द्रमा का पुत्र ठहरा कर उसे दे दिया जाता है।

इस कथा का वैज्ञानिक—खगोलशास्त्रीय सिद्धान्त के सन्दर्भ में व्याख्या करते हुए पण्डित माधवाचार्य शास्त्री[1] के मतानुसार बृहस्पति, चन्द्रमा, तारा तथा बुध—ये चारों ही खगोलीय नक्षत्र हैं। बृहस्पति की कक्षा में भ्रमण करने वाला तारा नामक उपग्रह चन्द्रमा के विशेष आकर्षण से पथ-भ्रष्ट होकर उसकी कक्षा में चला जाता है पुनः सूर्य (रूपी प्रजापति) के आकर्षण के कारण तारा पुनः बृहस्पति की कक्षा में स्थापित हो जाता है। खगोलीय इस उथल पुथल में चन्द्रमा का कुछ अंश पृथक हो गया जो आकाश के अन्य गैसीय मिश्रण से एक पृथक ग्रह 'बुध' बन गया।

डा० मुरारिलाल शर्मा के आधार पर डा० बलदेव उपाध्याय इस मत का खण्डन ज्योतिष के आधार पर करते हुए कहते हैं कि चन्द्रमा से बृहस्पति सौर मण्डल इतनी अधिक दूरी पर है कि इन दोनों के आकर्षण की कल्पना ठीक नहीं जमती। दूसरी बात यह कि 'बुध' ग्रह है और चन्द्रमा उपग्रह जो 'बुध' की अपेक्षा छोटा है। इस दशा में चन्द्रमा के शरीर से बुध के निकलने का संकेत भी संगत नहीं होता।"

डा० उपाध्याय इस वेद सम्मत और पुराणों द्वारा उपबृंहणित कथा का ज्योतिष परक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि पुराण में गुरु (बृहस्पति) को देवताओं का गुरु माना गया है और चन्द्रमा को एक देवता। अतः चन्द्रमा को गुरु का शिष्य मानना एक पौराणिक कल्पना है। प्राचीन काल में वैदिक आर्य लोग ग्रहों का वेध पृष्ठभूमि में स्थित तारों के सन्दर्भ से किया करते थे। ग्रहों की स्वाभाविक गति होने के कारण वह दूरस्थ तारों से कुछ हट-बढ़ जाते थे। अतः उन्हें ग्रह मान लिया जाता था। बृहस्पति का भी इसी प्रकार का ज्ञान हुआ होगा। सम्भवतः बृहस्पति क्रान्तिवृत के समीपस्थ किसी चमकीली तारा के साथ देखने से ही ज्ञात हुआ होगा कि बृहस्पति वर्ष भर में एक राशि अथवा ३०° पूर्व की ओर चलता है। अतः उसका पूर्वोक्त प्रकाशवती तारा के पास दृश्य होना तथा उसके साथ-साथ बहुत दिनों तक दिखलाई पड़ना सम्भव है। यदि दो प्रकाश वाले तारा ग्रह एक अंश से अधिक दूरी पर हों तो उनके योग को समागम कहते हैं[2]। सम्भवतः बृहस्पति उक्त तारा से एक अंश से कुछ अधिक दूरी के शरान्तर पर होगा। इसी समागम के कारण उक्त तारा की बृहस्पति की पत्नी के रूप में कल्पना की होगी। यही उस तारा की

---

१. पुराण दिग्दर्शन, पृ० २९५-९७

२. समागमो शादधिके भवतश्चेद् वलान्वितौ। पुराणविमर्श पृ० २५५ से उद्धृत

संज्ञा पड़ गयी होगी। कालान्तर में बृहस्पति के स्वगति से कुछ दूर जाने पर पश्चिम से पूर्व को जाते समय चन्द्रमा से उस तारा की युति होने से वह ढकी गई होगी। इसको उसका चन्द्रमा द्वारा धर्षण माना गया होगा। उसके बाद चन्द्रमा शीघ्र गति होने के कारण बृहस्पति की ओर अग्रसर हुआ होगा। यदि बृहस्पति युति के आसन्न काल में कृष्ण पक्ष की द्वादशी या त्रयोदशी रही होगी तो युद्ध के पश्चात् चन्द्रमा का क्षीणकान्ति दृश्य होना स्वाभाविक है। यदि गुरु तथा चन्द्रमा का शरान्तर एक अंश से कम हो तो ऐसी स्थिति की संज्ञा अपसव्य युद्ध है। अतएव गुरु और चन्द्रमा के युद्ध की कल्पना है। तत्पश्चात् चन्द्रमा के अमान्त के आसन्न होने के कारण बुध के पास होना भी सम्भव है। सामान्य अवस्थाओं में बुध ग्रह की ओर ध्यान नहीं जाता क्योंकि वह सूर्य के अत्यासन्न रहता है, किन्तु विशेष परिस्थिति में वेधकर्ता आर्यों का ध्यान उस तारा की तरफ भी गया। बुध की गति अत्यधिक होने से उसका ग्रहत्व शीघ्र ही ज्ञात हो गया होगा। इस प्रकार आर्यों ने एक नये ग्रह को खोज लिया जिसमें चन्द्र की तारा से युति ने ही उनका ध्यान आकृष्ट किया था। अतएव उसे चन्द्रमा द्वारा तारा के धर्षण से उत्पन्न चन्द्र सुतत्व कल्पित किया[1]।"

बृहस्पति गुरु हैं, और चन्द्रमा शिष्य है, तारा गुरु की पत्नी है जिसका चन्द्रमा धर्षण करता है; दोनों के संयोग से बुध नामक पुत्र उत्पन्न होता है;

प्रतीक रूप में :—

बृहस्पति=ब्रह्म ज्ञानी गुरु का प्रतीक हैं,
तारा=आनन्ददायिनी बुद्धि या ज्ञान का प्रतीक है,
चन्द्रमा=योग्य शिष्य का प्रतीक है और
बुध=आत्मबोध का प्रतीक है।

योग्य शिष्य (चन्द्रमा) सर्वज्ञ, आत्मज्ञानी गुरु के चरणों में बैठकर विद्या, ज्ञान प्राप्त करता है, ज्ञान प्राप्त करके ही शिष्य को आत्मबोध की प्राप्ति होती है। इस बात को वेदों में प्रतीक शैली में तारा और चन्द्रमा के धर्षणत्व रूप में वर्णित किया गया है।

ब्रह्म स्वर्दुहितः पतिः

वैदिक[2] ग्रन्थों में सूत्र या संकेत रूप में वर्णित कथा के अनुसार प्रजापति ने अपनी पुत्री का धर्षण किया[3]; अनुगमन किया[4]; पिता ने पुत्री में गर्भ स्थापित किया। [5]प्रजापति आरम्भ में अकेला था, दूसरी वाक् थी, ये दोनों मिथुन बने तथा

१. पुराण-विमर्श, पृ० २५५-२५६
२. ऋग्वेद, १/७१/५ तथा १०/६१/५
३. पिता यस्त्वां दुहितरमधिष्कन्। ऋग्० १०/६१/७
४. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमध्यध्यायत्। ऐतरेय ३/३३
प्रजापतिर्ह वै स्वां दुहितरमिभदध्यौ। शतपथ १/७/४/१
५. पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।—अथर्व० ९/१०/१२

वाक् ने गर्भ धारण किया[1]।

पुराणों में इस कथा को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है। श्रीमद्-भागवत् में यह कथा इस प्रकार आई है—'काम से वशीभूत होकर स्वयम्भू ने कामना हीन वाक् नाम्नी अपनी पुत्री को चाहा, अपने पिता को इस प्रकार अधर्म कार्य में में प्रवृत्त होता देख मरीचि आदि पुत्र भर्त्सना करते हैं, अपने पुत्रों द्वारा निन्दित ब्रह्मा लज्जावश शरीर त्याग देते हैं।'

मैत्रायणी संहिता (४/२/१२) में भी एक गाथा आती है कि एक बार प्रजापति अपनी पुत्री उषा पर आसक्त हो गए। तब उषा ने अपने आपको हिरनी के रूप में परिवतित कर लिया, इस पर प्रजापति ने भी अपने आपको हिरन बना लिया। प्रजापति के इस कृत्य पर क्रुद्ध होकर रुद्र ने बाण सन्धान किया तो प्रजापति को होश आया और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि रुद्र उन पर बाणसन्धान न करें तो वे उन्हें पशुपति बना देंगे[2]।

वेदों और भागवत में वर्णित कथा में आकार सम्बन्धी परिवर्तन तो नहीं है परन्तु पुत्रों द्वारा समझाने पर ब्रह्मा का आत्मग्लानि वश प्रायश्चित स्वरूप शरीर त्याग देना' मूलकथा में नहीं है। पुराण द्वारा यह दण्ड व्यवस्था श्लाघनीय ही कही जाएगी।

वैज्ञानिक सत्य—ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्य इस व्याख्या के बीज का पल्लवन कुमारिल भट्ट[3] ने इस प्रकार किया है—'प्रजाओं के पालन करने के कारण सूर्य को प्रजापति[4] कहा गया है। प्रतिदिन देखने में आता है कि प्राची में उषा का आगमन पहले होता है और सूर्य का आगमन पीछे। वास्तव में सूर्य के आगमन पर

---

१. प्रजापतिर्वा इदमासीत्। तस्य वाक् द्वितीयासीत। तां मिथुनं समभवत्। सा गर्भमाधत्त।—ताण्ड्य ब्राह्मण, २०/१४/२

२. इस कथा में प्रजापति काम, मद, अहंकार आदि से ग्रस्त पशु या जीव के प्रतीक ही हैं, विष्णु पुराण (१/५०९) में अज्ञान में पड़े एवं कुमार्ग में चलने वाले को पशु कहा है।
रुद्र ऐसे मोह तथा काम ग्रस्त जीव का उद्धार करने के कारण पशुपति हैं।

३. इस वैज्ञानिक व्याख्या के बीज ब्राह्मण ग्रन्थ (ताण्ड्य० ब्रा० ८/२/१०) में मिलते हैं—प्रजापतिरुषसमध्यैत् स्वां दुहितरम्। कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थ तन्त्र-वार्तिक (१/३/७) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :—
'प्रजापतिस्तावत् प्रजापालनाधिकारात् आदित्य एवोच्यते। स च अरुणोदय वेलायामुषसमुधन्नभ्यैत्। सा च तदागमना देवोपजायते इति तद् दुहितृत्वेन व्यपदिश्यते। तस्यां चारुणकिरणाख्यबीज निक्षेपात् स्त्रीपुरुषयोगवदुपचारः।'

४. दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः। अजीजनत्सविता सुम्नमुक्थ्यम्। ऋग्० ४/५३/२

उषा का जन्म होता है, इसलिए वह उसकी दुहिता है, सूर्य अपनी अरुण किरण रूपी बीज का वपन उषा में कर दिवस रूपी पुत्र को उत्पन्न करता है। इस अरुण किरण रूपी बीज के निक्षेप के कारण स्त्री पुरुष का उपचार किया गया है।'

उषा का सूर्य द्वारा अनुगमन ही पुत्री का पिता के द्वारा अनुगमन है, अरुण किरणों का निक्षेप ही वीर्याधान की प्रक्रिया है, फलस्वरूप दिन का होना ही पुत्रोत्पत्ति है। इस वैज्ञानिक सत्य को वेद और पुराणों के सत्य द्रष्टा ऋषियों ने 'ब्रह्मादुहितृ, के प्रतीक रूप में अभिव्यंजित किया है। कथा को इस व्याख्या के सन्दर्भ में देखने पर उस पर आरोपित कालुष्य धुल जाता है।

आध्यात्मिक रहस्य—वैदिक साहित्य में प्रजापति को मन[1] की तथा सरस्वती को वाक्[2] की संज्ञा दी गई है। मन की सत्ता वाणी से पूर्ववर्तिनी है। मनुष्य मन द्वारा जो कुछ संकल्प करता है उसे वाणी द्वारा अभिव्यक्त करता है। इसी सम्बन्ध के आधार पर मन को प्रजापति का प्रतीक और वाणी को सरस्वती का प्रतीक माना जा सकता है। जब मन रूपी पिता (प्रजापति) वाणी रूपी पुत्री में संकल्प या प्रेरणा रूपी वीर्य का आधान करता है तो शब्द रूपी पुत्र का जन्म होता है। इस भाषा वैज्ञानिक या आध्यात्मिक सत्य को प्रजापति-दुहितृ के प्रतीक से स्पष्ट कर वेद पुराण स्रष्टा ने अपनी काव्यात्मकता किंवा चमत्कार-प्रियता का सुन्दर प्रदर्शन किया है।

आधिदैविक तथ्य—आचार्य बलदेव उपाध्याय[3] के मतानुसार इस कथानक की आधिदैविक स्तर पर भी व्याख्या की जा सकती है। सृष्टि रचना के अवसर पर ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त कर दिया, उनका वाम भाग स्त्री और दक्षिण भाग पुरुष बना;[4] इन दोनों के संयोग से ही यह समस्त चराचरमय सृष्टि उत्पन्न हुई है।[5] ब्रह्मा वाली कथा इसी आदिम सृष्टि रहस्य की प्रतिपादिका है।

इस प्रकार सूत्र या संकेत रूप में वर्णित कथा अपने भीतर एक महान् तथ्य को छिपाए हुए है। कथा का वाह्यरूप नैतिक दृष्टि से ग्राह्य नहीं है पर अपने प्रतीकात्मक परिवेश में रूप सर्वथा स्पृहणीय हो उठा है, कालुष्य के स्थान पर भव्यता और उज्ज्वलता अनुपम शृंगार कर बैठी है।

---

१. **यत् प्रजापतिस्तन्मन** ।—जैमिनी उप० १/३३/२

२. **'वाग् वै सरस्वती'** ।—कौशीतकीब्राह्मण ५/१

३. **पुराण विमर्श**, पृ० २५०/५८

४. **इस तथ्य का समर्थन करते हुए मनुस्मृति (१.३२) में कहा गया है :—**

द्विधाकृत्वाऽऽत्मनो देहधर्मेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां तु विराजमसृजत प्रभुः ॥

५. **शतशथ ब्राह्मण (१४/३/४/३) में भी ऐसा ही वर्णन आया है।**

त्रिपुर वध-एक दार्शनिक रहस्य :

पुराणों में मय जाति के त्रिपुर नामक राक्षस की कथा का वर्णन आया है। प्रसिद्ध है कि इसके सोने चांदी और लोहे के तीन पुर[1] थे जिनमें वह इच्छानुसार एक साथ ही रहा करता था। इन दुर्भेद्य पुरों में रहने वाले त्रिपुर को मारना बड़ा कठिन कार्य था। अन्त में शिव ने विष्णु, वेद, चन्द्र, सूर्यादि की सहायता से उसका विनाश किया। पुष्पदन्त[2] ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है :—

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो।
रथाङ्गे चन्द्राकौ रथचरणपाणिः शर इति ॥

अर्थात् त्रिपुर के संहार में 'पृथ्वी रथ बनी, इन्द्र सारथी, हिमालय धनुष, चन्द्रमा और सूर्य रथ के पहिए और विष्णु बाण बने।

पुराणों में वर्णित यह त्रिपुरवध सम्पूर्णतः प्रतीकात्मक ही है। त्रिपुरासुर अहंकार, महामोह अर्थात अविद्या का प्रतीक है। मानव जीवन में अहंकार या मोह ही उसका सबसे बड़ा राक्षस है जो विविधेन उत्पात मचाता रहता है। इस राक्षस के तीन पुर-स्थान हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर, जिनमें अहंकार निर्वाध रूप से विचरण करता है। छान्दोग्योपनिषद् में इन पुरों का वर्ण लोहित, शुक्ल और कृष्ण है जो स्पष्टतः रज, सत्व और तम के प्रतीक हैं। सोने, चांदी और लोहे के बने त्रिपुर, त्रिगुण से उत्पन्न और उसमें निवास करने वाला महामोह अर्थात् अविद्या है। अहंकार और अविद्या से दुर्दान्त असद्वृत्तियां उत्पन्न होती हैं वही इस राक्षस की सेना है। ससैन्य इस राक्षस को शिव—शान्त समाधिस्थ जीव ही मार सकता है। अकेले शिव ही इसका संहार करने में पूर्णतः समर्थ नहीं हैं जब तक कि समस्त देवताओं (मन की सद्वृत्तियां) का सक्रिय योग रथ रूप में न हो। वह रथ वेद रूपी अश्वों से ही खींचा जाना चाहिए। हिमालय (दृढ़ निश्चय) के धनुष पर विष्णु—सत्व, शक्ति—के बाण से ही उसका संहार हो सकता है। इस भयंकर राक्षस के पास अद्भुत संजीवनी शक्ति है, देवताओं के तनिक भी प्रमाद से वह पुनः सक्रिय हो उठता है। मन की सद्वृत्तियों के विलुप्त या सुप्त होते ही अहंकार जागृत हो जाता है, इसलिए मनुष्य का आचरण सदैव ही वेद सम्मत और सजग रहना चाहिए।

अन्धकारसुर वध :

इसी प्रकार हिरण्याक्ष के पुत्र अन्धकारसुर की वध कथा भी प्रतीकात्मक है। हाथी के रूप में सर्वध्वंसी महापराक्रमी भयंकर राक्षक का शिव काशी में संहार करते हैं।

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण (१/४/६) में लिखा है कि देवासुर संग्राम में असुरों ने द्यौः आकाश और पृथ्वी पर तीन पुर (दुर्ग) बना लिए थे जो क्रमशः सोने, चांदी और लोहे के थे।

२. भारतीय प्रतीक विद्या, पृ० ८२

हिरण्याक्ष साक्षात् अनैश्वर्य का प्रतीक है, अविनाशी ऐश्वर्य के द्वारा ही उसका नाश हुआ।[1]

हिरण्याक्ष का पुत्र अन्धक प्रतीक है— विचार शक्ति और ज्ञान को अन्धा कर देने वाले महामोह का[2]। रक्त बीज के समान बढ़ने वाले इस मोह का नाश सरलता से नहीं हो सकता। शिव—आत्मबोध—ही उसका संहार काशी—परमेश्वर्य और महानन्द की साधना भूमि—में कर सकते हैं। इस प्रकार अन्धकासुर के संहार का अर्थ है—तत्व ज्ञान के विरोधी और प्रबल विघ्नकारी, आत्मा को निरन्तर गर्त की ओर से जाने वाली अविद्या का नाश।

श्री गोपीनाथ राव का मत इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है। वे कहते हैं—

'वराहपुराण के अनुसार अन्धकासुर की कथा एक रूपक तत्व ही है। यह अन्धकार-अविद्या के साथ आत्मविद्या का युद्ध है। शिव रूप में विद्या ही अविद्या रूपी अन्धकासुर से संघर्ष करती है। विद्या जितना ही आक्रमण करती है कुछ समय के लिए अविद्या उतना ही अपना विस्तार करती है, अन्धकासुर के रूपों की संख्या में वृद्धि इसी बात की द्योतक है। जब तक मन के काम, क्रोध आदि अष्ट विकार पूर्णतः विद्या के वश में नहीं आ जाते तब तक अन्धकार का नाश असम्भव है[3]।

इस प्रकार इन कथात्मक चित्रों पर भौतिक आवरण डालकर प्रतीक पद्धति में एक आध्यात्मिक रहस्य की सफल, पूर्ण मार्मिक अभिव्यक्ति पुराणों में विशदतः हुई है।

---

१. मूर्तिमन्तनैश्वर्यं हरिण्याक्षंविदुर्बुधाः।
ऐश्वर्येणविनाशेन स निरस्तोऽरिमर्दनः।

प्रतिमालक्षणः, पृ० ३०, भारतीय प्रतीक विद्या पृ० ८२ से उद्धृत

२. तमो मोहो महामोहस्तमिस्रा ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पंचपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥ विष्णुपुराण १/५/५

3. According to the Varaha Puran, the account given above of Andhakasur......is an allegory; it represents Atma Vidya or spiritual wisdom as warring against Andhakar, the darkness of ingnorance...The spirit of vidya represented by Shiva, fights with Andhakasur, the darkness of Avidya, The more this is attempted to be attacked by Vidya, the more does it tend to increase for a time. This fact is represented by the multiplication of the gigures of Andhakasur Unless the eight evil qualities काम, क्रोध etc. are completely brought under control of Vidya and kept under retraint, it can never succeed in ptuting down Andhkar.

Elements of Hindu Iconography. Vol. II.

कृष्ण सुदामा चरित्र-एक प्रतीकात्मक रूपक

भागवत में श्रीकृष्ण भगवान को सभी सुखों का आधार बताया है। वह स्नेहमूर्ति कन्हैया प्रेम का अगाध समुद्र है, सख्य का सागर है। भगवान की अनन्त लीलाओं में सुदामा का प्रसंग एक अनोखी मोहकछ्रा धारण कर जन-मन रंजन करता हुआ भक्तजनों के मन में प्रेम और श्रद्धा का अनन्त सागर उमड़ा देता है। लौकिक रूप में कृष्ण सुदामा बालसंघाती हैं, एक साथ खेले और पढ़े हैं।

सुदामा दरिद्र हैं और श्रीकृष्ण द्वारिकाधीश। पत्नी के आग्रह करने पर सुदामा श्रीकृष्ण के पास जाते हैं, श्रीकृष्ण बालमित्र के आगमन पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं और समस्त दरिद्रता दूर कर देते हैं। अपने सीधे सादे लौकिक अर्थ में कृष्ण-सुदामा की कथा भक्त मनोहरिणी है। भगवान की सदाशयता पर भक्त हृदय से मुग्ध है, अपने जीवन को धन्यकर भक्त चिरकाल तक परमानन्द की अमराइयों में विचरण करता हुआ अन्त में तदाकार हो जाता है। कथा के लौकिक रूप के साथ-साथ इसका आध्यात्मिक रूप भी द्रष्टव्य है—

आध्यात्मिक रहस्य—यदि हम कथा के बाह्य तलछट को छोड़ गहरे पानी पैठ सकें तो वहाँ जो मोती प्राप्त होंगे वे अपनी जगमग से सहृदयों को चमत्कृत अवश्य कर देंगे। कथा में वर्णित सुदामा, उनकी पत्नी, तन्दुल, उसकी टूटी छान, श्रीकृष्ण, द्वारिका आदि सभी कुछ प्रतीकात्मक है।

दामन[1] का अर्थ है रस्सी, (पशु दुहने के समय पांव) बांधने की रस्सी। यशोदा मैया के रस्सी बाँधने के कारण श्रीकृष्ण का एक नाम 'दामोदर' भी है। इस सन्दर्भ में सुदामा का अर्थ हुआ रस्सियों से भली प्रकार बांधा गया पुरुष विशेष, अर्थात् दूसरे शब्दों में माया के बन्धन से पूर्णरूपेण बाँधा हुआ जीव—बद्धजीव। इस सांसारिक माया मोह के पाश में आबद्ध जीव सब कुछ, यहाँ तक कि अपना स्वरूप भी भूल जाता है। आकर्षण उसके स्वरूप को कभी भी उभरने नहीं देते। सुदामा सन्दीपनि गुरु के यहाँ श्रीकृष्ण के सहपाठी हैं। जीव भी आत्मतत्व को प्रकाशित करने वाले ज्ञान के साथ होने पर उस जगदाधार परब्रह्म का सखा है।[2] जीव को जब तक ज्ञान का आश्रय मिलता रहता है तब तक वह अपने वास्तविक रूप में परब्रह्म—श्रीकृष्ण—का सखा बना हुआ है पर गुरुकुलवास छूट जाने पर जीव को सांसारिक असद्वृत्तियाँ घेरने लगती हैं, माया के दृढ पाश में आबद्ध सुदामा—अपने बाल-संघाती—परब्रह्म—को भी भूल जाता है। ब्रह्मांश—जीवात्मा की सात्विक बुद्धि—सुदामा की सती साध्वी पत्नी—बारम्बार उसे सच्चे मित्र का स्मरण कराती है।

---

१. अमरकोश, श्लोक ७३

२. वेदों में वर्णित—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया···ऋग्० १/१६४/२०; अथर्व० ६/६/२०; मु० ३/१/१; श्वे० ४/६ मन्त्र का कथात्मक चित्रण कितना सुन्दर है।

जीव भी सात्विक बुद्धि के साथ चिर सुखी रहता है। जीव की दुरवस्था से दुखी या प्रेरित होकर जब जब सात्विक बुद्धि का विकास या उद्‌बोधन होता है तब तब वह आबद्ध जीव को अपने पुराने स्थान पर लौट जाने के लिए—चिरन्तन आनन्द स्वरूप परब्रह्म सखा को पाकर समस्त मायिक बन्धनों को छुड़ा देने के लिए पुनः-पुनः आग्रह करती है। आबद्ध जीव—सुदामा—अपनी अकर्मण्यता के वशीभूत होकर दुर्दैव को—भाग्य को ही कोसा करता है। सचेत करने पर भी परब्रह्म के धाम द्वारिका जाने की नहीं सोचता। पर सात्विक बुद्धि जीव की इस कायरता अथवा अकर्मण्यता को भला कैसे सहन कर सकती है? उसके सामने तो आत्मा का चिर सत्य, लक्ष्य हमेशा ज्योतिस्तम्भ बना उस मार्ग की ओर निर्देश करता रहता है। आखिर हार कर जीव—सुदामा—को पत्नी की बात मानकर द्वारिका जाना ही पड़ता है। पत्नी ही चावलों—पुण्यों—को संग्रहीत करती है। परमात्मा से मिलने जब जीव जाता है तो उसे कुछ न कुछ उपायन तो चाहिए ही। सात्विक बुद्धि ही जीव के लिए उपायन (चावल)—पुण्यों, सुकर्मों—का उपचय करती है। आत्मोद्धार की कामना से विरत संकोची, उदासीन और अकर्मण्य जीव को प्रथमतः द्वारिका—मोक्षधाम दूर ही लगता है परन्तु जब वह सद्‌बुद्धि से प्रेरित होकर अपने कृत्याकृत्य—पुण्यों की पोटली बगल में दबाए दृढ़ विश्वास और सच्चे मन से उस ओर प्रयाण कर देता है तो लक्ष्य-द्वारिका सामने ही दीखने लगती है। भला फिर भक्त और भगवान के बीच दूरी कैसी! 'त्वदीय वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये' के भाव को ग्रहण कर भक्त तो उसे सामने ही पा लेता है। वह दूर है तो अकर्मण्यता से, छलकपट या दिखावे से; भक्त के सच्चे हृदय की एक पुकार के बाद भगवान उससे दूर नहीं।

सुदामा द्वारिका पहुँचे और द्वारपाल से सखा के आगमन की सूचना सुनते ही दौड़ पड़े। भगवदंश जीव के अन्तर्मुख होते ही भगवान स्वयं लिवाने आ जाते हैं;[1] उसके अंगों से लिपट कर स्वयं भी आनन्दमग्न हो जाते हैं। बाल संघाती जो हैं। भला ऐसा हो भी क्यों न? जब भगवान को पाकर भक्त—जीव—परम निवृत्ति प्राप्त कर लेता है तो भक्तों—अपने ही अंशों से मिलते समय उनके मानस में भी आनन्द का सागर उमड़ पड़ता है, प्रेमाश्रुओं से सारा कालुष्य, थकान, मतभेद धुल जाता है।

भक्त से मिलकर भगवान पूछते हैं—कुछ उपायन—पुण्य कर्म लाए हो? भक्त लज्जित है, उसके पास है ही क्या, इन तुच्छ चावलों को भला कैसे दिखाए? पर भगवान के लिए भक्त का प्रेम ही सर्वस्व है, वे कांख से पोटली छीन लेते हैं। चाहते हैं कि भक्त को सब कुछ दे डालें पर बीच में ही रुक्मिणी (श्री, भगवान की ऐश्वर्य शक्ति) ऐसा करने से रोक देती है। पर सुदामा—जीव—को अधिक और क्या चाहिए? आखिर भगवल्लोक ही तो उसकी मंजिल है। उसे सन्तोष है तो बस इतना

१. **सन्त कबीर ने बड़े सुन्दर शब्दों में इसी भाव को इस प्रकार कहा है—**
सखिरी गाओ मंगलाचार, हमरे घर आए राजाराम भरतार, कबीर ग्र०, पद १

कि उसने अपने पुण्यों, सत्कर्मों को उस नियन्ता को अर्पित कर दिया; परन्तु भक्त-जीव के मन में कुछ शंका बनी रहती है, पता नहीं उसने मेरा प्रसाद स्वीकार किया या नहीं; एक बार तो उसे अपनी स्थिति से क्षोभ होता है परन्तु जब अन्तर्मन से अपनी कुटिया—भौतिक शरीर—को देखता है तो सर्वत्र आत्मस्वरूप की चकमक दृष्टिगोचर होती है। उसे भ्रम हुआ कि वह पुनः द्वारिका में तो नहीं चला आया पर समय पर पत्नी—सद्बुद्धि—पुनः सहायता करती है। मायाबद्ध जीव की यह काया पलट करने वाली सात्विकी बुद्धि आनन्द धाम-भवन में उसका स्वागत करती है। जीव के जन्म-जन्मान्तर का पाप, कालुष्य धुल जाता है और वह विषयों से अनासक्त होकर परम सौख्य का अनुभव करता हुआ चिरेण उसमें निवास करता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है।

इस प्रकार 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' का यह कथात्मक प्रतीक बड़े ही मधुर ढंग से पुराणों में वर्णित है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय[1] के अनुसार "पुराणों के आख्यान प्रतीकात्मक हैं। उन आख्यानों में किसी ऐतिहासिक वृत्त का भी संकेत है परन्तु एतावन्मात्र से आख्यानों का तात्पर्य गतार्थ नहीं होता। वे एक गम्भीर आध्यात्मिक रहस्य की भी अभिव्यक्ति करते हैं। तत्व है नितान्त निगूढ़, परन्तु अभिव्यक्ति का प्रकार है नितान्त बोधगम्य।" अपनी इस बात की पुष्टि के लिए आचार्य ने दो पौराणिक आख्यानों का इस प्रकर विश्लेषण प्रस्तुत किया है—

दक्ष प्रजापति के यज्ञ का शिवगणों के द्वारा विध्वंस एक प्रख्यात पौराणिक आख्यान है।[2] तदनुसार दक्ष प्रजापति ने अपने विशाल यज्ञ में शत्रुता से प्रेरित होकर शिव को कोई भाग नहीं दिया जिससे क्रुद्ध होकर सती ने योगाग्नि द्वारा अपने शरीर को उस यज्ञ में हवन कर दिया। इसी का दण्ड था यज्ञ विध्वंस तथा दक्ष का शिरोच्छेद। इस साधारण आख्यान के भीतर एक गूढ़ आध्यात्मिक तत्व का संकेत है। दक्ष जगत में नवीन चातुरी रचना का प्रतीक है। विज्ञान के द्वारा जो नवीन निर्माण हो रहे हैं मानव के आपाततः सौख्य के लिए, दक्ष (=दक्षता) उसी का प्रतीक है। दूसरे शब्दों में दक्ष भौतिकवाद का प्रतिनिधि है। नयी-नयी सृष्टि के उत्पादक होने के कारण वह प्रजापति है। इधर शिव विश्व के समस्त सामूहिक कल्याण तथा मंगल का प्रतीक है। इसी शिव से दक्ष का विरोध है। भौतिकवाद आध्यात्मिक कल्याण की उपेक्षा कर स्वतः स्वतन्त्र रूप से अभ्युदय चाहता है। शिव का आग्रह है कि दक्ष को उसके सामने नत मस्तक होना चाहिए, आध्यात्मिक समष्टि कल्याण के सामने भौतिकवाद को झुकना चाहिए। जगत में यह संघर्ष महान अनर्थ का कारण होता है। शिव से विरोधकर दक्ष रह नहीं सकता; समष्टि कल्याण की उपेक्षा कर भौतिकवाद जगत की सुख समृद्धि का उत्पादक कभी भी नहीं हो सकता। जामाता होने से दक्ष का पद उससे न्यून है। इस मौलिक तथ्य के विरुद्ध दक्ष विद्रोह करता है। इस

१. पुराण-विमर्श पृ० ६१३-१४
२. भाग० ४/२-७

घोर अपराध के कारण उसका सिर काटा जाता है और उसके यज्ञ का (जिससे वह संसार का कल्याण करना चाहता है) सद्यः विध्वंस किया जाता है। जब समष्टि कल्याण के साथ भौतिकवाद का सामंजस्य स्थापित होता है तभी विश्व का कल्याण है। निष्कर्ष है कि अनियन्त्रित भौतिकवाद आध्यात्मिकता को उदरस्थ करने में किसी प्रकार रुक नहीं सकता, यदि उसका मस्तक उड़ा न दिया जाए। विश्व के सन्तुलन में शिव का प्राधान्य अपेक्षित है, दक्ष का नहीं। विश्व को कल्याण के चरम लक्ष्य तक पहुँचने में शिव का सामर्थ्य है, दक्ष का नहीं। शिव का वाहन है वृषभ जो सांकेतिकता की दृष्टि से धर्म का ही प्रतीक है। शिव वृषभ पर चढ़कर चलते हैं—इसका तात्विक अर्थ है कि कल्याण धर्म का आश्रय लेकर ही प्रतिष्ठित होता है। धर्म का आश्रय छोड़ देने पर कल्याण का उदय कभी नहीं हो सकता। इसलिए भौतिक सुख से सम्पन्न होने पर भी धर्म विहीन समाज की कल्पना भारत की पुण्यमयी भूमि में नितान्त निराधार है।"

"भारत के तत्वदर्शी चिन्तक हमारे मनीषी डंके की चोट प्रमाणित करते आ रहे हैं कि अर्थ की उपासना मानव समाज को परम सौख्य की ओर कथमपि कदापि अग्रसर नहीं कर सकती। धन से तथा भोग विलास से क्षणिक आराम की प्राप्ति तो अवश्य होती है, परन्तु वास्तविक सौख्य की नहीं। आराम और सुख में अन्तर होता है। पहिला है ऊपरी तो दूसरा है भीतरी। पहला है क्षणिक तो दूसरा है चिरस्थायी।" इस तथ्य का प्रतिपादन प्रह्लाद का पौराणिक चरित्र वैशद्येन करता है। हिरण्यकशिपु के पुत्र रूप में प्रह्लाद का जन्म अवश्य होता है, परन्तु पुत्र ही पिता के सर्वनाश का कारण बनता है।...'कशिपु' वैदिक भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है कोमल शैया या मुलायम सेज। सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासैः, (भागवत २-२-४) की इस प्रख्यात सूक्ति में 'कशिपु' का तात्पर्य शैया से ही है। अतः हिरण्यकशिपु का अर्थ है सोने की सेज वाला प्राणी—भोग विलास में आसक्त मानव, आधुनिक परिभाषा में पूँजीपति—कैपिटलिस्ट। प्रह्लाद का स्पष्ट अर्थ है—प्रकृष्ट आह्लाद, सातिशय आनन्द। धनी के ही घर में प्रह्लाद जनमता है। हिरण्यकशिपु के घर प्रह्लाद नहीं जनमेगा तो क्या वह दीन हीन टूटी खाट पर सोने वाले दरिद्र के घर पैदा होगा? नहीं, कभी नहीं। पर्वत से प्रह्लाद गिराया जाता है, परन्तु वह मरता नहीं। पहाड़ों पर घूमने से विलासी धन कुबेर का आनन्द कभी कम नहीं होता, प्रत्युत वह बढ़ता है। जल में डुबाने से प्रह्लाद मरता नहीं। आज भी समुद्र की सैर सुख उपजाती है। परन्तु हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद का संघर्ष अवश्यंभावी है। भोग की भित्ति पर, धन के आधार पर वास्तविक आनन्द टिक नहीं सकता। त्याग के संग में ही आनन्द चिरस्थायी होता है। जगत के मूलभूत तत्व शक्तिमान परमेश्वर अथवा निखिल सामर्थ्यमयी शक्ति की उपेक्षा करने से चरम सौख्य की प्राप्ति कथमपि नहीं होती।[1]

---

१. भाग ७/६/१६

धार्मिक सन्तुलन के प्रतिष्ठापक भगवान नृसिंह हिरण्यकशिपु को अपने नखों से विदीर्ण कर प्रह्लाद की रक्षा करते हैं[1]···तात्पर्य यही है कि प्रह्लाद का अस्तित्व भगवान की सत्ता में—श्रद्धा मानने में और आध्यात्मिक जीवन यापन में ही है, अन्यथा नहीं।" इसलिए भौतिकवाद के स्वरूप हिरण्यकशिपु को मरना पड़ता है; आत्मोन्नति और आनन्दोपलब्धि स्वरूप प्रह्लाद को निरन्तर जीवित ही रहना होगा।

भागवत में श्रीकृष्ण की रासक्रीडा और चीरहरण लीला का अतिरंजित वर्णन आया है। स्नान करती गोपियों के वस्त्र उठा लेना—चीर हरण—लौकिक दृष्टि से निन्दनीय ही है परन्तु इन कथाओं के पीछे भी एक आध्यात्मिक रहस्य छिपा हुआ है।

लौकिक दृष्टि से शृंगार का परिधान पहन कर प्रणय लीला में निमग्न राधा और गोपियाँ उन जीवात्माओं की प्रतीक हैं जो ब्रह्मैकात्म्य के लिए आतुर रहती हैं। उनका प्रत्येक कार्य इसी हेतु है। जीव और ब्रह्म का एकात्म मिलन तभी हो सकता है जब बीच में कोई आवरण न हो। लोकलाज और स्वाभाविक अस्मिता उस महा मिलन में बाधक हैं, चीर हरण इसी की ओर संकेत करता है। "श्रीकृष्ण उनके वस्त्रों के रूप में उनके समस्त संस्कार—आवरणों को अपने हाथ में लेकर समीपस्थ कदम्ब वृक्ष पर चढ़कर बैठ गए। गोपियाँ जल में थीं और वहाँ अपने आपको सर्व-व्यापक सर्वदर्शी भगवान से प्रच्छन्न समझ रही थीं। उनकी इसी भूल का सुधार श्री कृष्ण करना चाहते हैं। हम संसार के अगाध जल में आकण्ठ मग्न हैं और भगवान को भूले हुए हैं। भगवान यही बताते हैं कि हे भक्तो ! संस्कार शून्य होकर, निरावरण होकर, माया का पर्दा हटाकर मेरे पास आओ। तुम्हारा मोह का पर्दा मैंने छीन लिया है, अब तुम इस पर्दे के मोह में क्यों पड़े हो ? यह पर्दा ही तो परमात्मा और जीव के बीच बड़ा व्यवधान है जो भगवत्प्रेम से ही दूर हो सकता है। प्रभु के सम्पर्क से ही वह पर्दा प्रसाद रूप हो जाता है।"[1]

रास भी अपने अन्तराल में महान् आध्यात्मिक रहस्य छिपाए है। इसका आयोजन गोपियों के अहंभाव को दूर करने के उद्देश्य से किया गया है। इसी से ब्रह्मान्वेषणकारिणी गोपियों की साधना पूर्ण होती है। रास के अन्त में श्रीकृष्ण इसी उद्देश्य से उन्हें घर लौट जाने का आदेश देते हैं।[2] डा० हरवंशलाल शर्मा ने रास का भोगपरक और वैज्ञानिक अर्थ[3] कर इसके प्रतीकार्थ को सिद्ध किया है। भागवत की यह माधुर्य भावना भागीरथी की पवित्र धारा के समान जयदेव, विद्यापति, सूरदास, नन्ददास, मीरा, हरिऔध, महादेवी, पन्त आदि विभिन्न कवियों की वाणी से निसृत हुई है।

---

१. डा० हरवंशलाल शर्मा सूर और उनका साहित्य— पृ० २०७-८
२. भागवत १०/२२/२७
३. सूर और उनका साहित्य, पृ० २०६

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय भी पुराणों का प्रिय वर्ण्य विषय है। पुराणों में उल्लेख किया गया है कि विष्णु ने सृष्टि की इच्छा की और उनकी नाभि से पद्म निकाला।...उस पर चारों वेद रूपी चार मुख वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए।[1]

प्रतीकार्थ लेते हुए हम कह सकते हैं कि विष्णु (सूर्य[2]) के नाभि केन्द्र से पद्म (पृथ्वी[3]) की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी भी पद्म के समान गोलाकार है। सूर्य से पृथ्वी का उत्पन्न होना वैज्ञानिक सत्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार सूर्य मण्डल से एक भाग टूटकर कालान्तर में ठण्डा होता गया, वही पृथ्वी बन गई। धीरे-धीरे पृथ्वी पर वनस्पति आदि उत्पन्न हुए, वृक्ष, लतादि, बने, तत्पश्चात् जीव सृष्टि हुई। इस प्रकार पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति का अर्थ पृथ्वी का चारों दिशाओं में फैला प्राण तत्व ही है। चार भुजाओं से चार दिशाएँ[4] संकेतित हैं।

सृष्टि और प्रलय का यह चक्र मानव मन में भी सदैव चलता रहता है। सृष्टि (अहंकार) ब्रह्म से ही उत्पन्न (सृष्टि) होती है और जब जीव विवेक रूपी तलवार से आत्मा को बाँधने वाले मायामय अहंकार का बन्धन काट डालता है तब वह अपने एक रस आत्मस्वरूप से साक्षात्कार की स्थिति में हो जाता है।[5] अहंकार का नाश ही प्रलय है। इस प्रकार मानव शरीर, मन और आत्मा में सृष्टि—प्रलय का यह चक्र शाश्वत चलता रहता है।

पुराणों में त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का विस्तार से वर्णन हुआ है। वेदों में ये देवता एक प्रकार से गौण थे पर पौराणिक काल में आते आते ये प्रमुख हो गए। इन दैविक शक्तियों का, जैसा वेदों में भी वर्णित है, प्रतीकात्मक वर्णन पुराणों में मिलता है।

विश्व में दो शक्तियाँ मानी जाती हैं, एक पोषक शक्ति तथा दूसरी शोषक शक्ति। पोषक शक्ति जगत् का पोषण और शोषक शक्ति शोषण या संहार करती है। शोषक या अग्नि तत्व के प्रतीक रूप में रुद्र हैं और पोषक शक्ति-सोम के प्रतीक रूप में विष्णु हैं।

विष्णु—को पुराणों में विश्व में व्याप्त शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। सिद्ध और योगीजन ही उसके परमपद को प्राप्त कर सकते हैं।[6] विष्णु को विभिन्न आयुधों और आभूषणों से सज्जित किया हैं। ये समस्त आभूषण और आयुध विभिन्न शक्ति और तत्वों के प्रतीक हैं—

कौस्तुभमणि—जगत् के निर्लेप निर्गुण तथा निर्मल क्षेत्रज्ञ स्वरूप का प्रतीक है।

---

१. योग शस्त्र, ब्रह्म संहिता पृ० ३११, श्लो० १२८, भारतीय प्रतीक विद्या पृ० ५६
२. वेदों में विष्णु को सूर्य के रूप में चित्रित किया है। ऋग्० १/१६४/४८
३. पद्मपुराण (सृष्टि खण्ड, अध्याय ४) में पृथ्वी को पद्म के रूप में कहा है।
४. 'दिशश्चतस्रव्ययवाहवस्ते।' विष्णु पुराण, ५/४/६६
५. भागवत—१२/४/३४
६. विष्णु पुराण १/२/१६

श्रीवत्स—मूल प्रकृति का प्रतीक है।

गदा[1]—बुद्धि का प्रतीक है जिस प्रकार गदा शत्रु को नष्ट करने में समर्थ है उसी प्रकार बुद्धि-ज्ञान तम, अहंकार और अज्ञान को नष्ट कर देती है। इस प्रकार गदा तमोगुणात्मक संहार शक्ति का प्रतीक है।

शंख—वाक् या शब्द ब्रह्म का प्रतीक है।

चक्र—रक्षा शक्ति का प्रतीक है जो अधर्म का संहार कर धर्म की रक्षा करता है। शांर्ग (धनुष) इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाला राजस् अहंकार का प्रतीक है।

बाण—कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रियों का प्रतीक है।

वैजयन्ती माला—पंच महाभूतों का प्रतीक है।

शिव—(रुद्र) की अभिव्यक्ति उसके आयुधों से स्पष्ट है। शिव के चार प्रसिद्ध आयुध हैं—

त्रिशूल—ज्ञान, इच्छा, क्रिया—त्रिगुण (सत्व, रज, तम) का प्रतीक है,[2]

डमरू—शब्द ब्रह्म का प्रतीक है,

मृग—वेद का प्रतीक है,[3]

परशु—पथभ्रष्ट लोगों को सत्य पथ पर लाने वाले ज्ञान-बुद्धि का प्रतीक है।

अब्जयोनि ब्रह्मा के चार मुख—चारों वेदों और चार हाथ—ब्राह्मणादि चार वर्णों के प्रतीक हैं।

पुराण साहित्य में प्रतीकों के इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पुराणों में वैदिक सूत्रों और सूक्ष्मरूप में प्राप्त संकेतात्मक कथांशों को विस्तृत रूप प्रदान किया है। अनधिकारियों से बचाने के उद्देश्य से ही शायद यहाँ भी प्रतीकों का परदा रचा गया है, फिर भी कथाओं का भौतिक रूप कम रोचक नहीं है। इन विभिन्न कथानकों के माध्यम से तप: पूत कवि-द्रष्टाओं ने अपने तप संचित ज्ञान और आध्यात्मिक रहस्य की जो अभिव्यक्ति पुराणों में की है वह भारतीय धर्म और दर्शन, सभ्यता तथा संस्कृति की अमूल्य निधि है। कोई भी देश इस साहित्य पर गर्व कर सकता है।

संस्कृत साहित्य में प्रतीक

रामायण संस्कृत का आदि महाकाव्य है जो सिद्ध कवि वाल्मीकि की वाणी से निसृत हुआ है। 'राम' का एक राजा के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख वेदों[4] में आया

---

१. स्कन्द पुराण (विष्णु खण्ड१०/३२) में इसके प्रतीकत्व का इस प्रकार वर्णन किया है— ज्ञानाहंकारकैश्वर्यशब्दब्रह्मासि केशव।
चक्र पद्म गदाशंखपरिणामानि धारयन्॥

२. इच्छा ज्ञान क्रिया कोणं तन्मध्ये चिंचिनीक्रमम्। श्री तन्त्रालोक, श्लोक ६४

३. शिवकवचस्तोत्रम्, श्लोक १२

४. ऋग्० १०/६३/१४

है। ग्रन्थ रचना से पूर्व भी राम का चरित लोक में सामान्यरूप से गाया जाता था। वाल्मीकि ने इस लोक विश्रुत कथा को काव्य का रूप देकर इस गाथा को अमरत्व प्रदान कर दिया है। रामायण में इतिहास और काव्य का अभूतपूर्व सम्मिश्रण हुआ है।

बानर और राक्षस—प्रतीकात्मक स्वरूप

ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम बानर और राक्षसों की स्थिति के बारे में विचार करते हैं तो बुद्धि आश्चर्य से भर जाती है। रामायण और उसके बाद के रामकाव्य में बानरों को साधारण बन्दर और राक्षसों को मनुष्यों को खा जाने वाले असुरों के रूप में चित्रित किया है। बानर[1] और असुर-राक्षस दोनों ही मनुष्य की भाषा बोलते हैं। राक्षसों का अधिपति रावण तो समस्त वेद वेदांगों का पूर्ण ज्ञाता था। तो फिर ये बानर और असुर कौन थे ? यह विचारणीय प्रश्न है। बानर वास्तव में कोई अनार्य जाति थी जो आदिम रूप में वनों, गुहाओं, पर्वतों आदि में रहा करती थी। पत्थर, वृक्ष आदि ही इनके शस्त्र थे। दक्षिण पथ में इन लोगों का अखण्ड साम्राज्य था। असुरों से इनका स्वाभाविक वैर था, इसलिए अनार्य होते हुए भी वे राम के साथ अपने शत्रुओं को नष्ट करने के उद्देश्य से हो लिए। ये बानर नगर और सेतु निर्माण में अपनी विशेष योग्यता रखते थे। ये बलिष्ठ और चंचल प्रकृति के भी रहे होंगे, इसीलिए सम्भव है इन्हें बन्दर कह दिया गया हो। आज भी नटखट बालक को प्रायः बन्दर की उपाधि से विभूषित कर देते हैं। पीतवर्ण जापानियों की चुस्ती और कूद फांद देखकर रूसी लोग इन्हें पीले बन्दर (Yellow Monkey) कहते हैं। ये बन्दर प्रभु भक्त थे। राम के साथ मिलकर इन्होंने राक्षसों का नाश करने में सहायता दी और इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में आर्य संस्कृति की आधार शिला स्थापित करने में महत्वपूर्ण योग दिया।

इसी प्रकार राक्षस भी ब्रह्मा की अद्भुत् सृष्टि नहीं हैं। जीवन के सामान्य आदर्श और दैनिक व्यवहार में भेद होने के कारण कोई भी व्यक्ति मनुष्य या राक्षस हो सकता है। रावण समस्त वेद वेदांगों का पूर्ण ज्ञाता, पुलस्त्य ऋषि का नाती, महान् राजनीतिज्ञ और विद्वान् था। श्रीकृष्ण के मामा कंस को भी राक्षस कहा जाता है; मामा राक्षस, भागिनेय भगवान् और पिता उग्रसेन परम धार्मिक राजर्षि। शिशुपाल श्रीकृष्ण का मौसेरा भाई था पर (आचरण के कारण) राक्षस था। इस प्रकार राक्षस कोई पृथक् सृष्टि नहीं वरन् कार्य व्यवहार के कारण ही यह संज्ञा दी जाती रही है।

---

१. हनुमान जब राम लक्ष्मण से प्रथम भेंट करते हैं तो द्विज रूप में जाते हैं। उनकी शुद्ध संस्कृत की स्वयं राम प्रशंसा करते हैं—
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहुव्याहरताऽनेन न किंचिदपशब्दितम्।—किष्किधा काण्ड, श्लोक ४३

मनु ने मद्य, मांस, सुरा, और आसव को अन्न के समान व्यवहार करने वाले को राक्षस कहा है।[१] इसी प्रकार बिना मर्जी के रोती चिल्लाती कन्या को घर से निकाल लाने को राक्षस विवाह कहा जाता है।[२] स्वयं रावण भी इस बात को सीता के सामने स्वीकार करता है।[3] इस प्रकार आचरणहीन, पतित, पशुप्राय लोगों को राक्षस कहा जा सकता है और उन पर आरोपित सींग, पूँछ, बड़े-बड़े दांत, भयंकर आकृति आदि को असद्वृत्तियों का प्रतीक माना जा सकता है।

इसी प्रकार रावण को दशानन कहा जाता है। क्या एक ही व्यक्ति के दश-मुख की कल्पना की जा सकती है? तर्क बुद्धि से तो यह बात सिद्ध होती नहीं। वास्तव में दशानन की कल्पना भी प्रतीकात्मक है। जैसे एक मुखी सिंह को पंचानन कहा जाता है, देवताओं के सेनापति कार्तिकेय को षडानन कहा जाता है। चारों दिशाओं और ऊपर की दिशा—आकाश का ज्ञान रखने के कारण सिंह पंचानन है, उसी प्रकार चारों दिशाओं, ऊपर तथा नीचे—इन छः दिशाओं का ज्ञान होने के कारण कार्तिकेय का नाम षडानन है। सेनापति को इतना सतर्क होना ही चाहिए, तभी वह अपने शत्रु की प्रत्येक गतिविधि पर नजर रख सकता है। रावण महान् विद्वान्, नीतिज्ञ था। चार दिशा, चार उपदिशा, दो दिशा ऊपर नीचे की—इन दस दिशाओं का उसे ज्ञान था, इसी कारण वह दशानन है। अथवा चारों वेद और छः शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता होने के कारण रावण दशानन था, जिस प्रकार चारों वेदों या चारों वर्णों (ब्राह्मण आदि) के अधिष्ठाता होने के कारण ब्रह्मा चतुर्मुखी हैं।

डा० जनार्दन मिश्र ने रावण के दशशिरत्व के सम्बन्ध में लिखा है कि "ऐसा मालूम पड़ता है कि जनसाधारण में राम के नर रूप का प्रचार था और ब्रह्मज्ञानी परमार्थ सिद्धि के लिए उनके नारायणरूप का ध्यान करते थे जिसमें विश्वव्यापी महामोह को महा पराक्रमी और अधर्मी दशमुख रावण कहा जाता था।[४] पीछे जब राम कथा के दोनों ही रूपों का प्रचार होने लगा और चमत्कारपूर्ण पौराणिक शैली चल पड़ी तब नर नारायण राम तथा एकमुख और दशमुख रावण को मिलाकर एक कर दिया गया है।"[५]

---

१. यक्षरक्षः पिशाचन्नं मद्यं मासं सुरावसम्। मनुस्मृति १/३७

२. हित्त्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तींरुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥ मनु० ३/३३

३. स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न संशयः।
गमनं वा परस्त्रीणां हरणं सम्प्रमथ्य वा॥ वा० रामायण, सुन्दर काण्ड २०/५

४. अविद्या अर्थात् महामोह की विश्वव्यापी शक्ति और प्रभाव के कारण रावण दशमुख है। महामोह सर्वव्यापी है, दशों दिशाओं में व्याप्त है, इसलिए महामोह के साक्षात् रूप रावण को दशसिर के प्रतीक रूप में चित्रित किया है।

५. भारतीय प्रतीक विद्या पृ० १३७

रावण के सिर पर गधे के सिर की स्थापना भी बाद की ही कल्पना मालूम पड़ती है। गधा दुर्बुद्धि, मूर्खता का प्रतीक है। हम मूर्खतापूर्ण कार्य करने वाले को गधे की उपाधि से विभूषित कर देते हैं। रावण वैसे तो महाविद्वान्, नीतिज्ञ तथा परम बलवान था, पर था अभिमानी। अन्त में यही अहंकार उसे मृत्यु के मुख में भी घसीट ले गया। इस प्रकार गधे का सिर उसमें व्याप्त गर्व, अहंकार, मूर्खता या जन विरुद्ध अनैतिक कार्य (सीता का अपहरण) का ही प्रतीक है।

यदि हम रूपक तत्व की दृष्टि से देखें तो रामकथा भी इसका अपवाद नहीं है। राम को नारायण और नर इन दो रूपों में देखा जाता है। नारायण रूप में वे परब्रह्म ही हैं। अध्यात्म रामायण में राम को ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि रूपों में चित्रित किया है तदनुसार ही सीता को चित्रित किया गया है। रावण का वध करने के लिए ही राम अवतार धारण करते हैं, सीता योगमाया और लक्ष्मण शेष हैं जो सदा राम के पीछे लगे रहते हैं।[१] मानस रामायण में तुलसीदास जी ने राम को ब्रह्म, सीता को माया और लक्ष्मण को जीव रूप में चित्रित किया है।[२]

"प्रतीक रूप में राम ब्रह्म हैं, सीता माया हैं, लक्ष्मण जीव हैं, भरत शंख (शब्द ब्रह्म) और शत्रुघ्न चक्र हैं। विष्णुवत् पीताम्बर दिक् है, धनुष काल है और इससे जितने वाण निकलते हैं, वे घड़ी, घन्टा, पल, दिन, रात आदि हैं।"[३] मानस रामायण में रामकथा और पात्रों को प्रतीक स्वरूप माना है।[४]

सीता के पीछे प्रतीकात्मक संकेत :

रामायण में राम-पत्नी सीता का प्रयोग प्रतीक रूप में ही है। अमर कोश[५] में सीता का अर्थ—'हल चलाने से पृथिवी पर पड़ी हुई रेखा' है। सामान्यतः हम देखते हैं कि हल से ऊपर उठी हुई रेखा पुनः उसी में विलीन हो जाती है। जनक पुत्री सीता भी पृथिवी से उत्पन्न होकर अन्त में पृथिवी में ही समा जाती है। वेदों में सीता को कृषि की अधिष्ठात्री देवी मानकर प्रार्थना की गई है कि 'हे सीते—हल के अग्रभाग—तू हमें उत्तम अन्न समृद्धि रूप फल देने वाली हो।[६] इसी प्रकार गृह्यसूत्रों में सीता को अन्न वृद्धि करने वाली इन्द्र-पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है।[७]

---

१. अ० रा०, अयोध्या काण्ड २/६/४३-४४.

२. श्रुति सेतु पालकराम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति पालति हरति पुनि रुख पाइ कृपा निधान की।
—रा० मा०, अयोध्या काण्ड

३. भारतीय प्रतीक विद्या पृ० १३१.

४. वही, पृ० १३२.

५. 'सीता लांगलपद्धतिः'—अ० को०, वैश्य वर्ग 9, श्लोक १४.

६. ऋग्० ४/५७/६ तथा वही ५/५७/७.

७. 'इन्द्रपत्नीमुपह्वये सीताम्। सा मे अन्नपायिनी भूयात् कर्मणि कर्मणि स्वा।
पारस्करं गृह्यसूत्र २/६/६

एक जनश्रुति के आधार पर एक बार जनकपुरी में भीषण अकाल पड़ा, सभी वर्गों के प्रतिनिधि रूप स्वयं राजा ने हल चलाया था। इस प्रक्रिया में सीता की उत्पत्ति हुई जिसका उन्होंने पुत्री रूप में पालन किया था।

यह स्वाभाविक ही है कि कृषि प्रधान देश में राजा सीता (जुती हुई भूमि) को पुत्रीवत् ही स्वीकार करे। इस सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि सीता और जनक का यह आख्यान संकेत करता है कि आर्यों ने किस प्रकार देश के गहन वनों को काटकर कृषि योग्य बनाया था, इस वनप्रान्त को उन्होंने उपनिवेश में परिणत कर उत्तरोत्तर अपनी सीमाओं का विस्तार किया था। इस प्रक्रिया में दक्षिण भाग के आदिवासियों से संघर्ष भी स्वाभाविक है।

इसी प्रकार राम का अहल्या उद्धार भी प्रतीकात्मक है। अमरकोश[1] में 'जोते हुए खेत' को हल्य, सीत्य, कृष्ट कहा है। इस आधार पर अ+हल्य=अहल्य, असीत्य का अर्थ होगा बिना जुती बँजर भूमि। राम अपने चरण स्पर्श से अहल्या का उद्धार करते हैं। स्पष्ट हैं कि राम ने दक्षिण की पथरीली भूमि को तोड़कर (अहल्या पत्थर की ही थी) उसे कृषि योग्य भूमि में परिणत किया होगा। ऐसा कर्मठ व्यक्ति जो बंजर भूमि को लहलहाते खेतों में बदल दे स्वभावतः ऋषियों की प्रशंसा का पात्र होगा। गोस्वामी तुलसीदास की यह व्यंगोक्ति भी इस ओर संकेत करती है कि ऋषिगण प्रसन्न हैं कि यदि सभी पत्थर नारी–(सुसंस्कृत कृषि योग्य भूमि) बन जाएं तो सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा जाए।[2]

राम रावण युद्ध को भी वेदों—पुराणों में बहुचर्चित देव-दानव युद्ध ही कह सकते हैं। दानव असत् और देवता सत् के प्रतीक हैं। सदासद् वृत्तियों में सदैव संघर्ष होता रहता है। विष्णु के अवतार राम (सत्) महाप्रतापी रावण (असत्) को उसके परिवार और सेना सहित युद्ध में मार देते हैं। जिस प्रकार महामोह, अहंकार, अविद्या स्वरूप वृत्र का इन्द्र; हिरण्यकशिपु का विष्णु; त्रिपुर, गजासुर तथा अन्धक का शिव; महिषासुर का दुर्गा; कंस, शिशुपाल आदि का कृष्ण संहार करते हैं उसी रूप में राम रावण का संहार करते हैं। रावण के रूप में राम अविद्या, अहंकार और महामोह का ही नाश करते हैं। सोने की लंका ही ऐश्वर्य है जिसका आश्रय पाकर अहंकार पनपता है। राम रावण के साथ-साथ लंका को भी जलाकर पुनः सद्वृत्तियों के स्थापनार्थ विभीषण का राज्याभिषेक करते हैं। डा० संसार चन्द्र ने कहा है कि "सीता के रूप में भोगवाद जब सत्य के पाप से चेतना का हरण कर लेता है, तो चेतना और सत्य दोनों कराह उठते हैं। लंका दहन रूप में भौतिकवाद का पाप पंक 'पावक वाहन'

---

१. 'सीत्यं कृष्टं च हल्यवत्'—अमरकोश, वैश्य वर्ग ९, श्लो० ८.

२. विन्ध्य के वासी उदासी तपोव्रत धारी, महा बिनु नारी दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सों कथा सुनि भै मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद पंकज कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन में पगु धारे॥ —कवितावली

भस्म कर देता है और बाद में 'भौतिकवाद'—रावण के निष्प्राण किए जाने पर विश्व चेतना और सत्य का पुनर्मिलन हो जाता है और सर्वत्र सुख शान्ति छा जाती है।"[1]

इस प्रकार रामकथा का ऐतिहासिक महत्व तो है ही, प्रतीक रूप में भी इसका महत्व कुछ कम नहीं है। राम, सीता, लक्ष्मण, रावण आदि सभी पात्र प्रतीकात्मक हैं।

महाभारत में प्रतीक :

लौकिक संस्कृत में लिखा गया महाभारत दूसरा महाकाव्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस महाकाव्य का अपना विशिष्ट महत्व है पर ऐतिहासिकता के साथ-साथ प्रतीकों को इस प्रकार संजोया गया है कि एक घुला मिला आध्यात्मिक अर्थ भी झलकता चलता है। गीता, जो महाभारत का ही एक अंश है, कौरव पाण्डवों के ऐतिहासिक वृत्तान्त की पृष्ठभूमि पर मानव जीवन की आध्यात्मिक, आत्मिक और नैतिक समस्याओं और उसके समुचित हल की ओर संकेत करती चलती है। इस दृष्टि से महाभारत भी प्रतीक शैली में लिखा एक महाकाव्य है।

कुरुक्षेत्र की ऐतिहासिक भूमि पर हुआ कौरव पाण्डवों का संघर्ष अपने भीतर एक आध्यात्मिक संकेत छिपाए है। यह संघर्ष वास्तव में मानव जीवन में निरन्तर चलते रहने वाला अन्तर्द्वन्द्व ही है। कौरव (आसुरी प्रवृत्तियां, छल, दम्भ, अहंकार, असत्) पाण्डवों (हृदयस्थ सद्वृत्तियों) से छल द्वारा उनका राज्य छीन लेते हैं। पाण्डव संयम से काम लेते हैं। श्रीकृष्ण (ब्रह्म के प्रतीक) दोनों में समझौता कराना चाहते हैं, पर कौरव खुले शब्दों में कह देते हैं—सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव:" (ठीक भी है, आसुरी प्रवृत्तियां साम की नहीं दण्ड की भाषा समझती हैं) घनघोर युद्ध में पाण्डव विजयी होते हैं, धर्मराज युधिष्ठिर सिंहासनासीन होते हैं—(असद् वृत्तियों से रहित सद्प्रधान आत्मा पर धर्म ही राज्य करता है। बहुत दिनों तक राज्योपभोग के बाद पाण्डव हिमालय की ओर प्रस्थान करते हैं। धीरे-धीरे सभी पाण्डव विगलित होते जाते हैं केवल धर्मराज ही सशरीर स्वर्गारोहण करते हैं। यदि हम गहराई से विचार करें तो हिमालय कुछ और नहीं—शिव का आनन्द धाम ही है, स्वर्गारोहण उस आनन्द में लीन हो जाता है, आत्मा का परमात्मा-मिलन ही परम आनन्द है।

गाँधी जी के शब्दों में "कुरुक्षेत्र का युद्ध तो निमित्त मात्र है। सारा युद्धक्षेत्र हमारा शरीर है। यही कुरुक्षेत्र है और धर्मक्षेत्र भी है। यदि हम इसे ईश्वर का निवास स्थान समझें और बनावें तो यह धर्मक्षेत्र है। इस क्षेत्र में कुछ-न-कुछ लड़ाई तो नित्य चलती ही रहती है और ऐसी ही अधिकांश लड़ाइयां 'मेरा' 'तेरा' को लेकर होती हैं, इसलिए आगे चलकर भगवान् अर्जुन से कहेंगे कि राग द्वेष सारे अधर्म की जड़ है। जिसे 'अपना' माना जाता है, उसमें राग हुआ, जिसे 'पराया'

१. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ० १५६.

जाना, उसमें द्वेष-वैरभाव आ गया। इसलिये 'मेरे' 'तेरे' का भेद भूलना चाहिए या यों कहिए कि राग-द्वेष को तजना चाहिए। गीता और सभी धर्मग्रन्थ पुकार पुकार कर यही कहते हैं।''[1]

महाभारत के इस युद्ध में भीष्म का शरशय्या शयन, कर्ण-वध, जयद्रथ वध, हिमालयारोहण आदि घटनाएँ डा० संसार चन्द्र[2] तथा डा० फतहसिंह[3] के भी अनुसार प्रतीकात्मक हैं।

महाभारत ऐतिहासिक, आध्यात्मिक दृष्टि से ही नहीं काव्यत्व की दृष्टि से भी उत्तम महाकाव्य है। कूट-पदों का, जो प्रतीक का ही एक दूसरा रूप है, पर्याप्त मात्रा में प्रयोग हुआ है। एक इसी प्रकार का प्रतीकात्मक चित्र द्रष्टव्य है—

तत्रं चेदं विश्वरूपे युवत्यौ वयसस्तंतून सततं वर्तयन्त्यौ।
कृष्णान् सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्त्रं भुवनानि चैव।।[4]

अर्थात्—विश्वरूपा दो युवतियां कृष्ण और श्वेत तन्तुओं से निरन्तर बुनती जा रही हैं तथा समस्त प्राणियों और लोकों को विर्वातित करती जा रही हैं।

यहां स्पष्ट ही प्रतिक्षण परिवर्तन शील संसार का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। दो युवतियाँ मनुष्य की दो प्रमुख अवस्थाएँ—बाल्यावस्था और वृद्धावस्था हैं; कृष्ण और श्वेत तन्तु दुख और सुख के प्रतीक हैं जो निरन्तर मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते हैं।

वेदों में संसार को अश्वत्थ वृक्ष के रूप में चित्रित किया है। गीता[5] में इसी भाव को सुन्दर रूप से अभिव्यंजित किया गया है। पुराणों में भी इस वृक्ष रूपक को विशदतः अपनाया गया है। इस प्रकार महाभारत में हम उस विशाल सत्ता को सर्वत्र अभिव्यक्त हुआ पाते हैं जिसमें सभी मानापमान, क्षोभ, क्रोध, सुखः दुख, हानि-लाभ की लौकिक भावनाएं तिरोहित हो जाती हैं और मानव (अर्जुनादि) आनन्द के चरम उत्कर्ष—हिमालय पर पहुँचकर तदाकार हो जाता है। उस समय समस्त कार्य व्यापार उसी के द्वारा संचालित होते हैं, जीवन, मरण में उसी एक ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति होती है।

संस्कृत कवियों की प्रतीक योजना :

संस्कृत साहित्य में कालिदास का नाम गौरव से लिया जाता है। अपने काव्य में जो रस इन्होंने घोला है उससे सहृदय सराबोर हो जाता है। अलंकारों का और विशेषकर उपमा का ऐसा विशाल और सुन्दर उपवन इन्होंने लगाया है कि मन बार-बार उस ओर उड़ जाता है।

---

१. गीता माता, पृ० ६.
२. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति, पृ० १६०.
३. कामायनी सौन्दर्य, पृ० ५६,
४. महाभारत १/३/१४७.
५. उर्ध्वमूलमधः···वेद स वेदवित्।। गीता, १५/१

कालिदास अपने विश्व विख्यात नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल का प्रारम्भ प्रतीकात्मक शैली में ही करते हैं :

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री ।
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषय गुणा यां स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरिति, यया प्राणिनः प्राणवन्तः ।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ।।[१]

यहां शिव की आठ मूर्तियों वाले ईश के रूप में स्तुति की गई है । जो ब्रह्मा की आदि सृष्टि – जल है, जो विधिपूर्वक हवन की हुई आहुति को ग्रहण करती है—अग्नि; जो होता है—यजमान; जो दो कालों – दिन और रात्री का विधान करती है वे दो ज्योतियां – सूर्य और चन्द्र; जिसका गुण शब्द है और जो विश्व में व्यापक है—आकाश; जिसको सब बीजों की प्रकृति माना गया है—पृथिवी, तथा जिसके द्वारा सभी प्राणी प्राणवान् है—वायु, ऐसी आठ मूर्तियों द्वारा ईश (शिव) तुम्हारी रक्षा करें ।

यहाँ कवि ने ईश वन्दना तो की ही है पर प्रतीक रूप में नाटक की समस्त घटना का सूक्ष्म रूप में संकेत भी कर दिया गया है । ईशरूप में कवि दुष्यन्त की ओर संकेत भी करता है । आगे की घटनाएँ भी आठ रूप में प्राप्त होती हैं—सौन्दर्य की आदि सृष्टि शकुन्तला से प्रथम साक्षात्कार; गन्धर्व विवाह और गर्भधारण ही विधिपूर्वक हवन की आहुति ग्रहण करना है; दो सखियाँ, जो शाप की बात को जानती हुई भी शकुन्तला से उसकी चर्चा नहीं करती, दो कारण हैं, शकुन्तला के सौन्दर्य की ख्याति, प्रशंसा ही आकाश है, भारतीय संस्कृति के बीज रूप भरत को धारण करना; अन्त में राजधानी आकर न केवल राजा को वरन् समस्त प्रजा को प्राणवन्त करना, आनन्दित कर देना । इस प्रकार अन्योक्तिपरक प्रतीकों के द्वारा कवि ईश वन्दना के साथ-साथ नाटक की समस्त घटना का वर्णन भी करता चलता है । नाटक में अन्यत्र भी प्रतीक योजना द्रष्टव्य है । नाटक के प्रारम्भ में राजा दुष्यन्त मृगया हित कण्व ऋषि के आश्रम में प्रवेश करते ही हैं कि वैखानस कहता है, "यह तो आश्रम का मृग है, इसे मत मारो ।"[२] कथा के सन्दर्भ से इसकी व्यंजना तो देखो; राजा रतिक्रीडा में कुशल है, उसके विपरीत शकुन्तला रति क्रीड़ा से अनभिज्ञ, भोली भाली, कुसुम सी कोमल[3] एक आश्रम बालिका मात्र है । उस पर (काम) वाण सन्धान कहां तक उचित है । यहां कालिदास मानों अन्योक्ति से कहना चाहते हैं कि "शकुन्तला आश्रम कन्या है, तू (राजा) उससे अस्थिर प्रणय का प्राण लेवा खेल मत खेल ।"[४]

१. अभि० शाकु० १/१
२. वही, १/१०.
३ अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं.........वही, २/१०.
४. प्रभाकर माचवे, व्यक्ति और वाङ्मय, पृ० २० से प्रो० मेंहदले का उद्धृत कथन

शकुन्तला के रूप यौवन पर मुग्ध राजा को कवि ने भ्रमर के प्रतीक रूप में चित्रित किया है। कवि भ्रमर बाधा के रूप में राजा को ही प्रतीक रूप में चित्रित कर देता है। राजा को भ्रमर रूप में चित्रित करना साभिप्राय है। स्वभाव से नवरस लोलुप भ्रमर एक कलिका का रसपान कर अन्यत्र उड़ जाता है; राजा गन्धर्व विवाह करके भी शकुन्तला को भूल जाता है। हंसपदिका कितना सटीक उपालम्भ देती है—

अभिनव मधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम्।
कमल वसति मात्र निर्वृतो मधुकर ! विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥[1]

यहां अभिनव मधुलोलुप मधुकर=राजा दुष्यन्त का प्रतीक है;
रसाल मंजरी=शकुन्तला का प्रतीक है;
कमलवास=राजधानी की अन्य रानियों के सहवास का प्रतीक है।

दैवयोग से मछेरे के द्वारा शकुन्तला को स्मृतिरूप में दी हुई अंगूठी राजा को मिल जाती है, सारी घटना आँखों के सामने थिरक उठती है। शोकाकुल राजा प्रकृति की शरण में चला जाता है; मालिनी के प्रवाह में, हरिण और हरिणी के प्रेम व्यवहार में राजा अपने को साकार हुआ देखता है।[2]

संस्कृत काव्य में स्वतन्त्र रूप से प्रतीक विधान कम ही देखने को मिलता है। जो मिलता भी है उसमें रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति की ध्वनि ही प्रमुख है। यदि हम विस्तृत सन्दर्भ में विचार करें तो उक्त सभी अलंकार प्रतीक में समाहित हो जाते हैं इस दृष्टि से अन्योक्तिपरक प्रतीक विधान संस्कृत काव्य में अन्यत्र भी मिलता है। अन्योक्ति मुक्तावली, भट्ट लल्लट का 'अन्योपदेश शतक', नीलकण्ठ दीक्षित का 'अन्योपदेश' पण्डितराज जगन्नाथ का 'भामिनी विलास' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अन्योक्ति काव्य में भामिनी विलास को एक प्रकार से सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। प्रतीकों के माध्यम से बड़ी चुटीली उक्तियाँ उसमें मिलती हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

संसार में समृद्ध व्यक्ति को प्रायः चाटुकार स्वार्थवश सदैव घेरे रहते हैं, इन चाटु-उक्तियों में वह समृद्ध व्यक्ति अपने सच्चे मित्रों तक को भूल जाता है—

अयि, दलदरविन्द, स्यन्दमानं मरन्दं,
तव किमपि लिहन्तो मंजु गुंजन्तु भृंगाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्,
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः ॥[3]

यहां अरविन्द=समृद्ध व्यक्ति का प्रतीक है;
भृंगगण=चाटुकार, स्वार्थी मित्रों का प्रतीक है तथा

१. अभि० शाकु० ५/१
२. वही, ६/१७
३. **भामिनी विलास** ३

दिशदिशि परिमल-गन्ध को फैलाने वाला समीरण=सच्चे बन्धुबान्धवों का प्रतीक है, क्योंकि सच्चा हितैषी प्रत्युपकार की कामना से रहित होकर कार्यरत रहता है।

दीन व्यक्ति सबके सामने हाथ पसारता फिरता है, पर सभी तो दानी नहीं होते; इस भाव को लेकर भतृहरि ने कितना सुन्दर चित्र उपस्थित किया है–

रे रे चातक सावधान मनसा मित्र, क्षणं श्रूयतांमस्योद ।
बहवो हि सन्ति गगने सर्वे तु नैतादृशाः ।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा ।
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनंवचः ॥[1]

यहाँ चातक=दीन, साधन हीन याचक का और
मेघ=समृद्ध, साधन सम्पन्न व्यक्ति का प्रतीक है।

संस्कृत की अन्योक्तिपरक प्रतीक योजना का हिन्दी काव्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। बिहारी, मतिराम, दीनदयाल गिरि, वृन्द, रहीम आदि अनेकानेक कवियों ने इन अन्योक्तियों का विशद वर्णन किया है।

कथात्मक प्रतीक जो सूत्ररूप में वेदों में मिलते हैं, पुराणों में जिनका उपबृंहण हुआ, संस्कृत काव्य में भी इनका प्रचुर मात्रा में चित्रण हुआ है। संस्कृत के महाकाव्यों में इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। कालिदास कृत 'कुमारसम्भव' संस्कृत काव्य का एक सुप्रसिद्ध महाकाव्य है। शिव पार्वती की जिस पावन कथा को लेकर कवि चला है उसका प्रारम्भ ही उसने प्रतीक शैली में किया है। नगाधिराज हिमालय को सजीव रूप प्रदान कर कवि ने देवात्माओं का निवास स्थान बताया है। डा० फतहसिंह के अनुसार 'पर्वत का अर्थ है पर्ववान्। पहाड़ में अनेक पर्व होते हैं इसलिए उसे पर्वत कहते हैं।'[2] पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में भी अनेक पर्व हैं, अतः वैदिक साहित्य की भांति 'कुमारसम्भव' में पर्वत इन दोनों के प्रतीक रूप में आया है। पर्वत कन्या पार्वती पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में व्यापक शक्ति है जिसे वैदिक साहित्य में 'हैमवती उमा' या केवल 'उमा' कहा गया है। यह पर्वत बड़ा भारी प्रजापति है, जिसके राज्य में अनेक देव कर्मों द्वारा यज्ञ विस्तार पाता है, परन्तु असुरत्व के प्रतीक तारक आदि से आक्रान्त होने से इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इस तारक का वध उक्त उमा तथा अजरामर शिव-ब्रह्म के संयोग से उत्पन्न 'कुमार' ही कर सकता है। अतः इस दिव्य संयोग तथा कुमार जन्म को लक्ष्य करके 'कुमारसम्भव' लिखा गया है। कवि ने न केवल व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में, अपितु दाम्पत्य जीवन तथा सामाजिक जीवन में भी इस लक्ष्य की पूर्ति दिखाने का प्रयत्न किया है।"[3]

१; **नीतिशयक, २३/५१.**

२. **'पर्ववान् पर्वतः पर्वत पुनः पृणाते ।** निरुक्त, १/६/२०.

३. **डा० फतहसिंह, कामायनी सौन्दर्य, पृ० ५६.**

कालिदास की एक अन्य महत्वपूर्ण कृति 'मेघदूत' है जिसमें नवविवाहिता प्रियतमा से वियुक्त एक यक्ष की करुण गाथा है। काम मानव सृष्टि का मूल है, इस दृष्टि से यक्ष काम विह्वल मानव का प्रतीक ही है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में मेघदूत में जो काम की प्रबल धारा बही है और जिसके प्रभाव से चेतन अचेतन जगत में कोई भी अछूता नहीं बचा है, वह स्थूल भोग को पुष्ट करने के लिए नहीं है, प्रत्युत उसके द्वारा कवि ने यह दिखाया है कि काम का आश्रय लेकर भी किस प्रकार विराट प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके अन्त में परम शिवात्मक ज्योति के दर्शन सम्भव हैं। जो मेघ निर्विन्ध्यादि नायिकाओं के साथ अनेक विलास करता है, वही अन्त में मणितट पर शिव और पार्वती के आरोहण में सहायक होता है। योगियों के मणितट, बुद्धों के मणिपद्म और ज्ञान की पुरी काशी की मणिकर्णिका में कोई भेद नहीं है। वहां पहुँचकर आनन्द ही आनन्द है।"[1]

संस्कृत में अश्वघोषकृत 'शारिपुत्र-प्रकरण', कृष्णमिश्र कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीय' यशपाल कृत 'मोहपराजय, परमानन्द दास सेन कृत 'चैतन्य चन्द्रोदय' आदि प्रतीकात्मक नाटक (Allegorical Drama) हैं जिसमें विभिन्न पात्र विभिन्न मानवीय भावनाओं के प्रतीक हैं। संस्कृत के प्रभाव से हिन्दी में भी 'पाखण्ड विखण्डन' (भारतेन्दु) और 'कामना' (प्रसाद) आदि प्रतीकात्मक नाटक रचे गए हैं।

पंचतंत्र और हितोपदेश जैसे नीतिपरक ग्रन्थों का प्रतीकात्मक दृष्टि से विशेष महत्व है जिसमें विभिन्न पशु-पक्षियों की कथाओं के माध्यम से सुन्दर प्रतीक योजना की गई है। इसमें करटक दमनक आदि को मानवीय भावनाओं का प्रतीक माना जा सकता है।

इस प्रकार संस्कृत के काव्य ग्रन्थों में भी प्रतीकों को सम्यक् स्थान मिला है।

प्राकृत काव्य में प्रतीक

संस्कृत में अन्योक्ति रूप में जो प्रतीक योजना की गई है उसका सम्यक् विकास प्राकृत में भी देखने को मिलता है। हाल की गाथा सप्तशती और गोवर्धनाचार्य की 'आर्या सप्तशती' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें अन्योक्ति के माध्यम से बड़ी ही चुटीली प्रतीक योजना की गई है जिनका पर्याप्त प्रभाव रीतिकालीन अन्योक्ति परक काव्य पर दीख पड़ता है।

प्रतीक परम्परा की दृष्टि से प्राकृत काव्य से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

भ्रमर बहुनायिका भोगी नायक का मान्य प्रतीक है। हाल ने एक ऐसे ही नायक का प्रतीकात्मक चित्रण किया है जिसने मालती कलिका का विकास होने से पूर्व ही मर्दन कर दिया—

---

१. **मेघदूत**, पृ० ८३-८४

जाव ण कोस-विकासं पावइ ईसीस मालई-कलिम्रा ।
मम्ररन्द-पाण लोहिल्ल भ्रमर ! तावच्चिम्र मलेसि ।।[1]

बिहारी की 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु' वाली प्रसिद्ध उक्ति पर इसकी छाया स्पष्ट है, बिहारी ने 'आगे कौन हवाल' कहकर भावों को अधिक सम्प्रेषणीय बना दिया है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी भ्रमर के माध्यम से पतिपरायणा पत्नी को छोड़कर अन्यासक्त लम्पट नायक की ओर संकेत किया गया है—

केसर रज विच्छड्डे मम्ररन्दो होइ जेत्तिम्रो कमले ।
भ्रमर ! तेत्तिम्रो अण्णहिंपि ता सोहसि भमन्तो ।।[2]

कलिका का रसपान करते समय भ्रमर अपना सारा भार पंखों पर सम्भाले रहता है, वह बड़ी सावधानी से मालती कलिका को जागृत कर रसपान करता है, कवि ने भ्रमर के माध्यम से भोली-भाली, किशोरी नायिका का एक प्रतीकात्मक चित्र इस प्रकार खींचा है—

णि अवक्खारो विम्र देह भारणि उणं रसं लिहन्तेण ।
विम्रसाविम्रण पिज्जई मालइ कलिया महु अरेण ।।[3]

इस प्रकार प्राकृत काव्य में अन्योक्ति के माध्यम से प्रतीक परम्परा का सुन्दर विकास हुआ है; रीतिकालीन अन्योक्तिपरक काव्य पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। कहीं-कहीं तो शब्दान्तर से उसी भाव का ज्यों का त्यों चित्रण भी देखने को मिलता है।

निष्कर्ष—

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रतीकवाद की दृष्टि से वैदिक साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। आगे के साहित्य में वैदिक प्रतीकों का उपबृंहण तो हुआ ही है, समय और परिस्थिति भेद से अनेक नए प्रतीकों ने भी जन्म लिया है। वेदों से निसृत इस सरिता का पुराणों, रामायण, महाभारत तथा लौकिक संस्कृत काव्य में पर्याप्त पोषण हुआ है। आगामी हिन्दी साहित्य पर भी इस प्रतीक धारा का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

---

१. **गाथा-सप्तशती** ५/४४.
२. वही, ४/८७.
३. वही, ५/४२.

४. हिन्दी साहित्य में प्रतीक परम्परा का उद्भव और विकास

वैदिक और संस्कृत साहित्य में प्रतीकों की समृद्ध परम्परा के विश्लेषण के पश्चात् जब हम हिन्दी साहित्य पर इस दृष्टि से विचार करते हैं तो हमारा ध्यान प्रारम्भिक काल के उन सिद्धों और नाथों की ओर आकृष्ट हो जाता है जो गूढ़ार्थ भाषा शैली में रहस्यात्मक पदों की रचना करते हुए अपने आध्यात्मिक और दार्शनिक तथ्यों का निरूपण कर रहे थे। सिद्ध बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की वज्रयान और सहजयान शाखा के अनुयायी थे। महायान के उदय के साथ बौद्ध धर्म जनसाधारण के निकट सम्पर्क में आने के कारण अधिक लोकप्रिय हो चला था। प्राचीन हीनयान सम्प्रदाय ने बौद्धधर्म के मूल उपदेशों व्रतपालन, निर्वाण प्राप्ति आदि को अधिक महत्व दिया। निर्वाण प्राप्ति के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य और सन्यासी जीवन को परमावश्यक माना। नियम, उपासना, तन्त्रमन्त्रों के अनुष्ठानों की कठोरता को देखते हुए महायान ने कुछ अधिक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया। महायान में त्याग, विरक्ति, ब्रह्मचर्य-पालन, सन्यास आदि के स्थान पर सुखी सांसारिक जीवन व्यतीत करने का विधान किया। बंक (वक्र) मार्ग छोड़कर ऋजु मार्ग पर चलने का उपदेश किया—

उजु रे उजु छाडसि मा लेहु रे बंक। णिअहि बोहि मा जाहु रे लाङ्क।[1]

चौथी और सांतवीं शताब्दि के मध्य ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ, इसमें तीन धाराएँ प्रमुख थीं—शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय। उपासना पद्धति और दार्शनिक विचारधारा में यत्किंचित वैभिन्य के साथ-साथ इनमें कुछ धार्मिक समानताएँ भी थी। लोकप्रियता ग्रहण करने की दृष्टि से महायान ने भी हिन्दू धर्म के धार्मिक संस्कारों एवं उपासना पद्धतियों को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। शाक्त सम्प्रदाय की तन्त्रमन्त्रात्मक उपासना पद्धति का महायान पर अधिक प्रभाव पड़ा, जिसके प्रभाव से महायान भी तत्कालीन तान्त्रिक सम्प्रदायों में लोक प्रिय हो चला। यही सम्प्रदाय "मन्त्रतन्त्र को अपनाकर पहले मन्त्रयान बना और बाद में भैरवी चक्र में प्रवेश तथा सुरासुन्दरी के उपभोग की ओर प्रवृत्त होने पर वज्रयान बन गया।"[2] और जैसा स्वाभाविक ही है सम्प्रदायों में विकृति आ जाती है। सुरा-सुन्दरी के स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग की छूट के कारण इसका पतन हुआ; सदाचार की समस्त सीमाओं का उल्लंघन कर दिया गया।

---

१. **दोहाकोश, भूमिका,** पृ० ३१ सिद्ध सरहपाद, सम्पा० राहुल सांकृत्यायन

२. **डा० रामधन शर्मा, कूटकाव्य : एक अध्ययन,** पृ० ७३

आठवीं शताब्दि के आस-पास शंकर के अद्वैतवाद के प्रचार से ध्वस्त प्रायः बौद्ध धर्म भारत से बाहर अन्य देशों में भी फैल गया। भारत में बौद्धधर्म को ब्राह्मण धर्म से सन्धि करनी पड़ी। शैव सम्प्रदाय की योग क्रियाओं और तन्त्रमन्त्र युक्त तान्त्रिक चमत्कारों से ये लोग जनता को चमत्कृत करने लगे। उपासना की कठोरता और तन्त्रमन्त्रों की जटिलता को स्वीकार करने वाले बौद्धधर्म का यह रूप सहजयान कहलाया और उसके आचार्य सिद्ध कहलाए। इन सिद्धों ने जहाँ एक ओर वाममार्ग से मिलते-जुलते महासुखवाद को स्वीकार किया वहाँ दूसरी ओर अपने घट में ही अलख निरंजन को खोजने का उपदेश दिया। सिद्धों का महासुखवाद और गुह्यसाधना रहस्य के नाम पर कामवासना को तृप्त करने का साधन था।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वज्रयान के सिद्धान्तों में अगाध श्रद्धा रखते हुए भी इन सिद्धों ने अपने सम्प्रदाय के परम्परागत दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने का प्रयास किया।[1] उन्होंने विहारों के कृत्रिम और धर्मनिरपेक्ष जीवन को स्वाभाविक रूप देने की दृष्टि से आत्मा का सहज के साथ तादात्म्य स्थापित करने का उपदेश किया जिसे वे महासुख अथवा महाभाव कहते थे। उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन को श्रेष्ठ माना। उनका मत था कि गार्हस्थ्य जीवन और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति न केवल आवश्यक है वरन् उनका दमन अस्वाभाविक और हेय है। जीवन का प्राकृत मार्ग मर्यादा का पालन करते हुए निर्वाण सिद्धि और अन्तः साधना में सहायक है बाधक नहीं। सिद्धों के उपदेशों का जनसाधारण पर प्रभाव तो पड़ा, पर वे सम्भोग के द्वारा निर्वाण प्राप्ति के अपने सिद्धान्तों का खुलकर जनता में प्रचार नहीं कर सकते थे क्योंकि ऐसा करने पर न केवल जनता का वरन् अपने अनुयायियों का भी प्रबल विरोध सहन करना पड़ सकता था। इसलिए अपने अस्तित्व के प्रति संशक इन लोगों ने अपने सिद्धान्तों का उपदेश एक सीमित समुदाय को ही दिया। सामान्य अभिव्यक्ति के लिए जनसाधारण की भाषा का प्रयोग करते हुए भी ये सिद्ध सरल और स्पष्ट रूप में अपनी साधना पद्धति को जनता के सम्मुख नहीं रख सकते थे अतः अपने सम्प्रदाय के रहस्यों की रक्षा और सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जिस प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा गम्भीर अर्थ ही अधिक निहित था।

ये सिद्ध-कवि मुख्यतः रहस्यवादी थे। रूपकों में बात करने के प्रेमी थे। रहस्यात्मक सांकेतिकता को देखकर महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डा० विनयतोष भट्टाचार्य आदि आचार्यों ने इन सिद्धों की भाषा को 'सन्ध्या भाषा' तथा पण्डित विधुशेखर शास्त्री, डा० बागची आदि विद्वानों ने 'सन्धा भाषा' कहा है। इनकी भाषा की प्रकृति मन्त्रात्मक थी जिसमें प्रत्येक अक्षर और शब्द का एक गुह्य, दिव्य या परम अर्थ होता था। 'भगवान तथागत का यह भी आदेश था कि औपम्य द्वारा ज्ञान को सरलता से रखा जा सकता है क्योंकि उससे सुविज्ञजन तत्व को तत्क्षण

---

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४७

ग्रहण कर लेते हैं।[1] कालान्तर में ये अप्रस्तुत रूढ़ होकर सर्वमान्य प्रतीक बन गए। इन्हीं प्रतीकों का प्रयोग कर सिद्धों ने ऊपर से लौकिक (श्रृंगार परक) लगने वाले पदों में प्रज्ञोपायात्मक कमल कुलिश योग के गम्भीर अर्थों के संकेत समाविष्ट किए थे। यह समस्त प्रतीकात्मक योजना प्रज्ञोपायात्मक या नायक नायिका परक है।'[2] इसी बात का समर्थन करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने कहा है—रहस्योक्तियाँ तो 'सरह' की होनी ही चाहिए, क्योंकि वह मूलतः रहस्यवादी विचारक हैं। इनके श्लेष परमपद परक होने पर भी साधारण कामुकता को भी प्रकट करते हैं। जिसके कारण पीछे यह घोर वामाचार के सहायक बन गए।'[3] स्वयं सरहपा अतिशय गुह्यता का समर्थन करते हुए कहते हैं—

> **बिशिष्ट संयोगारक्ष सुखानुभवः कस्मिन्नपि कथावेद्योन भवतीति। तथाच सरहपाद। को पतिज्जइ कासु कहमि अज्ज कडाइअ आउ; पियदंसणे हले न टलेसि संसार फुड जाउ।"**[4]

सरहपाद कहते हैं कि महासुख रूपी परम तत्व को कैसे अभिव्यक्त किया जाए? इसमें साधक की परिस्थिति उसी कुमारी की भाँति होती है जिसने पहली बार सम्भोग का अनुभव किया हो और जब सखियाँ उससे बार-बार पूछती हों कि अपने सुख का कुछ वर्णन तो करो, तो वह हार कर कहती हो कि उसके विषय में कहूँ भी तो क्या? वह वाणी से बताया ही नहीं जा सकता, उसे तो तभी समझोगी जब तुम स्वतः परिणय के उपरान्त प्रिय से मिलोगी। वह तो अनुभव की वस्तु है अभिव्यक्ति की नहीं। और उस अनुभूति की उपलब्धि का मार्ग यही है कि हम अपने मन को नायक रूप में और शून्यता खसम को नायिका रूप में आयोजित कर दिन रात सहज भाव से रहें।[5]

रहस्यात्मक अनुभूति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की परम्परा हम वैदिक साहित्य से आज तक निरन्तर पाते हैं। यहाँ हिन्दी साहित्य की प्रतीक परम्परा पर विचार करते हुए सर्वप्रथम सिद्ध साहित्य में प्रतीकों का अध्ययन करेंगे।

सिद्ध साहित्य में प्रतीक

सिद्धों के साधनापरक धार्मिक साहित्य में भी प्रतीकों का खुला प्रयोग हुआ है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन प्रतीकों को निम्न प्रकार से विभाजित कर सकते हैं—

१. नायक, नायिका परक प्रतीक
२. विरोधमूलक प्रतीक

---

१. **सिद्ध साहित्य**, पृ० २७०-७१
२. वही, पृ० २७१
३. **दोहाकोश, भूमिका**, पृ० २४
४. **बौद्धगान ओ दोहा**, पृ० ३५
५. **डा० धर्मवीर भारती**—सिद्ध साहित्य, पृ० २४६

३. औपम्यमूलक प्रतीक

४. साधर्म्य मूलक प्रतीक

५. विस्मय या अद्भुत रस प्रधान प्रतीक

६. तत्कालीन सामाजिक वातावरण एवं व्यवसायपरक प्रतीक

७. अन्य प्रतीक,

(१) **नायक-नायिका परक प्रतीक**—नायक और नायिका के रूप में सिद्धों ने प्रतीकात्मक शैली का आश्रय ग्रहण किया है, किन्तु लौकिक दृष्टि से भी उन्हें यथार्थ बनाने का प्रयास किया है। उनके नायक उपाय और नायिका प्रज्ञा के प्रतीक रूप में आए हैं। वास्तव में प्रज्ञा और उपाय का युगनद्ध सिद्धों की चिन्तना और साधना की मूलभित्ति हो गई जिसकी उन्होंने विभिन्न रूपकों के माध्यम से स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति की है। प्रज्ञा और उसके समस्त अप्रस्तुत 'भग' के तथा उपाय और उसके समस्त अप्रस्तुत 'लिंग' के प्रतीक हैं। प्रज्ञा और उपाय को स्त्री तथा पुरुष के रूप में परिकल्पित करने की प्रवृत्ति तान्त्रिक प्रवृत्ति का बौद्ध रूप है। युगनद्ध मिथुनपरक रूप है। भगवान् वज्र और भगवती नैरात्मा, चित्तवज्र और नैरात्म भाव, वज्र तथा खसम, कुलिश और कमल, मणि और पद्म, शुक्र और रज, चन्द्र और सूर्य आदि रूपकों में इसी प्रज्ञोपायात्मक युगनद्ध सिद्धान्त का ही विस्तार है। युगनद्ध की भावना बौद्ध धर्म की महायानी शाखा में प्रमुख रूप से पाई जाती है। धर्म, बुद्ध और संघ युगनद्ध की भावना में ढलकर नए रूप में प्रयुक्त हुए हैं। धर्म ही प्रज्ञा है; उपाय बुद्ध हैं और संघ दोनों का युगनद्ध है। इस रूप को अधिक वास्तविक बनाने के लिए दो धातुओं की भी कल्पना की गई; प्रज्ञा के लिए गर्भधातु और उपाय के लिए वज्रधातु; दोनों मिलकर ही मण्डल चक्र की रचना करते हैं। सिद्ध प्रज्ञोपायात्मक मिथुन परक रूप को काया का सर्वश्रेष्ठ सहज रूप मानते हैं जिसकी साधना कर साधक स्वयं बुद्ध हो जाता है।

सिद्ध साहित्य में नायक को साधक, शबर, चण्डाल, योगी, वीर, कपाली, बंगाली आदि की संज्ञा दी गई है और नायिका को डोम्बी, कपाली, चण्डाली, शबरी, मातंगी, शुण्डिनी, योगिनी, सहज सुन्दरी, वधू, गृहिणी, कमिलिनी, पद्मिनी आदि रूपों में चित्रित किया गया है।

शबरी नैरात्मा का प्रतीक है। सहस्रार चक्र में मेरुशिखर पर वास करने से नायिका नैरात्मा को शबरी कहा गया है। शबरी जाति की स्त्रियाँ मध्यप्रदेश के ऊँचे पर्वतों और बिन्ध्य के शिखरों पर रहती हैं। सिद्ध शबरपा ने श्रृंगार के लौकिक रस में सराबोर हो कर एक रूपक इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

ऊँचा-ऊँचा पाबत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पिच्छि प (हि) रहि सबरी गीवत गुजरी माली॥
ऊमत सबरो पागल शवरो माकर गुली-गुहाडा।
तोहोरि णिअ घरिणी सहज सुन्दरी॥

णाणा तरुवर मौलिल रे गअ्णति लागेलि डाली ।।
एकलि सबरी एवण हिडंइ कर्ण कुण्डल वज्रधारी ।।
तिउ धाउ खाट पडिला सबरो महासुह सेज्जि छाइली ।।
सबरो भुजंग णइरामणि दारी, पेक्ख(त) राति पोहाइली ।।
हिए तावोला महासुहे कापुर खाई ।
सून निरामणि कण्ठे लइअ्रा महासुहे राति पोहाई ।।
गुरु वाक् पुंछिअ्रा बिन्ध णिअ्र मणे बाणें ।
एके शर सन्धाने बिन्धह, बिन्धह, परम णिवाणें ।।
उमत सबरो गुरुअ्रा रोषे,
गिरिवर सिहर सन्धि पइसन्ते सबरो लोडिव कइस ।।[1]

अर्थात् एक ऊँचा और बहुत ऊँचा पर्वत शिखर है जिस पर एक शबरी बाला, मयूर पच्छ से सज्जित अंगों का घुघचियों की माला से शृंगार किए रहती है । सांसारिक सुखों-विषयों से विरक्त मैं उन्मत्त, पागल शबर प्रेमी हूँ, मेरा मन तो बस उसी सहज सुन्दरी शबर बाला में रम गया है । पर्वत पर वृक्षों के सघन कुंज हैं जिसकी डालियाँ गगन को चूम लेती हैं । कानों में वज्र कुण्डल धारण किए शबरी बाला उस एकान्त वन में अकेली विचरण करती फिरती है । मैं नाग सा उन्मत्त, आवेश युक्त शबर तीन धातुओं की (काय, वाक्, चित्त अथवा रूप, काम और धर्म) खाट डाल कर महासुख शय्या का प्रबन्ध करता हुआ प्रेयसी नैरात्मा (रूपी शबरी) को ग्रहण कर सुखपूर्वक प्रणय रात्रि व्यतीत करूंगा । हृदय ताम्बूल को महासुख रूपी कर्पूर के साथ खाकर शून्य नैरात्मा (शबरी) को गले लगाकर महासुख रात्री व्यतीत करूँगा । गुरु के वाक् बाण से बिंधकर मुझे परम निर्वाण प्राप्त हो गया है ।"

यहाँ यदि लौकिक दृष्टि से विचार किया जाए तो समग्र चित्रण शृंगारिकता से ओतप्रोत है । पर्वतवासिनी शबरी बाला के प्रति प्रेमोन्मत्त शबर का प्रणय निवेदन एक विशेष मनस्थिति का चित्रण करता है । परन्तु ऊपर से शृंगार परक इस पद में शबरी बाला वास्तव में नैरात्मा या सहज सुन्दरी है, उन्मत्त शबर प्रेमी साधक है ।

लौकिक काव्य की दृष्टि से सिद्धों ने नायिका के स्वकीया रूप पर विशेष बल दिया है । साधक ललना रसना का त्याग कर उसी (अवधूती-वधू) को ग्रहण करता है । यही नैरात्मा गृहिणी भी है । इसी प्रज्ञा महामुद्रा रूप गृहिणी को उसी प्रकार चित्त में धारण करने का उपदेश सिद्धों ने दिया है जिस प्रकार नमक पानी में घुल जाता है ।[2] तरुणी गृहिणी के निरन्तर स्नेह के बिना इस जन्म में बोधि प्राप्त नहीं होती; गृहिणी में मन को सम्पूर्णतः डुबो देने से ही परमबोध प्राप्त होता है । यही गृहिणी महामुद्रा और चण्डाली भी है । काण्हपा इसी वधू को गृहिणी रूप में स्वीकार

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० २०, तथा दोहाकोश, भूमिका, पृ० २४-२५,
२. जिम लौण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित्त···
—दोहाकोश पृ० ४६, सिद्ध साहित्य पृ० २६६ से उद्धृत

करने के लिए वर यात्रा सजाकर प्रस्थान करते हैं; पटह, मृदंग, मादल, पालकी दुन्दुभिनाद सभी कुछ हैं।[1]

योगी की गृहिणी होने के कारण नायिका योगिनी भी है। गुण्डरीपा कहते हैं कि हे योगिनी; तीनों नाडियों को दबाकर मुझे भरपूर आलिंगन का सुख दो, इस कमल-कुलिश योग में समय बीतता जाए और हमें ज्ञान न हो; मैं तुम्हारे बिना एक पल भी जी नहीं सकता; मैं तुम्हारे मुख को चूमकर कमल रस पीऊँगा।"[2]

यही योगिनी ज्ञानरूप है; यही प्राण और अपानवायु से सम्बद्ध है; यही डोम्बी भी है जो गंगा यमुना के बीच से पार कराने वाली अवधूतिका है; कृष्णाचार्यपा इसी डोम्बी से विवाह रचाते हैं। यही काम-चण्डाली भी है। काण्हपा इसी डोम्बी बालिका से कापालिक के रूप में प्रणय भिक्षा मांगते हैं—

नगर बाहिरे रे डोम्बि तोहोरि कुडिआ। छोइ छोइ जाइसो बाह्मण नाडिआ॥
आलो डोम्बि तोए सम करिब म सांग। निघिण काहन कापालि जोइ लांग॥
एक सो पदुमा चौषडी पापुडी। तहिं चढ़ि नाचअ डोम्बी बापुडी॥[3]

यहाँ डोम्बी के माध्यम से एक प्रतीक रूपक प्रस्तुत किया गया है—अवधूती नाडी ही डोम्बिनी है, चंचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोम्बिनी से छू जाने के भय से अभागा ब्राह्मण भागा-भागा फिरता है। विषयों का जंजाल नगर के रूप में है और अवधूती रूपी डोम्बिनी इसके बाहर रहती है। काण्हपा कहते हैं कि हे डोम्बिनी! तुम नगर के बाहर कहीं भी रहो, यह निघृण, नग्न कापालिक तुम्हारा संग करेगा। प्रज्ञोपायात्मक ज्ञान से रहित अबौद्ध ही इस परिशुद्धावधूती से बाहर-बाहर भागते हैं, पर नैरातम-योगिनी को पराभूत करने में समर्थ योगी—कापालिक—काण्हपा को भला क्या भय, वह तो डोम्बी का संग करेगा।

काव्यशास्त्रों में नायिका विवेचन करते समय उसे अभिसारिका रूप में भी चित्रित किया गया है। एक चर्या में कुक्कुरीपा नायिका को अभिसारिका रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं—'कच्छपी को दुहने से भाजन छलक उठा है, दूध बर्तन में समा नहीं रहा है। वृक्ष की इमली घड़ियाल खा रहा है। ओ तरुणी वधू, तेरे घर में ही आंगन है, तेरे मलिन वस्त्र अर्द्धरात्री के समय चोर चुरा कर ले गया है। सासु सो रही है परन्तु बहू जाग रही है, जो तेरे कपड़े चुरा लिए गए हैं उन्हें किससे मागोगी? दिन में जो काक के शब्द मात्र से डरती है वही रात्री में अभिसार के लिए कामरूप तक चली जाती है। कुक्कुरीपा इस प्रकार की चर्या गा रहे हैं जिसका अर्थ

---

१. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५२

२. **तिअडा चापि जोइनि दे अंकवारी। कमल-कुलिश घोंटि करहु बिआली॥**
जोइनि तहं बिनु खनहि न जीवामि। तो मुह चुम्बि कमल रस पीवामि॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४२

३. **डा० हरिवंश कोछड, चर्यापद १०,** अपभ्रंश साहित्य, पृ० ३१३

करोड़ों में से कोई एक ही समझ सकेगा।"[1]

दास गुप्ता ने इसका नेयार्थ देने का प्रयास किया है। वे दुलि का अर्थ स्तन कहते हैं: कच्छप नहीं। उन्होंने 'बौद्धगान ओ दोहा' में दी हुई संस्कृत टीका के आधार पर 'दुलि', का दो अर्थ कर यह अर्थ दिया है—दो से तात्पर्य है दक्षिण और वाम नाडियाँ, दुहि हुई वस्तुएँ हैं। संवृत्ति-बोधिचित्त और भांड (पिटा-पीठ) है मणिपुर चक्र। वृक्ष शरीर है इमली बोधि चित्त रूपी शुक्र है और घड़ियाल कुम्भक प्राणायाम। बहू अवधूतिका है, मलिनवस्त्र (या कर्णाभूषण) दोष, चोर सहजानन्द और अर्द्धरात्री समाधि। सास-प्राण वायु, दिन प्रवृत्ति, रात्री निवृत्ति और कामरूप महासुख चक्र है।[2] इस प्रकार यहाँ प्रतीकों के माध्यम से कहा गया है कि योग का मार्ग बहुत गूढ़ है और प्रारम्भिक साधक महासुख कमल की साधना को नहीं समझ सकते। उसके लिए पहले कुम्भक योग द्वारा बोधिचित्त को निःस्वभाव (नैरात्म स्वभाव) कर देना चाहिए। अवधूती पहले मलिन वस्त्रों, क्लेश वासनादि से आवृत्त रहती है किन्तु जब वज्रजापादि के द्वारा वह विरमानन्दरूपी गृह में प्रतिष्ठित होकर परमार्थ-रूपी आंगन का ज्ञान प्राप्त कर लेती है तब वह निद्रा (अज्ञान) खो देती है और श्वास निरोध के बाद जागृत हो जाती है। इसके दोषादि अपहृत हो जाते हैं; उसमें उपाय की, साहस की प्रतिष्ठा हो जाती है और वही वधू जो दिन में काग से भी डरती थी, रात को अकेले अभिसार के लिए कामरूप पीठ को प्रस्थान करती है। महासुख कमल में प्रवेश करती है।

इसी प्रकार नायिका को गंगा-यमुना की नौकावाहिनी मातंगी के रूप में चित्रित करते हुए डोम्बीपा[3] कहते हैं—

---

१. दूलि दूहि पिटा घरण न जाई। रूखेरते तुंक्ति कुंभीर खाई।
आंगण घर पण सुन हे भोविआती। कानेट चोरी निक्त अधराती।
सुसुरा निंद बहुडी जागअ। कानेट चोरे निक्त का गइ मागअ।
दिवस बहुडी काग डरे माअ। राति भइक्ते कामरू जाअ।
अइसन चर्या कुक्कुरिपाए गाइउ। कोडि माझे एकु हि अहिं समाइउ॥
—हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४२-४४

२. हिन्दुस्तानी पत्रिका (त्रैमासिक) भाग २०, अंक २, अप्रैल जून १९५९ में नलिन विमोचन शर्मा का 'सिद्धकूट' लेख, पृ० ६

३. गंगा जउंना मांझे बहइ नाइ। तेंह बुडिली मातंगी पोइआ लीलें पार करेइ।
बाहतु डोम्बी, बाहलो डोम्बी, बाट भइल उछारा।
सद्गुरु पाअ-प (सा) ए जाइव पुनु जिनडरा॥
पांच केडुआल पडन्ते मांगे पीठत काच्छी बाँधी।
गअण-दुखोलें सिचहू पाणी न पइसइ सांधी
चंद सूज्ज दुइ चक्का सिठि-संहार पुलिन्दा।
बाम दुहिन दुइ माग न चेवइ वाहतु छन्दा॥
कवडी न लेइ वोडी न लेइ सुच्छडे पार करई।
जो एथे चडिया बाहब न जा(न)इ कूलें कूल बुडाई॥ हिन्दी काव्यधारा, पृ० १४०

गंगा और यमुना इन दोनों के बीचोंबीच से एक नौका बह रही है, उसमें बैठी मातंगी लीलाभाव से सहज ही योगियों को पार उतार देती है। ओ डोम्बी, खेती चलो, खेती चलो, मार्ग में देर हो रही है। सतगुरु पाद के उपदेश से हम पंचजिनपुर (पंच तथा गतों का देश) में शीघ्र पहुँच जाएँगे। पाँच पतवार इस नांव को खे रहे हैं। पाल बंधे हुए हैं। गगनशून्य पात्र से नौका में भर आने वाले जल को मैं उलीच रहा हूँ। सूर्य और चन्द्र ये दोनों दो चक्र हैं—सृष्टि और संसार के पालों को फैलाने और उतारने के बाम और दक्षिण इन दोनों कूलों से बचकर स्वच्छन्द मार्ग पर चलती चलो। यह डोम्बी कौडी लेकर पार नहीं उतारती, स्वेच्छा से श्रम करती है। जिन्होंने यह यान ग्रहण नहीं किया और रथ पर चढ़े हैं वे (अन्य सम्प्रदाय के योगी) पार नहीं उतर पाते।"[१]

यहाँ स्पष्ट ही गंगा जमुना, वाम और दक्षिण, सूर्य और चन्द्र, ललना और रसना (इडा, पिंगला) नाडियों की प्रतीक हैं; नौका जो सहज पथ से लोगों को (साधक, सिद्धों को भवसागर से) पार उतार रही है, सहजयान का प्रतीक है; मातंगी, डोम्बी नैरात्मा का प्रतीक है, पाँच डाँडों का अर्थ पंचक्रमोपदेश है। वाम और दक्षिण तट छोड़कर स्वच्छन्द मार्ग से चलना रसना और ललना को छोड़ मध्यवर्ती अवधूति को ग्रहण करना ही हठयोग साधना में सहज पद्धति या मध्यम मार्ग है जिसका अनुसरण कर योगी महामुद्रा सिद्ध कर सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सिद्धों ने नायिका का विविधेन चित्रण किया है। नायिकाओं के स्वकीया, परकीया, सामान्या, मुग्धा मध्या, प्रौढ़ा, अभिसारिका आदि सभी रूप मिलते हैं। नायक और नायिका अपने भौतिक अर्थ में प्रयुक्त होते हुए भी वास्तव में प्रतीक स्वरूप हैं। डा० धर्मवीर भारती के शब्दों में "भाव साधना के वास्तविक नायक और नायिका तो तथागत और उनकी भगवती नैरात्मा है। उसी विश्वव्याप्त प्रणय केलि को साधक बोधिचित्त को नायक और नैरात्म्य ज्ञान को नायिका मानकर अपने चित्त में आयोजित करता है। डोम्बी के प्रति कपाली का प्रेम निवेदन, चण्डाली के प्रति भुसुक बंगाली का प्रेम निवेदन, यह सब वास्तव में बोधिचित्त और शून्यता की ही प्रणय केलि के विभिन्न रूपक हैं।······शून्यता कामिनी है और प्रतिभास रूपी बोधिचित्त उसका नायक है। दोनों एक दूसरे से अलग नहीं रह पाते, एक दूसरे के बिना वे अपूर्ण हैं, मृत हैं। अतः वे अपने विरह का अतिक्रमण कर एक दूसरे से मिलने के लिए प्रवृत्त होते हैं। किन्तु ज्ञान के बिना वे शंकित हैं। उन्हें पथ नहीं ज्ञात, एक दूसरे का व्यक्तित्व और प्रकृति नहीं ज्ञात। अत: गुरु उनके बीच की दूरी को कम करता है और उनका मिलन करा देता है। इस मिलन से सहज प्रेम उत्पन्न होता है और अनुत्तर की प्राप्ति होती है, निःस्वभाव का उदय होता है।"[२]

---

१. सिद्ध साहित्य, पृ० २७६
२. वही, पृ० २४६-४७

(२) **विरोधमूलक प्रतीक**—सिद्धों में विरोध मूलक प्रतीक योजना भी प्रचुरता से प्राप्त होती है। विरोधमूलक काव्य शैली उस समय तक लोक प्रचलित हो गई थी। तत्कालीन संस्कृत काव्यशास्त्री रुय्यक ने विरोध मूलक अलंकारों को एक पृथक वर्ग में ही विभाजित कर दिया है। बाद में हिन्दी के आचार्य कवियों ने भी विरोध-मूलक अलंकारों का वर्णन करते हुए उसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

'देखने में, कहने में और सुनने में कुछ बेमेल बात दिखाई दे तथा अर्थ में भी जहां चमत्कार हो, वहां विरुद्ध अलंकार होता है[1]। इसमें अप्रस्तुतों तथा धर्मों की विरोधमूलक योजना रहती है जिसका मुख्य उद्देश्य चमत्कार उत्पन्न करना ही रहता है। वैदिक साहित्य से लेकर आज तक इस चमत्कार प्रधान शैली का कवियों ने प्रयोग किया है। अथर्ववेद में कहा है कि हे विद्वानों, जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के निहित रूप को जानता है, बतलावे, उसकी इन्द्रियां अपने शिरोभाग द्वारा क्षीर प्रदान करती है और चरणों से जल पिया करती हैं।[2] ईशावास्योपनिषद्[3] तथा कठोपनिषद्[4] में भी इसी प्रकार के विरोधमूलक कथन मिलते हैं। इसी विरोधमूलक अप्रस्तुत योजना ने उलटबांसी का रूप धारण कर लिया। सिद्ध ढेण्ढ़णपा की एक चर्या इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है—

टालत मोर घर नाहि पडिवेशी। हाँडीत भात नाहि निति आवेशी॥
वेंगस साप वडहिल जाअ। दुहिल दुधु कि बेन्टे समाअ॥
बलद बिआअल गविआ बांझे। पिटहु दुहिअई ए तिनो साँझे॥
जो सो बुधी सोध निबुधी। जो सो चोर सोई साधी॥
निति सिआला सिहे सम जूझअ। टेंटण पाएर गीत बिरले बूझअ॥[5]

अर्थात् टीले पर मेरा घर है, परन्तु कोई पड़ौसी नहीं है। हांडी में भात का दाना भी नहीं है, पर अतिथि आ रहे हैं। सर्प मेंढक से भयभीत है, दुहा हुआ दुग्ध क्या पुनः थनों में समा जाएगा? बैल ने प्रसव किया है, परन्तु गाय बांझ है, बछड़ा तीनों समय दुहा जाता है। जो बुद्धिमान है वही निर्बुद्धि है, जो चोर है वही स्वामी है। शृगाल नित्य ही सिंह से युद्ध करता है। ढेंढणपा के इस गीत का अर्थ कोई बिरला ही समझ-बूझ सकता है।

इसमें ऐसे प्रतीकों को योजित किया गया है जिनके धर्म विरोधी हैं किन्तु सांकेतिक अर्थों में उनकी पूर्ण संगति बैठती है। पड़ौसी का अर्थ यहाँ चन्द्र-सूर्य रूपी ग्राह्य ग्राहक भाव है, जिनका अस्तित्व अब नहीं रहा। हाँडी का अर्थ साधक की काया है जिसमें भात का अर्थ है संवृत्त बोधि चित्त। आमन्त्रित अतिथि स्वतः योग

१. आचार्य भिखारीदास, काव्य निर्णय, पृ० ३२६
२. ईह ब्रवीतु य ईयंग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वें।
शीर्ष्णं क्षीरे दुहिते गावो अस्यं वव्रिं बसाना उदकं पदायुः॥ अथर्ववेद ९/९/५.
३. ईश०, मंत्र सं० ५
४. कठ० वल्ली, २, मंत्र २१-२२
५. हिन्दी काव्य धारा, पद ३३, पृ० १६४

मार्ग में प्रवृत्त साधक हैं। प्रभास्वर रूपी मेंढक से विज्ञान शृंखला रूपी सर्प भयभीत है। दुहा हुआ दुग्ध अर्थात् मूलाधार में स्थित बोधिचित्त, पुन: स्तनों में अर्थात् महासुख चक्र में समा जाता है। बलद अर्थात् संवृत्त चित्त संसार का प्रसव करता है, नैरात्म रूप गाय हो जाने पर बांझ हो जाता है। बछड़ा का तीनों समय दोहन किया (नि:स्वभावीकरण) जा सकता है। जो सविकल्प चित्त का ज्ञानी है वही अज्ञानी है। जो इसी सविकल्प चित्त से विषय सुख का अपहरण करते हैं वे चोर हैं। गुरू के उपदेश से वे ही साधु हो जाते हैं। मरणादि भय से व्याकुल कायर शृगाल की भाँति मन ही गुरु उपदेश से ज्ञान लाभ कर शून्यता रूपी सिंह से भी युद्ध करता है। करुणा रूप में शून्यता के समकक्ष हो जाता है। इसमें शृगाल में वीरता, बैल में प्रसव, सर्प में मेंढक से भय आदि विरुद्ध धर्मों का आरोप है जिसकी संगति प्रतीकार्थों द्वारा बैठती है।[1]

कबीर आदि सन्त कवियों ने भी ढेण्ढणपा के इस चर्या गीत को अपनाया है।[2]

(३) **औपम्य मूलक प्रतीक**—औपम्यमूलक प्रतीक शैली को सिद्धों ने प्रचुरता से अपनाया है क्योंकि सिद्ध अन्तर और बाह्य में अभेद मानते थे और सदैव बाह्य अनुष्ठानों से आन्तरिक साधना की प्रक्रिया तथा आन्तरिक योग से बाह्य अनुष्ठानों को अनुशासित करते थे। पार्थिव और अपार्थिव का यह अभेद अलंकार शैली में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का अभेद बन गया था। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

वीणापा ने वीणावादन को सम्पूर्ण आध्यात्मिक रूपक प्रदान करते हुए उसे हेरुक ज्ञान की वीणा के रूप में परिकल्पित किया है, इस वीणा में सूर्यरूपी तुम्बी में शशि रूपी तंत्री लगी है, अनाहत का दण्ड दोनों को सम्बद्ध करता है। आली (स्वर) तथा काली (व्यंजन) इसके प्राथमिक सरगम हैं। साधक वज्रनृत्य कर रहा है, सहसाधिका योगिनी गा रही है, बुद्ध नाटक का अभिनय कर रहा है।[3]

इसी प्रकार शबरपा[4] द्वारा वर्णित उन्मत्त शबर का शबरी बालिका के प्रति प्रणय निवेदन में मेरु पर्वत मेरुदण्ड का आरोप्यमाण रूप प्रतीक है। नैरात्मा के लिए पर्वतवासिनी शबरी अप्रस्तुत बन गई। शबरी बाला के अंगों में सजे मोर पंख और घुंघची की माला भी उसके नाना रूप विकल्प और उसकी ग्रीवा (कण्ठस्थित सम्भोग चक्र) में मंत्र हार के आरोप्यमाण मान लिए गए। पर्वत पर उगे वृक्ष अविद्या के तथा वज्र कुण्डल मुद्रा के अप्रस्तुत हो गए। इस प्रकार एक रूढ़ प्रतीक को सम्पूर्ण बनाने के उद्देश्य से उसका सांग वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार काण्हपा[5] द्वारा वर्णित वरयात्रा में डोम्बी को वधू रूप में परिकल्पित कर अन्य समस्त साज सज्जा (पटह, दुन्दुभि, मादल आदि) का सांग चित्रण

१. **सिद्ध साहित्य**, पृ० २८५
२. **कबीर ग्रन्थावली**, पद ८०, पृ० ११३
३. **सिद्ध साहित्य**, पृ० २८०, ८१
४. **हिन्दी काव्य धारा**, पृ० २०
५. वही, पृ० १५२

किया है। इस औपम्य मूलक शैली का एक साम्प्रदायिक कारण भी था। भगवान तथागत ने स्वयं औपम्य शैली को प्रधानता दी क्योंकि इस शैली में अशिक्षित भी गूढ़तात्विक रहस्यों को समझने के योग्य हो जाते थे।

उपमा को काव्यशास्त्रियों ने प्रमुख अलंकारों की मूल प्रकृति माना है। साधर्म्य मूलक अलंकारों में उपमा किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य रहती है। सिद्ध सरहपा मन को करभ रूप में चित्रित करते हुए एक स्थान पर कहते हैं, "हे सखि, यह मन तो करभ (हाथी) के समान है जो बंधा होने पर तथा बोझ लदा होने पर इतस्ततः दौड़ता है परन्तु मुक्त होने पर एक स्थान पर निश्चल खड़ा हो जाता है।"[1] एक अन्य स्थान पर सरहपा चित्त को गजेन्द्र रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि—"चित्त रूपी गजेन्द्र को मुक्त कर दो। इसमें पूछताछ न करो। गगन (शून्य) रूपी गिरि नदी के जल को पीके उसके तट पर उसे स्वच्छन्द बैठने दो।[2]

(४) **साधर्म्य मूलक प्रतीक**—इस श्रेणी के अन्तर्गत समानधर्मी अप्रस्तुत प्रतीक रूप में आते हैं। वस्तु, धर्म के साथ जिस किसी भी उपमान (अप्रस्तुत) का साधर्म्य हो, उसे ही अतिशयोक्ति अलंकार की शैली पर उस वस्तु का वाचक मान लिया जाता है। अर्थात् जहां प्रस्तुतार्थ का अप्रस्तुतार्थ द्वारा निगिरण हो गया होता है वहां धर्म ही संकेत का कारण होता है, धर्मी नहीं। उदाहरणार्थ जब 'मन' को मच्छ या हरिण कहते हैं तो 'मन' से संकेतित चांचल्य धर्म होता है, चांचल्य धर्मी हरिण नहीं। साधर्म्यवश 'हरिण' मच्छ आदि शब्द किसी अन्य भाव या वस्तु के द्योतक भी हो सकते हैं। प्रसंगवश विभिन्न भाव ग्रहण किए जा सकते हैं। हरिण अपेक्षाकृत भीत स्वभाव का पशु है, यह भाव किसी कमजोर साधक या भोले-भाले संसारी जीव का भी द्योतन कर सकता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है, भूसुकपाद कहते हैं—

"अपणा मांसे हरिणा वैरी। खनह न छाडअ भूकु अहेरी।
तिण न छुअइ हरिण पिवइ न पाणी। हरिणा हरिणीर निलअन जाणी॥[3]

यहां हरिण = चित्त;
आखेटिक = स्वयं भूसुकपाद (साधक)
हरिणी = ज्ञानमुद्रा का प्रतीक है।

इसमें 'हरिण', 'हरिणि' शब्द जो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, वे दो भिन्न धर्मों के कारण हैं, धर्म भी एक अर्थगत है, दूसरा शब्दगत। चित्त को हरिण इसलिए कहा गया है कि वह चांचल्यधर्मी है और ज्ञानमुद्रा को हरिणी इसलिए कहा गया है कि विषपान और भवग्रह आदि को हरण करती है और भूसुकपाद अपने को आखेटिक इसलिए कहते हैं कि उनमें गुरु के वचनरूपी वाणों से चित्त चांचल्य को बेध सकने

---

१. **बद्धो धावइ दस दिसहि, मुक्को णिच्चल ट्ठाअ।**
एमइ करहा पेक्ख सहि. विवरिअ महु पडिहाअ॥
दोहाकोश, सरहपा, भूमिका, पृ० २४

२. वही, पृ० ३१.

३. **हिन्दी काव्य धारा,** पृ० १३२.

योग्य आखेटकत्व धर्म विद्यमान है।"[1]

इसी प्रकार संसार के विषय भोगों में फंसा हुआ अज्ञानी चित्त का प्रतीक अंधेरी रात का चूहा वर्णित किया गया है—

णिसि अंधारी मूसा करअ अचारा। अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा ।।

× × ×

जव्वे मूसा अचार तूटई। भूसुक भणइ तबे बंधण फिट्टई ।।[2]

अज्ञानी चित्त ही चूहा है। चूहा अंधेरी रात में विचरण करता है, चित्त अज्ञानान्धकार में विहार करता है। चूहा बर्तनों से भोजन चुराता है, उसे नष्ट एवं दूषित करता है, चित्त रूपादि स्कन्धों का भक्षण कर अमृत तत्व को दूषित कर देता है। चूहा चंचल होता है, अज्ञानी चित्त भी चंचल होता है। चूहे के उपद्रव से परेशान गृहपति उसे मारकर चैन की साँस लेता है, चंचल कुत्सित वृत्ति वाले चित्त को योगी मार देता है। इस प्रकार चित्त और चूहे में सभी धर्म, स्वभाव, प्रकृति समान हैं, अतः साधर्म्य के आधार पर चित्त को चूहे का प्रतीक बनाया गया है। किन्तु चित्त हमेशा चूहा ही नहीं रहता; विचार, स्थिति, मनोभाव आदि के परिवर्तन से वह अन्य उपमान धारण करने में समर्थ हो जाता है। चांचल्य वृत्ति छोड़ चित्त बलशाली हुआ, सांसारिक विषय भोगों, वृत्तियों से मुक्त हुआ, महासुख चक्र रूपी कमल में उसने प्रवेश कर लिया तो वही मूषक चित्त गजेन्द्र बन जाता है, और महारस का पान यथावत् करने लगता है। मुक्त चित्त को गजेन्द्र कहने का एक कारण यह हो सकता है कि करुणा युक्त बोधिचित्त ही मुक्त होता है। एक कारण और भी हो सकता है। 'सिद्धों' ने महासुख चक्र तथा अन्य चक्रों के लिए 'कमल' प्रतीक का प्रयोग किया है। कमल जल में होता है, गज को जलक्रीडा से विशेष प्रेम है, स्वभावतः जल में उत्पन्न कमल भी उसे प्रिय है। अतः अपनी प्रकृत्यानुसार गज कमल सरोवर में प्रवेश कर उसका उपभोग करता है। इसी परम्परागत सम्बन्ध के कारण कमल के साथ-साथ गज को भी प्रतीक रूप में स्वीकार कर लिया गया। 'कमल' हठयोग की परम्परा का प्रतीक है और उस पर अवलम्बित गज को (अन्य अप्रस्तुत) भी प्रतीक रूप में ग्रहण कर लिया। इस प्रकार कमल के सन्दर्भ में गजेन्द्र बोधिचित का द्योतक बन गया।

(५) **विस्मय या अद्भुत रस प्रधान प्रतीक**—इसमें कवि का उद्देश्य पाठक को विस्मयोत्पादक उक्तियों से चमत्कृत करना होता है। कवि धर्मानुसार गम्भीरता का पालन करता हुआ भी सहृदय को उस तिराहे पर लाकर खड़ा कर देता है जहां से एक ओर चमत्कार, दूसरी ओर से साम्प्रदायिक उद्देश्य तथा तीसरी ओर से आकर्षण एवं काव्यत्व के मिले जुले रास्ते निकल जाते हैं। इस प्रकार सिद्धों के जिन चर्यापदों में हठयोग की साधनाओं की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे प्रतीकों का प्रयोग किया है जो बाह्य भौतिक रूप में तो विरोधी से लगते हैं; वहां कार्य और कारण, विशेषण और विशेष्य तथा वस्तु और धर्म का ऐसा विचित्र सम्बन्ध दिखाया है जो भौतिक जगत

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० ८६.
२. हिन्दी काव्य धारा, पृ० १३२.

में प्रायः देखने को नहीं मिलता, पर आन्तरिक रूप में कुछ भी अनचाहा सा नहीं रहता, ऐसे स्थानों प्रर प्रमुखतः विस्मय भाव की ही उत्पत्ति होती है।

विस्मयोत्पादक कथन सिद्धों से पूर्व वैदिक साहित्य में भी प्रचुरता से पाए जाते हैं।[१] यह परम्परा आगे भी यथावत् चलती रही है। धम्मपाद में कहा गया है कि ब्राह्मण माता-पिता, राजा, व्याघ्र, पुरुष आदि को भी मारकर निष्पाप चला जाता है।[२] कुक्कुरीपा[३] की चर्या में कच्छपी के दूध से बर्तन भर जाना, कुम्भीर का वृक्ष की इमली खाना, ढेण्ढणप्पा[४] की चर्या में सर्प का मेंढक से भयभीत होना, दुहे हुए दूध का पुनः स्तनों में लौट जाना, बैल का प्रसव, गाय का बांझ होना, बछड़े का तीनों समय दुहा जाना, बुद्धिमान का अज्ञानी होना, सियार का सिंह से युद्ध करना आदि स्थल अद्भुतरस प्रधान ही हैं। बाह्य रूप से चर्याओं के ये सभी रूप विरोधात्मक हैं, प्रतीकात्मक अर्थ भी कम विस्मयकारी नहीं है।

स्पष्ट है कि "इस प्रकार की अद्भुत प्रतीक योजना निश्चय ही सचेत रूप से श्रोताओं को विस्मय मुग्ध करने के लिए की जाती रही होगी।"[५] इसी कारण कुक्कुरीपा और ढेण्ढणपा ने सगर्व कहा है कि उनकी इस चर्यापद का अर्थ करोड़ों में से कोई एक ही समझ सकता है।

(६) **तत्कालीन सामाजिक वातावरण एवं व्यवसायपरक प्रतीक**—साहित्य समाज का दर्पण है इस कसौटी पर जब हम सिद्ध-साहित्य को परखते हैं तो हमें तत्कालीन सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन की एक झलक देखने को मिल जाती है। सिद्ध स्वभावतः रहस्यवादी और चमत्कारवादी कवि थे; इसलिए सामाजिक चित्रण में भी उनकी रहस्यात्मक शैली बराबर चलती रही है।

हिन्दी के सन्त कवियों के समान सिद्धों में भी बहुत से लोग जीवन के निम्न वर्ग से आए थे। जो लोग उच्च वर्ग से भी आए थे वे भी अपनी उच्चता का परित्याग कर एक ही रंग में घुल मिल गए थे। भला साधु की क्या जाति ? सिद्ध साहित्य में उनके व्यवसाय से सम्बन्धित रूपक भी आध्यात्मिक शैली में वर्णित हुए हैं। उदाहरणार्थ—

शान्तिपा ने रूई धुनने का एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है। बारबार धुनने से रूई सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान और चित्त विशोधन की प्रक्रिया को रूई धुनने के रूपक द्वारा चित्रित किया है।"[६]

---

१. **कठोपनिषद**, २/१/३; केन० १/२/४/५/८; श्वेता० ३/१४/१६; यजुर्वेद ३१/१, ऋग्० १०/९०/१, अथर्व० १०/६/१ गीता १३/१३, १४, १६
२. **प्रो० इन्द्र०**, धम्मपद, पद ५/६, पृ० १४८-४९
३. **हिन्दी काव्य धारा०** पृ० १४२-४४
४. वही, पृ० १६४
५. **सिद्ध साहित्य**, पृ० २५६-५७
६. **तुला धुणि धुणि अंशुहि अंशू**।······हिन्दी काव्यधारा, पृ० २४०

तन्त्रीपा[1] भी रूई धुनने के रूपक से अपनी अध्यात्म चर्या का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'मैं काल पंचक रूपी तंत्र पर निर्मल वस्त्र बुन रहा हूँ। मैं तंत्री हूँ, जुलाहा हूँ। मेरा निज स्वभाव ही सूत्र है। मैं उसका रूप नहीं जानता। साढ़े तीन हाथ का ताना बाना तीन ओर फैला है। इस ताने बाने से सारा गगन 'शून्य' ढक गया है। जब मुझे वयनरस की प्राप्ति हुई तो मैं मोह मल से मुक्त हो गया।

आठवीं, नवीं शताब्दि के आस-पास के लोक-जीवन में मदिरालयों का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा; यह मद्य विक्रय स्त्रियों द्वारा होता था। सिद्ध विरूपा[2] ने प्रतीकात्मक आध्यात्मिक शैली में उसी मद्य विक्रय का वर्णन किया है जिसमें उन्होंने अवधूती की उपमा शुण्डिनी मद्यविक्रेता नारी से दी है।

इसी प्रकार ज्ञान के सो जाने पर बहू के प्रणयाभिसार के लिए जाने के दृश्य से उस समय की सामन्ती परिवार की मर्यादा की ओर स्पष्ट संकेत होता है।[3] नौका, घाट, लकड़ी चीरना, रूई धुनना, आखेट करना आदि सामान्य जीवन के रूप हैं जिनको इन सिद्ध कवियों ने प्रतीकात्मक शैली में ढालकर आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है। संसार से विरक्त सिद्धों का साधना केन्द्र प्रायः वन ही रहा होगा, इसी कारण उनके काव्य में सिंह, शृगाल, मोर, हरिण, हरिणी, करभ, साँप, मेंढक, मूषक, बैल, गाय, शबर, अहेरी, डोम्बी, पर्वत, वृक्ष, मेघ, नौका आदि वनगत जीवन से सम्बन्धित शब्दों का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है।

(७) **अन्य प्रतीक—**

वृक्ष सम्बन्धी प्रतीक—वृक्ष प्रतीक रूप में वैदिक काल से ही लोकप्रिय रहा है। सिद्धों ने भी रूपकात्मक शैली में इसे अपनाया है। सिद्ध कण्हपा कहते हैं—

मण तरु पांच इन्दि तसु साहा। आसा बहल पात फल बाहा॥

× × ×

सुण्णा तरुवर गअण कुठार। छेवइ सो तरु मूल ण डाल॥[4]

इसी प्रकार सिद्ध लुईपा भी काया को वृक्ष का रूपक देते हैं—

काआ तरुवर पंच बिडाल। चंचल चीए पइट्ठा काल।[5]

यहाँ वैदिक मंत्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया·········' मंत्र की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है।

विनय श्री ने भी परमतत्व को तरुवर के रूपक से अभिव्यक्त किया है।[6]

---

१. सिद्ध साहित्य, टिप्पणियां, पृ० ५१२, १३
२. **एक से शोंडिनि दुइ घरे साँधअ। चीअ न वाकलअ वारुणी बांधअ।**
चर्यापद, हिन्दी काव्य धारा, पृ० १३९
३. हिन्दी काव्य धारा पृ० १४२-४४
४. वही, पृ० १५४
५. वही, पृ० १३६-३८
६. **निमूल तरुवर डाल न पाती। निभर फुल्लिल्ल पेखु विश्राती।** दोहाकोश, पृ० ३८

परमपद—उपनिषद के एक भाव—न तत्र सूर्यो भाति[१]......' को सरहपा ने इस प्रकार वर्णित किया है—

जहिं मण पवण ण संचरइ, रवि, ससि णाहि पवेस।
तहिं बढ़ चित विसाम करु, सरहें कहिअ उऐस।।[२]

उसका आदि अन्त नहीं है—

आइ ण अन्त ण मज्झ तहिं, णउभव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण।।[३]

संक्षेप में यदि हम कहें तो सिद्ध साहित्य में विभिन्न उपमान, प्रतीक रूप में आए हैं। उदाहरणार्थ—गंगा=शक्ति या इडा। यमुना=पिंगला। कुंजी-ताला=श्वास निरोध। वज्र कपाट=दशमद्वार में श्वास निरोध। दीपक=ब्रह्माग्नि का प्रकाश। चन्द्र=प्रज्ञा, शिव। सूर्य=शक्ति या उपाय। सास=सुषुम्ना, माया, श्वास। ननद=वासना। साली=सृष्टि जाल। मेरुपर्वत=मेरुदण्ड। अन्धाव्यक्ति=अज्ञानी गुरू या श्रद्धाहीन शिष्य। तरुवर=काया, चित, सृष्टि विस्तार, सहज या परमतत्व। करभ=मन। गाय=इन्द्रियाँ। बैल=बोधिचित, मन। गज=माया ग्रस्त मन, साधना प्रवृत्त मन। मूषक, शृगाल, मेंढक, सिंह, भंवरा, मृग, काग=ज्ञानी तथा अज्ञानी मन। जुलाहा, हंस, अहेरी=चित्त, साधक। नौका=काया, ईश्वर। हरिणी=माया। हरिण मांस सोना=ज्ञान शून्य। चौपड़, शतरंज=ज्ञानक्रीड़ा। मेघ=करुणा, गुण, आदि।

अन्त में, हम कह सकते हैं कि सिद्ध साहित्य भाव पक्ष और कला पक्ष की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। नीतिपरक उपदेशों में प्रतीकों का प्रयोग अपेक्षाकृत न्यून है तथा काव्यगत चमत्कार भी कम है। प्रतीकात्मक शैली में इन सिद्ध कवियों ने कहीं अद्भुत रहस्यात्मक उक्तियों से श्रोताओं को चमत्कृत किया है; कहीं परस्पर विरोधी बात कह कर इस चमत्कार को द्विगुणित किया है; कहीं भाव या रस के अभाव में चमत्कार पूर्ण उक्तियों से जनता को आकर्षित कर अपना प्रभाव जमाया है; कहीं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और गुह्य साधना पद्धति का विवेचन सम्प्रदाय में दीक्षित लोगों के लिए ही किया है; कहीं जनसामान्य की दृष्टि में हेय या अवर्णनीय यौन भावनाओं को (प्रज्ञोपाय, युगनद्ध) अभिव्यक्त किया है; कहीं सामान्य जीवन के कार्य व्यापार को रहस्यात्मक रूप प्रदान किया है। इस प्रकार सिद्ध साहित्य में गहरे पानी पैठकर अन्वेषण किया जाए तो प्रतीक रूपी मोतियों की नितनूतन छटा जनमन मोह लेगी, ऐसा विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है।

---

३. **श्वेता०**, अध्याय ६, श्लोक १४.
४. **दोहाकोश**, भूमिका, पृ० ३५.
५. वही; पृ० ३५.

नाथ[1] साहित्य में प्रतीक योजना :

सिद्ध साहित्य के समान नाथ साहित्य में साम्प्रदायिक रहस्यों और दार्शनिक तत्वों की प्रतीकात्मक भाषा में अभिव्यक्ति हुई है। इन ज्ञानद्रष्टा कवियों के धार्मिक सिद्धान्त रहस्यवादी थे और उनको रहस्यात्मक भाषा में ही अभिव्यक्त किया है।

नाथपंथ वज्रयानी सिद्धों की सहज साधना का ही प्रबल और सशक्त रूप था। हठयोग प्रदीपिका में नाथ पंथ का सम्बन्ध 'शिव' से जोड़ा है। आदिनाथ स्वयं शिव ही थे और उन्होंने ही नाथ सम्प्रदाय चलाया।[2] बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय में शैव साधनाएँ और प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हो गई थीं। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय बौद्धों से और बौद्ध साधनाएं नाथ परम्परा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थीं। डा० बडथ्वाल के मतानुसार अधिकांश बौद्ध सिद्ध विचारधारा के अनुसार नाथपंथी किन्तु साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार बौद्ध थे। इस प्रकार कुछ लोग गोरखनाथ और उसके सम्प्रदाय को वज्रयान की शैव शाखा मानते हैं और कुछ लोग स्वतः बौद्ध सिद्धों को प्रच्छन्न नाथपन्थी। इन विभिन्न धारणाओं के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि एक भूभाग में बहुत समय तक शैव और बौद्ध तन्त्र एवं योग साधनाएँ समानान्तर रूप से चलती रहीं और जैसा स्वाभाविक ही है दोनों पद्धतियों में पर्याप्त आदान-प्रदान चलता रहा होगा; इसी कारण नाथ और सिद्ध एक दूसरे से प्रभावित हैं। हाँ एक बात अवश्य—नाथपन्थी गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधा विस्रस्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की; उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के साम्वृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया गया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत सम्पूर्ण विरोधी साधना मार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि रूप ज्यों का त्यों बना रहा किन्तु उसकी अशिक्षा जन्य प्रमादपूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गई।[3] इस प्रकार गोरखनाथ की साधना का मूल स्वर शील, संयम और शुद्धतावादी है और उन्होंने तान्त्रिक उच्छृंखलताओं का विरोध कर "निर्मम हथौड़े से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण विचूर्ण कर दिया। लोक जीवन में जो

---

१. 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवन त्रय का) स्थापित होना; इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है। फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्ष दान में दक्ष है; उनका ज्ञान कराना है, और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूंकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसलिए नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है।"

—**हजारी प्रसाद द्विवेदी**, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३.

२. **हठयोग प्रदीपिका १/५**

३. **नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९८**

धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके परमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी उसे गोरखनाथ ने नई शक्ति से अनुप्राणित किया ।"[1] इस प्रकार नाथों ने सिद्धों की परम्परा में नई प्राण शक्ति फूंकते हुए नई प्रतीक योजना की, नए पारमार्थिक रूप में उद्भावना तो की, पर इसके साथ-साथ परम्परागत प्रतीकों से नाता भी बना रहा। उन्होंने निरीश्वर शून्य के स्थान पर सेश्वरशून्य स्वीकार कर लिया और इस प्रकार अपने धर्म में 'ईश्वरवाद' का समावेश किया ।[2] नाथों की आध्यात्मिक साधनाएँ शैवमत समस्त थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुमानानुसार गोरखनाथ से पहले दो प्रकार के दल थे। एक तो वे जो योग मार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे और दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे, शैवागमों के अनुयायी थे परन्तु गोरक्ष समस्त योग मार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से सम्प्रदाय आ गए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे...और उनके प्रवर्तकों को गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा।"[3] नाथ सम्प्रदाय में हठयोग[4] का पूर्ण

१. वही, पृ० १८८
२. डा० रामधन शर्मा, कूटकाव्य; एक अध्ययन, पृ० ७९
३. नाथ सम्प्रदाय पृ० १४७
४. 'शास्त्रग्रन्थों में हठयोग साधारणतः प्राणनिरोध प्रधान साधना को ही कहते हैं। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही हठयोग कहते हैं—
हकारः कथित सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्चते। सूर्यचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगा निगद्यते ॥
ब्रह्मनन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चन्द्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य 'इडा' नाडी को कहते हैं और चन्द्र 'पिंगला' को (हठ० प्र० ३/१५) इसलिए इडा और पिंगला नाडियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते हैं, इस हठयोग को हठ-सिद्धि देने वाला कहा गया है। वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे 'हठात्' सिद्धि मिल जाने की आशा का जाती थी। हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रहकर सिद्धि नहीं पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सोधे आकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है, इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह ब्रह्मद्वार को रोधकर सोई हुई है। इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है। अन्याय विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी के उद्बोधन से हठात् मोक्ष द्वार अनायास ही खुल जाता है (गो० श० १/५१); हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण ही इस योग को 'हठयोग' कहते हैं।
नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२३-२४

नाथ[1] साहित्य में प्रतीक योजना :

सिद्ध साहित्य के समान नाथ साहित्य में साम्प्रदायिक रहस्यों और दार्शनिक तत्वों की प्रतीकात्मक भाषा में अभिव्यक्ति हुई है। इन ज्ञानद्रष्टा कवियों के धार्मिक सिद्धान्त रहस्यवादी थे और उनको रहस्यात्मक भाषा में ही अभिव्यक्त किया है।

नाथपंथ वज्रयानी सिद्धों की सहज साधना का ही प्रबल और सशक्त रूप था। हठयोग प्रदीपिका में नाथ पंथ का सम्बन्ध 'शिव' से जोड़ा है। आदिनाथ स्वयं शिव ही थे और उन्होंने ही नाथ सम्प्रदाय चलाया।[2] बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदाय में शैव साधनाएँ और प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हो गई थीं। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय बौद्धों से और बौद्ध साधनाएं नाथ परम्परा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थीं। डा० बडथ्वाल के मतानुसार अधिकांश बौद्ध सिद्ध विचारधारा के अनुसार नाथपंथी किन्तु साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार बौद्ध थे। इस प्रकार कुछ लोग गोरखनाथ और उसके सम्प्रदाय को वज्रयान की शैव शाखा मानते हैं और कुछ लोग स्वतः बौद्ध सिद्धों को प्रच्छन्न नाथपन्थी। इन विभिन्न धारणाओं के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि एक भूभाग में बहुत समय तक शैव और बौद्ध तन्त्र एवं योग साधनाएँ समानान्तर रूप से चलती रहीं और जैसा स्वाभाविक ही है दोनों पद्धतियों में पर्याप्त आदान-प्रदान चलता रहा होगा; इसी कारण नाथ और सिद्ध एक दूसरे से प्रभावित हैं। हाँ एक बात अवश्य—नाथपन्थी गोरखनाथ ने योगमार्ग को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर बहुधा विस्रस्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामंजस्य से चक्रों की संख्या नियत की; उन दिनों अत्यन्त प्रचलित वज्रयानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के साम्वृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया गया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत सम्पूर्ण विरोधी साधना मार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़ि रूप ज्यों का त्यों बना रहा किन्तु उसकी अशिक्षा जन्य प्रमादपूर्ण रूढ़ियाँ परिष्कृत हो गई।[3] इस प्रकार गोरखनाथ की साधना का मूल स्वर शील, संयम और शुद्धतावादी है और उन्होंने तान्त्रिक उच्छ्रंखलताओं का विरोध कर "निर्मम हथौड़े से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण विचूर्ण कर दिया। लोक जीवन में जो

---

१. 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवन त्रय का) स्थापित होना; इस प्रकार 'नाथ' मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण से 'नाथ' कहा जाता है। फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ-ब्रह्म जो मोक्ष दान में दक्ष है; उनका ज्ञान कराना है, और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करने वाला। चूंकि नाथ के आश्रयण से इस नाथ-ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है इसलिए नाथ शब्द का व्यवहार किया जाता है।"

—**हजारी प्रसाद द्विवेदी**, नाथ सम्प्रदाय, पृ० ३.

२. **हठयोग प्रदीपिका १/५**

३. **नाथ सम्प्रदाय, पृ० ९८**

धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके परमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी उसे गोरखनाथ ने नई शक्ति से अनुप्राणित किया।"[1] इस प्रकार नाथों ने सिद्धों की परम्परा में नई प्राण शक्ति फूंकते हुए नई प्रतीक योजना की, नए पारमार्थिक रूप में उद्भावना तो की, पर इसके साथ-साथ परम्परागत प्रतीकों से नाता भी बना रहा। उन्होंने निरीश्वर शून्य के स्थान पर सेश्वरशून्य स्वीकार कर लिया और इस प्रकार अपने धर्म में 'ईश्वरवाद' का समावेश किया।[2] नाथों की आध्यात्मिक साधनाएँ शैवमत समस्त थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुमानानुसार गोरखनाथ से पहले दो प्रकार के दल थे। एक तो वे जो योग मार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे और दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे, शैवागमों के अनुयायी थे परन्तु गोरक्ष समस्त योग मार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से सम्प्रदाय आ गए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे···और उनके प्रवर्तकों को गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने लगा।"[3] नाथ सम्प्रदाय में हठयोग[4] का पूर्ण

१. वही, पृ० १८८
२. डा० रामधन शर्मा, कूटकाव्य; एक अध्ययन, पृ० ७६
३. नाथ सम्प्रदाय पृ० १४७
४. 'शास्त्रग्रन्थों में हठयोग साधारणतः प्राणनिरोध प्रधान साधना को ही कहते हैं। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में 'ह' का अर्थ सूर्य बतलाया गया है और 'ठ' का अर्थ चन्द्र। सूर्य और चन्द्र के योग को ही हठयोग कहते हैं—
हकारः कथिन सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्चते। सूर्यचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगा निगद्यते ॥
ब्रह्मनन्द के मत से 'सूर्य' से तात्पर्य प्राणवायु का है और चन्द्र से अपान वायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध करना ही हठयोग है। दूसरी व्याख्या यह है कि सूर्य 'इडा' नाडी को कहते हैं और चन्द्र 'पिंगला' को (हठ० प्र० ३/१५) इसलिए इडा और पिंगला नाडियों को रोककर सुषुम्ना मार्ग से प्राण वायु के संचारित करने को भी हठयोग कहते हैं, इस हठयोग को हठ-सिद्धि देने वाला कहा गया है। वस्तुतः हठयोग का मूल अर्थ यही जान पड़ता है कि कुछ इस प्रकार अभ्यास किया जाता था जिससे 'हठात्' सिद्धि मिल जाने की आशा का जाती थी। हठयोग का अभ्यासी शरीर की बनावट से अपरिचित रहकर सिद्धि नहीं पा सकता। मेरुदण्ड जहाँ सीधे आकर वायु और उपस्थ के मध्यभाग में लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्र में अवस्थित है, इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्र में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। यह ब्रह्मद्वार को रोधकर सोई हुई है। इसे जगाकर शिव से समरस कराना योगी का चरम लक्ष्य है। अन्याय विधियों से भी मोक्ष प्राप्त किया जाता है, परन्तु चाभी से जिस प्रकार ताला हठात् खुल जाता है उसी प्रकार कुण्डलिनी के उद्बोधन से हठात् मोक्ष द्वार अनायास ही खुल जाता है (गो० श० १/५१); हठात् मोक्षद्वार खोलने की विधि बताने के कारण ही इस योग को 'हठयोग' कहते हैं।
नाथ सम्प्रदाय, पृ० १२३-२४

विकास हुआ, परन्तु साधना की जटिलता के कारण इस पंथ का विशेष प्रचार न हो सका। पंथ के गुरु भी साधकों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाते थे। धर्म के बाह्यरूप के स्थान पर ये लोग प्राचीन परम्पराओं की रक्षा की ओर अधिक ध्यान रखते थे। यही कारण था कि इनकी दार्शनिक और सैद्धान्तिक शब्दावली परम गुप्त और रहस्यमयी बन गई जो जनसाधारण के लिए दुर्बोध हो उठी। प्रतीकों का अर्थ समझे बिना गुह्य अर्थ को समझ सकना कठिन हो गया।[1] समाज में इन योगियों का काफी प्रभाव

१. नाथ पन्थी योगियों की गुह्य वाणी को समझने के लिए इनकी हठयोगपरक साधना पद्धति की जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इनके सिद्धान्तानुसार महा-कुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है; व्यष्टि में व्यक्त होने के कारण इस शक्ति को 'कुण्डलिनी' कहा जाता है। कुण्डलिनी और प्राण शक्ति को लेकर जीव मातृ कुक्षि में प्रवेश करता है; जीव की तीनों अवस्थाओं (जागृत, सुषुप्ति और स्वप्न) में कुण्डलिनी निश्चेष्ट पड़ी रहती है। कुण्डलिनी त्रिकोण में स्थित स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेटकर सर्पिणी की भाँति पड़ी रहती है। योगी का उद्देश्य इस कुण्डलिनी को उद्‌बुद्ध कर षटचक्रों का भेदन करते हुए इसे सहस्रार चक्र में अवस्थित करना है। षटचक्र इस प्रकार हैं—(१) मूलाधार चक्र—यह कुण्डलिनी के ऊपर चार दलवाला कमल है; (२) इसके ऊपर नाभि के पास छः दलों के कमल के आकार का स्वाधिष्ठान चक्र है; (३) इसके ऊपर दस दल पद्म के आकार का मणिपूर चक्र है; (४) उसके ऊपर हृदय के पास १२ दल के आकार का अनाहतचक्र है, (५) इसके ऊपर १६ दल के आकार का कण्ठ के पास विशुद्धाख्यचक्र और (६) उसके भी ऊपर भ्रूमध्य में दो दलवाला आज्ञा चक्र है। इन षटचक्रों के भेद करने के बाद मस्तिष्क में वह शून्य चक्र मिलता है जहाँ उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी को पहुँचा देना ही योगी का लक्ष्य है। सहस्र दलों के आकार का होने के कारण इसे सहस्रार चक्र भी कहते हैं। यही शून्य चक्र गगनमण्डल है, पिण्ड का कैलाश है; यहीं शिव का निवास है। (**शिवसंहिता**, पृ० १५१-५२)

यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कबीर ने सहस्रार चक्र से भी ऊपर एक अन्य चक्र-सुरतिचक्र की कल्पना की है। उनकी धारणा है कि सहस्रार तक पहुँचे हुए योगी का चित्त समाधि टूटने के बाद पुनः वासना में ग्रसित हो जाता है परन्तु सुरति चक्र में विलास करने वाले सन्त का चित्त हर प्रकार की बाधाओं और वासनाओं से मुक्त तथा निश्चिन्त हो जाता है।

मेरुदण्ड में प्राण वायु को वहन करने वाली नाडियों को इडा (वामभाग में बहने वाली) और पिंगला (दाहिनी ओर बहने वाली) कहा जाता है, इन दोनों के मध्य सुषुम्ना नामक नाडी है जिसके सहारे कुण्डलिनी शक्ति ऊपर चढ़ती है। सुषुम्ना के भीतर प्रज्ञा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाडी है जो कुण्डलिनी का असली मार्ग है। सुषुम्ना इन तीन नाडियों का एकीभावरूप

(क्रमशः)

था; इनकी यौगिक क्रियाएँ जनता के लिए आश्चर्य और श्रद्धा का विषय बनी रही। इनकी साधनाएँ और सामान्य विषयों का भी जनसाधारण से कोई साम्य नहीं था। ये हठयोगी नाथपंथी सगर्व घोषणा करते थे कि वे तीन लोक से न्यारे हैं, सारी दुनिया भ्रम में उल्टी बही जा रही; हठयोग की साधना करने वाले योगी ही ठीक मार्ग पर चल रहे हैं, योग के अतिरिक्त सभी सम्प्रदायों के उपदेश और मार्ग भ्रष्ट हैं। संसार

है। इडा, पिंगला और तीन नाडियों से युक्त सुषुम्ना को पंचधारा या पंचस्रोत भी कहा गया है परन्तु सामान्यत: इडा, पिंगला और सुषुम्ना का ही वर्णन होता है। सिद्धों ने इसी को ललना, रसना और अवधूती नाम से अभिहित किया है। इन तीनों का ब्रह्मरन्ध्र में संगम होता है; इडा को गंगा और पिंगला को यमुना भी कहा जाता है। इसी कारण ब्रह्मरन्ध्र के मिलन स्थान को प्रयाग या त्रिवेणी संगम भी कहा गया है; इसी संगम में स्नान करना ही योगियों का परम लक्ष्य है। (शिवसंहिता, ७/१३१)

शरीर में तीन परम शक्तियाँ हैं (१) बिन्दु अर्थात् शुक्र (२) वायु और (३) मन। चंचल होने के कारण ये शक्तियाँ मनुष्यों के काम नहीं आती। हठयोगियों का सिद्धान्त है कि इन तीनों शक्तियों में से किसी एक को भी वश में कर लिया जाए तो शेष दो शक्तियाँ स्वयंमेव ही वश में हो जाती हैं। योगी साधना और अभ्यास के द्वारा बिन्दु को उर्ध्वमुखी बनाता है, इससे मन और प्राण अचंचल हो जाते हैं। ब्रह्मचर्य और प्राणायाम इसमें सहायक होते हैं। षटकर्मों—धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति—से नाडी के शुद्ध होने पर बिन्दु स्थिर हो जाता है, सुषुम्ना का मार्ग साफ हो जाता है, प्राण और मन अचंचल हो जाते हैं, प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरस हो जाती है और योगी चरम प्राप्तव्य पा जाता है। साधारण मनुष्यों में यह कुण्डलिनी अधोमुखी रहती है इसलिए वह काम, क्रोध आदि का क्रीतदास बना रहता है। साधना द्वारा कुण्डलिनी के उद्बुद्ध होकर ऊपर उठने पर स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश का ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इसी को पारिभाषिक शब्दावली में योगी सूर्य, चन्द्र, अग्नि या ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहते हैं। (कल्याण, योगांक, पृ० ३८९) सुषुम्ना पथ के उन्मुक्त होने पर, कुण्डलिनी की शक्ति के जाग्रत होने पर प्राण स्थिर हो जाता है और योगी शून्यपथ से निरन्तर उस अनाहत ध्वनि को सुनने लगता है। पहले शरीर में समुद्र गर्जन, मेघ गर्जन, भेरी, निर्झर का शब्द सुनाई देता है फिर मर्दल, शंख, घण्टा, काहल और अन्त में किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणा के मधुर गुंजार की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्त में जिस प्रकार मकरन्द पान में मत्त भ्रमर गंध की ओर देखता तक नहीं उसी प्रकार योगी का नादासक्त चित्त नाद में ही रम जाता है और वह सांसारिक विषयों की इच्छा भी नहीं करता।

का क्रम उल्टा है; जैसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास; धर्म, अर्थ काम और मोक्ष; शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्‌भुत्, शान्त; पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश:; ब्रह्मा, विष्णु महेश—सभी क्रम उल्टा है। वास्तव में जो वस्तु सर्वोत्तम है उसे प्रथम स्थान मिलना चाहिए, यथा: सन्यास, वानप्रस्थ, गृहस्थ, ब्रह्मचर्य; मोक्ष, काम, अर्थ, धर्म; शान्त अद्‌भुत, आदि; शिव (महेश) विष्णु ब्रह्मा। यही योग सम्प्रदाय की रीति है जिसका परिणाम यह हुआ कि ये योगी सामान्य जीवन में भी उल्टी बात[1] कहने के अभ्यस्त होगए; परन्तु मजे की बात तो यह कि इस प्रकार की उल्टी बात कहने पर भी इन योगियों का सम्मान समाज में बढ़ता ही गया। इसका प्रभाव यह हुआ कि "ये लोग अधिकाधिक उत्साह से डंके की चोट सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके, धक्का-मार बनाके कहते गए।"[2]

नाथ साहित्य में प्राप्त प्रतीक योजना को हम मुख्य रूप से निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं––

१. हठयोगपरक रूपकात्मक प्रतीक
२. उलटबांसी
३. वैदिक साहित्य के परम्परागत प्रतीक
४. सिद्ध साहित्य के प्रतीक।
५. विविध प्रतीक, तरुवर, बेली, माया, इन्द्रियादि।

(१) **हठयोगपरक रूपकात्मक प्रतीक**—नाथपन्थी साम्प्रदायिक वृत्ति के परिणामस्वरूप उल्टी बात कहने के अभ्यस्त हो गए थे। उन्होंने हठयोग में वर्णित इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सूर्य, चन्द्र, कुण्डलिनी आदि की प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्ति की है।

सूर्य सामान्य जीवन में जीवन और प्रकाशदाता है पर हठयोग के साधकों के लिए यह बात गलत है क्योंकि वास्तव में सूर्य ही मृत्यु का कारण है, क्योंकि चन्द्रमा से जो भी अमृत झरता है उसे सूर्य ग्रस लेता है; उसका मुँह बन्द कर देना ही योगी का परम कर्त्तव्य है; अमृत के ग्रास से ही जीव जरा और व्याधि युक्त हो जाता है।[3] गगन में तपने वाला सूर्य वास्तविक नहीं है; नाभि के देश में अग्निरूप सूर्य रहता है और तालु के मूल में अमृत रूप चन्द्रमा स्थित है।

गोमांस सेवन करना और अमर वारुणी पीना तो कुलीनता का सूचक है; इन्हें प्राप्त करना तो बड़े पुण्य का कर्म है। जो ऐसा नहीं करते वे कुलघातक हैं। वास्तव में 'गो' जिह्वा का नाम है और तालु के समीप उर्ध्व छिद्र (ब्रह्मरंध्र) में जिह्वा का प्रवेश ही गोमांस भक्षण है; यही महापातकों का नाशक है। तालु के उर्ध्वछिद्र में जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न हुई ऊष्मा से उत्पन्न हुआ जो सोमरस चन्द्रमा से झरता है अर्थात् भृकुटियों के मध्य में वामभाग में स्थित चन्द्रमा से बिन्दुरूप सार गिरता है

१. बाद में इसी उल्टी बात को उलटबांसी की संज्ञा दी गई।
२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर पृ० ८१
३. हठयोग प्रदीपिका ३/७७

वही अमर वारुणी है जिसका पान करना बड़े पुण्य का फल है।[1] इस मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा गया है।[2] बाल विधवा सम्मानीय है, उसके सम्मान और रक्षा का उत्तरदायित्व सारे समाज का है, बात बिल्कुल गलत है क्योंकि गंगा और यमुना के मध्यवर्ती पवित्र भूभाग में वास करने वाली एक तपस्विनी बाल विधवा है, उसका बलात्कारपूर्वक ग्रहण करना ही विष्णु के परमपद को प्राप्त करना है। कारण स्पष्ट है, गंगा इडा है और यमुना पिंगला, इडा और पिंगला की मध्यवर्ती नाडी सुषुम्ना में कुण्डलिनी नामक 'बाल रंडा निवास करती है, उसे बलात् उठा ले जाना (कुण्डलिनी को हठपूर्वक उद्बुद्ध करना) ही तो योगी का चरम लक्ष्य है।[3]

सुविधा के लिए हम हठयोग परक प्रतीकों को विभिन्न शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—

(क) **कुण्डलिनी**[4]—गोरखनाथ ने तीनों लोकों को डसने वाली सर्पिणी के रूप में कुण्डलिनी की कल्पना की है। वे कहते हैं कि मैंने त्रिभुवन को डसती हुई एक सर्पिणी को देखा है। उसने उसे मारकर (वश में कर) भौंरे को जगा दिया जिसने इस सर्पिणी को मार दिया, कोई उसका क्या बिगाड़ सकता है ? सर्पिणी कहती है कि मैं अबला हूँ फिर भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी को अपने वशीभूत कर लेती हूँ। मतवाली वह सर्पिणी दशों दिशाओं में दौड़ रही है, गारुडी गोरखनाथ पवन (प्राणायाम) के बल से उसे वश में करते हैं—

मारौ मारौ स्रपनी निरमल जल पैठी,
त्रिभुवन डसती गोरषनाथ दीठी ॥

× × ×

माती माती स्रपणी दसौं दिसि धावै,
गोरषनाथ गारडी पवन वेगि ल्यावै ॥[5]

(ख) **गंगा यमुना संगम**—बौद्ध धर्म में जिसे ललना, रसना और अवधूति के नाम से अभिहित किया गया है, नाथ सम्प्रदाय में उसी को इडा, पिंगला और सुषुम्ना कहा गया है, इसी को गंगा, यमुना और सरस्वती तथा इडा को शक्ति और पिंगला को शिव भी कहा गया है; अतः इडा, पिंगला के मिलन को शिव और शक्ति का मिलन ही माना गया है। इडा तथा पिंगला को शक्ति तथा शिव का प्रतीक होने के कारण अधः और ऊर्ध्व भी कहा गया है। इडा, पिंगला को चन्द्र और सूर्य के प्रतीक

---

१. हठ० प्रदी० ३/४७/४८, ४९
२. **कूँची ताली सुषमन करै, उलटि जिभ्या लै तालु में धरै ॥** गोरखबानी, पृ० ४६
३. हठ० प्रदी० ३/१०९/१०
४. नाथ साहित्य में कुण्डलिनी के लिए औंधाकुआ (गो० बानी ९/२३), देवी (५३/१५५), धरती (५६/८१/२६७) गगरि (१४२/४७) भुजंगम (१४७/५०) गंगा (पृ० २) भी कहा है।
५. **गोरखबानी,** पृ० १३९-४०

द्वारा भी व्यक्त किया गया है। चन्द्र और सूर्य नाड़ियों के रोक देने से ही सुषुम्ना का पथ खुलता है।[1] नाड़ियों में इड़ा चन्द्र रूप है और षोडश कला वाली है, पिंगला द्वादश कला वाली रविनाडी है, सुषुम्ना में असंख्य कला वाले तत्व का वास है।[2]

जब तक पवन का निरोध नहीं होता तब तक चन्द्रमा के अमृत को सूर्य सोखता रहता है। पवन निरुद्ध होते ही कालाग्नि सूर्य भी निरुद्ध हो जाता है, ब्रह्माग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है, दशमद्वार खुल जाता है और योगी अमृतपान करने लगता है—

चालत चंदवां खिसिखिसि परै, बैठा ब्रह्मा अगनि परजलै।[3]
गंगा तीर मतीरा अवधू, फिरि फिरि वणिजां कीजै।
चंद सूर दोऊ गगन विलूधा, भईला घोर अंधारं।
पंच वाहक जब न्यन्द्रा पौढ्या, प्रकट्या पौलि पगारं।[4]

यहां गंगा=इडा, चन्द्रनाडी; मतीरा=शीतलता दायक ज्ञान; पंचवाहक= पंचेन्द्रिय आदि के प्रतीक हैं।

एक अन्य स्थान पर गोरखनाथ ने चन्द्र, सूर्य उपमानों को गंगा-यमुना से सम्बद्ध कर एक सुन्दर रूपक की योजना की है—

पवनां रे तू जासी कौनें बाटी।
जोगी अजपा जपै त्रिवेणी कै घाटी।
चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी।
मूंनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन के घाटी॥[5]

हे पवन (प्राण) तुम किस रास्ते जाओगे? त्रिवेणी (त्रिकुटी) में जोगी अजपा जाप कर रहा है (वह मार्ग बन्द है), चन्द्रमा को साबुन की टिकिया और सूरज को पाटी (जिस पर पटक कर धोबी कपड़े धोता है) बनाकर सुषुम्ना में स्थित होकर योगी राजा शरीर रूपी कपड़े को धोता है।

गोरखबानी में इडा, पिंगला, सुषुम्ना को लेकर अनेक चित्र खींचे गए हैं; एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

बांधो बांधौ बछरा पीओ पीओ षीर। × × ×
आकास की धेनु बछा जाया। ता धेनु के पूछ न पाया॥
बारह बछा सोलह गाई। धेन दुहावत रैनि बिहाई।
अचरा न चरै धेन कटरा न षाई। पंच ग्वालियां कौं मारण धाई।
यही धेन का दूध जु मींठा। पीवै गोरषनाथ गगन बईठा॥[6]

---

१. चन्द्र सूर नीं मुद्रा कीन्ही·········सुषमनी चढ़ असमानं॥
—गोरखबानी, पृ० ११०-११

२. वही, पृ० ३३

३. वही, पृ० १८

४. वही, पृ० ९६

५. वही, पृ० ११६

६. वही, पृ० १४७-४८

यहां बछड़ा=मूलाधार में स्थित सूर्य (जो अमृत का शोषण करता है) तथा बर्हिमुख मन के निम्न, चंचल और द्रोही स्वभाव का प्रतीक है;

दूध (षीर)=अमृत; गाय (धेन) सहस्रार स्थित चन्द्र; बारह बछा, सोलह गाई=क्रमश सूर्य की बारह और चन्द्रमा की सोलह कलाएं हैं; अचर गाय=स्थिर ब्रह्मानुभूति; पंच ग्वालियाँ=माया ग्रस्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो ब्रह्मानुभूति रूप अमृत को बांधकर रखना चाहती हैं।

(२) **उलटबांसी—**

परम्परा—उलटबांसी की परम्परा वैदिक साहित्य[1] से ही मिलती है। सिद्धों और नाथों में आकर इस शैली का पर्याप्त विकास हुआ। परवर्ती साहित्य (सन्त आदि) पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यहां हम गोरखबानी से गुरु गोरखनाथ की कुछ उलटबाँसियों का अध्ययन करेंगे।

तत्व रूपी बेल को गोरखनाथ जानते हैं, इस बेल की न शाखाएं हैं, न जड़ें हैं, न फूल है, न छाया है और बिना पानी दिये बढ़ती रहती है। इस बेल पर जब आग (संसार की दुख रूप अग्नि) लगती है तो इतनी भयंकर कि उसकी लपटें (ज्वाला) आकाश तक पहुँच जाती हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों बेल पर आग लगती जाती है त्यों त्यों उसकी शाखायें कोंपल डालने लगती है (अर्थात् भवाग्नि माया के प्रसार के लिए बहुत अनुकूल है, जितनी संसार की जलन (तृष्णा) बढ़ती है, उतना ही मनुष्य उसमें अधिकाधिक उलझता जाता है) यह बेल काटे नहीं कटती, जितना इसे काटने का प्रयत्न किया जाता है उतनी ही यह बेल फलती फूलती रहती है पर ज्ञान रूपी अमृत से सींचते ही कुम्हला जाती है।[2]

यहां बेल=माया; आग लगना=भवाग्नि; गगन=ब्रह्मरन्ध्र; कूंपल (कोंपल)=विविध प्रकार के गुणावगुण, जल से सींचना=ज्ञानामृत चन्द्रस्राव का प्रतीक है।

माया और जीव के सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए गोरखनाथ कहते हैं—

नाथ बोलै अमृत वांणी, बरिषैगी कंवली भीजैगा पाणी।
गाडि पडरवा बांधिलै षूटा, चलैं दमाँमां बाजिले ऊंटा॥
कउवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै।
चले बटावा थाकी बाट, सोवै डुकरिया ठौरे षाट॥
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढ़ै धणी पुकारै ढ़ोर।
ऊजड़ षेडा नगर मझारी, तलि गागरि ऊपरी पनिहारी।
मगरी परि चूल्हा धूंधाइ, पोवणहारा कों रोटी खाइ।
कांमिनी जरै अंगीठी तापै, बिचि बैसंदर थरहर कांपै॥
एक जु रढ़िया रढती आई, बहू बिवाई सासू जाई।

---

१. **'चत्वारि शृंगा.........'** ऋग्० ३/४/५८/३, ४/५/४७५, १/१७/१५/६५, अथर्व०, ६/६/५, श्वेता० ३/१६, कठ० १/२/२१

२. **गोरखबानी,** १०६/७/८

नगरी कौ पांणी कूई आवै, उल्टी चरचा गोरख गावै ।।[१]

नाथ अमृतवाणी बोलता है—कंवली (दैहिक मानसिक कर्म जो सामान्यतया योगी को अमृत की वर्षा में भीगने से बचाते रहते हैं अब शुद्ध होकर) अमृत (मय कर्मों के रूप में) जल (बिन्दु निर्मित अस्तित्व) के ऊपर बरस रही है। पडरवा अर्थात् अविवेक को (जो माया रूप गाय या पशु की सन्तान है) गाड़ कर खूँटे को (अर्थात् माया जो जीव को बाँधने के लिए खूँटे का काम करती है) बाँध लो (उसका निरोध कर लो), दमामा (अनाहत नाद) चलता है, बन्द नहीं है, निरन्तर सुनाई दे रहा है, जिससे ऊँट (स्थूल मन) पर तड़ातड़ मार पड़ रही है, वह बाजे की तरह बजाया जा रहा है। कौआ (क्षुद्र, अविवेकी, ग्राह्याग्राह्य पर विचार न रखने वाला मन) पीपल (बड़ा पवित्र और छाया देने वाला वृक्ष अर्थात् ब्रह्मानुभव) की शाखा (ऊँची अवस्था) पर बैठकर बोलता है। चूहे (सूक्ष्म अन्तर्मुख जीवन) का शब्द सुनकर बिल्ली (माया, जो पहले आध्यात्मिक जीवन को भगाने में समर्थ थीं, अब निर्बल पड़कर) भागने लगी है। चलता तो है (ज्ञान मार्ग का) बटोही किन्तु थकता है (थककर बन्द हो जाता है) मार्ग (क्योंकि ज्ञान मार्ग पर चलने से मोक्ष प्राप्त होता है और मोक्ष प्राप्त हो जाने पर कुछ करना शेष नहीं रह जाता, ज्ञान मार्ग पर चलना अथवा मार्ग ही नहीं है) डुकरिया (माया) अब तक जो आध्यात्मिक जीवन को खाट बनाकर उसे दबा कर सो रही थी अब स्वयं निर्बल पड़ गई है और अब उसे ठौर (लेटने की जगह) बनाकर आत्मा (जो पहले खाट बना था) अब उसके ऊपर बैठ गया है। अब तक मन कुत्ते की तरह रखवाली कर रहा था और आत्मज्ञान को चोर की तरह भागाता रहता था, अब वही कुत्ता (द्रोही मन) छिप गया हैं और उसका स्थान ज्ञान ने ले लिया है, जो भौतिक भावों को भगाता रहता है, यही चोर (आत्मज्ञान) का भौंकना है। लकड़ी (जंगल) पड़ी है अर्थात् जल रही है (जीव जो पहले भवताप से जला करता था अब अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर ताप रहित हो गया है) और चूल्हा वह स्थान या वस्तु जिसमें रखकर लकड़ी जलाई जाती है स्वयं धुंआधार जल रहा है (अर्थात् माया जिसके संसर्ग से जीव जलता था, स्वयं जल रही है, नष्ट हो रही है।) इन्द्रियाँ, नवरंध्र आदि से बसी हुई जो माया की नगरी थी अब वह उजड़े गांव सी हो गई हैं, इन्द्रियां आदि अब विभव हीन हो गई हैं, अब उन्हें विषयों का खाद्य नहीं मिलता है। इस नगरी (शरीर) में गागर नीचे है और पनिहारी ऊपर है। आत्मा (पनिहारिन) का निवास स्थान ब्रह्मरन्ध्र है और कुण्डलिनी (गागर) का, जिसके द्वारा ब्रह्मानन्द रस का अनुभव होता है, मूलाधार है। जितने विभेद हैं वे सब माया के बनाए हैं और उन विभेद वस्तुओं को बनाकर माया फिर नष्ट कर देती है जैसे रोटी पकाने वाली रोटी को खा जाती है। किन्तु अब अवस्था बदल गई है। पकाने वाली (माया) को रोटी (जीव, जिसका ब्रह्म से विभिन्न रूप माया कृत है) खा रही है। ब्रह्मानुभूति होने पर माया नष्ट हो जाती है।

---

१. गोरखबानी, पद ४७, पृ० १४१-४२

सामान्य अवस्था में अंगीठी (जीवात्मा-त्रयताप से) जलती है और कामिनी (माया) तापती है किन्तु अब (ब्रह्म साक्षात्कार के कारण) कामिनी (माया) जल रही है और अंगीठी ताप रही है। जीवात्मा को ब्रह्मानन्द प्राप्त हो रहा है। जलती हुई माया ब्रह्माग्नि में थर-थर कांप रही है, क्योंकि उसे पूर्णतया नष्ट होने का भय है। एक हठ करने वाली दृढ़ निश्चया बहू (आत्मा) हठ करती आई तो ऐसी अवस्था आ जाती है कि बहू सास को जन्म देती है। मायिक उलझन बहू है। वह अपने पति-जीवात्मा को मोहित किए रहती है। जीवात्मा ब्रह्मसत्ता का पुत्र है इसलिए ब्रह्मसत्ता माया अथवा मायिक उलझन सास हुई। दृढ़ लगन और साधना से यह मायिक उलझन (संसर्ग) भी ब्रह्मानुभूति (ब्रह्म सत्ता) को जन्म दे देता है। यही बहू का सास जनना है।

जैसे कुएँ से पानी निकालकर नगर में पहुँचाया जाता है उसी प्रकार ब्रह्मत्व (या ब्रह्मरन्ध्र) से निकलकर योगशक्ति कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में स्थित है। योगी अपनी साधना के द्वारा उसे उलटकर फिर मूलस्थान पर पहुँचा देता है। यही नगर के पानी को कुए पर पहुँचाना है। गोरख ऐसी उल्टी चर्चा गाता है।[1] इस प्रकार गोरखबानी में 'उल्टी चर्चा' के स्थान स्थान पर दर्शन होते हैं, सबका वर्णन न तो सम्भव ही है और न समीचीन ही। नाथ सम्प्रदाय साहित्य की इन उलटबाँसियों का सन्तकवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है।

(३) वैदिक साहित्य के परम्परागत प्रतीक :

वैदिक साहित्य में प्रतीकों की एक स्वस्थ और लम्बी परम्परा के दर्शन होते हैं, समस्त परवर्ती साहित्य वैदिक साहित्य के व्यापक प्रभाव से अछूता नहीं है, नाथ साहित्य में भी वैदिक प्रतीकों का यत्रतत्र प्रयोग मिल जाता है।

वैदिक साहित्य[2] में परमात्मतत्व की अभिव्यक्ति वृक्ष के माध्यम से की गई है। गुरु गोरखनाथ ने इस विशाल वृक्ष को तत्वरूपी बेल का रूपक दिया है। वे कहते हैं कि इस बेल की न शाखाएँ हैं, न जड़ हैं और न छाया है। बिना पानी के ही यह बढ़ती रहती है। इसका मूल शशधर के समान है जो सहस्रार में स्थित है, सूर्य जैसे पत्ते हैं; (यहां चन्द्रमा ज्ञानामृत का और सूर्य माया का प्रतीक है), यह माया ऊर्ध्व-मूल और अधः शाख है।[3] बेल को माया का प्रतीक माना जा सकता है। इस मिथ्या संसार के क्षणिक सुखों को सर्वस्व मानने वाले व्यक्ति की सत्ता गगन पुष्प या जल में प्रतिबिम्बित ऊर्ध्वमूल अधःशास्त्र वाले वृक्ष के समान है, क्योंकि यह संसार रूपी फूल गगन में निराश्रय ही फूला है जो कि वृक्ष रूप है जिसकी मर्त्यादि लोक रूप डालें

---

१. **डा० बडथ्वाल, गोरखबानी,** पृ० १४१,४२,४३

२. ऋग्, १/१६४/२०; अथर्व० ६/२४/२०, मुण्डक० ३/१/१ कठ० ३/१; गीता१५/१

३. **तत बेली सो तत बेली सो, अवधू गोरखनाथ जाणीं।**
डाल न मूल पुहुप नहीं छाया, बिरधि करै बिन पाणीं॥

× × ×

काटत बेली कूंपल मेल्ही सींचतंडा कुमिलाये॥ गो० बानी, पृ० १०६, ७, ८

नीचे फैली हैं और ईश्वर हिरण्यगर्भ लोकादि रूप मूल ऊपर फैली हैं। इसके आश्रय में अविद्या, अज्ञान, मोह, कर्म रूपी शाखा-प्रतिशाखाएँ संसार में मिथ्या रूप में फैली हुई हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य से वृक्ष के प्रतीक को ग्रहण कर गोरखनाथ ने एक विस्तृत रूपक योजना प्रस्तुत की है।

वेदों में उस परम तत्व की पुरुष रूप में कल्पना की गई है। ईश्वर के सर्व-व्यापी प्रभाव और विशालता को चित्रित करने के लिए पुरुष को सहस्र शीर्षवाला, सहस्र आंख, सहस्र पैर वाला बताया है, उसने पृथ्वी को चारों ओर से आक्रान्त कर रखा है, किन्तु फिर भी वह नाभि से दशांगुल ऊपर हृदयाकाश में स्थित है, सर्वव्यापी और महान् होते हुए भी वह हृदय रूप एक देश में स्थित है।[1] ऐसा अजन्मा अनन्त आत्मरूप तत्व को न शस्त्र काट सकते हैं, न पावक जला सकती है, न पानी गला सकता है और न वायु सुखा सकती है।[2] इस दार्शनिक विचारधारा का परवर्ती काव्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गुरु गोरखनाथ कहते हैं 'आत्मतत्व का अनुभव प्राप्त कर लेने पर पुरुष को न तो आकश गुप्त कर सकता है, न अग्नि सुखा सकती है, न हवा इधर उधर झोंके से उड़ा (प्रेरित कर) सकती है, न पृथ्वी का भार तोड़ (विभक्त) सकता है, न पानी डुबा सकता है; पर जनसाधारण से सामान्यतया विरोध होने के कारण मेरी इस बात को कौन मानेगा ? पर वास्तव में उसी के स्वाद से सारा जग मीठा है, सारे जगत में सुगन्धि व्याप्त है, जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उनके लिए संसार के आत्यतिक दुख की कटुता मिट जाती है।[3] क्योंकि वह परमात्मा सब कारणों का भी कारण है। सब कारणों का कारणत्व उसी से प्राप्त हुआ है। स्वयं उसके लिए उन कारणों में कोई कारणत्व नहीं। लवण उसके सामने अलौना है, उस शक्ति को वह स्वाद प्रदान नहीं कर सकता; घी भी उसके सामने रूखा है, शोषण शक्ति से रहित हवा प्यासी है, अन्न भूखा हो जाता है, अग्नि जाड़े में मरने लगती है, कपड़ा नंगा-नंगा चिल्लाने लगता है,[4] जिन-जिन वस्तुओं में जो भी प्रभाव होता है उसके सामने सब नष्ट हो जाता है। वास्तव में आत्मा की सत्ता ही ऐसी है जिसकी समस्त भारतीय दर्शन और साहित्य में अभिव्यक्ति हुई है।

---

१. सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपाद।
स भूमिं विश्वते वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥ ऋग्० १०/९०/१, यजु० ३१/१
अथर्व० १९/६/१

२. गीता, २/२३

३. गगने न गोपंत तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई।
मही भारे न भाजंत उदके न डूबंत, कहौ तो को पतियाई॥
बास सहेती सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा।
सांच कहूं तो सतगुरु मांने, रूप सहेता दीठा।—गोरखबानी, पृ० ११७-११८

४. लूंण कहै अलूंणां लागू, घृत कहै मैं रूषा।
अनल कहै मैं प्यासा मूवा, अन्न कहै मैं भूखा॥
पावक कहै मैं जाडण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा।
अनहद मृदंग बाजै, तहां पागुल नाचन लागा॥ वही, पृ० ११७-११८

(४) सिद्ध साहित्य के प्रतीक

नाथपंथ वज्रयानी सिद्धों की सहज साधना का ही सशक्त रूप था। नाथ साहित्य पर शैव और सिद्ध-बौद्ध विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। स्वभावत: सिद्धों की प्रतीकात्मक (पारिभाषिक) शब्दावली का नाथ साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। विषय को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

(क) **घोड़ा तथा सवार का रूपक**—पवन निरोध के लिए पवन को घोड़ा मानकर उसे वशीभूत करने का रूपक सिद्धों ने बाँधा है।[1]

नाथपन्थी योगियों ने इस रूपक का चित्रण इस प्रकार किया है—

सहज पलाण पवन करि घोड़ा लै लगांम चित चबका।
चेतनि असवार ग्यान गुरु करि और तजौ सब डबका ॥[2]

अर्थात् उस परब्रह्म रमता राम से चौगान का खेल खेलने के लिए सहज की जीन, पवन का घोड़ा और लय की लगाम बनाओ, चेतन (आत्मा) को सवार बनाओ और इस प्रकार सब उपायों को छोड़कर सवारी करते हुए गुरु ज्ञान तक पहुँचो, उसे प्राप्त करो।[3]

(ख) **ताला कुंजी**—पवन निरोध का रूपक सिद्धों ने तालाकुंजी के उपमानों द्वारा प्रस्तुत किया है। प्राणायाम द्वारा पवन के बन्ध को वज्रयानी सिद्धों[4] ने अध: और ऊर्ध्व मार्ग में ताला लगाने के रूपक से वर्णित किया है।

---

१. **एहु मण मेल्लह पवण तुरंग सुचंचल।**
सहज सहावे णे वसइ होइ णिच्चल ॥ सिद्ध साहित्य, पृ० ४६२

२. **गोरखबानी**, पृ० १०३

३. **सन्त कवियों ने भी पवन निरोध के लिए इसी रूपक को अपनाया है। सहज के पांवडे से युक्त मनरूपी अश्व पर कबीर जी की सवारी दर्शनीय है—**

देह मुहार लगामु पहिरावउ, सगलत जीन गगन दउरावउ।
अपनै बीचारि असवारी कीजै, सहज के पांवडै पगु धरि लीजै ॥

सन्त कबीर, पृ० ३३

पवन के घोड़े पर सुरत को सवार बनाकर पलटू ने एक सुन्दर प्रतीक योजना की है—

सत्त को जीन, सन्तोष लगाम है, गुरु ज्ञान को पाखर जाय डारा।
बिस्वास रकाब में जुगति की एड दै, पांच पचीस मवास मारा ॥
पवन का घोड़ा सुरति असवार है, प्रेम की माल है मर्म माला।
विवेक देवान इन्साफ पर बैठि के मुक्ति को कैद जंजीर डाला ॥

पलटू साहिब की बानी, भाग २, रेखता ३७, पृ० १३

४. **पवण गमण दुआरे दिढ ताला वि दिज्जई।** काण्हपा, हिन्दी काव्य धारा पृ० १४८
सासु घरे घालि कोंचा ताल
चांद सुज वेणि पखा फाल। गुण्डरीपा, वही, पृ० १४२

नीचे फैली हैं और ईश्वर हिरण्यगर्भ लोकादि रूप मूल ऊपर फैली हैं। इसके आश्रय में अविद्या, अज्ञान, मोह, कर्म रूपी शाखा-प्रतिशाखाएँ संसार में मिथ्या रूप में फैली हुई हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य से वृक्ष के प्रतीक को ग्रहण कर गोरखनाथ ने एक विस्तृत रूपक योजना प्रस्तुत की है।

वेदों में उस परम तत्व की पुरुष रूप में कल्पना की गई है। ईश्वर के सर्व-व्यापी प्रभाव और विशालता को चित्रित करने के लिए पुरुष को सहस्र शीर्षवाला, सहस्र आंख, सहस्र पैर वाला बताया है, उसने पृथ्वी को चारों ओर से आक्रान्त कर रखा है, किन्तु फिर भी वह नाभि से दशांगुल ऊपर हृदयाकाश में स्थित है, सर्वव्यापी और महान् होते हुए भी वह हृदय रूप एक देश में स्थित है।[१] ऐसा अजन्मा अनन्त आत्मरूप तत्व को न शस्त्र काट सकते हैं, न पावक जला सकती है, न पानी गला सकता है और न वायु सुखा सकती है।[२] इस दार्शनिक विचारधारा का परवर्ती काव्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। गुरु गोरखनाथ कहते हैं 'आत्मतत्व का अनुभव प्राप्त कर लेने पर पुरुष को न तो आकश गुप्त कर सकता है, न अग्नि सुखा सकती है, न हवा इधर उधर झोंके से उड़ा (प्रेरित कर) सकती है, न पृथ्वी का भार तोड़ (विभक्त) सकता है, न पानी डुबा सकता है; पर जनसाधारण से सामान्यतया विरोध होने के कारण मेरी इस बात को कौन मानेगा ? पर वास्तव में उसी के स्वाद से सारा जग मीठा है, सारे जगत में सुगन्धि व्याप्त है, जिसको ब्रह्मानन्द का आस्वाद मिल जाता है उनके लिए संसार के आत्यतिक दुख की कटुता मिट जाती है।[३] क्योंकि वह परमात्मा सब कारणों का भी कारण है। सब कारणों का कारणत्व उसी से प्राप्त हुआ है। स्वयं उसके लिए उन कारणों में कोई कारणत्व नहीं। लवण उसके सामने अलौना है, उस शक्ति को वह स्वाद प्रदान नहीं कर सकता; घी भी उसके सामने रूखा है, शोषण शक्ति से रहित हवा प्यासी है, अन्न भूखा हो जाता है, अग्नि जाड़े में मरने लगती है, कपड़ा नंगा-नंगा चिल्लाने लगता है,[४] जिन-जिन वस्तुओं में जो भी प्रभाव होता है उसके सामने सब नष्ट हो जाता है। वास्तव में आत्मा की सत्ता ही ऐसी है जिसकी समस्त भारतीय दर्शन और साहित्य में अभिव्यक्ति हुई है।

---

१. सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपाद।
स भूमिं विश्वते वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥ ऋग्० १०/६०/१, यजु० २१/१
अथर्व० १९/६/१

२. गीता, २/२३

३. गगने न गोपंत तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई।
मही भारे न भाजंत उदके न डूबंत, कहौं तो को पतियाई॥
बास सहेती सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा।
सांच कहूं तो सतगुरु मांने, रूप सहेता दीठा।—गोरखबानी, पृ० ११७-११८

४. लूंण कहै अलूंणां लागू, घृत कहै मैं रूषा।
अनल कहै मैं प्यासा मूवा, अन्न कहै मैं भूखा॥
पावक कहै मैं जाडण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा।
अनहद मृदंग बाजै, तहां पागुल नाचन लागा॥ वही, पृ० ११७-११८

(४) सिद्ध साहित्य के प्रतीक

नाथपंथ वज्रयानी सिद्धों की सहज साधना का ही सशक्त रूप था। नाथ साहित्य पर शैव और सिद्ध-बौद्ध विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। स्वभावतः सिद्धों की प्रतीकात्मक (पारिभाषिक) शब्दावली का नाथ साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। विषय को स्पष्ट करने के लिए यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे—

(क) **घोड़ा तथा सवार का रूपक**—पवन निरोध के लिए पवन को घोड़ा मानकर उसे वशीभूत करने का रूपक सिद्धों ने बाँधा है।[1]

नाथपन्थी योगियों ने इस रूपक का चित्रण इस प्रकार किया है—

सहज पलाण पवन करि घोड़ा लै लगांम चित चबका।
चेतनि असवार ग्यान गुरु करि और तजौ सब डबका॥[2]

अर्थात् उस परब्रह्म रमता राम से चौगान का खेल खेलने के लिए सहज की जीन, पवन का घोड़ा और लय की लगाम बनाओ, चेतन (आत्मा) को सवार बनाओ और इस प्रकार सब उपायों को छोड़कर सवारी करते हुए गुरु ज्ञान तक पहुँचो, उसे प्राप्त करो।[3]

(ख) **ताला कुंजी**—पवन निरोध का रूपक सिद्धों ने तालाकुंजी के उपमानों द्वारा प्रस्तुत किया है। प्राणायाम द्वारा पवन के बन्ध को वज्रयानी सिद्धों[4] ने अधः और ऊर्ध्व मार्ग में ताला लगाने के रूपक से वर्णित किया है।

---

१. **एहु मण मेल्लह पवण तुरंग सुचंचल।**
सहज सहावे णे वसइ होइ णिच्चल॥ सिद्ध साहित्य, पृ० ४६२

२. **गोरखबानी**, पृ० १०३

३. **सन्त कवियों ने भी पवन निरोध के लिए इसी रूपक को अपनाया है। सहज के पांवड़े से युक्त मनरूपी अश्व पर कबीर जी की सवारी दर्शनीय है—**

देह मुहार लगामु पहिरावउ, सगलत जीन गगन दउरावउ।
अपनै बीचारि असवारी कीजै, सहज के पांवडै पगु धरि लीजै॥
सन्त कबीर, पृ० ३३

पवन के घोड़े पर सुरत को सवार बनाकर पलटू ने एक सुन्दर प्रतीक योजना की है—

सत्त को जीन, सन्तोष लगाम है, गुरु ज्ञान को पाखर जाय डारा।
बिस्वास रकाब में जुगति की एड दै, पांच पचीस मवास मारा॥
पवन का घोड़ा सुरति असवार है, प्रेम की माल है मर्म माला।
विवेक देवान इन्साफ पर बैठि के मुक्ति को कैद जंजीर डाला॥
पलटू साहिब की बानी, भाग २, रेखता ३७, पृ० १३

४. **पवण गमण दुआरे दिढ ताला वि दिज्जई।** काण्हपा, हिन्दी काव्य धारा पृ० १४८
सासु घरे घालि कोंचा ताल
चांद सुज वेणि पखा फाल। गुण्डरीपा, वही, पृ० १४२

नाथपंथी बानियों में भी ताला और कुंजी का रूपक पवन बन्ध के अर्थ में आया है पर वहाँ इस प्रतीक का दो अर्थों में प्रयोग हुआ है—

(क) नाद को अन्तर्मुखी करने के लिए; अधः ऊर्ध्व पवन को ताली लगाकर (केवल कुम्भक द्वारा) मन को स्थिर करने के अर्थ में—

अरधै उरधैं लाइलैं कूंची, थिर होवे मन तहां थाकीले पवनां ।
दसवां द्वार चीन्हिले, छूटै आवां गमनां ।।[1]

(ख) ताला लगाने के साथ-साथ ब्रह्मरन्ध्र या दशमद्वार का ताला खोलने की कल्पना भी ग्रहण की गई है। यहाँ शब्द का ताला है और चरमावस्था निःशब्द की कुंजी है—

सबदहि ताला, सबदहि कूंची, सबदहि सबद जगाया ।
सबदहिं सबद रचूं पाया हूआ सबदहि सबद समाया ।[2]
अवधू निहसबद कूंची सबद ताला ।।[3]

शब्द ही ताला है, वही परम तत्व को बन्द किए रहता है। शब्द की धारा सूक्ष्म परमतत्व पर स्थूल आवरणों को बाँधकर सृष्टि का निर्माण करती है। मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द की धारा पकड़कर वापिस आना पड़ता है इसीलिए शब्द कुंजी भी है, जिससे ताला खोला जा सकता है। स्थूल शब्द के द्वारा सूक्ष्म शब्द का परिचय होने पर स्थूल शब्द सूक्ष्म शब्द में समा जाता है।

गोरखनाथ ने खेचरी मुद्रा के अर्थ में भी ताला-कुंजी के रूपक को अपनाया है।[4]

(ग) **चोर**—चंचल, काम, क्रोध, वासना, क्लेश आदि विकारों से ग्रस्त या अभिभूत मन के लिए चोर शब्द का प्रयोग हुआ है। हठयोग साधना में प्राणायाम आदि श्वास निरोधक साधनों से स्थिर मन तत्वरूपी अमर धन को प्राप्त करने लगता है तभी इस बात की आशंका जागृत हो उठती है कि कठिन परिश्रम से प्राप्त किए तत्वरूपी इस धन को कहीं वासना विकल प्रवृत्तियाँ रूपी चोर चुरा न ले जाए। इसीलिए सिद्धों ने कहा है कि जो स्वामी है वही चोर भी है।[5] यही वासनाभिभूत मन (या माया श्वलित अन्तःकरण) ही साधना पथ का सबसे बड़ा अवरोधक है। यह सदैव घात लगाए बैठा रहता है कि कब स्वामी सोए और कब यह अपना काम करे। साधक अनजान सा बना बैठा रहता है और यह चतुर चोर उसका तत्वरूपी धन चुराकर उसे वैभवहीन कर जाता है। इसलिए साधना पथ में इस चतुर चोर से सावधान रहने का उपदेश गोरखनाथ देते हैं—

१. **गोरखबानी**, पृ० ११७
२. वही, पृ० ८
३. वही, पृ० १९९
४. वही, पृ० ४६
५. **'जो सो चोर सोई साधी'**। सिद्ध ढेण्ढ़णपा, हिन्दी काव्य धारा; पृ० १६४

काया हमारैं सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदार ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वार ।।[1]

(घ) **सास ससुर**—सिद्ध और नाथ साहित्य में सास-ससुर का प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है । सिद्धों ने परिशुद्धावधूति को वधू रूप में ग्रहण करने का उपदेश देकर सास (श्वास तथा इन्द्रियादि) और ससुर को सुलाने या मारने[2] का आदेश दिया है । कुक्कुरीपा ने सुसुरा के सोने और वधू के जागने का प्रतीकात्मक वर्णन अपने एक चर्यापद में किया है ।[3] इसमें सुसुरा (श्वास) को चतुर्थानन्द (सहजानन्द) अवस्था में योग निद्रा में लीन होने का प्रतीक माना जा सकता है । गुण्डरीपा इसी श्वास निरोध को सास के घर में ताला बन्द करने की प्रतीकात्मक शैली में कहते हैं ।[4]

सिद्धों के बहुचर्चित सास, ससुर, नन्द, साली आदि के इस प्रतीकात्मक वर्णन का नाथपंथी योगियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । नाथपंथियों ने कुम्भक समाधि द्वारा मणिपूर चक्र में स्थित प्राण और अपान वायु को सास ससुर की संज्ञा दी है । गुरु गोरखनाथ कहते हैं—

कौंण अस्थांनिकि तोरा सासू नैं सुसरा,
कौंण अस्थांन क तोरा बासा ।
× × ×
नाभ अस्थांन क मोरा सासू नैं सुसरा
ब्रह्म अस्थांन-क मोरा बासा ।[5]

(ङ) **शून्य**—बौद्ध सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपायात्मक साधना पद्धति में शून्य को नैरात्मा बालिका, प्रज्ञा तथा महामुद्रा रूप में ग्रहण किया है, महासुखचक्र में भी इसी शून्यता की स्थिति मानी है । नाथ सम्प्रदाय में भी शून्य को परमतत्व के रूप में ग्रहण करते हुए भी उसमें अपने अनुसार कुछ परिवर्तन कर लिए हैं । गुरु गोरखनाथ ने एक स्थान पर शून्य के सम्बन्ध में कहा है—

बसती न सुन्यम सुन्यम न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन सिषर महि बालक बोले, ताका नांव धरहुगे कैसा ।[6]

शून्य को 'गगन सिषर महि बालक बोले' रूप में पूर्ववर्ती बौद्ध सम्प्रदाय ने कभी चित्रित नहीं किया । गोरखनाथ ने ऐसा कहकर शून्य का सम्बन्ध शब्द या नाद तत्व से जोड़ दिया है । 'वास्तव में शिव और शक्ति की कल्पना नाद तथा बिन्दु के रूप में हठयोगी तथा तांत्रिक सम्प्रदायों में बहुत पहले से थी जिनमें नाद तत्व या शब्द ब्रह्म को समस्त सृष्टि का मूल कारण माना गया था ।'[7]

१. **गोरखबानी,** पृ० १२०
२. **मारिअ सासु नणंद घरे शाली**···। हिन्दी काव्य धारा, पृ० १५०
३. **'सुसुरा निंद बहुडी जागअ''** । वही, पृ० १४२-४४
४. **सासु घरे घालि**···। वही, पृ० १४२
५. **गोरखबानी,** पृ० १०५
६. वही, पृ० १
७. **सिद्ध साहित्य,** पृ० ३३८

नाथ सम्प्रदाय में शून्य को शब्द या परम नाद का पर्याय मान लिया है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए नाथ योगी सिंगी धारण करते थे, उसे बजाते थे, क्योंकि वह सिंगी नाद का प्रतीक थी। इसे अनहद नाद की ध्वनि मानते हुए कहा गया है—

सुनि गरजत बाजन्त नाद आलेष लेखंत ते निज प्रवांणी।[1]

यह नाद या शब्द सृष्टि का मूलकारण तथा परम तत्व, परम ज्ञान, परम स्वभाव था, अतः नाथ सम्प्रदाय में इसे माता, पिता तथा सर्वस्व बताया गया है—

सुंनि क माइ सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि के परिचै भया सधीर। निहचल जोगी गहिर गंभीर॥[2]

परन्तु इस परमतत्व के ज्ञान को गोरखनाथ दुर्लभ बताते हैं—

घटि घटि सुण्यां ग्यांन न होइ। बनि बनि चंदन रूख न कोइ॥[3]

नाथ साहित्य में सहस्रार में स्थित ब्रह्मरन्ध्र के रूप में भी शून्य का प्रयोग हुआ है—

गगन मंडल में सुंनि द्वार। बिजली चमके घोर अन्धार॥[4]

गगन मण्डल को शून्य मण्डल के रूप में भी चित्रित किया गया है—

सुनि मण्डल तहां नीझर झरिया। चंद सुरज से उनमनि धरिया।[5]

इस प्रकार बौद्ध वज्रयानी सिद्धों से शून्य शब्द को लेकर नाथ साहित्य में उसका विविधेन चित्रण हुआ है।

(च) सहज—शून्य के समान सहज शब्द का प्रयोग भी सिद्धों में परमतत्व के अर्थ में हुआ है। काण्हपा कहते हैं कि 'सहज ही परमतत्व है, वही एकमात्र परम-तत्व है, काण्हपा ही इसे जानते हैं किन्तु बहुत से शस्त्रागम का पठन पाठन और श्रवण करने वाले उसे नहीं जानते, किन्तु जो उस सहज लक्ष्य को जान लेता है उसको विषय विकल्प रूपी संसार से छुटकारा मिल जाता है।'[6] इसी सहज रूपी परमतत्व में स्थित होकर जिस अमृत रस की उपलब्धि होती है उसे न गुरु कह सकता है न शिष्य समझ सकता है। साधक सहज सुख प्राप्त होने पर योगनिद्रा में लीन हो जाता है। वेदनाएं मिट जाती हैं, अपने पराए का भेद मिट जाता है। स्वसंवेद्यावस्था में सारा संसार स्वप्नवत् प्रतीत होने लगता है। इस ज्ञान निद्रा में त्रिभुवन शून्यमय हो जाता है, आवागमन के बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं—

सुण वाह तथता पहारी। मोह भण्डार लइ सअला अहारी॥
स्वपणे मइ देखिल तिहुवण सुण। छोलिया अवणागवण विहुण॥[7]

१. **गोरखबानी**, पृ० ३२
२. वही, पृ० ७३
३. वही, पृ० ५८
४. वही, पृ० ६०
५. वही, पृ० २०
६. **हिन्दी काव्य धारा**, पृ० १४६-४८
७. **डा० हरिवंश कोछड़**, चर्यापद ३६, अपभ्रंश साहित्य

सिद्धों ने सहज को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। उन्होंने अपनी साधना से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का नाम सहज दिया है। यथा—सहज तत्व, सहज ज्ञान, सहज स्वरूप, सहज सुख, सहज समाधि, सहज काया, सहज पथ, यहाँ तक कि बुद्ध को सहज सम्बर और नैरात्मा या शून्यता को सहज सुन्दरी कहा जाने लगा।[1]"

नाथ साहित्य में भी सहज को व्यापक रूप में ग्रहण किया गया है। डा० धर्मवीर भारती के अनुसार सहज का प्रयोग निम्नलिखित रूपों में मिलता है—

क. परम तत्व के रूप में[2]
ख. परम ज्ञान, परम स्वभाव के रूप में[3]
ग. देह के अन्दर योगिनी या शक्ति से संगम लाभ करने की योग पद्धति[4]
घ. सहज समाधि[5]
ङ. परमपद, परमसुख अथवा आनन्द के रूप में[6] और
च. जीवन पद्धति के रूप में।[7]

(५) **विविध प्रतीक**—ऊपर जिन प्रतीकों का विवेचन हो चुका है उसके अतिरिक्त भी नाथ साहित्य में इतने प्रतीक भरे पड़े हैं कि उनका विशद् विवेचन सम्भव नहीं है, फिर भी यहां हम कुछ ऐसे प्रतीकों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे जिनके बिना यह प्रसंग अधूरा ही रह जाएगा।

(क) **व्यवसाय परक प्रतीक**—गुरु गोरखनाथ व्यापारी हैं, वे सहज ज्ञान का व्यापार करते हैं; वे पांच इन्द्रिय रूपी बैल और नौ रन्ध्र रूपी गाय बेचने आए हैं—

सहज गोरषनाथ बाणिज कराई, पंच बलद नौ गाई।[8]

सुनार के रूप में गोरखनाथ आत्मानंद, अमृत रूपी सोना बेचते हैं—

सोना ल्यौ रस सोनां ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे।

× × ×

उनमनि डांडी मन तराजू पवन कीया गदिमांनां।
आवै गोरषनाथ जोषण बैठा, तब सोना सहज समांनां॥[9]

---

१. सिद्ध साहित्य, पृ० १७९
२. गोरखबानी, पृ० १००
३. वही, पृ० १९६, ११६
४. वही, पृ० १००, १०५
५. वही, पृ० १०४/२१८
६. वही, पृ० २३१
७. वही, पृ० ११,७९
८. वही, पृ० १०४
९. वही, पृ० ९१,९२

संक्षेप में अन्य प्रतीक इस प्रकार हो सकते हैं—इन्द्रियां = गाय[१]। मन = बैल[२], गज,[३] मृग[४]। हंस = चित्त, पवन या प्राण[५]। साधक = भुजंग,[६] पारथी,[७]। काया—= नगरी,[८]। कपूर युक्त ताम्बूल = एक विस्तृत प्रतीकात्मक रूपक[९]। माया = बाधिन,[१०] सर्पिणी,[११] बाँझ,[१२] गाय,[१३] खरहा[१४] आदि।

इस प्रकार नाथ साहित्य प्रतीकों की दृष्टि से काफी समृद्ध है। ये प्रतीक जहां उन्हें पूर्ववर्ती बौद्ध तथा शैव परम्परा से प्राप्त हुए हैं, वहाँ साम्प्रदायिक विशेषताओं से अभिभूत इनकी अपनी पृथक प्रतीक योजना भी है। नाथ साहित्य में प्रतीकों के माध्यम से सिद्धान्त कथन ही अधिक हुआ है। काव्य का भाव पक्ष या कला पक्ष अपेक्षाकृत उतना कलापूर्ण नहीं है। वास्तव में नाथपंथ समय की एक प्रबल प्रतिक्रिया थी। उसमें तत्कालीन समाज में फैली धार्मिक बिडम्बना, थोथी, निर्मूल साधना पद्धति, मिथुनपरक सिद्धियां, अनाचार आदि के प्रति व्यापक विद्रोह का स्वर उभर कर आया है। गोरखनाथ वज्रयानी सिद्धों की परम्परा को तोड़कर एक ज्योति स्तम्भ के समान अज्ञानान्धकार को दूर करने में समर्थ हुए हैं; पर साधनात्मक जटिलता के कारण नाथ सम्प्रदाय भी जन सामान्य में उतना प्रचलित नहीं हो पाया। फिर भी सिद्धों और नाथों के उपदेशों, बानियों आदि का परवर्ती साधकों (सन्त कवियों) पर व्यापक प्रभाव पड़ा है।

---

१. एक गाइ नौ बछड़ा पंच दुहेबा जाइ। गोरखबानी, पृ० ११३
२. 'मन बछो', वही, पृ० २५४
३. दसवै दरवाजै कूची सार, मैमन्त हस्ती बंधिवा बार।—वही, पृ० १७५
४. हैयौ ह्यौ मृगलौ बेधियौ बांण।—वही, पृ० ११६.
५. सोहम् बाई हंसा रूपी प्यंड बहै। वही, पृ० ६६
६. ऐसा भवंगम जोगी करे। धरती सोषै अम्बर झरै।
कुण्डिलनी रूपी नागिन का स्वामी, वही, पृ० १७४
७. आइसो भील पारधी हाथि हाथ न पाई। वही, पृ० ११६
८. काया हमारे सहर बोलिये मन बोलिय हुजदार। वही, पृ० १२०
९. काम क्रोध वाली चूंनां कीथा, कंद्रप कीया कपूरं।
मन पवन दो काथ सुपारी, उनमनी तिलक सीदूरं। वही, पृ० १०६
१०. दिवसैं बाधणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि-घरि बाघिण पोषै। वही, पृ० १३७
११. मारौ मारौ स्रपनी निरमल जल पैठी, त्रिभुवन डसती गोरषनाथ दीठी।
वही, पृ० १३६
१२. बारें बरसें बंझ ब्याई। वही, पृ० १२६
१३. गायां बाघ बिडारयाजी। वही, पृ० १५४
१४. सुसलै समदां लहरि मनाई। वही, पृ० १५४

५. सन्त काव्य में प्रतीक : परम्परा और विकास

निर्गुण ब्रह्म को आराधना का आधार बनाकर सन्त काव्य के प्रतिनिधि कवि कबीर ने समय की बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की। उस समय के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक कारणों ने इस आध्यात्मिक आन्दोलन (निर्गुण सम्प्रदाय) को अर्थ गम्भीर्य और रूप की नवीनता प्रदान की। अद्वैत के सर्वेश्वरवाद और मुसलमानों के एकेश्वरवाद को ग्रहण कर कबीर ने सर्वव्यापी और सर्वतत्वभूत सर्वान्तिर्यामी शक्ति की आराधना का उपदेश देते हुए दोनों को एक ही झंडे के नीचे लाने का भगीरथ प्रयत्न किया। सब धर्मों के मूल में उन्हें एक ही ईश्वर की छाया दीख पड़ी। थोथे कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए कबीर ने निर्गुण की जो दिव्य ज्योति प्रकाशित की उससे समस्त वातावरण आलोकित हो उठा था, पर उस दिव्य ज्योति और दिव्य रूप की सामान्य भाषा में अभिव्यक्ति सम्भव न थी अत: इन ज्ञानद्रष्टा कविर्मनिषियों ने जिस भाषा को अपनाया वह प्रतीकात्मक ही थी। निर्गुणपन्थी सन्तों ने प्रतीकों की ही भाषा में तत्व निरूपण किया है।

सन्तकाव्य में कबीर, दादू, नानक, रैदास, मलूकदास, पलटू आदि उन सन्तों की गणना की जाती है जिन्होंने न कभी मसि कागद छुआ और न कभी कलम हाथ गही, पर प्रेम का ढाई आखर पढ़कर पण्डित हो गए। जिस निराकार निर्गुण राम की इन सन्तों ने उपासना की, वह मूर्तिमन्त राम से भिन्न था। इस संसार की सत्ता उसी से है। इनका भक्ति मार्ग शुद्ध भारतीय वेदान्त सम्मत एकेश्वरवाद पर आधारित है पर इसमें वह शुष्कता नहीं है क्योंकि सूफी कवियों के प्रेमाश्रुओं से इसकी पृष्ठभूमि आर्द्र है। रागात्मक तत्व आजाने के कारण सन्त मत सिद्धान्त प्रदर्शन करने वाले नाथ पन्थ की शुष्कता से मुक्त रहा। इस मत की सबसे बड़ी विशेषता 'ज्ञान' और भक्ति का सुन्दर समन्वय है पर इसके साथ-साथ कर्म के क्षेत्र में ये सिद्ध और नाथपन्थी योगियों के ही अनुयायी रहे हैं। विज्ञान, शून्य, निरंजन, निर्वाण, सहज, सुरति, वज्र आदि अनेकानेक शब्दों पर बौद्ध वज्रयानियों का स्पष्ट प्रभाव है; हठयोगपरक शब्द कुण्डलिनी, षट्चक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, अमृत कुण्ड आदि शब्दों पर नाथपन्थी योगियों का प्रभाव है। अन्त:-शरीरी को अभिव्यक्त करने के लिए इन्होंने जिन प्रतीकों का चयन किया है उन पर वैदिक साहित्य का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। अन्तर्मुखी यौगिक एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों को उलटबांसियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। डा० बड़थ्वाल ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है कि प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग "आध्यात्मिक अनुभव की

अनिर्वचनीयता के कारण और...अर्थ को जानबूझकर छिपाने के लिए भी हुआ है जिससे आध्यात्मिक मार्ग के रहस्यों का पता अयोग्य व्यक्तियों को न लगने पाये अथवा यदि बाइबिल के शब्दों में कहा जाए तो मोती के दाने सूअरों के आगे न बिखेर दिए जाएं।"[1] पूर्ववर्ती मतों और सम्प्रदायों से प्रभावित होते हुए भी सन्तों के अपने भी रूपक और प्रतीक हैं जिनके द्वारा उन्होंने तपः पूत मानस की अनुभूतियों का विशद चित्रण किया है।

परम्परा की दृष्टि से सन्त साहित्य के प्रतीकों को हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

१. वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रतीक और
२. सिद्ध और नाथ परम्परा से प्राप्त प्रतीक

(१) वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रतीक

परमात्म तत्व के रूप में वृक्ष का प्रतीकात्मक प्रयोग प्रारम्भ से ही होता रहा है। यह स्वस्थ परम्परा वैदिक साहित्य से ही पनपती रही है। नाथों ने जिस मूल, शाखा और छाया रहित बेल का वर्णन किया है सन्त साहित्य में भी इसे सर्वत्र चित्रित किया गया है। वृक्ष तत्व चिन्तकों का इतना प्रिय प्रतीक रहा है कि उन्होंने किसी न किसी रूप में, कहीं न कहीं इसका चित्रण अवश्य किया है। कबीर ने जिस ऊर्ध्वमूल अधःशाख वाले वृक्ष का वर्णन किया है उसका (संसार रूपी) फूल गगन में निराश्रय ही फूला है, (मर्त्यादि लोक रूपी) डालें नीचे फैली हुई हैं। इसके आश्रय से (अविद्या, क्रोध, शोक, अज्ञान, कर्म आदि रूप) शाखा प्रतिशाखाएं संसार में मिथ्या-रूप फैली हुई हैं। मिथ्या होने पर भी यह मूल डार पात के बिना ही भली भांति फूला है और ऐसा होने पर भी सत्य दिखाई पड़ता है। इससे उत्पन्न होने वाले फूलों को (अविद्या, कुबुद्धि रूपी) मालिनी ने भली भाँति गूँथा है अर्थात् सबके साथ सम्बन्ध करा दिया है किन्तु (धोखे सदृश होने पर) जब फूल मुरझा गया अर्थात् संग्रह की हुई वस्तुओं का नाश हो गया तो भंवरा (रूपी अज्ञानी जीव) निराश हो उठता है। मूर्ख मनुष्य इस मिथ्या परन्तु सुन्दर मनमोहक संसार के विषय-वासना रूपी पुष्पों से आकृष्ट हो जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं किन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब पण्डित जन भी इस फूल के सहज सौन्दर्य से आकृष्ट होकर नाना विधि दुखोपभोग करते हैं और उस परमतत्व राम से पृथक् जा पड़ते हैं[2]। एक अन्य

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ४०६
२. मैं कासे कहुं को सुने को पतिआई। फुलवक धुवत भंवर मरि जाई ॥
गगन मण्डल मध्य फूल इक फूला। तर भौ डार उपर भौ मूला ॥
जोतिय न बोइये सींचिय न सोई। डार पात बिनु फूल एक होई ॥
फूल भल फूलल मलिन भल गांथल। फूल विनशि गो भंवर निराशल ॥
कहहि कबीर सुनहुं सन्तो भाई। पण्डित जन फुल रहल लोभाई ॥ क. बी. पृ० ३६१
इसमें आए प्रतीकों का नेयार्थ इस प्रकार किया जा सकता है—
फुलवक=सहस्रदल कमल, भंवर=जीव या मन, गगनमण्डल=ब्रह्माण्ड, फूल=संसार या शरीर, मालिनि=माया।

स्थान[1] पर भी कबीर इसी बात की पुनरावृत्ति करते हैं—

तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूला फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं बाके, अष्ट गगन मुख बागा ।।[2]

कबीरदास के परमशिष्य धनी धरमदास भी यही बात इस प्रकार कहते हैं—

जल भीतर इक वृच्छा उपजै तामें अगिन जरै।
ठाढी साखा पवन झकोरै, दीपक जोति बरै ।।[3]

ऐसे तरुवर को लगाना सरल कार्य नहीं है, वही शिष्य योग्य है जो बिना वृक्ष के ही फल और फूल लगा सके। यह वृक्ष हर क्षण अपना रूप बदलता रहता है।[4] यारी साहब ने भी इस अद्भुत वृक्ष को लगाते समय अनुभव किया कि उस लोक में डार, पात, मूलादि से रहित एक ऐसा बाग है जो बिना सींचे ही सहज रूप में फूल रहा है, बिना 'डांडी' के खिले फूल की मादक सुगन्ध में भंवरा भूल बैठा है। माया के इस लुभावने रूप का आकर्षण कुछ ऐसा जादुई है कि ज्ञानवान् पुरुष भी इससे बच नहीं पाता, केवल विरले लोग ही दरियाव पार कर उस झूले पर झूल सकते हैं, पर जो एक बार झूल लेता है वही सच्चा भक्त हो जाता है।[5] सन्त गरीबदास इस अद्भुत् वृक्ष को देखकर आश्चर्यान्वित हो उठते हैं—

बिना मूल अस्थूल गगन में रम रहा,
कोई न जान भव सकल सब भ्रम रहा,
अछे वृक्ष विस्तार अपार अनोख है,
नहीं गामा, नहीं धामा मुक्त नहि मोख है ।।[6]

कोई भी इस वृक्ष के बारे में पूर्णरूपेण नहीं जानता। सन्त पलटूदास वैदिक मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' के आधार पर ही कहते हैं कि एक बिना मूल का वृक्ष खड़ा है, जिस पर दो पक्षी बैठे हुए हैं। एक तो गगन में उड़ गया और दूसरा बगुला भगत के समान मछली का ध्यान किए बैठा है; अर्थात् वृक्ष माया रूप है जिस

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २६८ पृ० १७९
२. कबीर का रहस्यवाद, परिशिष्ट, पृ० १४५
३. धनी धरमदासजी की शब्दावली, शब्द ६ पृ० ३१
४. बिन तरवर फल फूल लगावै, सो तो वाका चेला।
छिन में रूप अनेक धरत है, छिन मैं रहे अकेला।
—मलूकदास की बानी, शब्द २, पृ० २
५. जहं मूल न डारि न पात है रे, बिन सींचे बाग सहज फूला।
बिन डांडो का फूल है रे, निर्बास के बास भंवर भूला ।।
दरियाव के पार हिंडोलना रे, कोउ बिरही बिरला जा भूला।
यारी कहै इस भूलने में, भूले कोऊ आसिक दोला ।।
—यारी साहब की रत्नावली, पद ९ पृ० १५
६. गरीबदास जी की बानी, अरिल ३, पृ० १२४

पर एक पक्षी सन्त रूप होकर ईश्वर में तल्लीन है अतः वह ब्रह्म लीन हो गया है और दूसरा माया जाल में फंस गया है, परिणामतः गगनगामी पक्षी अमर हो गया और जो इस विश्व के माया जाल में फंस जाता है वह जन्म मरण के, आवागमन के चक्र में फंस जाता है। मैं स्वयं दोनों के बीच में खेल रहा हूँ।[1]

भीखासाहिब भी तीन डाल वाले आदि मूल वृक्ष का वर्णन करते हैं—

आदि मूल इक रूखवा तामें तिनि डार।
ता बिच इक अस्थूल है साखा बहु विस्तार ।।

× × ×

डार पात फल पेड़ में देख्यो सकल आकार।
भीखा दूसर गति भयो सुद्ध सरूप हमार ।।[2]
पेड़ एक लगे तीन डार। ऊपर साखा बहु तुंमार ।।
कली बैठि गुरुज्ञान मूल। बिगसि बदन फूलो अजब फूल ।।[3]

तुलसी साहब (हाथरस वाले) ने भी एक ऐसी अद्भुत बेली का वर्णन किया है जिसका भेद कोई भी नहीं जान सकता, यहां तक कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी इसके भेद को समझ लेने में पूर्णतया असमर्थ हैं—

बेली एक सिन्ध तजि आई। कंबल कूप किया बासा जी ।।
जड़ नहिं पेड़ पात नहिं साखा। भवन तीन फल पाका जी ।।
बेली बेल फैल घन छाई। तीन लोक लिपटाई जी ।।
ब्रह्मा बिस्नु बेद और सेसा। दस औतार महेसा जी
बेली फूल मूल नहिं पावै। खोजि खोजि पछताई जी ।।
तुलसीदास बेलि लख पाई। भव जम जाल नसाई जी ।।[4]

रीतिकालीन कवि दीनदयाल 'गिरि' ने भी इस वृक्ष प्रतीक को लेकर एक अन्योक्ति इस प्रकार कही है—

देखो पन्थी उघारि कै नीके नैन विवेक।
अचरजमय यह बाग में राजत है तरु एक ।।
राजत है तरु एक मूल ऊरध अध शाखा।
है खग तहां अचाह एक इक बहु फल चाखा।

---

१. **बिन मूल कै झाड इक ठाढ़ि रहा, तिस पर आ बैठे दुइ पच्छी।**
इक तो गगन में उड़ि गया, इक लाय रहा बकु ध्यान मच्छी ।।
गगन में जाइ के ऊपर भया, वह मरि गया चारा जिन भच्छी ।।
पलटू दोऊ के बीच खेलै, तिहि बात है आदि अनादि अच्छी ।।
पलटू साहिब की बानी, भाग २, पद ३१ पृ० ४७-४८

२. **भीखा साहिब की बानी**, हिंडोलना ३, पृ० ३७-३८

३. वही, बसन्त २, पृ० ४०

४. **तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की शब्दावली, प्रथम भाग, कहेरा १, पृ० १००**

बरनै दीनदयाल खाय सो निबल बिसेखो।
ज्यो न खाय सो पीन रहे अति अद्भुत देखो।[1]

यह कहना अप्रासांगिक न होगा कि वैदिक काल से अद्यावधि वृक्ष का प्रयोग किसी न किसी रूप में होता आया है। आधुनिक छायावादी कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने इस वृक्ष को विश्व रूप में कल्पित किया है जिस पर आत्मा और परमात्मा स्वरूप दो पक्षी भिन्न-भिन्न भाव से निवास कर रहे हैं।[2] आंग्ल भाषा के कवि 'ईट्स' ने भी 'दो वृक्ष' (The Two Trees) नामक कविता में वृक्ष प्रतीक के माध्यम से ईश्वरीय विभूतियों और आसुरी प्रवृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण किया है। वे कहते हैं कि वृक्ष जो ईश्वरीय विभूतियों से सम्पन्न है, शुद्ध मन से उत्पन्न होता है, और सदैव हरा-भरा रहता है; इसके विपरीत दूसरा वृक्ष आसुरी वृत्तियों के दर्पण में अंकित है और मुरझाया हुआ तथा नष्ट श्री है।[3] ईट्स के दोनों वृक्ष क्रमशः दैवी और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक स्वरूप हैं।

इस प्रकार भावुक चिन्तकों में वृक्ष विषयक प्रतीक की यह उदात्त परम्परा वैदिक काल से अद्यावधि अनवरत रूप से प्रवहमान है। वैयक्तिक एवं धार्मिक स्तर में अन्तर आ जाने पर भी उसके स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। मूल भावना सर्वत्र ही प्रेरणा और अभिव्यक्ति के स्रोत रूप में विद्यमान है। सिद्ध और नाथ साहित्य से प्राप्त इस परम्परा का सन्त साहित्य में जमकर विकास हुआ है। सन्तों ने अपने सामाजिक और धार्मिक परिवेश में जो अभिव्यक्ति की है वह प्राचीन परम्परा की एक शृंखला होते हुए भी अपनी कुछ नवीन विशेषताएँ लिए हुए है। प्राचीन और नवीन का यह संगम उस अनिर्वचनीय आनन्द का स्रोत बन गया है जिसमें भावुक रसिकजनों ने 'गहरे पानी पैठ' जिन मोतियों का चयन किया है उसे किनारे पर डर कर बैठा रहने वाला 'बपुरा' ग्रहण नहीं कर सका है।

---

१. **अन्योक्ति कल्पद्रुम, चौथा भाग (पथिक)** पृ० २४५

२. **स्वर्ण किरण,** पृ० ६४

3. Beloved, gaze in thine own heart.
The holy tree is growing there.
From Joy the holy branches start,
And all the trambling flowers they bear.
Gaze no more in the bitter glass.
The demons, with their subtle guile,
Lift up, before us when they pass.
With broken boughs, blackened leaves
And roots half hidden under snows.

—*Golden Treasury of Irish Poetry, P. 503*

(२) सिद्ध परम्परा से प्राप्त प्रतीक

संत काव्य के कवि केवल निर्गुण को ही लेकर नहीं चले थे, उनका मूलस्वर भक्ति का था जिसके सम्बन्ध में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'केवल एक वस्तु वे कहीं से नहीं ले सके। वह हैं भक्ति। वे ज्ञान के उपासक थे और लेशमात्र भावालुता को भी बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।[1] जिस नवीन भक्ति साधना से इन सन्तों का परिचय हुआ था, उसके प्रति उनमें एक नवीन उत्साह, निष्ठा और आस्था थी पर फिर भी योग मार्ग की सतत प्रवहमान धारा का परित्याग नहीं किया था। उस समय के साधकों और गुरुओं में भक्ति और योग का समान सम्मिश्रण था। स्वयं कबीर के गुरु रामानन्द भक्ति और योग के समन्वित अवतार थे। डा० धर्मवीर भारती के शब्दों में 'कबीर को भक्ति की दीक्षा जिस गुरु से मिली, वह भी योगमार्ग को भक्ति का विरोधी नहीं मानता था और इसलिए कबीर ने भी भक्ति के साथ-साथ योग को भी प्रश्रय दिया और योग मार्गी परम्परा में जो भी वज्रयानी साधना पद्धतियां, पारिभाषिक शब्द, प्रतीक और उलटबासियां चली आ रही थीं वे सबको तथा उसके अनुयायी सन्तों को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुई।[2] परन्तु तब तक वज्रयानी सिद्धों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव शेष रहा होगा ऐसी सम्भावना कम है। हाँ तत्कालीन छोटे-मोटे सम्प्रदायों तथा साधारण निम्न वर्ग की जनता में इनका कुछ प्रभाव अपने विकृत रूप में शेष रहा होगा; कबीर आदि सन्त भी सामान्यतः जनता के निम्न वर्ग से आए थे, अतः इन सिद्धों का अप्रत्यक्ष प्रभाव उन्होंने परम्परा से ग्रहण किया होगा। उन्हीं सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत शब्दावली को अपनाकर सन्तों ने उसे अपना स्वाधीन अर्थ भी प्रदान किया। सन्त सन्त थे, किसी चटसार में बैठकर उन्होंने शास्त्राध्ययन नहीं किया था, वे पोथी पढ़कर नहीं वरन् प्रेम का ढाई अक्षर पढ़कर पण्डित हुए थे। भ्रमणशील प्रकृति के कारण 'सन्तन ढिग बैठ-बैठकर जो ज्ञान उन्होंने अर्जित किया था उसे अपनी अटपटी, जनसामान्य की भाषा में अभिव्यक्त कर दिया। इसलिए वज्रयानी सिद्धों या नाथों का प्रभाव उन पर इस रूप में नहीं था कि उन्होंने सिद्ध साहित्य का अध्ययन-मनन किया हो या सिद्धों के वचन सन्तों के समय तक ज्यों के त्यों प्रचलित रहे हों और सन्तों ने अधिकांशतः उनको अपना लिया हो। वास्तविकता तो यह रही होगी कि इन सन्तों ने जिन प्रतीकात्मक शब्दों को जाने अनजाने ग्रहण किया है, उन्हें आभास भी न होगा कि अमुक अमुक शब्द उन्हीं सिद्धों के हैं जिनको वे अपेक्षाकृत अनादर की दृष्टि से देखते हैं। यही कारण है कि सन्तों ने वज्रयानी सिद्धों के पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण तो किया है पर सम्पूर्णतः उसी परम्परागत अर्थ में नहीं, अपनी प्रकृति, प्रवृति के अनुसार उसमें यथेष्ट परिवर्तन कर दिया है। वैसे सिद्ध साहित्य में प्रयुक्त शब्दों का सन्तों के हाथों यथेष्ट भाग्य विपर्यय भी हुआ है।

---

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८८

२. सिद्ध साहित्य, पृ० ३२७

विषय को अधिक स्पष्ट करने तथा सिद्ध साहित्य के प्रतीकात्मक शब्दों का सन्त साहित्य में विकास और प्रयोग की दृष्टि से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

शून्य—सिद्धों के समस्त तत्वज्ञान की मूल भित्ति विज्ञानवाद की शून्य कल्पना पर आधारित है। अपनी प्रज्ञोपायात्मक साधना पद्धति में इसी शून्य को उन्होंने नैरात्म बालिका, प्रज्ञा या महामुद्रा रूप में ग्रहण किया है तथा महासुख चक्र में इसी शून्यता की स्थिति स्वीकार की है। नाथ सम्प्रदाय में भी शून्य को परमतत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। सन्तों ने शून्यतत्व को कई रूपों में स्वीकार किया है—

(क) **शून्य : आदि तत्व के रूप में**—परमतत्व या आदितत्व के रूप में गुरु नानक ने शून्य और शब्द को एक माना है—

सुन्न शब्द ते उठे झंकार। सुन्न शब्द ते ओ ऊंकार ॥[1]

बाद में कबीर आदि सन्तों में शब्द और शून्य की एकता कुछ कम होती चली गई। शून्य से ही संसार की उत्पत्ति है, कबीर इस तथ्य को रूपक शैली में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

सहज सुंनि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिआ।
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि इहु बिरवा देखिआ ॥[2]

सन्तों ने शून्य के परमतत्व रूप को भुलाकर उसे आकाश का ही पर्याय मान लिया है।

(ख) **शून्य : अद्वैत ज्ञान के रूप में**—सिद्ध शून्य में द्वयता का निषेध करते थे, नाथों से होती हुई यह परम्परा सन्तों में भी पाई जाती है। सन्त शून्य की स्थिति को अद्वय की मध्य स्थिति मानते हैं—

पहले ज्ञान का किया चांदना पाछे दिया बुझाई।
सुन्न सहज मैं दोऊ त्यागे राम न कहुं सुखदाइ ॥[3]
सहजरूप मन का भया जब द्वै द्वै मिटी तरंग।[4]

सन्त सुन्दरदास ने शून्य के अद्वय की परिभाषा कुछ दूसरी ही की है—

पाप न पुन्न न स्थूल न सून्य. न बोलै न मौन न सोवै न जागै।
एक न दोइ न पुर्ष न जोइ, कहै कहां कोइ न पीछै न आगै।
ज्योति अज्योति न जान सकै कोउ, आदि न अन्त जिवै न मरै है।
तत्व अतत्व कह्यो नहि जात, जू सून्य असून्य डरै न परै है।[5]

यहाँ एक बात द्रष्टव्य है कि सुन्दरदास ने शून्य को परमतत्व के रूप में ग्रहण करते हुए उसके अद्वय निरूपण में तो सिद्ध और नाथ परम्परा का निर्वाह किया है परन्तु विषय प्रतिपादन में उनका वेदान्त और उपनिषद् विषयक ज्ञान सहायक हुआ है।

---

१. प्राण संगली, पृ० २०२
२. डा० राम कुमार वर्मा, सन्त कबीर, पृ० १८१
३. रैदास जी की बानी, पृ० २
४. दादू दयाल जी की बानी, भाग १, मधि को अंग, पृ० १६०-६१
५. सुन्दर विलास, पृ० १६८

सन्तों ने शून्य को समस्त द्वन्द्वातीत 'केवल' स्थिति माना है, जहाँ मानवात्मा समस्त राग द्वेषादि विकारों से ऊपर सहजानन्द का पान कर अन्यत्र जाने का नाम भी नहीं लेता।[१]

और वास्तव में 'सहज सुंनि' के नेह की कल्पना ऐसी ही सुखद एवं आनन्द-दायिनी प्रतीत होती है—

सहज सुनि को नेहरौ गगन मण्डल सिर मौर।[२]
मन पवना गहि आतम खेला, सहज सुना घर मेला।[३]

शून्य शब्द के पर्याय के रूप में महल, गढ़, गगन, मानसरोवर[४] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

(ग) **शून्य : सहस्रार चक्र या ब्रह्मरन्ध्र के रूप में**—सन्तों के सहस्रार के मध्य शून्य स्थान को महल, मण्डप, शिखर, नगर, हाट आदि रूपों में चित्रित किया है—

कबीर : अरध उरध मुख लागो कासु, सुनं मंडल, महि करि परगासु।[५]
सुन्न महल में दियना बरिले, आसा से मत डोल रे।[६]
मलूकदास : सुन्न महल की जुगती बतावे केहि विधि कीजै सेवा।[७]
भीखा : सुन्न सिखर पर मांडो छायो, इंगला पिंगला चौक पुरायो।[८]
गुलाल : सुन्न नगर में आसन मांडे, जगमग जोति जगावै।[९]

शून्य का सन्त साहित्य में तिरस्कार—सिद्धों एवं नाथों ने शून्य को परमतत्व, आदितत्व, ब्रह्मरन्ध्र के विभिन्न रूपों में ग्रहण किया है। सन्तों ने भी शून्य का विविधेन चित्रण किया है, परन्तु बाद में शून्य शब्द का तिरस्कार होने लगा। शून्य अपना समस्त तात्विक अर्थ खोकर केवल स्वर्ग, बैकुण्ठ आदि का भौतिक पर्याय मात्र रह गया। स्वयं सिद्धों ने शून्य के साथ करुण तत्व का समन्वय किया है, निष्करुण शून्य त्याज्य है। सन्तों ने सिद्धों की करुणा के स्थान पर रामभक्ति को शून्य के साथ गठित कर दिया। ऐसी अवस्था में शून्य का तात्विक अर्थ शिथिल पड़ गया और

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १११
२. वही, पृ० ६४
३. दादू बानी, भाग २, पृ० ६७
४. कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग, पृ० १३, १५
५. सन्त कबीर, पृ० २२७
६. संत बानी संग्रह, २, पृ० १३
७. मलूक बानी, पृ० ४
८. भीखा बानी, पृ० ६२
९. गुलाल बानी, पृ० २, द्रष्टव्य पृ० २१, ३२, ३४, ३७, ४१, ५०

भक्ति ही प्रधान हो चली। परमार्थ हरि भक्ति के बिना शून्य भ्रमात्मक ही है।[1]

सहज—सिद्धों में सहज शब्द स्वाभाविक प्रवृत्तिमूलक मार्ग का द्योतक है, इसके साथ-साथ एक ऐसी साधना पद्धति का अर्थ भी ग्रहण करता है जिसमें पुरुषतत्व और शक्तितत्व (प्रज्ञा और उपाय) का समागम (युगनद्ध) माना गया है। सिद्धों में सहज को 'महासुख' और बोधिसत्व के रूप में ग्रहण किया गया है। नाथों में भी यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रही। उन्होंने सहज को परमपद तथा ज्ञान, परमतत्व और योगसाधना की मिथुन परक क्रिया के लिए ग्रहण किया है। सहज समागम को शिव-शक्ति, नाद-बिन्दु तथा जोगी-जोगिनी के समागम के रूप में नाथ योगियों ने चित्रित किया है।[2]

सिद्ध और नाथ परम्परा से कुछ पृथक अर्थ में 'सहज' का प्रयोग सन्तों में मिलता है। सन्तों का 'सहज' मध्यम मार्ग का द्योतक है और समन्वय पर आश्रित तत्वचिन्तन का विषय है। सन्तों ने सहज का प्रज्ञोपायात्मक युगनद्ध रूप तिरस्कृत कर दिया था। कबीर आदि सन्तों ने "अपनी स्वाधीन चिन्तना के गौरव के अनुकूल 'सहज' को विभिन्न मतवादों की संकीर्णताओं से परे उस परमतत्व के रूप में माना जो समस्त बाह्याचारों से मुक्त मनुष्य की सहज स्वाभाविक अनुभूति में प्रस्फुटित होता है और जिसकी उपलब्धि एक सहज सन्तुलित जीवन पद्धति द्वारा ही हो सकती है, विभिन्न मतवादों की संकीर्णता में उलझकर नहीं।"[3] हालांकि सन्तों ने योग साधना में सहज के प्रज्ञा और उपाय के मिथुनपरक रूप को तिरस्कृत कर दिया था, किन्तु सहज भावना के स्वाभाविक मानवीय अर्थ को ग्रहण करते हुए भी उसके योगपरक अर्थ को सर्वथा भूल नहीं सके हैं।

सन्तों में 'सहज' कई रूपों में व्यवहृत हुआ है—

(क) **परमतत्व के रूप में**—सहज का वर्णन करते हुए सन्तों ने माना है कि वास्तविक तत्व के रूप में सहज सीमाओं में बंधकर नहीं रह सकता, उस सहज तत्व में तो सहज द्वारा ही समाया जा सकता है—

कैतिक कहौं कहा नहिं मानैं सहजै सहज समाना।।[4]

दादू ने सहजराम की साधना को परमतत्व का रूप ही माना है—

सांसे राम सुरते राम सबदे राम समाइले।
अंतरि राम निरंतरि राम आतमराम ध्याइले।।[5]

सहज का साक्षात्कार सहज द्वारा ही होता है और तभी उसका 'नूर' एवं तेज सर्व कालिक, चिन्मय आनन्द का अजस्र स्रोत होता है।[6]

१. **'भरम तौ लौ जानिए सुन्न की करै आस'**।—रैदास जी की बानी, पृ० ४
२. **गोरखबानी**, पृ० १००; १०५, १६६
३. **डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य**, पृ० ३७२
४. **बीजक**, शब्द ४.
५. **स्वामी दादू दयाल की बानी**, पृ० ५१५/३७४
६. वही, पृ० ४५७/२३७

रैदास जी के अनुसार भी बिना सहज के सिद्धि नहीं हो सकती—

भाई रे सहज बन्दौ लोई, बिन सहज सिद्धि न होई ।[1]

सहज ही आदितत्व का प्रतीक रूप है, उसी से सब उत्पन्न हुए हैं और उसमें समा जाते हैं—

कहु कबीर हउ भइआ दिवाना । मुसि मुसि मनुआ सहजि समाना ।[2]
ज्ञान गहै गुरुदेव का दादू सहज समाई ।[3]

सिद्धों और नाथों के बाद सन्तों ने सहज के परमतत्व के योगपरक रूप को अपनी सगुण भक्तिभावना के अनुरूप भावपरक रूप ही अधिक प्रदान किया है। सन्त परम तत्व को एक वैयक्तिक ईश्वर के रूप में मानते थे जो स्वतः इच्छामय है, भक्तों पर कृपालु है, अनुरागी है।[4] दादू ने सहज के प्रसंग में राम का उल्लेख किया है—

मनसा बाचा कर्मना, तेहि तत सहज समाइ ।।[5]

(ख) **सहज स्वभाव रूप में**—सन्तों ने सहज स्वभाव को सर्वोपरि माना है। नानक देव ने सहज हाट की कल्पना की है जिसमें मन सहज स्वभाव स्थिति में रहता है—

सहज हाट मन कीआ निवासु । सहज सुभाव मनि कीआ प्रगासु ।[6]

सहज स्वभाव में सन्तों ने भक्ति भावना का भी समावेश किया है; मन सहज स्वभाव में स्थित हो गया है, राम ने भवन को अपना लिया है—

अब मोहि रामु अपुना करि जानिआ
सहज सुभाई मेरा मनु मानिआ ।।[7]

इस भाव को दादू ने एक रूपक से व्यक्त किया है। भक्तिवाद की आनन्दमयी आतमबेली गगन गृह पर आच्छादित है—

बेली आनन्द प्रेम समाइ
सहजैं मगन रामरस सींचैं दिन दिन बधती जाइ ।
आतम बेली सहजै फूलै सदा फूल फल होई ।
कायाबाडी सहजैं निपजै, जाणै बिरला कोई ।
दादू बेली अमर फल लागै, सहजि सदा रस पीवै ।।[8]

---

१. रैदास जी की बानी, पृ० २०
२. सन्त कबीर रागु भैरउ ४, पृ० २०६
३. दादू दयाल जी की बानी, १, पृ० ३,५,१६
४. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ३७५
५. दादू दयाल जी की बानी, पृ० १६
६. प्राणसंगली, पृ० १४७
७. सन्त कबीर, पृ० २१
८. दादूदयाल की बानी, भाग २, पृ० ८१-८२

सन्तों ने सहज को हठयोग के अर्थ में,[1] बाह्याचार मुक्त भावयोग के अर्थ में,[2] सहज समाधि[3] आदि के रूप में भी चित्रित किया है। कबीर ने सहज समाधि की योग साधना में गंगा और यमुना के बीच की सुषुम्ना को सहज पथ या सहज घाट माना है—

गंग जमुन उर अन्तरै, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहां कबीरै मठरच्या, मुनि जन जोवैं बाट।।[4]

वज्र—वज्र शब्द का इतिहास ऋग्वेद से प्रारम्भ होकर सन्तों तक आते-आते अनेक रूप धारण कर चुका है। निघण्टु में रुद्र शब्द के पर्यायवाची शब्दों में वज्र भी एक है। सिद्धों में इस वज्र के स्वरूप को प्रज्ञा से जोड़कर उसे बोधि-चित्त का प्रतीक बनाया गया। इस प्रज्ञा की भावना में शिव रूप का भी समाहार हो गया है। यही शिव ही शक्ति के साथ, आगे चलकर 'युगनद्ध' रूप में अवतरित हुआ। महासुख इसका भी लक्ष्य हो गया। सिद्धों के यहां शिव और शक्ति का युगनद्ध रूप वज्र की धारणा से सम्बन्धित है। सिद्धों ने अपनी प्रज्ञोपाय साधना में इसे पुरुष, पति, या उपाय से समन्वित कर वज्रास्त्र योग या कुलिश कमल योग की साधना का उपदेश दिया था। वज्रयान में वज्र को प्रमुखता मिली थी, बाद में इसके साथ मुद्रा मैथुन साधनाओं का सम्बन्ध रहा, इस कारण शुद्धतावादी आचरण वाले नाथ पन्थियों ने वज्र शब्द का एक प्रकार से बहिष्कार ही किया है। सन्तों में वज्र शब्द का प्रयोग तो हुआ है पर सिद्धों के समान मुद्रा मैथुन के रूप में नहीं। सन्तों ने त्रिकुटी में शून्य मण्डल या महल की कल्पना की है, इसके समीप दशमद्वार स्थित है जिसमें वज्र कपाट लगे हैं—

धरे ध्यान गगन के मांहि लाये वज्र किवार।[5]
अउघट घाट विषम है बाट। गुरुमुख खोले वज्र कपाट।[6]
जड़ि ताला वज्र कपाट को तहं बैठे आतमराम।[7]

खसम—सिद्ध साहित्य के जिन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ विपर्यय सन्त साहित्य में हुआ है उसमें खसम शब्द का एक मनोरंजक इतिहास है। खसम शब्द का शब्दार्थ (ख=आकाश, सम=समान) आकाश के समान या शून्य के समान है।

---

१. वही, पृ० ८, दोहा ८२; पृ० ८४, दोहा ३३, भीखाबानी, हिंडोलन ३,६,४,३; पृ० ३८

२. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ४१-४२ सहज कौ अंग १, २, ३, ४

३. तन महि होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि।

सन्त कबीर, रागु गउडी १७, पृ० १६

पलटू बानी २, अरिल, पृ० ६१

४. कबीर ग्रन्थावली, लै का अंग, पृ० १८

५. बीजक, पृ० ४२५

६. नानक—प्राण संगली, पृ० २७६

७. भीखा साहिब की बानी, पृ० ७६

सिद्धों में खसम सहजावस्था या शून्यावस्था का वाचक प्रतीक है। सिद्ध बोधिचित्त की साधना में मन को शून्य या खसम स्वभाव धारण करने का अभ्यास करते थे। उनका विश्वास था कि मन शून्य रूप होकर स्वत: ही शून्य या 'ख' में मिल जाता है।

सिद्ध सरहपा कहते हैं—

सव्वरूअ तहिं खसम करिज्जइ, खसम सहावें मणवि धरिज्जइ।[1]

भगवती प्रज्ञा स्वरूप खसम है—

मरणह भअवा खसम भअवइ दिवा रात्ति सहजे रहिअइ।[2]

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार सहजयानी लोगों में खसम शब्द का प्रयोग शून्यावस्था और नैरात्मभाव के लिए किया जाता था। नैरात्म का स्थान 'भावाभावविनिर्मुक्तावस्था' ने ले लिया, अर्थात् बौद्ध लोग जहाँ इन शब्दों से आत्मा के लुप्त होने का भाव लिया करते थे (नैरात्त), वहाँ योगी और तान्त्रिक लोग एक ऐसी अवस्था का अर्थ समझने लगे जिसमें साधक को न भाव का अनुभव होता है न अभाव का न तो वह 'है' को महसूस करता 'है' और न 'ना' कौ (भाव अभाव विनिर्मुक्त अवस्था) नाथपन्थी योगियों ने खसम शब्द का व्यवहार तो नहीं किया पर लगभग उसी अर्थ में 'गगनोपम' शब्द का प्रयोग किया है। गगनोपमावस्था (या खसम अवस्था) जहां द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देव लोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते, जो माया प्रपंच के ऊपर हैं, जो दम्भादि व्यापार के अतीत हैं, जो सत्य और असत्य से परे है जो ज्ञान रूपी अमृतपान का परिणाम है।[3]

सन्त साहित्य के विवेचन के आधार पर डा० द्विवेदी 'खसम' शब्द का अर्थ निकृष्ट पति करते हैं। उनका अनुमान है कि कबीरदास 'खसम' शब्द की पुरानी परम्परा से जरूर वाकिफ़ थे और उन्होंने जान बूझकर खसमावस्था की तुलना निकृष्ट पति से की है।[4] सन्त साहित्य में 'खसम' का प्रयोग कई रूप में हुआ है—

(क) खसमावस्था या शून्यावस्था के रूप में—

इतु संगति नाही मरणा, हुकुम पछानिता खसमै मिलणा।[5]
खसम बिनु तेली को बैल भयो।
खसमहिं छांड़ि विषय रंग राते पाप के बीज बयो।[6]

---

१. बा० दोहाकोश, पृ० ३२
२. तिलोपा, बा० दोहाकोष, पृ० ५५—सिद्ध साहित्य पृ० ३६३ से उद्धृत
३. कबीर, पृ० ७६
४. वही, पृ० ७८
५. सन्त कबीर, पृ० १
६. बीजक पृ० २७८

(ख) **खसमः परमतत्व परमात्म[1] रूपी पति रूप में**—सन्त साधकों ने आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति रूप में चित्रित किया है। विरहावस्था में दुलहिन परमप्रिय से मिलने को सदैव उत्सुक रहती है। इस परमात्मा स्वरूप खसम या पति में साधक को पतिव्रता के समान अटूट भक्ति और लगन रखनी चाहिए।[2] उसे तो रात दिन उसी की सेवा में तत्पर रहना चाहिए। आदर्शानुसार स्वप्न में भी पर पुरुष का ध्यान उसे उच्चासन से गिरा देता है। पतिव्रता नारी अपनी साधना के बल पर खसम को पूर्ण रूपेण हृदयंगम कर लेती है और वह भी यदि सच्चा खसम है तो उसे धारण कर लेगा :—

कहु कबीर आखर दुई भाखि। होइगा खसम त लइगा राखि।[3]

जीवन में वसन्त एक बार आता है, बावरी (आत्मा) उसे सोने में गुजार दे तो भला उसे कन्त कैसे मिल सकते हैं? 'ऋतु भरि खेलने' के लिए 'खसम' का चित्तानुरूप होना आवश्यक है। पलटू साहब चेतावनी देते हैं—

खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती।[4]

उस 'खसम' से परिचय होना भी आवश्यक है केवल नाममात्र लेने से वह अपना नहीं कहलाता—

लेइ खसम को नांव खसम से परिचै नाहीं।[5]

गुलाल साहेब के अनुसार अपने खसम के प्रति निष्ठा त्याग कर पर पुरुष का चिन्तन करने वाली नारी (साधक) प्रताडना की अधिकारिणी है—

अपनो नाह (खसम) नेक नहिं जानहिं, पर पुरुष पहं जाई हो॥[6]

एकनिष्ठ सन्तों ने घरनि के लिए खसम के प्रति विश्वास और आस्था धारण करना आवश्यक माना है, 'लगवारै' सर्वथा निन्दनीय है—

जाइन मरै सुपैदी सौरी, खसम न चीन्है घरनि भै बौरी।
सांझ सकारा दियना बारै, खसम छोड़ि सुमिरै लगवारै॥[7]

(ग) **सच्चे तत्वज्ञान से रहित झूठा खसम या उपपति**—सन्तों ने खसम शब्द का प्रयोग निकृष्ठ पति के रूप में भी किया है। यह झूठा खसम वास्तव में तत्वज्ञान रहित बाह्याचार मात्र है जो निन्दनीय ही है—

---

१. पानी से पैदा कियो सुनु रे मन बौरे, ऐसा खसम खुदाय कहाई रे।
धरनीदास जी की बानी, शब्द ७ पृ० ४
२. आज न सुत्ती कन्त स्यों, अंग मुडे मुड जाय।
जाय पुछो डुहागिनी, तुम क्यों रैन बिहाय॥ —गुरु ग्रन्थ साहब
३. सन्त कबीर राग गउडी ३३पृ० ३५,
४. पलटू बानी, १ कुण्ड० ४१ पृ० १८
५. वही, पृ० १७
६. गुलाल बानी, शब्द ४, पृ० २२
७. कबीर पृ० ७८

गरदन मारै खसम की लगवारन के हेत ॥

× × ×

पलटू जिउ को मारि कै बल देवतन को देत ।[1]

(घ) **खसम—माया ग्रस्त मन या जीव के रूप में**—सन्तों ने जिसे राम, प्रभु, पति, स्वामी आदि कहा है उसी को जीव रूप में भी चित्रित किया है। जिस प्रकार निकृष्ट पति पत्नी को वश में न कर सके, इन्द्रियों के दास मन-जीव को भी ऐसे ही खसम के प्रतीक रूप में कहा गया है—

भाई रे चूंन बिलूंटा खाई ।
बाघनि संग भई सबहिन के, खसम न भेद लहाई ।
सब घर फोरि बिलूंटा खायौ, कोई न जानै भेव ।
खसम निपूतौ आंगणि सूतौ, रांड न देई लेव ॥[2]

यही खसम (माया शवलित जीव) जब मर जाता है तो परम ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद शून्य स्वभाव धारण कर निर्वाण प्राप्त कर लेने वाली चित्त (आत्मा) रूपी घरणी का उल्लास प्रदर्शित करना स्वाभाविक ही है। इस खसम को मारना, जीते जी भक्षण कर जाना ही पतिव्रता, सुहागिन का परम कर्तव्य है क्योंकि माया ग्रस्त जीव और उससे उत्पन्न अहंकार आदि का हनन ही साधक रूपी शुद्ध-बुद्ध आत्मा का चरम लक्ष्य है—

खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ॥
जोरू गावै तान फिरा अहिबात हमारा ।
झूठ सकल संसार माँग भरि सेन्दुर धारा ॥
हम पतिबरता नार खसम को जियतै मारी ।
बाको मूडौं मूड सरबर जो करै हमारी ।
दुतिया गई है भाग सुनौ अब राँध परोसिन ।
पिया मरे आराम मिला सुख मो कहँ दिन दिन ॥
पलटू ऐसे पद कहै बूझै सोई निरबान ।
खसम बिचारा मरि गया, जोरू गावै तान ॥[3]

'खसम' के मरने पर नारी के सिर से एक भारी बोझ उतर गया है क्योंकि अब भ्रम की डोरी टूट गई है, मन की दुविधा छूट गई है; आत्मा अपने अनुसार कार्य करने में स्वतन्त्र है—

खसम मुवौ तो भल भया सिर की गई बलाय ॥
सिर की गई बलाव बहुत सुख हमने पाया ।
सूतौं पांव पसारि भरम की डोरी टूटी ।
मनै कौन अब करै खसम बिन दुबिधा छूटी ॥

---

१. पलटू बानी १, कुण्ड० २१६, पृ० ६०
२. कबीर ग्रन्थावली—पद ८१, पृ० ११३
३. पलटू बानी १, पृ० ७५

पलटू सोई सुहागिनी जियतै पिय को खाय।
खसम मुवा तो भल भया सिर की गई बलाय॥[1]

सुरति—सुरति और निरति इन दो शब्दों का सन्त साहित्य में प्रेमक्रीड़ा, स्मृति आदि अर्थों में प्रचुर मात्रा में प्रयोग मिलता है। सिद्धों में सुरति का प्रज्ञोपाय या कमल-कुलिश योग के अर्थ में प्रयोग मिलता है।[2] नाथों ने सुरति के प्रज्ञोपायात्मक मैथुनपरक रूप का बहिष्कार कर दिया। उन्होंने सुरति को शब्द योग से जोड़ दिया। सुरति शब्द की वह अवस्था है जब वह चित्त में साधना की अवस्था में रहता है। शब्द अनाहद नाद है जो विशुद्धाख्य और आज्ञा चक्र में सुन पड़ता है।[3] सन्तों ने भी सुरति का नाथ परक अर्थ स्वीकार करते हुए उसे एक प्रकार की ढेकुली माना है जिस पर चढ़कर मन बार-बार उस परमानन्द के प्रेम रस का पान करता है—

सुरति ढीकुली ले जल्यौ, मन नित ढोलनहार।
कंवल कुंवा में प्रेमरस, पीवै बारम्बार॥[4]

पलटू साहब सुरति को प्रेमिका (शक्ति) और शब्द को पति (शिव) रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं—

सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय।
मिली सबद में जाय कन्त को बस में कीह्ना।
चलै न शिव कै जोर जाय जब सक्ती लीह्ना।
पलटू सक्ती सीव का भेद गया अलगाय।
सुरति सुहागिनी उलटि कै मिली सबद में जाय।[5]

गुलाल साहब की सुरति सोहागिन रसोई बना रही है क्योंकि आज हरि पाहुन आए हैं, सब ओर आनन्द के सामान तैयार किए जा रहे हैं। बड़े यत्न से बिछाई सेज पर स्वामी विश्राम कर रहे हैं :—

आजु हरि हमारे पाहुन आये, करौं मैं अनन्द बधाव।
मन पवना कै सेज बिछावल, बहु विधि रचल बनाय।
सुरति सोहागिन करहि रसोई, नाना भाँति बनाय।
घर में लवल्यों अरथ दरब सब, सें कै सनमुख जाय॥[6]

तालाकुंजी का रूपक—सिद्धों द्वारा प्रयुक्त पवन बन्ध का रूपक ताला कुंजी

---

१. वही १, कुण्ड० १८१, पृ० ७५-७६
२. **कमल कुलिश बेवि मज्झ ठिउ जो सो सुरअ विलास।**
को त रमइ णाहि तिहुअणे हि कस्सण पूरइ आस॥
—सरहपा, बा० दो० कोश, पृ० ३६
३. **सिद्ध साहित्य,** पृ० ४१०
४. **कबीर ग्रन्थावली,** पृ० १८
५. **पलटू बानी,** पृ० ९३-९४
६. **गुलाब बानी,** शब्द १८, पृ० ३७

के उपमानों से प्रस्तुत किया गया है।[1] वे पवन बन्ध को अधः और ऊर्ध्व मार्ग में ताला लगाने के रूपक द्वारा व्यक्त करते हैं, नाथों में भी उसी रूपक द्वारा पवन बन्ध या नाद जागरण से उसे अन्तर्मुखी बनाने का वर्णन मिलता है।[2] कबीर ने प्राण-पवन के बन्धन के अर्थ में ताला कुंजी का प्रयोग कुम्भक द्वारा त्रिकुटी में ध्यान को केन्द्रित करने के रूप में किया है :—

कुंजी कुलफु प्रानकरि राखे करते बार न लाई ॥
अब मन जागत रहु रे भाई ।
गाफलु होइ कै जनमु गवाइओ चोरु मुसै घरि जाई ।[3]

गुरु-सबद की कुंजी से ज्ञान के कपाट खुल जाते हैं और तत्व की प्राप्ति हो जाती है :—

दादू देव दयाल को, गुरु दिखाई बाट ।
ताला कुंजी लाइ करि, खोले सबै कपाट ।[4]

चोर का रूपक—सिद्ध साहित्य में वासना ग्रस्त मन को चोर रूप में चित्रित किया गया है। यह चोर बड़ा ही चतुर है; योग साधना में पवन निरोध द्वारा ताला कुंजी की सुरक्षा में रखे जाने पर भी तत्व रूपी धन को चुरा ले जाने की आशंका नित्य ही बनी रहती है—इसीलिए साधक को निरन्तर जागते रहने का उपदेश देते हुए दादू दयाल कहते हैं—

इत घर चोर न मूसे कोई। अन्तरि है जै जानै जोई ।
जागहु रे जन तत्त न जाइ । जागत है सो रह्या समाइ ॥
जतन जतन करि राखहु सार । तसकरि उपजै कौन बिचार ॥[5]

परन्तु साधक भक्त को विश्वास है कि रामभक्ति रूपी धन अद्वितीय है, कोई चोर चाहे कितना ही चतुर क्यों न हो, इसे नहीं चुरा सकता—

राम धन खात न खूटै रे ।
चहुं दिसि पसर्यो बिन रखवालै, चोर न लूटै रे ।[6]

कबीर ने चोर को कामदेव के रूप में चित्रित किया है—

इसु तन मन मधे मदन चोर । जिनि गिआन रतनु हिरि लीन मोर ।[7]

एक अन्य स्थान पर कबीर कहते हैं—

कबीर माइया चोरटी मुसि मुसि लावै हाट ।
एकु कबीरा ना मुसै जिनि कीनी बारह बाट ॥[8]

---

१. **पवन गमण दुआरे दिढ ताला बिदिज्जइ** । बा० दोहाकोष, पृ० ४४
२. **गोरखबानी**, पृ० १७१
३. **सन्त कबीर**, रागु गउडी ७३
४. **दादू बानी**, भाग १, साखी, गुरुदेव को अंग ६, पृ० १
५. वही, भाग २, पद ४४, पृ० १८
६. वही, पद ५१, पृ० २०
७. **सन्त कबीर**, रागु बसन्तु ५, पृ० २३५
८. वही, सलोकु २०, पृ० २५१

इसके अतिरिक्त सिद्ध साहित्य में अनेकानेक प्रतीकात्मक शब्दों का सन्त साहित्य में समान रूप से प्रयोग हुआ है। यथा—

तरुवर=काया[1], चित्त[2], सृष्टि विस्तार[3], परमतत्व या सहज[4], । पत्ते या पल्लव=प्रकृति[5], करभ[6], मूषक[7], शृगाल,[8] सिंह[9], बैल[10], मृग[11], कपास[12]। काग[13]=मन । गाय=इन्द्रियां[14] । भुजंग=साधक[15] । हंस=[17]चित्त, पवन या प्राण । हरिणी[16]=माया, अहेरी । पारधी[18]=साधक । हरिण[19]मांस—ज्ञान । वाण, शर[20]=गुरुवचन, शब्द ज्ञान । जलधि[21]=भव ।

---

१. तरुवर एक अनन्त डार साखा पुहुप पत्र रस भरीआ । सन्त कबीर, पृ० १८१
२. भौमि बिनां अरुबीज बिन तरुवर एक भाई ।
 अनन्त फल प्रकासिया गुरु दिया बताई । कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३९
३. अछै पुरुष इक पेड़ है निरंजन बाकी डार ।
 तिरदेवा साखा भये पात भया संसार । सन्त बानी संग्रह, पृ० २३
४. सहज सुंनि एक बिरवा उपजा धरती जलहरु सोखिआ । सन्त कबीर, पृ० १८१
५. गत फल फूल तत तर पालव अंकुर बीज नसाना । क० ग्र०, पृ० ९०
६; न्यू ंति जिमाऊं अपनो करहा छार मुनिस की डारी रे । वही, पृ० ११२.
७. मूंसा पैठा बांबि में लरे सांपणि धाई । वही, पृ० १४१
८. नित उठि स्याल स्यंघ सू झूझै । वही, पृ० ११३
९. सिंह वासना युक्त मन के प्रतीकानुसार—निति उठि स्याल स्यंघ सू झूझै
१०. फील रबावी बलद पखावज कउआ ताल बजावै । संत कबीर, पृ० ९६
११. सन्तनि एक अहेरा लाधा, मिर्गनि खेत सबनि का खाधा । क० ग्र० पृ० २०६
१२. धुन धुन डालूं अब मन को । सन्त काव्य, पृ० ५४९
१३. कागिल गर फांदिया बटेरै बाज जीता । क० ग्र०, पृ० १४१
१४. कालिह जुतेरी बंसरिया छीनी कहा चरावैं गाइ । वही, पृ० १४७
१५. साइर सोखि भुजंग बलइओ । सन्त कबीर, पृ० १०५
 भुजंगा सोई जाके मनि उंजियारा । प्राण संगली, पृ० ५०
१६. कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलावैंगे । क० ग्र०, पृ० १३७
१७. बन की हिरनी कूवैं बियानी ससा फिरै आकासा । वही, पृ० १४७
१८. गौव्यन्दै तुम्हरौ बन कन्दलि मेरो मन अहेरा खेलै । वही, पृ० १५९
१९. सावज न होय भाई सावज न होय, बाकी मांसू भरवै सब कोई ।
 बीजक, पृ० २५३
२०. गुरु के बाणि बजर कल छेदी प्रगटिया पदु परगासा । सन्त कबीर, पृ० ४९
२१. विषम भयानक भौजला तुम बिन भारी होय । दादू० बानी०, भाग २ पृ० ६

नौका[1] = काया, ईश्वर। नगरी[2] = काया। चौपड़ = ज्ञानक्रीड़ा। जुलाहा[4] = जीव। मेंढ़क[5] = मन।

(३) **नाथ परम्परा से प्राप्त प्रतीक :**

नाथ साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक पद्धति को हम मुख्यतः दो भागों में बांट सकते हैं—

१. हठयोग परक प्रतीक और
२. सामान्य लोक जीवन से गृहीत प्रतीक

(१) **हठयोग परक प्रतीक**—इनका सन्त साहित्य में (क) सांकेतिक (ख) पारिभाषिक और (ग) संख्यामूलक प्रतीक रूप में प्रयोग मिलता है। सन्तों ने हठयोग-परक नाथ प्रतीकों को यथातथ्य रूप में ग्रहण न कर उनमें अपनी प्रकृति के अनुसार परिवर्तन कर लिया है। नाथ साहित्य में जो प्रतीक पद्धति शुष्क ज्ञानवाद या तथ्य-कथन तक ही सीमित है, सन्तों ने उसमें प्रेम, आत्मविचार और भावभगति की ऐसी धारा प्रवाहित की है जिसमें आकण्ठ निमग्न होकर सहृदय जिस अलौकिक आनन्द का सानिध्य प्राप्त करता है उसे लौकिक वाणी से कह नहीं पाता। नाथ साहित्य के इन हठयोग परक प्रतीकों का सन्त साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। सन्तों ने हठयोग परक शब्दों का प्रतीकात्मक वर्णन स्थान-स्थान पर किया है। कबीर कहते हैं—

अवधू मेरा मन मतवारा।
उन्मनि चढ़्या मगन रस पीवै, त्रिभवन भया उजियारा।
सुषमन नारी सहजि समांनी पीवै पीवन हारा ॥[6]
चंद सूर दुइ भाठी कीन्हीं, सुखमन पिगवा लागी रे ॥[7]

यारी साहब कहते हैं—

तिरबेनी मन में असनान।

जरूरत सुखमन जोई। चांद सूर बिच भाठी होई।[8]

इस प्रकार सन्तों ने हठयोग परक शब्द कुण्डलिनी को नागिन, रण्डा; इडा, पिंगला, सुषुम्ना को गंगा, यमुना, सरस्वती; त्रिकुटी को (जहाँ ये तीनों नाडियाँ आकर मिलती है) त्रिवेणी तथा संगम आदि प्रतीकात्मक शब्दों से चित्रित किया है।

---

१. **अजहु तु नाउ समुंद्र नहि किआ जानउ किआ होइ।** सन्त कबीर, पृ० २५४
२. **कौनो ठगवा नगरिया लूटल हो।** सन्त बानी संग्रह, पृ० ४
३. **चौपडि माहीं चौहटे अरध उरध बजार।** क० ग्र०, पृ० ४
४. **माधो चले बुनावन माहा, जग जीते जाइ जुलाहा,** वही, पृ० १५३
५. **मीडक सोवै साप पहरइया,** वही, पृ० ११३
६. वही, पद ७२
७. वही, पृ० ११०
८. **यारी रत्नावली,** पृ० ८

(२) **सामान्य लोक जीवन से गृहीत प्रतीक**—नाथ साहित्य के सामान्य लोक जीवन के प्रतीकों का सन्त साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। सन्तों ने परम्परा से गृहीत इन प्रतीकों को यत्किंचित उसी रूप में ग्रहण करते हुए भी अपनी भाव-भगति का पुट देकर उन्हें अधिक ग्राह्य और सरस बना दिया है। यथा—

स्वर्ण विशोधन—तत्कालीन समाज में रस रसायन की प्रक्रिया में पारद के विशोधन तथा मारण आदि का प्रयोग चित्त के विशोधन और आसुरी तथा चंचल मन की दुष्कृतियों के मारण के अर्थ में होने लगा था। नाथ पन्थी बानियों में सुनार के स्वर्ण विशोधन द्वारा चंचल चित्त के विशोधन की जिस प्रक्रिया का रोचक वर्णन किया गया है वहां सोना शून्य ज्ञान का प्रतीक ही है।[1] सन्त साहित्य में स्वर्ण साधना की यौगिक प्रक्रिया को अपेक्षाकृत कम स्वीकार किया है, उसमें सन्तों ने भक्ति और उसके अंग, सत्संग, गुरुभक्ति आदि को प्रमुखता दी है। वे कभी सत्संग को, कभी गुरु को और कभी राम को ही पारस मानते हैं। कबीर कहते हैं—

पारस के संग तांबा बिगरिश्रो, सो तांबा कंचन होई निबरिश्रो।
सन्तन संगि कबीरा बिगरिश्रो, सो कबीर रामै होइ निबरिश्रो॥[2]
अब घटि प्रगट भये राम राई, सोधि सरीर कनक की नाई।
कनक कसौटी जैसे कसि लेई सुनारा, सोधि सरीर गयो तन सारा।
बिन परचै तन कांच कथीरा, परचैं कंचन भया कबीरा।[3]

इसी तथ्य को दादूदयाल ने इन शब्दों में प्रकट किया है—

दादू गुरु गुरुवा मिलै, ताथैं सब गमि होइ।
लोहा पारस परसतां सहज समाना सोइ॥[4]

व्यावसायिक प्रतीक— गोरखनाथ सहज ज्ञान का व्यापार करते हैं वे पांच इन्द्रिय रूपी बैल और नवरन्ध्र रूपी गाय को बेचने आए हैं[5]। कबीर, रैदास[6] आदि सन्तों ने भी व्यवसायानुसार प्रतीक विधान प्रस्तुत किया है। कबीर जुलाहा हैं, ताना

---

१. गोरखबानी, पृ० ९१,९२
२. सन्त कबीर, पृ० २१०
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९४
४. दादू० बानी १, पृ० ५
५. गोरखबानी, पृ० १०४
६. सन्स रैदास ने गोरखनाथ के रूपक का चित्रण सहज सरल शैली में इस प्रकार किया है—

हरि को टांडौ लादे जाइ रे, मैं बनिजारो राम को।
राम नाम धन पाइयो, ताते सहज करूं ब्योहार रे॥
औघट घाट घनो घना रे, निरगुन बैल हमार रे।
राम नाम धन लादियो, ता ते विषय लाद्यो संसार रे॥

रैदास जी की बानी, पद ७२, पृ० ३४

रिया, चरखा आदि का प्रतीकात्मक प्रयोग उन्होंने किया है। वे सांसारिक ताना-बाना बुनना बन्द कर देते हैं, यमनियम रूपी पुत्रों के जागते रहने पर वासना का चोर घर में घुस जाता है। वे दुष्कर्मों के अधूरे ताने बाने में ो सन्धि मिलाकर सत्य-वस्त्र बुनना चाहते हैं।[1] ताना बाना छोड़कर राम शरीर पर लिख लेना ही सन्तों ने सीखा है।[2] सामान्य लोक जीवन से हार, कलाल, माली आदि भी अपने कार्य क्षेत्र के अनुसार प्रतीक रूप में उपमान रूप में आए इन प्रतीक रूपकों में छिपा गूढ़ार्थ द्रष्टव्य है—

राम वियोगी तन विकल, ताहि न चीन्है कोई।
तम्बोली के पांन ज्यूं दिन दिन पीला होई।।[3]

इन व्यावसायिक प्रतीकों में नाथपन्थी योगियों का प्रभाव ही दृष्टिगोचर

मीरस—नाथों ने कहा है कि जो खेचरी मुद्रा द्वारा चन्द्र से निरन्तर झरने त का सतत पान करता है वह अजरामर हो जाता है।[4] इसी अमृत रस को के नाम से भी पुकारा गया है। सन्तों ने इस अमीरस का व्यवहार खेचरी न्द्र स्रवित अमृत के लिए तो किया ही है परन्तु कालान्तर में यही रस हरि रामरस भी हो गया है—

बिना पियाले अमृत अंचवे नदिय नीर भरि राखै।
कहहिं कबीर सो जुग जुग जीवै राम सुधारस चाखै।।[6]

को चखने वाला अन्य सभी रसों को भूल जाता है—

राम रस पाइया रे तातें बिसरि गये रस और।[7]

का नशा कुछ ऐसा है कि पीने वाला मैमन्ता होकर, तन की सुध बुध भूलकर घूमता ही रहता है। कैसा अद्भुत खुमार है यह—

हरि रस पीया जाणिये जे कबहुं न जाई खुमार।
मैमन्ता घूमत रहै, नाहीं तन की सार।।[8]

के रस में आकण्ठ निमग्न भक्त को काल नहीं खाता—

अमृत पीवै आतमा, यौं साधू बंचै काल।।[9]

ीर ग्रन्थावली, पृ० ९५, पद २०
, पद २१ पृ० ९५
, पृ० ५१
खबानी पृ० ६४-६५
, पृ० ६०
जक, पृ० ११०
ीर ग्रन्थावली, पृ० १११
, पृ० १७
दू० बानी, काल को अंग ६, पृ० २०४

भगति परायण लीन मन ता कौं काल न खाइ ।।[1]

सहज सुन्न की भट्टी में पकाकर तैयार किया यह अमीरस रैदास को सिर देने पर ही प्राप्त हो सकता है, वह कलाली एक प्याला पिलाकर अमर बना देता है, अवधू उसे पीकर मतवाला हो जाता है—

देहु कलाली एक पियाला, ऐसा अवधू है मतवाला ।
हे रे कलाली तें क्या किया, सिर का साते प्याला दिया ।।
कहै कलाली प्याला देऊं, पीवनहारे का सिर लेऊं ।
चंद सूर दोऊ सनमुख होई, पीवै प्याला मरै न कोई ।
सहज सुन्न में भाठी सरवे, पावै रैदास गुरुमुख दरवे ।।[2]

इस प्रकार सन्त प्रतीक पद्धति की मुख्य अभिव्यक्ति धर्म साधना के रूप में हुई है । एक ओर यह प्रतीक पद्धति नाथपन्थी योगियों से प्रभावित है वहाँ दूसरी ओर सन्तों की बानियों में इसका स्वतन्त्र विकास हुआ है । नाथपन्थी योगियों की प्रतीक पद्धति को यथातथ्य रूप में ग्रहण करते हुए भी संतों के भक्ति विषयक आग्रह के कारण उसमें कुछ मूलभूत अन्तर आ गया है । योग की जटिल साधना के मध्य भी भक्ति की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई है उसमें भी सन्त सिर से पैर तक डूबे हुए हैं ।

---

१. वही, संजीवन को अंग, पृ० २१३
२. **रैदास जी की बानी**, पद ४०, पृ० २०

६. सन्त साहित्य में प्रयुक्त प्रतीक

परम्परा से प्राप्त दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी सन्तों के प्रतीकों में भक्ति का अपूर्व समन्वय हुआ है जिसके फलस्वरूप इनके प्रतीकों में दार्शनिकता के साथ साथ काव्यात्मक भावानुभूति का भी सुन्दर सम्मिश्रण देखने को मिलता है। यही कारण है कि सन्तों के प्रतीकों का एक बहुत बड़ा क्षेत्र भावात्मक रहस्यवाद पर आश्रित है। इस भावात्मक रहस्यवाद में उपनिषदों का अद्वैत दर्शन, बिट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति, स्वामी रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैत और विशिष्टाद्वैतवाद की सम्मिलित विचारधारा में भक्ति भावना का सन्निवेश और सूफी मत की रहस्यमयी मादकता में इश्क मिजाजी का तात्विक समावेश इन सब विचार-धाराओं का तिलतन्दुल रूप सन्त काव्य के भावपरक रहस्यवादी प्रतीकों में प्राप्त होता है।[1] सन्त साहित्य में प्रयुक्त प्रतीकों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(क) भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक
(ख) तात्विक या दार्शनिक प्रतीक
(ग) साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक प्रतीक)
(घ) संख्यावाचक प्रतीक और
(ङ) विपर्यय प्रधान प्रतीक, (उलटबांसी)

(क) भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक—

सन्त मूलतः भक्त ही थे। तत्कालीन वादों (अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि) से परे आत्मिक साधना ही इनका इष्ट था, यही कारण है कि सन्तों की प्रेमाभक्ति की सुमधुर सलिल प्रवाहिनी में सभी मत या वाद समन्वित हो जाते हैं। आत्मा-परमात्मा के चिरमिलन को उत्सुक सन्तों ने एतद्विषयक जो प्रतीक विधान प्रस्तुत किया है उसका सम्बन्ध मानव, मानवेतर प्राणियों और पदार्थों से है। भक्ति के मद में झूमते इन सन्तों ने उस ब्रह्म से प्रणयभाव पर आश्रित दाम्पत्य सम्बन्ध की स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति की है।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीकों को हम निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

१. आत्मा परमात्मा में एकता प्रदर्शित करने वाले माधुर्यभाव के प्रतीक

---

१. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य पृ० १९०-९५

२. दिनचर्या एवं जीविका के विविध क्षेत्रों से गृहीत प्रतीक
३. मानवेतर प्रकृति से गृहीत प्रेमपरक प्रतीक और
४. जड़ प्रकृति से गृहीत प्रतीक

(१) आत्मा परमात्मा में एकता प्रदर्शित करने वाले माधुर्यभाव के प्रतीक—

निर्गुण सन्त कवियों का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः अद्वैतवादी है। ये आत्मा और परमात्मा को अभिन्न तो मानते हैं, परन्तु निर्गुण और सगुण से परे इन सन्त कवियों की वाणी में ब्रह्म के प्रति वही व्याकुलता, भावतन्मयता और मिलनेच्छा के दर्शन होते हैं जिसका सगुण भक्त कवियों की वाणी में स्वाभाविक स्फुरण हुआ है। अलखनिरंजन और निरभै निराकर[1] के प्रति जब ये सन्त दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो अद्वैतवादी दर्शन पीछे छूट जाता है और द्वैतपरक भावना स्पष्ट रूप से उभर आती है। प्रभु का निराकाररूप साकार होने लगता है। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार जब उसमें भक्ति की कोमल भावना आ जाती है, प्रेम की प्रबल प्रवृत्ति समुद्र की भांति विस्तृत रूप रखकर उठ खड़ी होती है तो निराकार का भाव बहुत कुछ विकृत हो जाता है, उस भाव में व्यक्तित्व का आभास होने लगता है।···और ऐसी स्थिति में निराकार ईश्वर अपने को केवल विश्व का नियन्ता न रखकर भक्तों के सुख-दुख में समान भाग लेने वाला दृष्टिगोचर होने लगता है।[2]

तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए इन सन्त कवियों ने ईश्वर का निराकार रूप तो ग्रहण किया पर आन्तरिक रूप से वे प्रभु के सगुण रूप से पृथक् नहीं हो सके हैं। भक्ति के उद्दाम वेग में उनका निराकार और योगपरक ज्ञान कुछ फिसल सा गया है, युग-युग से प्रवहमान इस धारा में सन्तों ने भी जी खोलकर डुबकी लगाई है। उनकी व्याकुल आत्मा ने परमात्मा के साथ भक्ति-परक सभी सम्बन्ध स्थापित किए हैं। कहीं वे राम के 'कूता'[3] हैं तो कहीं गुलाम बनकर बिकने को तत्पर हैं,[4] कहीं वे बालक रूप में 'काहे न अवगुन बकसहु मोरा'[5] की प्रार्थना करते हैं तो कहीं भर्तार राजाराम के आने पर दुलहिन का सा साज सिंगार करते हैं।[6] इस प्रकार (सन्त साहित्य में) आत्मा और परमात्मा के साथ जो मधुर सम्बन्ध स्थापित करती हैं उसमें चार प्रकार की प्रतीक योजना द्रष्टव्य है—

१. दास्य भाव के प्रतीक
२. सख्य भाव के प्रतीक

---

१. **कबीर ग्रन्थावली**, रमैणी, पृ० २३०,
२. **हिन्दी साहित्य आलोचनात्मक इतिहास** पृ० २६४
३. **कबीर ग्रन्थावली, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग**, १४ पृ० २०
४. वही, पद ११३, पृ० १२४
५. वही, पद १११, पृ० १२३
६. वही, पद १, पृ० ८७

३. वात्सल्य भाव के प्रतीक और
४. दाम्पत्य भाव के प्रतीक।

(१) **दास्य भाव के प्रतीक**—अहं का सर्वभावेन परित्याग कर अपने को सम्पूर्णत: प्रभु चरणों में अर्पित कर देना दास्य भक्ति का आदर्श है। भक्त की अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, शिष्टता अथवा विनय की पराकाष्ठा का भाव बना रहता है। साधक अपने को राम का 'कूता' कह कर जो आत्माभिव्यक्ति करता है उसमें भक्त का अहं या अस्तित्व भगवान के श्री चरणों में अर्पित हो जाता है, ऐसा कहलाकर भक्त धन्य हो उठता है। कबीर कहते हैं—

कबीर कूता राम का मुतीआ मेरो नांउं।
गलै हमारे जेबड़ी जित खैंचैं तित जाउं॥[1]

'कूता' दास्यभाव का बड़ा ही सबल प्रतीक है, 'मुतिआ' शब्द से यह भावना और भी अधिक प्रबल हो गई है। भक्त की समस्त हीनता और पराधीनता एक साथ व्यंजित हो गई है। राम की जेबड़ी जब गले में पड़ी है तो 'कूता' को मालिक की इच्छानुसार ही चलना पड़ता है—जहं खिचै तंह जाउं।' सन्त दादू भी 'कूता' भाव के पोषक हैं। भक्त-सुनहाँ, सौ धक्का खाकर भी भगवान के दर से टले तो कैसे टले? स्वामी को छोड़ अन्यत्र कहाँ जाए बेचारा![2]

दास्य भाव की उपासना में सन्तों ने ब्रह्म के लिए मिहरबान[3], साहिब,[4] बन्दीवान,[5] स्वामी[6] आदि और आत्मा (भक्त) के लिए गुलाम,[7] सेवक, बन्दी, भिखारी, दास आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है। दास्य भाव के इन प्रतीकों में भक्त ने सर्व-भावेन प्रभु की चरण वन्दना कर उसकी कृपा का वरदान मांगा है, पर सेवक उस समय निराश और उदास हो जाता है जब साहिब मुख से भी नहीं बोलता,[8] पर ऐसा करने पर सेवक की भक्ति भावना कम नहीं होती, वह कुछ अपनी ही कमी समझकर और भी अधिक भक्ति में प्रवृत्त हो जाता है।

---

१. वही, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग १४, पृ० २०
२. **सौ धक्का सुनहां कौं देवै, घर बाहरि काढ़ै।**
दादू सेवग राम का, दरबार न छाडै॥
—दादूबानी १, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग ७०, पृ० ६१
३. **मिहरबान है साहेब मेरा···। धनी धरमदास की शब्दावली,** शब्द २७ पृ० २७
४. **तूं साहिब मैं सेवग तेरा···। दादूबानी** २, **पद** ४०१ पृ० १५८
५. **दादू बन्दीवान है, तू बन्दी छोड दिवान।**
दादूबानी १, बिनती को अंग १३ पृ० २३५
६. **प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा···। रैदास जी की बानी,** ८६, पृ० ४१
७. **सांई, मैं असल गुलाम तिहारां। सन्त सुधा सार** (खण्ड २) धनीधरमदास, पृ० १०
८. **साहिब मुख बोलै नहीं, सेवग फिरै उदास।**
यहु वेदन जिय में रहै, दुखिया दादू दास॥ दादू—सन्त सुधा सार, पृ० ४५७

(२) **सख्य भाव के प्रतीक**—दास्य भाव में सेवक और स्वामी के बीच मर्यादा की भावना रहने से शिष्टता तथा भय का भाव बना ही रहता है। भक्त भगवान की 'मरजी' के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता, पर सख्य भाव में यह भय अथवा झिझक समाप्त प्राय हो जाती है और उसके स्थान पर समता की भावना उदित हो जाती है। एक विशेष प्रकार की स्नेह और श्रद्धा मिश्रित धृष्टता भक्त में जागृत हो जाती है। वह शिष्टता की सीमाएँ तोड़ देता है, अपना सुख दुख सहज भाव से प्रकट कर देता है। स्वयं वे भी भक्त को गोद में उठाकर एकाकार हो जाते हैं। कबीर को यह अपूर्व 'दोसत' पूर्व जन्म के प्रताप से ही मिला है जिसने—

अंक भरे भरि भेटिया, मन मैं नाहीं धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिलै, जब लग दोइ सरीर।।
देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख।।[1]

दादू का 'मीत' परदेश चला गया है, उसके 'निरखरण' का 'घरणेरा' चाव आत्मा को मथ रहा है[2] प्राण उदास हो चले हैं, जब तक उस मीत के दर्शन नहीं होते चित्त व्याकुल ही रहेगा। इस स्वार्थ भरे संसार में प्रभु ही चरणदास[3] के सच्चे मीत हैं। गुरु अर्जुन देव[4] उसी प्रभु को मीत बनाने पर बल देते हैं। मित्र के प्रति विरह भावना का सन्तों में पर्याप्त विकास हुआ है। वे प्रभु ही तो भक्त के एकमात्र मित्र हैं, फिर उन्हें छोड़ किससे दुख कहें ? वह मीत तो उसके घट में ही व्याप्त है—

मीत तुम्हारा तुम्ह कनें, तुमहीं लेहु पिछाणि।
दादू दूर न देखिये, प्रतिबिंबा ज्यूं जाणि।।[5]

(३) **वात्सल्य भाव के प्रतीक**—उस परम पिता परमात्मा से माता पिता का सम्बन्ध जोड़ने की भावना वैदिक काल से ही पाई जाती है। ऋग्वेद में पिता-माता कह कर उसका स्मरण किया गया है—'यो नः पिता जनिता यो 'विधाता' तथा त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो वभूविथ[6]।' माता पिता का सम्बन्ध संसार के पवित्रतम रिश्तों में है। ममता, प्रेम और स्नेह की जैसी तीव्रता वात्सल्य भाव में देखने को मिलती है वैसी दास्य या सख्य भाव में नहीं मिलती। साधक उससे अपने सभी अपराध सहज भाव में ही क्षमा करा लेता है। बालक दिन रात न जाने कितने-कितने

---

१. **कबीर ग्रन्थावली, परचा को अंग, साखी** २५, १२
२. **निरखण का मोहि चाव घणेरा कब मुख देखौं तेरा।**
प्राण मिलन कौं भये उदासी, मिलि तूं मींत सबेरा।।
दादू, सन्त सुधा सार, पृ० ४४०
३. **हरि बिन कौन तुम्हारो मीत। चरनदास की बानी,** शब्द ४१ पृ० ५०
४. **भाई रे मीत करहुं प्रभु सोइ।—सन्त सुधा सार,** पृ० ३४६
५. **दादू, सन्त सुधा सार,** पृ०४८७
६. **कबीर ग्रन्थावली, प्रस्तावना,** पृ० ५६

अपराध करता है पर मां किसी भी अपराध को चित्त में नहीं रखती। बालक केश पकड़कर घात भी करे तो माता क्षमा कर देती है। वास्तव में स्नेहाधिक्य इस सीमा तक होता है कि बालक के दुखी होने पर माता भी स्वयं दुखी हो उठती है। कबीर कहते हैं—

हरि जननी मैं बालिक तेरा,

× × ×

कहै कबीर एक बुधि बिचारी बालक दुखी दुखी महतारी।[1]

हे रामईआ, मैं तो तेरा एक 'बारिकु' हूँ, भला क्या अपने बच्चे के अपराधों को भी क्षमा नहीं करोगे?[2]

दादू[3] और रैदास[4] भी उस ब्रह्म से माँ बेटे का तथा बाप-बेटे का पवित्र सम्बन्ध स्थापित कर अपने अपराधों को क्षमा करने की प्रार्थना करते हैं। वे सदय माता-पिता ही बालक के नाना अपराधों को क्षमा करने में समर्थ हैं। सन्त रज्जब तो 'बाप जी' को 'बिरद' याद दिलाकर कहते हैं—

रज्जब गुण नहिं बापजी, बहुत किये बिभचार।

× × ×

बिरद बिचारौ बापजी, जन रज्जब की बार॥[5]

इस प्रकार वात्सल्य प्रतीकों के अन्तर्गत प्रायः सभी सन्तों ने ईश्वर को माता-पिता के रूप में चित्रित करते हुए उसे पुत्र (जीव) के अपराधों (कुसंस्कार का प्रतीक) को क्षमा करने वाला ही बताया है। बालक के समान जीव भी इस संसार के मायिक चक्र में पड़कर नाना प्रकार के कृत्याकृत्य करता है। प्रभु सबका परम पिता है, अपने पुत्रों के अपराधों को क्षमा करते हुए उनके समुचित लालन पालन का भार उसी पर है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने पुत्र द्वारा किए गए अपराधों को उन संस्कारों का प्रतीक कहा है जिनके कारण वे आवागमन में पड़े रहते हैं और जो अपनी 'जननी' द्वारा अपने प्रति प्रदर्शित स्वाभाविक 'हेत' के न उतारे जाने पर अथवा आत्मभाव बनाए रखने पर अपने से आप नष्ट हो सकते हैं।[6]

(४) दाम्पत्यभाव के प्रतीक

प्रेम और हृदय के माधुर्य भाव की चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्यभाव में ही हो सकती है। साधक उस प्रिय से अनन्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। रहस्य भावना की दृष्टि से दाम्पत्य सम्बन्ध प्रगाढ़ तल्लीनता और मधुर लययोग का परिचायक है।

१. वही, पद १११, पृ० १२३
२. **रामईआ हउ बारिकु तेरा**···।—सन्त कबीर, रागु आसा १२, पृ० १०२
३. **माता क्यूं बारिक तजै, सुत अपराधी होइ**।—दादू, सन्त सुधा सार, पृ० ४४८
४. **जन को तारि तारि बाप रमइया**।—रैदास-बानी, पद ८१, पृ० ३९
५. **रज्जब जी, सन्त सुधा सार, साखी** ४४-४५ पृ० ५२८-२९
६. **मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना**, पृ० ४८७

दास्य, सख्य और वात्सल्य भाव में साधक और साध्य के बीच एक प्रकार का आवरण सा बना रहता है, कुछ झिझक, शालीनता, विनम्रता उसे तदाकार होने से रोकती रहती है, साधक चाहकर भी दाम्पत्य भाव सा तादात्म्य अनुभव नहीं कर पाता। पवित्र दाम्पत्य प्रेम तो वह वेगवान् सरिता है जो तट के बन्धनों (झिझक, शालीनता, विनम्रता आदि) को अस्वीकार करती हुई रागानुगा भक्ति के विशाल प्रान्तर भाग में कलकल छलछल करती बहती चली जाती है, उसके गम्भीर वात्याचक्र में अन्य सभी भाव समाहित हो जाते हैं।[१] कुल की कानि, लोक-वेद की परम्परागत मर्यादा सभी कुछ पीछे छूट जाता है। उनकी अमन्द ध्वनि भी साधक के कर्ण गुहरों में प्रवेश नहीं कर पाती। वहाँ तो बस एक ही राग, एक ही लय गूँजती रहती है, उसकी गूँज के आगे अन्य सभी गूँजें धीमी या प्रभावहीन पड़ जाती हैं। एक अद्भुत मतवालापन उस पर सवार हो जाता है। सन्त सुन्दरदास कहते हैं—

मग्न होइ नाचै अरु गावै। गदगद रोमांचित हो आवै ॥[२]

यह प्रेम है ही ऐसा, एक बार लग जाए तो—

प्रेमाधीना छाक्या डोलै। क्यों का क्यों ही बानी बोलै ॥
कबहूं कै हंसि उठय नृत्य करि रोवन लागय।[३]

तो क्या जो प्रेम रस का पान कर लेता है, इसी प्रकार मतवाला हो जाता है ?[४] कबीर की स्वीकारोक्ति द्रष्टव्य है—

हरि गुन कथत सुनत बउरानो।[५]

सन्त मलूकदास भी प्रेम पियाला पीकर अन्य सब साथियों को भूलकर माते हाथी के समान झूमने लगे हैं, डर से 'निहसंक' होकर 'साहेब' से मिलकर 'साहेब' हो गए हैं—

साहेब मिल साहेब भये, कछु रही न तमाई।
कहैं मलूक तिस घर गये, जहं पवन न जाई ॥[६]

---

१. **डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में—आत्मा परमात्मा के पति पत्नी सम्बन्ध में प्रेम की महान शक्ति छिपी रहती है। इसी प्रेम के सहारे आत्मा में परमात्मा से मिलने की क्षमता आती है। इस प्रेम में न तो वासना का विस्तार ही रहता है और न सांसारिक सुखों की तृप्ति ही। इसमें सारी इन्द्रियाँ आकर्षण, मादकता और अनुराग की प्रवृत्तियाँ और अन्तःप्रवृत्तियाँ लेकर स्वाभाविक रूप से परमात्मा की ओर वैसे ही अग्रसर होती है जैसे नीची जमीन पर पानी।**
—कबीरका रहस्यवाद, पृ० ४७,४८

२. **सुन्दरदास, सन्त सुधा सार,** ५८३

३. वही, पृ० ५७७-७८

४. **हरि रस पीया जाणिये, जे कबहूं न जाइ खुमार।**
मैंमंता घूमत रहै, नांहि तन की सार ॥
—कबीर ग्रन्थावली, रस को अंग, ४ पृ० १६

५. **सन्त कबीर, रागु बिलावलु** २ पृ० १५३

६. **मलूकदास की बानी, प्रेम, शब्द** ३, पृ० ७

प्रेम मदिरा साधक को मदमस्त ही नहीं करती संसार के अन्य विषयों से भी मुक्त कर देती है, हृदय की सारी कलुषता धुल जाती है, बस प्रेम रस ही सर्वत्र व्याप्त रहता है।[१] भूख, प्यास, शीत, उष्ण, मूर्छा, आलस्य, शोक, सुख, दुख कुछ भी व्याप्त नहीं होता,[२] साधक सबसे निर्द्वन्द्व हो जाता है। नाम का अमल पीकर 'माता' जीव इन्द्र को भी रंक के समान समझता है।[3]

सन्तों ने इस प्रेम मदिरा का छककर पान किया है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में 'दाम्पत्य प्रेम जो ईश्वरीय प्रेम का स्थान ग्रहण करता है, हमारे इन ज्ञानी कवियों को बहुत पसन्द है। वास्तव में इन प्रेमात्मक रूपकों के गीतों में ही इनके हृदय पूर्णरूप से व्यक्त हुए जान पडते हैं। ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक बनकर दाम्पत्य प्रेम आत्मद्रष्टा कवियों में सब कहीं अपनाया जाता है।[४]

ईश्वर के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध का एक उदाहरण उपनिषद् में भी मिलता है। जीवात्मा और परमात्मा के मिलन की तुलना लौकिक स्त्री पुरुष के प्रगाढालिंगन से करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि जिस प्रकार प्रियतमा के प्रगाढ़ालिंगन में आबद्ध पुरुष बाह्य अथवा आन्तरिक चेतना शून्य होकर एक अलौकिक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से एकाकार होकर अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करती है।[५]

सन्तों ने दाम्पत्य भाव जनित प्रेमाश्रित भक्ति का जैसा विस्तृत और रोचक वर्णन किया है वैसी उनकी वृत्ति प्रभु के निराकार रूप के वर्णन में नहीं रमी है। निराकार की उपासना करते समय भी उनकी दृष्टि प्रेम के रंग में रंगी रही। पर यह प्रेम भी कोई खाला जी का घर नहीं है, इसमें साधक को सिर उतारकर पृथ्वी पर रखना पड़ता है,[६] प्रेम के रस में भीगकर प्रेमी के अंग अंग में तीव्र विरहाग्नि धधक उठती है, उसके रोम-रोम से धुंआ उठने लगता है पर नेह फीका नहीं पड़ता।[७]

दाम्पत्य भाव की अन्तिम परिणति मिलन में होती है। जहाँ आत्मा परमात्मा के साथ आध्यात्मिक विवाह रचाती है, यहाँ आकर आत्मा सभी लौकिक एवं अलौकिक सीमाओं को तोड़ उस असीम में एकाकार हो जाती है, आनन्द का अविरल प्रवाह फूट पड़ता है, साधक धन्य धन्य हो जाता है।

---

१. सुन्दरदास 'सन्त सुधा सार, पृ० ५७८
२. वही, पृ० ५८०-८१
३. नाम अमल माता रहैं गिनै इन्द्र को रंक।—मलूक-बानी, साखी १४, पृ० ३३
४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृ० ३५३
५. वृहदारण्यक, ४/३/२१
६. कबीर यहु घर प्रेम का, घाला का घर नांहि
सीस उतारै हाथ करि, सो पैसे घर मांहि ॥
कबीर ग्रन्थावली, सूरातन कौ अंग १९, पृ० ६९
७. जरै सरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तो नेह न तोरौं। वही, पद ३३४

दाम्पत्य भाव की सभी अवस्थाओं का क्रमिक विकास हमें सन्तकाव्य में देखने को मिलता है, इन अवस्थाओं को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं—

क. पूर्वानुराग, एक आन्तरिक विश्वास
ख. मिलन की उत्सुकता, आकुलता और विरह भाव
ग. मिलन
घ. आध्यात्मिक विवाह और आनन्द

(क) **पूर्वानुराग, एक आन्तरिक विश्वास**—कवि की आत्मा संसार के माया-जाल में फंसी हुई थी, नाना प्रकार के कष्ट झेलती आत्मा आवगमन के चक्र में पड़ी हुई हैं, अपने अस्तित्व का भी उसे ध्यान नहीं, माया के त्रिगुणात्मक जाल में सभी फंसे जा रहे हैं। लोक वेद के साथ बही जा रही आत्मा को गुरु ने ज्ञान का दीपक दे दिया,[१] प्रेम का ऐसा बाण खींचकर मारा कि अन्तर बिंधकर रह गया।[२] पलटू साहिब के शब्दों में—

मेरे लगी सबद की गांसी है, तब से मैं फिरौं उदासी है।
नैनन नीर ढुरन मोरे लागे, परी प्रेम की फांसी है।

और यदि पपीहा भी पिया पिया बोलता है तो—

पिया पिया बोलै पपीहा है, सबद सुनत फाटै हीया है।
पिय की सोच परी अब मोको, पिय बिन जीवन छीया है।।[३]

धीरे-धीरे घाव गहरा होता चला गया, आत्मा रूपी नारी को उस प्रिय का परिचय प्राप्त हो गया। अब तक आत्मा रूपी नारी कुवाँरी थी, क्योंकि पिय से उसका परिचय नहीं हुआ था।[४] पर अब तो अन्तर में एक विश्वास जग उठा है, प्रेमोन्मत्त हो पुकार उठती है—

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव।

आत्मा को अपना अस्तित्व बोध होने लगता है—

हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिहिया

प्रिय से मिलने के लिए उस मतवाली ने—

किया स्यंगार मिलन कैं तांई।
काहे न मिलौ राजा राम गुसांई।।[५]

---

१. **कबीर ग्रन्थावली, गुरुदेव कौ अंग ११,** पृ० २
२. **कर कमाण सर सांधि करि, खैंचि जु मार्‌या मांहि।**
भीतरि भिद्या सुमार ह्वै जीवै कि जीवै नांहि। वही, पृ० ८
३. **पलटू साहिब की बानी,** भाग ३, शब्द ३७, ३८ पृ० १६, १७
४. **जब लग पीव परचा नहीं कन्यां कुंवारी जाणि। कबीर ग्रन्थावली, पृ०** ४७
५. वही, पद ११७, पृ० १२५

आत्मा साहिब के घर जाकर सुख पाने को बेचैन हो उठती है—

साहिब के घर बिच जावोंगी । जावोंगी सुख पावोंगी ।।
प्रेम भभूत लगाय कै सजनी । सन्तन कहैं रिझावोंगी ।।
पलटू दास मारि कै गोता । भक्ति अभय लै आवोंगी ।।[1]

अब तो आत्मा में रंग लग चुका है[2] । खसम की प्यारी सुरत सुहागन खसम की कामना करती है ।[3]

प्रियमत के प्रति एक आन्तरिक विश्वास तो जग उठा पर क्या यही सब कुछ है ? इस विश्वास का परम विकास तो प्रिय मिलन में है । पर वे निष्ठुर पिया क्या सहज ही प्राप्य हैं ? नहीं, हंसी खुशी तो उसे कोई प्राप्त ही नहीं कर सकता, जिसने भी उसे पाया है रोकर पाया है—

हंसि हंसि कंत न पाइए, जिनि पाया तिन रोइ ।[4]

विरह की अग्नि में तप कर (सोना रूपी) आत्मा कुन्दन बन जाती है । विरहावस्था में तल्लीन आत्मा जब आरति कर पिय को बुलाने को विरहिन भाव धारण कर लेती है तो प्रेम पवित्र होने लगता है । उस प्रिय के 'दरसन के तांई' विरह अग्नि जलाना आवश्यक है,[5] क्योंकि विरह की अग्नि में सम्पूर्ण जलते हुए को ही राम आकर बुझाते हैं ।[6] सन्त रज्जब के मतानुसार बिना विरह वियोग के पिव नहीं मिल सकता ।[7]

(ख) मिलन की उत्सुकता, आकुलता और विरह भाव—दाम्पत्य प्रतीकों के अन्तर्गत विरह जनित अभिव्यक्ति का ही बाहुल्य है । वास्तव में विरह की भावना जितनी तीव्र होगी पिया मिलन का माधुर्य उतना ही अधिक आह्लादक होगा । चित्त की एक वासनात्मक वृत्ति रति है, जो भिन्न-भिन्न सम्बन्धों के अनुसार प्रेम का रूप धारण करती है । प्रारम्भ में प्रेम का सूत्रपात लौकिक स्तर पर होता है जो धीरे-धीरे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सोपानों को पार करता हुआ ईश्वराभिमुख हो जाता है । वियोग की भीषण भट्टी में पड़ कर प्रेम का सारा कालुष्य जल जाता है और रह जाता है केवल शुद्ध आध्यात्मिक रति भाव । सूफी कवियों ने ही तो प्रेम की सार्थकता मानी है । उनके मिलन का लक्ष्य तो मरणोपरान्त है । इहलौकिक जीवन तो प्रेमी और प्रेमिका के विरह वियोग का काल है, इसमें जितनी तड़पन और तीव्रता होगी,

१. **पलटू बानी** २, शब्द ३६, पृ० १७
२. **रंग लागो गोरिया, आजु रंग लागो ।** बुल्ला साहिब का शब्दसागर १२, पृ० १०
३. **सुरति सुहागिन चरन मनावहि खसम आपनो पैवों ।** वही, शब्द १४, पृ० ११
४. **कबीर ग्रन्थावली, विरह कौ अंग** २६, ३०, पृ० ६-१०
५. **विरह अगिनि में जालिबा, दरसन के तांई ।** दादूबानी १, विरह को अंग ७२
६. **दादू नखसिख परजलै, तब राम बुझावै आइ ।** वही, ७१
७. **दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव ।**
रज्जब विरह वियोग बिन, कहां मिलै सो पीव ।।
रज्जब, संत सुधा सार, पृ० ५२७,

प्रेम उतना ही सबल और चिरस्थायी बनेगा। विरह ही प्रेम की कसौटी है, जो इस पर खरा उतर जाता है, वही उसे पा लेता है। 'जिन खोजा तिन पाइयां' के अनुसार मरजीवा बनकर ही सच्चे मोती प्राप्त किए जा सकते हैं। कबीर[1] के अनुसार तो जिस हृदय में विरह का संचार नहीं होता वह 'मसान' (श्मशान) के समान ही है।

सन्तों का प्रेम परकीया भाव का नहीं, स्वकीया भाव का है। परकीया भाव में प्रेम की तीव्रता चाहे अधिक होती है पर पूर्ण तादाम्य का भाव स्वकीया से ही सम्पन्न हो सकता है। इसलिए सन्तों ने स्थान-स्थान पर अपने को राम की 'बहुरिया' कहा है। विवाह को मिलन का आदर्श माना है।

आत्मा रूपी वधू का परमात्मा रूपी प्रियतम से आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी जब मिलन का सुख प्राप्त नहीं होता तो आत्मा पुकार उठती है—

वे दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ॥[2]

जब तक आत्मा प्रियतम से अंग से अंग मिलाकर प्रगाढ़लिंगन में ही आबद्ध न हुई तो देह धारण करने का फल आखिर क्या हुआ? हाय, वे दिन न जाने कब आवेंगे, जब दोनों हिल मिलकर खेलेंगे। हमारा मन, मन और प्राण एकाकार हो जाएंगे। हे प्रभु! आप समर्थ हैं, इस गरीब की इतनी सी आरजू तो पूरी कर दीजिए। मेरे तन-मन की सारी तपन बुझ जाएगी, आज तो सेज सिंह के समान खाने को दौड़ती है।[3]

पड़ोसियों के दुलराने से विरहिन का ताप दूर नहीं हो सकता, प्रिय के चाहने पर ही ऐसा सम्भव है—

जौ पैं पिय के मनि नहीं भायें
तौ का पारोसनि कैं हुलराये।
का चूरा पाइल झमकांयै, कहा भयौ बिछुआ ठमकांयैं।
का काजल स्यंदूर कैं दीयैं, सोलह स्यंगार कहा भयौ कीनै।[4]

मेरा दुख दूर करो बालम, तुम्हारे बिना मुझ गरीब, कबीर की आत्मा तड़प रही है, न रात को नींद है, न दिन में चैन है, इधर-उधर तड़पते-तड़पते ही भोर हो जाती है। सेज सूनी पड़ी है, तन मन रंहट के समान डोल रहा है, नेत्र थक कर पथरा गए हैं। अब तो रास्ता भी नहीं सूझता, पर ओ बेदरदी सांई, तूने एक बार भी सुध न ली। हे प्रियतम, दर्द सीमा पार कर चला है, अब तो इस जन की पीर कम करदो, आओ न—

---

१. **जिस घरि बिरह न संचरै, सो घर सदा मसान।**
कबीर ग्रन्थावली, बिरह कौ अंग २१, पृ० ९

२. वही पद, ३०६, पृ० १९१, ९२

३. **सेज हमारो स्यंघ भई है, जब सोउं तब खाइ।** वही, पद ३०६, पृ० १९१-९२

४. वही, पद १३९, पृ० १३२-३३

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहीं चैन रैन नहिं निंदिया, तलफ तलफ कै भोर किया ।।
तन मन मोर रहट अस डोलै । सूनी सेज पर जनम छिया ।।
नैन थकित भये पन्थ न सूझै । सांई बेदरदी सुधि न लिया ।।
कहै कबीर सूनौ भई साधो । हरो पीर दुख जोर किया ।।[1]

विरही कबीर करे भी तो क्या करे ? आत्मा के साथ-साथ शरीर ने भी साथ देना छोड़ दिया है । उस निष्ठुर प्रियतम की बाट जोहते-जोहते आंखों में झाँई पड़ गई है, उसका नाम (राम-राम) पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गए हैं;[2] पर मेरे इस दर्द को तो कोई भुक्त भोगी ही अनुभव कर सकता है, जिसने कभी विरह का दीदार ही नहीं किया वह चोट की कसक को क्या जाने ?[3] यह पापी विरह भयंकर 'भुवंगम' के समान तन मन पर छा गया है, कोई मंत्र ही काम नहीं करता, राम वियोगी को तो मौत ही शेष रह गई है । जीते जी तो वह 'बौरा' ही बना रहता है ।[4] हे पिया, सच सच बताओ, क्या कभी इस जीवन में तुम मिल भी सकोगे ? इस शरीर को दीपक बनाकर जीव की बाती प्रज्ज्वलित कर लूँ, पर दीदार तो देना मेरे देवता ।[5] देखो न, तुम्हारे विरह में 'रहट' के समान मेरे नेत्रों से आँसुओं का निर्झर बह रहा है, पपीहे के समान पिव-पिव की रट लगी हुई है;[6] मैं आज विचित्र स्थिति में पहुँच गई हूँ, रोने पर बल घट जाता है, हंसने पर तुम्हारे कुपित होने का भय है, सारा दर्द मन ही मन घुट रहा है । 'घुण' के समान तिलतिल कर जीवन कट रहा है,[7] भला, तुम इतने निर्दयी क्यों हो गए हो ? ठीक है, मत आओ, मुझे

---

१. कबीर साहब की शब्दावली २, शब्द २८, पृ० ७६

२. अंषडियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभडियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि ।
कबीर ग्रन्थावली, विरह कौ अंग २२

३. चोट सतांणी बिरह की सबतन जरजर होइ ।
मारण हारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ ।। वही, १८

४. बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ।। वही, १८

५. इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ।। वही, २३

६. नैना नीझर लाइया, रहट बहै दिन जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम ।। वही, २४

७. जो रोऊँ तौ बल घटै, हंसौं तो राम रिसाइ ।
मन ही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुण काठहि खाइ ।। वही, २८

'मींचु' ही दे दो, आठ पहर का 'दाभंणा' भी कैसे सहा जाए ?[1] "कबीर ने विरह का वर्णन जिस विदग्धता के साथ किया है उससे यही ज्ञात होता है कि कबीर की आत्मा ने स्वयं ऐसी विरहिणी का वेश धारण कर लिया होगा जिसे बिना प्रियतम के दर्शन के एक क्षण भी शांति न मिलती होगी; जिस प्रकार विरहणी के हृदय में एक कल्पना करुणा के सौ-सौ वेष बनाकर आंसू बहाया करती है उसी प्रकार कबीर के मन का एक एक भाव न जाने करुणा के कितने रूप रखकर प्रकट हुआ है। विरहिणी प्रतीक्षा करती है, प्रिय की बातें सोचती है, गुण वर्णन करती है. विलाप करती है, आशा रखकर अपने मन को सन्तोष देती है, याचना करती है।"[2]

विरह की प्रबल झंझा ने दादू की आत्मा को बुरी तरह झकझोर दिया है। प्रेम की कातर पुकार से दादू ने अपने काव्य का शृंगार किया है। विरह की टीस का दादू ने पूरी तरह अनुभव किया है। दादू में कबीर के समान उक्ति चमत्कार तो नहीं है पर प्रेम तत्व व्यंजना कुछ कम नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में दादू में प्रेम तत्व की व्यंजना अधिक है। घट के भीतर के रहस्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें बहुत कम है। दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है, जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गम्भीर है।"[3] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी शब्दान्तर से कहा है कि 'अधिकांश में उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ में आ जाने लायक होती हैं। इनके पदों में जहाँ निर्गुण, निराकार, निरंजन को भगवान् के रूप में उपलब्ध किया गया है, वहां वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गए हैं। ऐसी समस्या में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के संयोग और वियोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं पर स्वभावतः सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुरःसर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था और दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम।"[4]

दादू की विरहिन आत्मा पुकार उठी है कि अरे कोई उससे दर्शन देने की बात तो कह दो, थोड़ा सा जीवन है, यह अवसर बीतने पर फिर भला क्या होगा।[5] मैं केवल दर्शन ही चाहता हूँ, मुक्ति, सिद्धि, 'रिद्धि' जोग, भोग, घर, बन कुछ भी

---

१. कै बिरहणि कुं मींचु दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सह्या न जाइ। वही, ३५, पृ० ८, ६, १०

२. कबीर का रहस्यवाद, पृ ४६

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८६

४. हिन्दी साहित्य, पृ० १४५-४६

५. कब हरि दरसन देहुगे, यहु अवसर चलि जात।
दादू बानी १, विरह को अंग ३४

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहीं चैन रैन नहिं निंदिया, तलफ तलफ कै भोर किया ।।
तन मन मोर रहट ग्रस डोलै । सूनी सेज पर जनम छिया ।।
नैन थकित भये पन्थ न सूझै । सांई बेदरदी सुधि न लिया ।।
कहै कबीर सूनौ भई साधो । हरो पीर दुख जोर किया ।।[1]

विरही कबीर करे भी तो क्या करे ? ग्रात्मा के साथ-साथ शरीर ने भी साथ देना छोड़ दिया है । उस निष्ठुर प्रियतम की बाट जोहते-जोहते ग्रांखों में झाँई पड़ गई है, उसका नाम (राम-राम) पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड़ गए हैं;[2] पर मेरे इस दर्द को तो कोई भुक्त भोगी ही ग्रनुभव कर सकता है, जिसने कभी विरह का दीदार ही नहीं किया वह चोट की कसक को क्या जाने ?[3] यह पापी विरह भयंकर 'भुवंगम' के समान तन मन पर छा गया है, कोई मंत्र ही काम नहीं करता, राम वियोगी को तो मौत ही शेष रह गई है। जीते जी तो वह 'बौरा' ही बना रहता है ।[4] हे पिया, सच सच बताग्रो, क्या कभी इस जीवन में तुम मिल भी सकोगे ? इस शरीर को दीपक बनाकर जीव की बाती प्रज्ज्वलित कर लूँ, पर दीदार तो देना मेरे देवता ।[5] देखो न, तुम्हारे विरह में 'रहट' के समान मेरे नेत्रों से ग्राँसुग्रों का निर्झर बह रहा है, पपीहे के समान पिव-पिव की रट लगी हुई है;[6] मैं ग्राज विचित्र स्थिति में पहुँच गई हूँ, रोने पर बल घट जाता है, हंसने पर तुम्हारे कुपित होने का भय है, सारा दर्द मन ही मन घुट रहा है । 'घुण' के समान तिलतिल कर जीवन कट रहा है,[7] भला, तुम इतने निर्दयी क्यों हो गए हो ? ठीक है, मत ग्राग्रो, मुझे

---

१. कबीर साहब की शब्दावली २, शब्द २८, पृ० ७६

२. ग्रंषडियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभडियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि ।
कबीर ग्रन्थावली, विरह कौ ग्रंग २२

३. चोट सतांणी बिरह की सबतन जरजर होइ ।
मारण हारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ ।। वही, १८

४. बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै तो बौरा होइ ।। वही, १८

५. इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव ।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ।। वही, २३

६. नैना नीझर लाइया, रहट बहै दिन जाम ।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरा मिलहुगे राम ।। वही, २४

७. जो रोऊँ तौ बल घटै, हंसौं तो राम रिसाइ ।
मन ही मांहि बिसूरणां, ज्यूं घुणं काठहि खाइ ।। वही, २८

'मींचु' ही दे दो, आठ पहर का 'दाभंणा' भी कैसे सहा जाए ?[1] "कबीर ने विरह का वर्णन जिस विदग्धता के साथ किया है उससे यही ज्ञात होता है कि कबीर की आत्मा ने स्वयं ऐसी विरहिणी का वेश धारण कर लिया होगा जिसे बिना प्रियतम के दर्शन के एक क्षण भी शांति न मिलती होगी; जिस प्रकार विरहणी के हृदय में एक कल्पना करुणा के सौ-सौ वेष बनाकर आंसू बहाया करती है उसी प्रकार कबीर के मन का एक एक भाव न जाने करुणा के कितने रूप रखकर प्रकट हुआ है। विरहिणी प्रतीक्षा करती है, प्रिय की बातें सोचती है, गुण वर्णन करती है, विलाप करती है, आशा रखकर अपने मन को सन्तोष देती है, याचना करती है।"[2]

विरह की प्रबल झंझा ने दादू की आत्मा को बुरी तरह झकझोर दिया है। प्रेम की कातर पुकार से दादू ने अपने काव्य का शृंगार किया है। विरह की टीस का दादू ने पूरी तरह अनुभव किया है। दादू में कबीर के समान उक्ति चमत्कार तो नहीं है पर प्रेम तत्व व्यंजना कुछ कम नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में दादू में प्रेम तत्व की व्यंजना अधिक है। घट के भीतर के रहस्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें बहुत कम है। दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है, जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गम्भीर है।"[3] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी शब्दान्तर से कहा है कि 'अधिकांश में उनकी उक्तियाँ सीधी और सहज ही समझ में आ जाने लायक होती हैं। इनके पदों में जहाँ निर्गुण, निराकार, निरंजन को भगवान् के रूप में उपलब्ध किया गया है, वहां वे कवित्व के उत्तम उदाहरण हो गए हैं। ऐसी समस्या में प्रेम का इतना सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है कि बरबस सूफी भावापन्न कवियों की याद आ जाती है। कबीर के समान मस्तमौला न होने के कारण वे प्रेम के संयोग और वियोग के रूपकों में वैसी मस्ती तो नहीं ला सके हैं पर स्वभावतः सरल और निरीह होने के कारण ज्यादा सहज और पुरःसर बना सके हैं। कबीर का स्वभाव एक तरह के तेज से दृढ़ था और दादू का स्वभाव नम्रता से मुलायम।"[4]

दादू की विरहिन आत्मा पुकार उठी है कि अरे कोई उससे दर्शन देने की बात तो कह दो, थोड़ा सा जीवन है, यह अवसर बीतने पर फिर भला क्या होगा।[5] मैं केवल दर्शन ही चाहता हूँ, मुक्ति, सिद्धि, 'रिद्धि' जोग, भोग, घर, बन कुछ भी

---

१. कै बिरहणि कुं मींचु दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सह्या न जाइ। वही, ३५, पृ० ८, ६, १०
२. कबीर का रहस्यवाद, पृ ४६
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ८६
४. हिन्दी साहित्य, पृ० १४५-४६
५. कब हरि दरसन देहुगे, यहु अवसर चलि जात।
दादू बानी १, विरह को अंग

नहीं मांगता, तेरे बिना भला इनका क्या बनेगा ?[१] दादू की आत्मा बिना दरस के मीन के समान तड़प रही है[२] चातक के समान पिव पिव की रट लगी हुई है,[३] विरह में निसदिन रो रोकर मन ही मन क्षीण हो रही है[४] भला बिना दर्शन के जीना भी क्या जीना है,[५] मर जाने पर तुम्हें ही पछताना पड़ेगा। तुम्हीं बताओ, निसदिन तड़पाने वाला विरह मैं कब तक सहूं ? अन्त हो चुका है इस विरह का, शायद मेरे विरह में ही कुछ कमी है, ऐसा लगता है हम तो पिव के विरह वियोग में बिना दर्शन के ही मर जाएँगे[६] पर अरे ओ निष्ठुर पिया, इतना जुल्म तो मत करो, बस, दर्शन तक जीने दो, तुम्हारे दर्शन से ही मुझे सब सुख आनन्द मिल जाएंगे, फिर मौत भी बुरी नहीं लगेगी। तुम आओ ना ! कहाँ बिलम गए, ये नैना तकते-तकते थक गए हैं—

तौलगि जिनि मौर तूं मोहिं, जौंलगि मैं देखौं नांहि तोहिं।[७]

भला इस तड़पन की भी हद है, दादू की बेकली तो देखो, कैसी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो बैठी है उसकी विरहिन आत्मा—

पीव हौं कहा करौं रे, पांइ परौं के प्राण हरौं रे।
अब हौं मरणै नांहि डरौं रे ।।टेक।।
तलफि मरौं कै झूरि मरौं के, कै हौं बिरही रोई मरौं रे।
टेरि कह्या मैं मरण गह्या रे, दादू दुखिया दीन भया रे ।।[८]

विरह की मर्मान्तक पीड़ा से संत कवि रैदास का अंग अंग व्याकुल है। रैदास की वाणी में निरीह आत्म समर्पण सीधे सादे शब्दों में व्यक्त हुआ है, छलकपट का लेश भी उसमें नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है कि रैदास जी के पदों में एक प्रकार की ऐसी आत्म-निवेदन और परमात्म विरह की पीड़ा है जो केवल तत्व ज्ञान की चर्चा से प्राप्त नहीं हो सकती। वह ऐसे दृश्य की अनुभूति है जो ज्ञान की चर्चा से जटिल नहीं बना है बल्कि प्रेमानुभूति से अत्यन्त सहज हो गया है। अनाडम्बर, सहज शैली और निरीह आत्म समर्पण के क्षेत्र में रैदास के साथ कम

---

१. **दरसन दे दरसन दे, हौं तो तेरी मुकति न मांगौं रे।**
दादू तुम बिन और न मांगों······। वही, भाग २, पद ३१३, पृ० १२३
२. **दादू तलफै मीन ज्यूं, तुझ दया न आवै।** वही, विरह को अंग १७, १८
३. **मन चित चातृग ज्यूं रटै, पिव पिव लागी प्यास।** वही, ४
४. **बिरहिनि रोवै रात दिन, झूरै मन ही मांहि।**
दादू औसर चलि गया, प्रीतम पाये नांहि।।वही, ८
५. **क्या जीये में जीवणां, बिन दरसन बेहाल।** वही, ३२
६. **दादू लाइक हम नहीं, हरि दरसन के जोग।**
बिन देखे मरि जांहिगे, पिव के विरह वियोग।। वही, ९२
७. वही, भाग २, शब्द १८, पृ० ७-८
८. वही, शब्द १२८, पृ० ५०

सन्तों की तुलना की जा सकती है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार रैदास की भक्ति चाहे निर्गुण ढांचे की ही जान पड़ती हो[2] पर प्रेमासक्ति, विरह का जो स्वाभाविक किंवा उद्दाम वेग उनमें दीख पड़ता है उसमें वे सगुण भक्ति की सीमा में दूर तक प्रवेश कर गए प्रतीत होते हैं, वे निरीह भावना से प्रभु के दर्शनों की प्रार्थना करते हैं, दर्शन ही उनका जीवन है, चकोर वृत्ति उनके अंग अंग में समा गई है, आज प्रिय न मिले तो फिर कब मिलेंगे ? देखिए कैसी आकुल गुहार है—

दरसन तोरा जीवन मोरा बिन दरसन क्यों जिवै चकोरा।[3]

आत्मा परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ चुकी है, भला क्या सम्बन्ध कभी टूट सकता है ? फिर यदि वह निष्ठुर प्रियतम सम्बन्ध तोड़ें भी तो आत्मा इसे स्वीकार करेगी ? नहीं, क्योंकि उससे तोड़ और किससे जोड़े ? हे प्रिय, तेरे कारण तो मैं सारे जगत से सम्बन्ध तोड़ बैठा हूँ, अब तो सब ही पहर तुम्हारी ही आशा है—

जो तुम तोरो राम मैं नहिं तोरौं, तुमसे तोरि कवन से जौरौं ॥
मैं अपनो मन हरिसौं जोर्यो। हरि से जोरि सबनि से तोर्यो ॥
सबही पहर तुम्हारी आसा। मन क्रम वचन कहै रैदासा ॥[4]

विरह वेदना कैसी होती है, यह कोई रैदास से पूछे, पर क्या वे कह भी सकेंगे ?

मैं बेदनि कासनि आखूं।
हरि बिन जिव न रहै कस राखूं ॥[5]

गुरु नानक देव के परम शिष्य शेख फरीद की रसभरी बानी में प्रेम विरह की जो असीम आध्यात्मिक गहराई मिलती है जिसमें सूफी रंग अपने पूरे निखार पर है। सीधे मर्म पर चोट करने वाली मर्मान्तक पीड़ा ही शेख फरीद की बानी का शृंगार है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है : भाषा पंजाबी-हिन्दी का मिश्रित रूप है—

तपि तपि लुहि लुहि हाथ मरोरउं। बावलि होइ सो सहु लोरउं ॥
तैं साहिब की मैं सार न जानी। जोबनु खोइ पाछे पछुतानी ॥
काली कोइल तू किन गुन काली। अपने प्रीतम के हउ बिरहै जाली ॥
विधग खूहों मुंध अकेली। ना कोइ साथी न कोई बेली ॥
वाट हमारी खारी उड़ीणी। खंनिअहु तिखी बहुतु पिईणी ॥[6]

दादू के अनन्य शिष्य रज्जब जी भी विरह और प्रेम में आकण्ठ निमग्न हैं। विरह और प्रेम की गहरी भावना एक साथ मिल गई है। रज्जब का मन मन्दिर राम बिना सूना पड़ा है, ऐसे सूने मन्दिर में उनकी विरहिन आत्मा को भला नींद कैसे आ सकती है—

---

१. **हिन्दी साहित्य,** पृ० १३८-९
२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास,** पृ० ८१
३. **रैदास जी की बानी,** शब्द ८०, पृ० ३८-३९
४. वही, ५०, पृ० २३
५. वही, पद ६१, पृ० २८-२९
५. **सन्त सुधा सार,** रागु सही, पृ० ४०९

म्हारो मंदिर सूनों राम बिन, बिरहिण नींद न आवै रे ।।

× × ×

जन रज्जब जगदीस मिले बिन, पलपल बज्र बिहावै रे ।।[1]

बिना प्राणपति के आए विरहिण अति बेहाल है, चातक सी वह न जाने कब से टेर रही है, नदी नाले सब भर गए, पर चातक के भाग्य ही खोटे हैं—

प्राणपति न आये हो बिरहिण अति बेहाल ।
बिन देखे अब जीव जातु है, विलम न कीजै लाल ।।
पीव पीव टेरत दिक भइ स्वांति सुरूपी आव ।
सागर सरिता सब भरे, परि चातिग कै नहिं चाव ।।[2]

अपार विरह के जागृत हो जाने पर विरहिण दिन रात उसमें जलती ही रहती है, यह विरह-पावक नखसे शिख तक सारी देह ही जला डालती है—

रज्जब विरह भुजंग परि औषद हरि दीदार ।
बिन देखे दीरख दुखी, तन मन नहीं करार ।।[3]

दादू जी के दूसरे अनन्य भक्त वषना जी की विरहिन आत्मा बिना हरि के व्याकुल है । कवि की आत्मा हरि आने की बाट जोह रही है, वे आवें तो तन मन सब कुछ उन्हीं पर न्यौछावर कर दूँ—

हरि आवैं हो कब देखौं, आंगण म्हारै ।
विरणीं विलाप करै हरि दरसन की प्यासी ।।
बिन देखे तन तालाबेली, कामणी करै ।
मेरा मन मोहन बिना धीरज ना धरै ।।[4]

हे मेरे लाल, दरस क्यों नहीं देते, तुम्हारे बिना मेरी आत्मा जल बिन मछली के समान तड़प रही है—

जैसे जल बिन मीन तलपै यूं हूं तेरे तांई ।

× × ×

वषना कहै, कहो क्यूं नाहीं, कब साहिब घर आसी ।।[5]

दादूदयाल के एक अन्य शिष्य वाजिद जी की बानी में प्रेम-विरह का जो स्वाभाविक स्फुरण हुआ है उसमें मन-प्राण आकण्ठ डूब जाता है :

रैंण सवाई वार पपीहा रटत हैं ।
ज्यूं ज्यूं सुणिये कान करेजा कटत है ।
खान पान वाजिद सुहात न जीव रे ।
हरि हो, फूल भये सम सूल बिना वा पीव रे ।।

---

१. सन्त सुधा सार, पृ० ५१५
२. वही, राग गौडी ८, पृ० ५१६-१७
३. वही, साखी २०, २१, २२, पृ० ५२६
४. वही, बषना जी, पृ० ५४७
५. वही, राग बिलावल २१, पृ० ५४९

इक तो कारी रैण ऐन मनो सांपनी ।
दूजी चमकै बीजु डरावै पापनी ।।
हरि, हां, बलि जाऊं मिलावो पीव कूं ।
हरि हां, बिना नाथ के मिलै चैन नहिं जीव कूं ।।[१]

पीय यारी तोड़ गए हैं, वायदा करके भी आज तक लौटकर नहीं आए, सुन्दरदास की आत्मा आकुल हो उठी है, बार-बार यही सोच होता है कि कहीं पिय किसी और के तो नहीं हो गए—

यारी तोरि गये सो तौ, अजहुं न आये हैं ।
सुन्दर बिरहिनी को, सोच सखी बार-बार ।
हमकूं बिसार अब कौन के कहाये हैं ।।[२]

पिय के वियोग में बावरी आत्मा को शीतल मन्द सुगन्ध समीर भला क्या भली लगेगी ?

पिय कै विरह वियोग भई हूं बावरी ।
शीतल मंद सुगंध सुहात न बाबरी ।।[३]

धनी धरमदास को पिया बिन न नींद आती है[४] न कुछ अच्छा ही लगता है[५] बिना दर्शन के बावरी सी आत्मा को कहीं चैन नहीं,[६] पिया का दिया हुआ दर्द तो पिया के मिलन पर ही जा सकता है—

कहौ बुझाय दरद पिया तोसे ।
दरद मिटै तरवार तीर से, किछौं मिटै जब मिलहु पीव से ।।[७]

मलूकदास 'साहेब रहमाना' के दीदार के दीवाने हैं—

तेरा मैं दीदार दिवाना ।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूं, सुन साहेब रहमाना ।।

जोगिया के बिना रहना कठिन है, कोई उनसे मिला दो न !

कौन मिलावै जोगिया हो, जोगिया बिन रह्यो न जाय ।[८]

---

१. सन्त सुधा सार, वाजिद जी, विरह कौ अंग, पृ० ५५५-५६
२. सुन्दर विलास, बिरह उराहने को अंग १ पृ० ८२
३. सन्त सुधा सार, पवंगम, अडिला, पृ० ६०७-८
४. धनी धरमदास की शब्दावली, विरह और प्रेम का अंग, १३, पृ० १४
५. वही, पृ० १४
६. वही, बिनती को अंग ७, पृ० २१
७. सन्त सुधा सार, दूसरा खण्ड, पृ० ८
८. मलूक दास जी की बानी, प्रेम, शब्द २, पृ० ६

धरनीदास का विकल चित कंत दरस बिन बावरा हो गया है—

भई कंत दरस बिन बावरी ।
मो तन व्यापै पीर प्रीतम की, मुरुख जानै आव री ।।

× × ×

धरनी धनी अजहुं पिय पाओं तौ सहजै अनन्द बधाव री ।।[1]
मैं आसिक महबूब तू दरसा ।।[2]

जगजीवन साहेब के नैन वैरागी हो गए हैं, बिन पानी मछली के समान आत्मा तड़पती रहती है।[3]

तुलसी साहब (हाथरस वाले) में विरह का भाव अपने उत्कर्ष पर है—

पिय बिन सावन सुख नहीं, हिये बिच उठत हिलोर ।
पिय बिन बिरहिन बावरी, जिय जस कसकत हूल ।
सूल उठै पतिपीर की, धन संपत सुख धूल ।।[4]
मोरे पिय छाड़यो विदेस में, सइयां संग भमोरी बिछोह ।
बिरह लहर नागिन डसै, बिन सइयां तड़प उचाट ।[5]

घर पिया न हों, सेज सूनी पड़ी हो, और उस पर काली घटा घिर आए तो विरहिन आत्मा को भय लगना स्वाभाविक ही है। बुल्ला साहब का एक पद द्रष्टव्य है—

देखो पिया काली घटा मो पै भारी ।[6]

स्वामी गरीबदास कहते हैं कि अपने जीवन प्राण आधार प्रियतम को कैसे पाऊं ? उनके दर्शन बिन विरहिन दुख पा रही है, कोई ऐसा भी तो नहीं है जो मेरे प्रियतम से मुझे मिला दे, बिना दर्शन के मैं अत्यन्त बेहाल हो रही हूँ। हे दीनदयाल, मैं तुम्हारे मिलन को जन्म-जन्म से आतुर हूँ, मेरी आरजू है कि सम्मुख आकर मुझ दुखिया को दर्शन दो, तुम्हें देखते ही मेरे तन मन की तपन मिट जाएगी, रोम-रोम में आनन्द समा जाएगा।[7] पर मेरी पुकार कौन सुनता है, कौन परपीर को जानता है, भला प्रीतम-बिछुरे जीव को कौन धीर बंधा सकता है ?[8] चरनदास कहते हैं कि

---

१. **धरनी दास जी की बानी**, शब्द, १, पृ० १४
२. वही, शब्द ३, पृ० १९
३. **अरी मोरे नैन भये वैरागी** । जगजीवन बानी, २, शब्द ५, पृ० २
तलफि तलफि जल बिना मीन ज्यों, अस दुख मोहिं अधिकाई । वही, पृ० ४
पिय को देहु मिलाय, सखी मैं पइयां लागौं । वही, पृ० ११-१२
४. **तुलसी साहिब (हाथरस वाले) की बानी, भाग १, सावन** ३, पृ० ९२
५. वही, पृ० ९२-९३
६. **बुल्ला साहब का शब्द सागर**, प्रेम, शब्द १०, पृ० ९
७. **सन्त सुधा सार**, पद ५, पृ० ५०६
८. वही, साखी १५, पृ० ५०९

वह विरहिन बौरी हो गई है, पर कोई इसका भेद नहीं जानता, उसके हृदय में तो विरह की तीव्र ज्वालाएँ धधक रही हैं, सारा कलेजा छलनी हो गया है।[1]

पलटू साहब कहते हैं कि जब पपीहा पिया पिया बोलता है तो मेरा 'हीया' फटा जाता है, मैं सोते से जाग जाती हूँ, कलेजा धकर-धकर करने लगता है, मेरा जीवन तो पिया बिन क्षीण हो रहा है, विरह का जंजाल इस वैरी पपीहे ने और दे दिया[2]। मुझ विरहिन के नेत्र निर्झर के समान झरझर कर बरसते रहते हैं, मैं उसास लेती हूँ, बिना अग्नि के जली जा रही हूँ, 'नागिनि विरह ने कुछ इस प्रकार डस लिया है कि मुझ पर धैर्य धारण नहीं किया जा रहा है।[3]

द्रष्टव्य है कि अपनी साधना पद्धति में ये सन्त कवि निर्गुण, निराकारवादी हैं, उसी को प्रियतम के रूप में मानकर अपना विरह निवेदन किया है, उसी के साथ झिरमिट में खेलने की इच्छा है, पर हृदय की आकुलता और भक्ति के प्रवाह में स्वाभाविक कोमलता आ जाने के कारण निराकार का रूप कुछ विकृत हो जाता है जैसाकि उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। इन सन्तों की सेज पिया बिन सूनी है, आंखों से नींद गायब है, निर्झर के समान नेत्र झर रहे हैं, चातक के समान पिव पिव की रट लगी हुई है, इन सबसे उस निराकार की साकार अभिव्यक्ति का अधिक आभास मिलता है। इस विरह भाव में बपुरी, बौरी विरहिन आदि जीवात्मा के और पिया, पीव, बलम, खसम, जोगिया परदेसिया आदि विभिन्न शब्द परमात्मा के प्रतीक हैं।

(ग) **मिलन**—विरह के बाद मिलनावस्था में, आत्मा की सारी तड़पन शान्त हो जाती है, उसका जन्म-जन्म का क्लेश, पीर प्रभु हर लेते हैं। कवि की आत्मा आनन्दविभोर हो नाच उठती है, मंगल गान गाए जाने लगते हैं, विवाह के साज सजाए जाने लगते हैं। क्यों न हो? आज दुलहिन की चिर 'पियास' अमृत अंचवन से शान्त होने वाली है, उसके घर राजा राम भरतार आ रहे हैं। कबीर कहते हैं—

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥

× × ×

कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥[4]

विरह की धधकती भट्टी में जब आत्मा का सारा कालुष्य, मल जलकर राख हो जाता है, आँसुओं की अविरल धार से समस्त दुर्गुण, तमस् धुलकर बह जाता है तो आत्मा उस परमात्मा के साथ विवाह रचाती है जिसे रहस्यवादी भाषा में आध्यात्मिक विवाह की संज्ञा दी जा सकती है। विरह दग्ध आत्मा परमात्मा को अपनी समस्त शक्तियां सहज ही समर्पित कर कृतकृत्य हो जाती है। आत्मा की सारी विभूतियाँ

१. वही, चरनदास, पृ० १७५
२. **पलटू साहिब की बानी,** भाग ३, शब्द ३८, पृ० १६-१७
३. वही ३, शब्द ४०, पृ० १७-१८
४. **कबीर ग्रन्थावली,** पद १, पृ० ८७

उसके अनन्त सौन्दर्य में लीन हो जाती हैं। सहस्रों कष्टों के सहने, आशा और आशंका के झूले पर झूलने के उपरान्त जब प्रियतम घर बैठे ही आ जाते हैं तो आत्मा झूम उठती हैं, हर्षातिरेक में पुकार उठती है—

बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठें आये ।।टेक।।
मंदिर मांहि भया उजियारा, ले सूती अपनां पीव पियारा ।
कहै कबीर मैं कछु न कीह्नां, सखी सुहाग राम मोहि दीह्नां ।[1]

अब मैं तुम्हें अन्यत्र जाने नहीं दूंगी, चाहे जिस भाव से बने, मेरे ही बनकर रहना होगा, प्रीतम, बहुत दिनों बाद आए हो, मैं अपने प्रेम प्रीति में उरझाई रखूँगी—

अब तोहि जांन न देहू रांम पियारे,
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे ।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठें आये ।।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।
इत मन मन्दिर रहो नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोषै ।।[2]

दादू दयाल कहते हैं कि घर आतमराम 'पाहुणा' आए हैं, चारों ओर मंगल-गान हो रहा है, मेरी आत्मा में आनन्द को अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है। अरी सखियो, स्वर्ण कलश में रस भर-भर कर लाओ, आज मेरे अंग-अंग में आनन्द समा नहीं रहा है, देखो न, हमारे 'ये' आए हैं—

अम्ह घरि पाहुणा ये, आव्या आतमराम ।।
चहुं दिसि मंगलचार, आनन्द अति घणा ये ।
कनक कलस रस मांहि, सखि भरि ल्यावज्यौ ये ।
आनन्द अंगिन माइ, अम्हारै आविज्यौ ये ।।२।।
सन्मुख सिरजनहार, सदा सुख लीजिये ये ।।३।।
दादू सेज सुहाग, तूं त्रिभुवन धणी ये ।।४।।[3]

विरही आत्मा के लिए स्वप्न में देखे प्रियतम ही सर्वस्व हैं। विरहिन उन्मुक्त बदन खोलकर मिलती है, अद्भुत शृंगार कर प्रिय को सम्मुख होकर मिलती है। कैसा आनन्दमय समय है ? सभी मंगलचार गाओ—

गावहु मंगलाचार, आज बधावणा ये ।
सुपनौ देख्यौ साच, पीव घरि आवणा ये ।
बिगसि बदन बिरहिन मिली, घर आये हर कन्त ।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २, पृ० ८७

२. वही, पद ३, पृ० ८७

३. दादू दयाल की बानी, २, पद १६६, पृ० ६५-६६

सुंदरि सुरति सिंगार करि, सनमुख परसे पीव।
मो मंदिर मोहन आविया, वारूं तन मन जीव।
बर आयो बिरहिन मिली, अरस परस सब अंग।
दादू सुन्दरि सुख भया, जुगि जुगि यहु रस रंग॥[1]

सन्त गुलाल साहेब को सतगुरु के प्रताप से हरि जैसे कन्त मिल गए हैं। आत्मा आनन्द में झूम रही हैं, नैहर तो अब हमारी बला ही जावेगी, भला पिय समागम के बाद कोई लौट कर नैहर (सांसारिक माया का प्रतीक) जाता है![2]

इस विवाह (आध्यात्मिक विवाह) में आत्मा परमात्मा से मिलकर आनन्द के अविरल प्रवाह में आकण्ठ निमग्न हो जाती है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस आध्यात्मिक विवाह का वर्णन काव्यात्मक शैली में इस प्रकार किया है, 'आध्यात्मिक विवाह की अवस्था में आनन्द से पूर्ण होकर आत्मा ईश्वर का गान गाने लगती है। उसे परमात्मा की उत्कृष्टता ज्ञात हो जाती है, अपनी उत्सुकता की थाह मिल जाती है। उस उत्सुकता में उसका सारा जीवन एक चक्र की भाँति घूमता रहता है। आत्मा अपने आनन्द में विभोर होकर परमात्मा की दिव्य शक्तियों का तीव्र अनुभव करने लगती है। उसकी उस दशा में आनन्द और उल्लास की एक मतवाली धारा बहने लगती है। उसके जीवन में उत्साह और हर्ष के सिवाय कुछ नहीं रह जाता। माधुर्य में ही उसकी सारी प्रवृत्तियाँ वेगवती वारि-धारा के समान प्रवाहित हो जाती हैं, माधुर्य में ही उसके जीवन का तत्व मिल जाता है, माधुर्य में ही वह अपने अस्तित्व को खो देती है। यही आध्यात्मिक विवाह का उल्लास है।'[3]

विवाह हो गया, उस चतुर रंगरेज प्रियतम ने चूनर के स्याही के रंग छुड़ाकर गहरे मजीठ रंग में रंग दिया है, रंग इतना गहरा और पक्का है कि बार-बार धोने पर भी नहीं छुटता वरन् दिन पर दिन सुरंग होता जाता है। भाव के कुण्ड में नेह के जल से प्रेम के रंग में डुबोकर खूब झकझोर कर मेरी चुनरी रंगी है, वे मुझ पर दयाल हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि शीतल चुनरी ओढ़कर मैं पिय के प्रेम में मग्न हो गई हूँ—

सतगुरु हैं रंगरेज चुनर मोरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे॥
दियो मजीठा रंग धोये से छूटै नहीं रे।
दिनदिन होत सुरंग।

× × ×

सीतल चुनरी ओढ़ के रे, भइ हों मगन निहाल।[4]

---

१. वही, पद १६७, पृ० ६६
२. **सुहागिन कन्त रिझाइया···।···हम पतिवर पाई।** जावै नइहर हमरि बलाई।
—गुलाल बानी, शब्द २६-३०
३. **कबीर का रहस्यवाद,** पृ० ५२
४. वही, परिशिष्ट, पृ० १६६

मिलनोपरान्त आत्मा को जो सुखानुभूति होती है इसे पतिव्रता स्त्री भली-भाँति जानती है, प्रियतम का प्यार ही उसके लिए सब कुछ है, इन्द्र का वैभव तो तृणवत् उपेक्षणीय है; 'वे सिंहासन पर विराजमान हों, पतिव्रता पंखा झले; वे भोजन के उपरान्त कोमल शैया पर विश्राम करें और मैं चरण दबाकर सुख प्राप्त करूं।' कैसी निष्काम, निश्छल कामना है। आत्मा सर्वस्व सौंपकर भी अपने प्रियतम की सेवा में लगी रहना चाहती है। धरनीदास ने बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

एक पिया मोरे मन मान्यो पतिव्रत ठानों हो।
अवरो जो इन्द्र समान, तौ तृन करि जानौं हो।।
जहं प्रभु बैसि सिंहासन, आसन डासब हो।
तहवां बेनियाँ डोलाइबां, बड़ सुख पइबों हो।
जहं प्रभु करहिं लवासन, पवढ़हिं आसन हो।
करतें पग सुहरैबों, हृदय सुख पइवों हो।।[1]

(घ) **आध्यात्मिक विवाहोपरान्त आनन्दोल्लास**—आध्यात्मिक विवाहोपरान्त परमात्मा की विभूतियों का अनुभव कर आत्मा में असीम उल्लास और उमंग का संचार हो जाता है। आनन्द के अथाह सागर में गहरे उतर कर आत्मा जिस रस का छककर पान करती है उसमें वह दिन रात मतवाली बनी रहती है। उस अमल के सामने अन्य सभी भौतिक अमल तुच्छ और हेय हो जाते हैं। कबीर का मानस आकण्ठ इस प्रेमरस में निमग्न है, उसके रोम-रोम में रस रम गया है कुछ और पीने को शेष ही नहीं रहा।[2]

आत्मा-परमात्मा के उस आनन्द को डा० रामकुमार वर्मा ने दो प्रकार का माना है। एक—शारीरिक आनन्द, जिसमें शरीर की सारी शक्तियाँ ईश्वर की अनुभूति में प्रसन्न होती हैं, आनन्द और उल्लास में लीन हो जाती हैं; दूसरे—आध्यात्मिक आनन्द जिसमें शरीर की सारी शक्तियाँ लुप्त भी होने लगती हैं। शरीर मृत प्रायः हो जाता है। चेतना शून्य होने लगती हैं केवल हृदय की भावनाएं अनन्त शक्ति के आनन्द में ओतप्रोत हो जाती हैं...उस समय बाह्येन्द्रियों से आत्मा का सम्बन्ध नहीं रह जाता...ऐसी स्थिति में आत्मा भावोन्माद में शरीर के साथ मूर्छित भी हो सकती है। उस समय न तो आत्मा ही संसार की कोई ध्वनि ग्रहण कर सकती है और न शरीर ही किसी कार्य का सम्पादन कर सकता है।...आत्मा की उस मूर्छा में ईश्वरीय प्रेम का स्रोत आत्मा से इतने वेग से उमड़ता है कि उसके सामने संसार की कोई भी भावना नहीं ठहर सकती।[3] इस लयात्मक अवस्था में जिस अतीन्द्रिय

---

१. **धरनीदास जी की बानी, फुटकर शब्द,** १, पृ० १
२. **कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि। कबीर साखी संग्रह,** पृ० १६/१
३. **कबीर का रहस्यवाद,** पृ० ५५

आनन्द का साम्राज्य रहता है वहाँ सदैव वसन्त ही रहता है; तेज पुंज में आत्मा-परमात्मा का लय होता है—

तेज पुंज की सुन्दरी, तेज पुंज का कन्त ।
तेज पुंज की सेज पर, दादू बन्या बसन्त ।[1]

यहाँ तेजपुंज, कन्त, सुन्दरी, सेज और बसन्त सभी आनन्द के द्योतक प्रतीक-परमात्मा, आत्मा, शरीर और सुख हैं । ऐसे दिव्य मिलन पर आत्मा पिव से खुलकर फाग खेलती है, उस अनिर्वचनीय आनन्द की भला क्या सीमा ?[2]

जब 'मैं' और 'तुम' का अन्तर मिट गया तो केवल आनन्द ही आनन्द शेष रह जाता है, यह अलौकिक आनन्द उस समय और भी प्रगाढ़ हो जाता है जब 'सुलषणी नारि' नित्यप्रति 'हिंडोलना' झूलने का उपक्रम करती है ।[3] हिलमिलकर होली खेलती है ।[4]

[सन्त कवियों ने लौकिक प्रतीकों प्रिया और प्रियतम के माध्यम से जिस दाम्पत्यपरक आध्यात्मिक प्रेम, मिलन आदि का वर्णन किया है उसमें अन्वेषण करने पर भी वासना की गंध नहीं मिलती । सन्तों ने सदैव ही आत्मा को परमात्मा से मिलाने का प्रयास किया है । उनकी आत्मा सोते जागते उसी के ध्यान में लगी रही हैं फिर अन्य सांसारिक भावनाओं की प्रबलता का प्रश्न ही नहीं उठता । भला सन्तों को इतना अवकाश भी कहाँ है ? तामसिक वृत्तियों का निरोध कर इन सन्तों ने विरह और प्रेम की जो अलौकिक ज्वाला तन मन में सुलगाई है उसमें सारा कालुष्य और बहुरंगी वासनात्मक दुष्प्रवृत्तियाँ भस्मीभूत हो गई हैं, तथा दिव्य ज्योतिर्मय प्रेम से आत्मा प्रकाशित हो उठी है ।] फाग, बसन्त, हिंडोलना, सेज सुख, रसपान सभी आध्यात्मिक आनन्द भाव के प्रतीक हैं । इन्हें घोर लौकिक किंवा वासनात्मक दृष्टि से देखना सन्तों के प्रति अन्याय ही होगा । सन्तों के दिव्य आनन्द कानन में हर पुष्प का रसपान करने वाला वासना का कीट प्रवेश ही नहीं पा सकता, वहां के प्रत्येक पुष्प-पादप से कस्तूरी की गंध आ रही है—

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अन्तरि भया उजास ।
मुख कस्तूरी महमहीं, वाणी फूटी बास ।।[5]

---

१. दादू बानी, परचा कौ अंग, १०६ पृ० ५१
२. दादू खेले पीव सौं, यह सुख कह्या न जाइ । सन्त सुधा सार, दादू, पृ० ४६५
३. दरिया पारि हिंडोलनां मैल्या कन्त मचाइ ।
सोइ नारि सुलषणीं, नित प्रति झूलन जाइ ।।
कबीर ग्रन्थावली, सुन्दरी कौ अंग ५, पृ० ८१
४. पिय संग खेलौं री होरी ।
हम तुम हिल मिल करि एक संगहू चलैं गगन की ओरी ।
जगजीवन साहेब की बानी २, पृ० ७३
५. कबीर ग्रन्थावली, परचा कौ अंग १४, पृ० १३

इस प्रकार सन्तों ने दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से जीवात्मा-परमात्मा की आनन्दपूर्ण लयात्मकता का ही चित्रण किया है।

सन्तों ने मिलन और आध्यात्मिक विवाह जनित दिव्य आनन्द में निमग्न जिस सुख का वर्णन किया है उसके साथ-साथ विवाह के समय अन्य लोकापचारों का भी वर्णन किया है जिनका पालन वधू को करना पड़ता है। ये लोकापचार और लोक सम्बन्ध आत्मा के अनन्य मिलन में एक प्रकार से बाधक बनकर ही उपस्थित हुए हैं।

ब्रह्मानुभूति होने पर आत्मा को 'नैहरवा' (भौतिक संसार के आकर्षण) अच्छा नहीं लगता, सांई की नगरी ही उसके लिए सब कुछ है, पर सांई की नगरी (ससुराल) में भी आत्मा रूपी वधू को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। यहाँ कवि का उद्देश्य यह बताना ही है कि जब तक आत्मा अनन्य भाव से प्रिय समागम नहीं करती अथवा एक विशिष्ट उद्देश्य पर पहुँचने के पश्चात् भी सदैव सतर्क बुद्धि से स्थिति का अध्ययन नहीं करती रहती तो आत्मा और परमात्मा के बीच भेद पैदा हो जाता है। माया प्रबल हो उठती है फिर तो एक सेज पर रहने पर भी प्रिय दर्शन नहीं होते। भला इसका दुख वधू (आत्मा) किससे कहे? सासु या ननद तो सामान्य रूप से भी प्रिय समागम में बाधा ही उपस्थित करती हैं, चुगली कर प्रिया और प्रियतम के बीच भ्रम की दीवार खड़ी करने की चेष्टा करेंगी। कबीर का एक पद इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—

सेजैं रहू नैन नहीं देखौं यह दुख कासौं कहूं हो दयाल ॥
सासु की दुखी सुसर की प्यारी, जेठ कै तरसि डरौं रे।
नणद सहेली गरब गहेली, देबर के बिरह जरौं हो दयाल।[1]

'पिउ हिरदै में भेंट न होइ'—कैसी विडम्बना है ? पिउ हिरदै में हैं, एक ही सेज पर साथ सो रहे हैं पर दीदार नहीं होता। तात्विक दृष्टि से आत्मा में ही परमात्मा का वास है—दिल के आइने में है तसवीर यार की, जब जरा गर्दन झुकायी, देखली; पर दुख तो यही है कि दर्शन नहीं होते, यह दुख वधू रूपी आत्मा किससे कहे ! सास (माया) तो पहले से ही इस मिलन को नहीं चाहती, ससुर (गुरु) की प्यारी तो वह है पर वह भी यत्किंचित सास (माया) के प्रभाव में है, इस कारण वे (ससुर) भी ठीक प्रकार मार्ग नहीं दिखा पा रहे हैं, उधर जेठ (अन्य असाधु प्रवृत्तियां) भी मार्ग में अड़चनें पैदा करते हैं, उनके क्रोधित स्वरूप को देखते ही भय लगता है। ननद (ज्ञानेन्द्रियाँ) और उनकी सखियां (कर्मेन्द्रियाँ) भी गरब गहेली हैं, सही रास्ते से भटकाने वाली हैं, प्रिय मिलन में अनेक बाधाएँ उपस्थित करती हैं। हाँ, इस सारे वातावरण में छोटा देवर (साधुपुरुष) ही कुछ वधू की विरह भावना को समझता है, वही अपने प्रयत्नों (उपदेश आदि) से वर-वधू के बीच की दूरी कम करने का प्रयत्न कर सकता है, उसी से कुछ आशा है। ऐसे स्थानों पर आनन्दवादी कवि का उद्देश्य चिर मिलन की ओर

---

१. **कबीर ग्रन्थावली**, २३०, पद पृ० १६६

ही होता है। मार्ग की सभी बाधाएं धीरे-धीरे प्रयत्न करने पर दूर हो जाती हैं, हृदय में प्रेम की पीर होनी चाहिए। जब सब ओर से अपनी शक्तियों को बटोर कर आत्मा ब्रह्मोन्मुख होती है तो कबीर के ही शब्दों में—

कहै कबीर सुनहु मति सुन्दरि, राजा राम रमूं रे।[1]

लक्ष्य जितना दूर होगा, बाधाएँ जितनी ही प्रबल होंगी, सच्चे साधक के प्रयत्न भी उतने प्रभावशाली होंगे, लगन की तीव्रता उतनी ही अधिक होगी।

२. दिनचर्या एवं जीविका के विविध क्षेत्रों से गृहीत प्रतीक :

सन्तों ने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को लोकजीवन में प्राप्त कार्य व्यापार के माध्यम से भी स्पष्ट किया है। सामान्यतया सन्त समाज के निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। वातावरण से प्रभावित सन्तों ने जुलाहा, बनजारा, कुम्हार, बाजीगर, बटोही, कायस्थ, व्यापारी, किसान, जोगी, नट, कलालनि, धोबी आदि शब्दों द्वारा अद्भुत प्रतीक योजना की है। इन सबके पीछे इन सन्तों की तीव्र आध्यात्मिक साधना की गहरी छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। यथा—

जुलाहा—कबीर, जैसा प्रसिद्ध ही है, जुलाहे थे। सूत, ताना, बाना, चदरिया, चरखा यही सब तो था जिसके माध्यम से वे रहस्यपरक अनुभूतियों को प्रगट कर सकते थे। अत्यन्त सीधी और सहज बात कहते-कहते वे बड़े आत्मविश्वास से उस गूढ़ तत्व की ओर निर्देश कर देते हैं—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे कै ताना काहै कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।

स्वयं ही इसका उत्तर भी देते हैं—

इंगला पिंगला ताना भरनी, सुसमन तार सों बीनी चदरिया।
आठ कंवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्व गुन तीनी चदरिया॥
सांई को सियत मास दस लागै, ठोक ठोक कै बीनी चदरिया।

जिस चादर (रूपी शरीर) को सांई ने (गर्भ काल के) दस मास तक ठोक ठोक कर बुना, किसी भी प्रकार की कमी नहीं रहने दी, उस कीमती चादर को किसी ने भी यत्नपूर्वक नहीं ओढ़ा, अपने नैत्यिक पाप कर्मों से उसे मैली कर दिया, पर कबीर कोई साधारण जीव न थे, इस चादर को उन्होंने यत्न से ओढ़ा, और—

सो चादर सुर नर-मुनि ओढ़िन, ओढ़ि कै मैली कीन्हीं चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥[2]

एक अन्य स्थान पर कबीर उस ईश्वर को कोरी (जुलाहे) के रूप में चित्रित करते हुए कहते है—

---

१. वही, पद, २३०
२. **कबीर साहब की शब्दावली भाग** १, शब्द १५, पृ० ६४

कोरी को काहू मरम न जानां। सभु जगु आनि तनाइओ तानां।
धरति आकास की करगह बनाई। चन्द सूरजु दुइ साथ चलाई।
पाई जोरि बात इक कीना तह तांती मनु मानां।
जोलाहे घरु अपना चीन्हा घट ही रामु पछानां।।
कहत कबीर कारगह तोरी, सूतै सूत मिलाए कोरी।।[1]

अर्थात् (ईश्वर रूपी) कोरी (जुलाहे) का मर्म किसी ने भी नहीं जाना जिसने सारे संसार में अपना ताना तान दिया है। उस जुलाहे ने पृथ्वी और आकाश का करघा बनाया, चाँद, सूरज को ढरकी बनाकर साथ-साथ चलाया। मैंने पाई जोड़कर (फैले हुए ताने को कूंची से मांजकर) उसे बराबर किया और तब तांती (राछ) से सन्तुष्ट हुआ। अब मुझ जुलाहे ने अपना वास्तविक घर जान लिया और अपने शरीर में ही राम को पहचान लिया। कबीर कहता है कि मैंने अपना करघा तोड़ दिया है और अपना सूत (सम्बन्ध) उस (परमात्मा रूपी जुलाहे के) सूत से मिला लिया है।

एक अन्य स्थान पर कबीर जुलाहे को जीवात्मा का प्रतीक भी मानते हैं—

भीगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई।
कहहिं कबीर सुनो हो संतो, जिन यह सृष्टि उपाई।[2]

यहाँ पुरिया=शरीर और जोलाहा=जीवात्मा का प्रतीक है।

बनजारा—

साहिब लेखा मांगिया बनजरिया, तेरी छाडि पुरानी थेहबे।
छाडि पुरानी जिद्द अजाना, वालदि हांकि सबेरियां वे।।[3]

वह बनजारा (राम) एक ऐसा नायक (व्यापार करने वाला) है जिसने सारे संसार को ही बनजारा बना दिया है। उस संसार ने पाप पुण्य के दो बैल खरीदे और पवन (साँस) की पूँजी सजाई। उसने शरीर के भीतर तृष्णा की गोनि भर दी इस प्रकार उसने अपना टांडा खरीदा। (उसे रोक रखने के लिए) काम और क्रोध कर वसूल करने वाले हुए और मन की भावनाएँ डाकू बन गईं। पंच तत्व मिलकर उससे अपना इनाम वसूल करते हैं, इस प्रकार यह टांडा (भवसागर) पार उतरा। कबीर जी कहते हैं कि हे सन्तो सुनो, अब ऐसी परिस्थिति आ गई है कि घाटी (भक्ति पथ) पर चढ़ते समय एक बैल (पाप) थक गया है। अब तुम अपनी (तृष्णा की) गोंनि फेंक कर आगे चल पड़ो—

पापु पुंनु दुइ बैल बिसाहे पवनु पूजी परगासिओ।
त्रिसना गूणि भरी घट भीतर इन विधि टांड बिसाहिओ।।
जैसा नाइकु राम हमारा, सगल संसार किओ बनजारा।
काम क्रोध दुइ भये जगाती मन तरंग बटवारा।।

१. सन्त कबीर, रागु आसा ३६, पृ० १२६
२. कबीर बीजक, पृ० ६४
३. रैदास जी की बानी, पद २८, पृ० १५

पंच ततु मिलि दानु निबेरहि टांडा उतरिओ पारा ।।
कहत कबीर सुनहु के संतहु अग अैसी बनि आई ।
घाटी चढ़त बैलु इकु थाका चलो गोनि छिटकाई ।।[1]

गुरु नानक ने मनुष्य जीवन की विविध अवस्थाएं—गर्भावस्था, बाल, यौवन एवं वृद्धावस्था का, प्रतीक रूप में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ प्रहर द्वारा वर्णन किया है—

पहले पहर रैणि के बणजरिआ, पिया हुकमि पइआ गरभासि ।
× × ×
चउथे पहरै रैणि के बणजरिआ मित्रा, लावी आइआ खेतु ।[2]

अज्ञानी मनुष्य को अपने धन यौवन का कितना गर्व होता है, उसे यम का भय नहीं, परन्तु चौथे प्रहर (अन्तिम अवस्था) में मृत्यु शरीर को उसी प्रकार नाना विध कष्ट देती है, अभिमान को धूल में मिला देती है जिस प्रकार किसान पकी खेती को काटकर धराशायी कर देता है। अपने दृढ़पाश में यम जब बनजारा रूपी जीव को लाद चलता है तो सनेही संघाती कोई भी साथ नहीं देता—'सब ठाठ पड़ा रह जाएगा जब लाद चलेगा बणजारा।' बस चारों ओर अश्रुओं से दामन गीला करने वाले रह जाते हैं, और देखते ही देखते यह कंचन काया धूल में मिल जाती है, हर कण को पवन न जाने कहां का कहां उड़ाकर ले जाती है।

कुम्हार—

कुम्हारै एक जु माटी गूथी बहु विधि बानी लाई ।
काहू महि मोती मुकताहल काहू बिआधि लगाई ।।[3]

यहां कुम्हार=ब्रह्म; मिट्टी=शरीर, मनुष्य; बानी कान्ति (शरीर की दीप्ति); मोती मुकताहल=ऐश्वर्य और वैभव के प्रतीक हैं।

बाजीगर—

सन्तों ने परमात्मा को उस बाजीगर के रूप में चित्रित किया है जिसने अपनी नटलीला (माया) का चारों ओर प्रसार कर रखा है। चुटकी बजाते ही सारी माया-लीला अदृश्य हो जाती है। बाह्य दृष्टि से सत्य प्रतीत होने वाली उसकी सारी कलाबाजी मिथ्या है, उस बाजीगर के रहस्य को तो वही जान-समझ सकता है जो इस बाजी (सांसारिक माया-मोह) के चक्र में नहीं पड़ता, इसमें लिप्त नहीं होता—

भाई रे बाजीगर नट खेला, ऐसे आपै रहै अकेला ।
यहु बाजी खेल पसारा, सब मोहे कौतिग हारा ।।
× × ×
बाजीगर परकासा, यहु बाजी झूठ तमासा ।

---

१. सन्त कबीर, राग गउडी ४६, पृ० ५२
२. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब, सिरि रागु पहरे, महला १, पृ० ७५
३. सन्त कबीर, रागु आसा १६, पृ० १०६

दादू पावा सोई, जो इहि बाजी लिपत न होई ।।[1]

कबीर ने भी बाजीगर का ब्रह्म के रूप में वर्णन किया है[2]। मलूकदास के अनुसार उसी ब्रह्म (बाजीगर) की माया (बाजी) में समस्त संसार भूल गया है—

बाजीगरै पसारी बाजी, भूल भूलायो सब काजी ।[3]

बटोही—यह संसार एक यात्रा है। जीव का धर्म चलते ही रहना है, ठहरना भला कैसा ? पर भ्रमित व्यक्ति यात्रापथ में क्षणिक विश्राम के लिए कल्पित पड़ाव को ही सब कुछ समझने लगता है। दादू ऐसे ही बटोही को संकेत करते हुए कहते हैं कि रे बटोही, आज नहीं तो कल यहाँ से चलना है; इतना निश्चिन्त होकर मत सो, कुछ तो चेत; जैसे वृक्ष पर नाना दिशाओं से उड़कर पखेरू बैठ जाते हैं, उसी प्रकार यह संसार रूपी हाट का प्रसार है। सेमल के फूल की तरह इस संसार की बाहरी चमक दमक देखकर तू भूल मत—

बटाऊ रे चलना आजि कि काल्हि ।
समझि न देखै कहा सुख सोवै, रे मन राम संभालि ।
जैसें तरुवर विरष बसेरा, पंखी बैठे आई ।

× × ×

यहु संसार देखि जिनि भूलै, सब ही सेंबल फूल ।।[4]

कायस्थ—सन्तों ने कायस्थ का उल्लेख कचहरी आदियों में लिखने पढ़ने का काम करने वाले के लिए किया है। धरनीदास अपने जातिगत संस्कार संजोकर प्रतीक रूप में मन से कैथाई करने को कहते हैं, उस हाकिम (हरि) का राजी होना आवश्यक है—

मन तुम यही विधि करो कैथाई ।
सुख सम्पत्ति कबहुं नहीं छीजै, दिन-दिन बढ़त बड़ाई ।

× × ×

रैयत पाँच पचीस बुझाए, हरि हाकिम रहे राजी ।
धरनी जमा खरच विधि मिलहै, को करि सके गमाजी ।।[5]

व्यापारी—सन्त तो राम नाम के व्यापारी हैं, गोबिन्द का नाम ही उनकी खेप है। कबीर कहते हैं—

हरि के नाम के बिम्रापारी ।
हीरा हाथि चडिम्रा निरमोलकु छुटि गई संसारी ।

× × ×

---

१. दादू दयाल जी की बानी, भाग २, पद ३०६, पृ० १२१
२. सन्त कबीर, रागु सोरठ ४, पृ० १३३
३. मलूकदास जी की बानी, शब्द १३, पृ० २१
४. दादू दयाल जी की बानी २, पद १३५, पृ० ५३
५. धरनीदास जी की बानी, शब्द ६ पृ० ३, ४

मनु करि बैल सुरति करि पैडा गियान गोनि भरि डारी ।
कहतु कबीर सुनहु रे सन्तु, निबही खेप हमारी ॥[1]

मलूकदास[2] तो इस (राम रूपी) पूंजी की रक्षा अपने प्राणों से भी अधिक करने को कृत संकल्प हैं—

अबकी लागी खेप हमारी ।
लेखा दिया साह अपने को, सहजै चीठी प्यारी ॥
× × ×
कह मलूक मेरे रामैं पूंजी, जीव बराबर राखौं ॥[3]

किसान—

एक कोटु पंच सिकदारा पंचे मागहि हाला ।
जिमी नाही मैं किसी क बोई ऐसा देनु दुखाला ॥
हरि के लोगा मो कउ नीति उसै पटवारी ।
ऊपरि भुजा करि मै गुर पहि पुकारिआ तिनि हउ लीआ उबारी ॥
नउ डाडी दस मुंसफ धावहि रईअति बसन न देही ।
डोरी पूरी मापहि नाही बहु बिसटाला लेही ।
बहतरि धरि इकु पुरखु समाइआ उनि दीआ नामु लिखाई ।
धरमराइ का दफतरु सोधिआ बाकी रिजम न काई ॥[4]

यहां किसान=जीवात्मा, कोटु=शरीर; पंच सिकदारा=पंच प्राण; बोई (भूमि जोतना, बोना आदि)=स्वार्थ और परमार्थ के कर्मफल; पटवारी=मन; नीति=प्रवृत्ति; नउ डाडी=नव द्वार; दस मुंसफ=दस इन्द्रियाँ; रईअति (प्रजा)=भक्ति-भाव; डोरी=बुद्धि; बिसटाला (बेकार)=भ्रम में भटकना; बहतरि धरि=शरीर; धरमराइ=न्यायाधीश; पुरखु=अहंकार; बाकी रिजम (देना पावना)=पाप पुण्य आदि के प्रतीक हैं ।

इसी प्रकार जोगी,[5] नट,[6] कलालिन[7] आदि के प्रतीकात्मक रूपक सन्तों ने प्रस्तुत किए

---

१. **सन्त कबीर**, रागु केदारा २, पृ० २०१
२. मलूकदास के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि ये व्यापार करते थे, एक बार उनके पिता ने कम्बल देकर बाजार भेजा, रास्ते में सर्दी से सिकुड़ते गरीब लोगों को सब कम्बल देकर खाली हाथ घर लौट आए, घर आकर पिता ने पूछा तो कह दिया कि वह परमार्थ का धर्म का सौदा करके आए हैं । उसी वातावरण के अनुसार उन्होंने व्यापार के रूपक द्वारा आध्यात्मिक तथ्य प्रकट किया है ।
३. **मलूकदास जी की बानी**, शब्द ५, पृ० ८
४. **सन्त कबीर**, रागु सूही, ५ पृ० १५१
५. वही, रागु गउडी ५३, आसा ७, रामकली ६७, सलोकु ४८
६. वही, रागु आसा ११
७. वही, रागु १, रामकली पृ० १७६

हैं। धोबी को प्रतीक रूप में सन्तों ने कई स्थान पर प्रयुक्त किया है। जिस प्रकार धोबी मलिन वस्त्रों को उज्ज्वल-श्वेत कर देता है उसी प्रकार गुरु-ब्रह्म रूपी धोबी ज्ञान रूपी साबुन से धोकर आत्मा को उज्ज्वल कर देता है और राम नाम का गहरा रंग चढ़ा देता है। कबीर कहते हैं—

मोरी रंगी चुनरिया धो धुबिया।
जनम जनम के दाग चुनर के सतसंग जल से छुड़ा धुबिया।[1]

उस रंगरेज (ब्रह्म) ने कबीर की चुनरी से और सभी दाग (पाप) छुड़ाकर मजीठा रंग में रंग दिया है। ऐसा सुरंग जो छुड़ाए भी नहीं छूटता। भला भाव के कुण्ड में नेह के जल में प्रेम रंग से रंगी चुनरिया का रंग कभी फीका रह सकता है? कबीर तो उस शीतल चुनरी को ओढ़कर निहाल हो गए हैं—

साहेब है रंगरेज चुनरी मेरी रंग डारी।
स्याही रंग छुड़ाय के रे दियो मजीठा रंग॥
धोये ते छूटे नहीं रे, दिन दिन होत सुरंग॥
भाव के कुण्ड नेह के जल में प्रेमरंग दई बोर।

× × ×

कहै कबीर रंगरेज पियारे, मुझ पर हुए दयाल।
सीतल चुनरी ओढि के रे, भई हौं मगन निहाल॥[2]

३. मानवेतर प्रकृति से गृहीत प्रेमपरक प्रतीक :

उस अलबेले प्रियतम से चिर अभिलषित प्रेम की व्यंजना करने के लिए सन्तों ने जिन प्रतीकों का प्रयोग किया है वे उन्हें परम्परा से प्राप्त हुए हैं। प्रेम भावना को अभिव्यक्त करने के लिए ये प्रतीक (चातक, चकई, मीन, हंस, दीप पतंग आदि) रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं।

चातक—चातक मानव जगत का भावात्मक प्रतीक है। कवि परम्परा में प्रसिद्ध इस प्रतीक द्वारा सन्तों ने अपनी आत्मा को उस परम प्रिय (मेघरूप) प्रियतम की सापेक्षता में ऐसे प्रेमी के रूप में चित्रित किया है जो अपने 'निष्ठुर' प्रिय के भीषण आघात सहकर भी उसी में, केवल उसी में लीन रहता है; दिन रात उसी की कामना करता है। प्रिय के आघात प्रेम की प्यास और तड़पन को सहस्रगुना कर देते हैं। कबीर कहते हैं—

कबीर अंबर घनहरु छाइया, भरखि भरे सर ताल।
चात्रिक जिउ तरसत रहै, तिनको कउनु हवाल॥[3]

साधक प्रेमी का समस्त वैभव और सुख तब तक तिरोहित ही रहता है जब तक उस प्रिय का एक 'अमी घूंट' प्राप्त न हो जाए। यही प्रेम रस तो उसका आधार है—

१. **कबीर शब्दावली** भाग २, पृ० ७४
२. **सन्त सुधा सार,** पद ११७ पृ० १०८-९
३. **सन्त कबीर,** सलोकु १२४-२६६

चात्रिक मरे पियासा ।
निसि दिन रहे उदासा जीवे किहि बैसाला ।।[1]

भला वह और किस विश्वास पर जीवित रहे ? तृषा से उसका गला सूख रहा है, प्राण संकट में हैं, आस-पास के सभी सरोवर जल से परिपूर्ण हैं, पर वह बेचारा 'पियास' से बेहाल है, पीव-पीव टेरते-टेरते उसे मानों एक युग बीत गया—

पीव पीव टेरत दिक भई स्वाति सुरूपी आव ।
सागर सलिल सब भरें, परि चातिग के नहिं भाव ।[2]

सम्भवतः विषम कर्मगति के कारण ही चातक की यह 'पियास' है ।[3]
इस प्रकार सन्त कवियों ने विरह मिश्रित प्रेम भाव को अभिव्यक्त करने के लिए चातक-वृत्ति स्वीकार की है ।

चकई-चकवी, मीन, आदि—मिलन की मधुरता तब तक अपूर्ण है जब तक उसमें वियोग का दुख मूल रूप में मिला न हो । वियोग की प्रचण्ड अग्नि में तपकर प्रेम कुन्दन सा निखर जाता है । वियोग ही प्रेम का प्रांजल रूप है । रात भर वियोग की झंझा से जूझते हुए चकवा दम्पति सुबह मिलन के रस में डूब जाते हैं; पर माया के प्रभाव से जो एक बार उस परम प्रिय प्रियतम से अलग हो जाता है वह न दिन में मिल पाता है और न रात में; अजीब स्थिति है—

कबीर चकई जउ निसि बीछुरै आइ मिलै परभाति ।
जो नर बिछुरे राम सिउ ना दिन मिले न राति ।।[4]

बिछुड़ने का दुख तो कोई भुक्त भोगी ही जान सकता है; बिछुड़ने की कल्पना मात्र से आत्मा सिहर उठती है, वियोगिनी पंख लगाकर उस देश में उड़ जाना चाहती है जहाँ बिछुड़ने की रात नहीं आती—

सांझ पड़े दिन बीतवे, चकवी दीन्हा रोइ ।
चल चकवी वा देस को, जहाँ रैन ना होइ ।।[5]

भला जिसे एक बार ब्रह्मानुभूति हो जाए वह अन्यत्र क्यों भटकेगा ? उसी सरोवर में सुख क्रीड़ा करने में ही (जीवात्मा रूपी) मीन का पूर्णत्व है, पानी से पृथक उसके अस्तित्व की कल्पना भी सम्भव नहीं; यही तो प्रेम है—

मीन मगन मांहै रहै मुदित सरोवर मांहि ।
सुख सागर क्रीला करै पूरण परमिति नांहि ।।[6]

---

१. **स्वामी दादूदयाल जी की बानी**, पृ० ४०८, सम्पा० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी
२. **सन्त सुधा सार**, रज्जबजी, राग गौडी ८, पृ० ५१७
३. **कबीर ग्रन्थावली**, पद ११६, पृ० १२५
४. **सन्त कबीर, सलोकु** १२५, पृ० २६६
५. **कबीर साहब की शब्दावली** २, भेद, साखी ८, पृ० ४७
६. **दादूदयाल की बानी**, पृ० ४६१/३८१

परन्तु सुन्दर दास के शब्दों में (उलटबांसी) कहें तो—

मछली अग्नि मांहि सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल ।[१]

यहाँ मछली = माया शवलित जीवात्मा है, उस परमतत्व ईश्वर = जल से दूर रहने में, और सांसारिक प्रपंचों = अग्नि, में रत रहने में भ्रमवश सुख मान रही है पर वास्तविक स्थिति ज्ञात होने पर जीवात्मा पुनः अपनी स्थिति में पहुँच जाती है—

काटी कूटी मछली छींकै धरी चहोड़ि ।
कोइ एक अषिर मन बस्या, दह मैं पड़ी बहोड़ि ।।[२]

हंस—हंस मानसरोवर का पक्षी है । कवि परिपाटी के अनुसार हंस मानसरोवर छोड़कर कहीं नहीं जाता, नीर-क्षीर विवेकी यह पक्षी साधारण सरोवरों का पानी नहीं पीता । कवियों (सन्तों) ने जीवात्मा को प्रायः हंस रूप में चित्रित किया है । वह जीवात्मा तत्वरूपी सरोवर से जल ग्रहण करती है, पर वह किस सीमा तक इसे हृदयंगम कर सकता है यह उसके ज्ञान, विवेक और जागरूक चेतन बुद्धि पर ही निर्भर है, क्योंकि यह हंसिनी बिना 'जुगति' के सरवर के किनारे रहकर भी 'तिसाई' ही रहती है, हरि जल नहीं पी पाती । जीवात्मा भी कुम्भ लिए खड़ी रहती है पर बिना गुण के नीर भला कैसे भरे—

सरवर तटि हंसणी तिसाई ।
जुगति बिना हरि जल पिया न जाई ।
कुंभ लीयें ठाढ़ी पनिहारी, गुंण बिन नीर भरै कैसे नारी ।।[३]

हंस रूपी जीवात्मा का यह अज्ञान मिट जाता है, ज्ञान और विवेक का प्रकाश अन्तरात्मा को प्रकाशित कर देता है वह हरि जल से अपने तन-मन को निर्मल करने में समर्थ हो जाती है—

हंस सरोवर तहां रमै, सूभर हरिजल नीर ।
पाणी आप पखालिये, नृमल होय सरीर ।।[४]

ज्ञानसरोवर के सूभर जल में केलि करता हुआ, तत्व रूपी मुक्ताओं को चुगता हुआ हँस अनत उड़ जाने का नाम भी नहीं लेता ।[५]

दीपक-पतंग—कवि परिपाटी में दीपक और पतंग के माध्यम से सुन्दर भाव योजनाएं प्रस्तुत की जाती रही हैं । पतंग का दीपक से स्वाभाविक प्रेम है, उसके हृदय में तीव्र मिलनोत्सुकता सदैव हिलोरें लेती रहती है, पतंग 'निज सार' को समक्ष देखकर भला कैसे शान्त बैठ सकता है ! प्रिय की यह मौन पुकार ही तो विरही का सर्वस्व है। पर प्रेम भी कैसा अद्भुत है जहाँ प्रतिदान की रंचमात्र भावना नहीं;

---

१. **सुन्दर विलास, विपर्यय कौ अंग** ३, पृ० ८७
२. **कबीर ग्रन्थावली, मन कौ अंग** २४, पृ० ३०
३. वहीं, पद २९८, पृ० १८९
४. **स्वामी दादू दयाल की बानी,** पृ० ४६१/२४७
५. **कबीर ग्रन्थावली, परचाकौ अंग** ३९, पृ० १५

है तो केवल निज आत्मोत्सर्ग। दीपक की देदीप्यमान लौ के सानिध्य में वह अपने को सशरीर समर्पण कर एक अनुकरणीय उज्ज्वलता प्राप्त कर लेता है। प्यासे को जब बूँद नहीं मिलेगी तो वह वन-वन पुकारेगा ही—

ज्यों मरे पतिंगा जोति मां, देखि देखि निज सार हो।
प्यासा बूँद न पावई, तब बनि बनि करै पुकार हो ॥[1]

प्रेमी का यह निस्वार्थ आत्मसमर्पण ही उसे निष्कलंक प्रेम भाव की बुलन्दियों की ओर ले जाता है। वह खोकर ही कुछ पाता है—'दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।' अन्तर का एक भरोसा, एक बल, एक आस ही उसे इस ओर प्रेरित करती है—

दीपक पावक आणियां तेल भी आंण्यां संग।
तीनों मिल करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ै पतंग ॥[2]

इस प्रेमपरक रूप के साथ-साथ सन्तों ने माया और मायाशवलित नर को भी प्रतीक रूप में दीपक और पतंग कहा है —

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत।[3]

गुरूज्ञान से नर इस स्थिति से उबर भी सकता है, लेकिन इसके लिए उसे शरीर रूपी दीपक में प्रेम का तेल और अघट्ट की बाती का प्रयोग करना होगा और ऐसा करने से वह फिर 'हट्ट' (आवागमनशील संसार) में नहीं आवेगा। गुरु ने ज्ञान का प्रकाश आत्मा में जगा दिया है—

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आंवौं हट्ट ॥[4]
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि।[5]

एक अन्य स्थान पर कबीर ने दीपक को जीवात्मा; बाती को जीवन और तेल को आयु के रूप में चित्रित किया है—

जब लगु तेलु दीवे मुखि बाती तब सूझै सभु कोई।
तेल जले बाती ठहरानी, सूंना मंदक होई।[6]
बाती सूकी तेलु निखूटा।[7]

---

१. **स्वामी दादू दयाल की बानी,** पृ० ४७५/२७५
२. **कबीर ग्रन्थावली,** पृ० ११/१
३. वही, **गुरुदेव को अंग** २०, पृ० ३
४. वही, पृ० २
५. वही, पृ० २
६. **सन्त कबीर, रागु आसा** ९. पृ० ९९
७. वही ११, पृ० १०१

४. **जड़ प्रकृति से गृहीत प्रतीक :**

इस श्रेणी में ओला,[१] बूँद,[२] वर्षा,[३] चौपड़,[४] थैली,[५] मोती,[६] सरोवर,[७] आदि प्रतीकों द्वारा ईश्वर और जीव के शाश्वत सम्बन्ध की सुन्दर अभिव्यक्ति सन्त साहित्य में प्राप्त होती है।

(ख) तात्विक या दार्शनिक प्रतीक :

'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' इस कथन के आधार पर वस्तु के सत्यभूत तात्विक स्वरूप की सम्यक् जानकारी ही दर्शन है। अर्थात् आन्तरिक और बाह्य रूप से हम जो अनुभव करते हैं उसकी संचित राशि को दर्शन कहा जा सकता है। डा० देवराज ने भी दर्शन को सांस्कृतिक अनुभूति का विश्लेषण, व्याख्या एवं मूल्यांकन करने का प्रयत्न माना है।[८] दर्शन के अन्तर्गत दृश्यमान जगत का निर्माण करने वाली क्रियाएँ न आकर आन्तरिक जीवन की सृष्टि करने वाली क्रियाएँ आती हैं। भारतीय दर्शन का तो मूलतन्त्र ही आत्मा को जानना है। दर्शन अस्तित्व और सत्ता के ऐसे रूप की खोज करता रहा है जिसे अनन्त मूल्य का अधिष्ठान माना जा सके। दर्शन की दृष्टि मनुष्य के सौन्दर्यमूलक नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्भावनाओं की ओर होती है। "दर्शन हमारे सामने अणु तथा विराट जगत के असंख्य रूपों को उपस्थित करता है, जीवन की अनगिनत सम्भावनाओं एवं दृष्टियों की उद्भावना करता है और जीवन तथा जगत के असंख्य सम्बन्धों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, इस प्रकार दर्शन हमें जीवन की क्षुद्र स्थितियों से ऊपर उठाकर विश्व ब्रह्माण्ड की हलचल के केन्द्र में स्थापित कर देता है···दर्शन हममें जो चेतना उत्पन्न करता है वह जीवन को उच्चतम कोटि की तृप्ति देती है।[९]

हम क्या हैं ? हमारा जीवन क्या है ? यह दृश्यमान जगत क्या है ? मृत्यु क्या है ? मृत्यु के पश्चात् जीवन की क्या गति होती है ? आदि प्रश्नों का सम्यक् उत्तर खोजना ही दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। क्षण-क्षण में बदलने वाले जगत् के दृश्य और पदार्थों के रूप के पीछे भी एक अपरिवर्तित सत्ता विद्यमान है उसका विश्लेषण दर्शन का लक्ष्य है। पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में "जिस प्रकार परिवर्तनशील

१- वही, सलोकु १७७, पृ० २७४
२. **कबीर बीजक**, पृ० ६८.
३. **सन्त कबीर, सलोकु** १२४, पृ० २६६
४. वही, रागु सूही ४, पृ० १५०
५. वही, सलोकु २२५, पृ० २८१
६. वही, सलोकु ११४, पृ० २६५
७. वही, सलोकु १७०, पृ० २७३
८. **संस्कृति का दार्शनिक विवेचन**, पृ० २५८
९. वही, पृ० २७६—८०

शील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्व विद्यमान है उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्व की सत्ता विद्यमान है—ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम है ब्रह्म तथा पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा है—आत्मा। प्राचीन दार्शनिकों ने पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड का ऐक्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है।"[1] सन्तों ने भी पिण्डाण्ड में स्थित आत्मा और ब्रह्माण्ड में स्थित ब्रह्म—परमात्मा की एकता मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है। अपनी रूपकात्मक भाषा में वे कहते हैं—

बूंद समांनी समद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥
समंद समांना बूंद मैं, सो कत हेर्‌या जाइ ।[2]

अपनी दार्शनिक विचारधारा में सन्त किसी शास्त्र सम्मत दार्शनिक विचारधारा से बंधकर नहीं चले हैं। वे सर्वग्राही थे, जहां से भी जो काम लायक बात मिली ग्रहण करली, नहीं तो पल्ला झाड़ चल दिए। आत्मानुभूति की कसौटी पर कसकर इन सन्तों ने जो कुछ भी दार्शनिक विचारधाराओं से प्रत्यक्ष या परोक्ष अथवा परम्परागत रूप से प्राप्त किया है उसमें शास्त्रों की सीमित मर्यादा या दृष्टिकोण के प्रति अनास्था ही है क्योंकि उनकी विशाल दृष्टि तो उस अनन्त रहस्यमयी असीम सत्ता के अन्वेषण के लिए व्यग्र रही है। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने सन्त मत को विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों का अपूर्व समन्वय बताते हुए कहा है—"कबीर ने उपनिषदों से अद्वैतवाद, शंकर से मायावाद, वैष्णव आचार्यों से भक्ति, अहिंसा और प्रपत्ति के सिद्धान्त, तान्त्रिक शैवों, वज्रयानी बौद्धों और नाथपन्थी योगियों से हठयोग, रहस्यवाद तथा जात-पांत एवं कर्मकाण्ड के विरुद्ध पैनी उक्तियाँ, वैष्णव भक्तों एवं सूफी सन्तों से माधुर्यभाव, भक्तिवाद···इन मकरन्द बिन्दुओं का संचय करके इन सबके मेल से आचार, दर्शन एवं आस्तिकता का एक ऐसा विचित्र और मौलिक समन्वय प्रस्तुत किया है जिसे 'सन्तमत' अथवा 'निर्गुण मत' सामान्य उपाधि मिली है।"[3] इसी तथ्य को क्षितिमोहन सेन ने इस प्रकार व्यक्त किया है "कबीर की आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्व ग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसलिए वे ग्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओं को जोर से पकड़ रखा है। फिर भी उन मतों की संकीर्ण साम्प्रदायिकता कबीर के साथ मेल नहीं खाती। इसलिए कबीर इन सबको ही अपने ढंग से अपना सके हैं। उनके क्रिया काण्ड, उनकी साधना और उनकी संज्ञाओं को भी कबीर ने अपने विशेष भाव से व्यक्त किया है। कबीर भक्त हैं, प्रेमिक हैं, योगी हैं, मानवरस से भरपूर हैं, मैत्री, युक्ति आदि से परिपूर्ण हैं। इस तरह उन्होंने जिन मतवादों को ग्रहण किया, उनमें से प्रत्येक कुछ हद तक उनका गृहीत है, कुछ हद तक अपनी व्याख्या से उन्होंने

---

१. **भारतीय दर्शन**, पृ० १८
२. **कबीर ग्रन्थावली, लांबि कौ अंग** ३, ४, पृ० १७
३. **सन्त कवि दरिया, भूमिका**, पृ० ६६

अपने समान कर लिया है, कुछ हद तक परित्यक्त है और किसी हद तक उनके कठोर आघातों से आहत भी।"[१] इस प्रकार परम्परा से हटकर चलना सांसारिकता तथा शास्त्रों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करना सन्तों की अपनी विशेषता है। किसी एक दृष्टिकोण अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को आधार बनाकर लिखे गए शास्त्र में परमतत्व की वास्तविक अनुभूति व्यक्त नहीं हो पाती, दूसरे शब्दों में परमतत्व के प्रति दृष्टिकोण एकांकी ही रहता है, सन्तों को ऐसा सीमित दृष्टिकोण सर्वथा अमान्य रहा है। उनका तो विश्वास है—

जौ दरसन देख्या चाहिये, तो दरपन मांजत रहिये।
जौ दरपन लागै काई, तो दरसन किया न जाई।[२]

अर्थात् दर्शन का दर्पण काई युक्त है तो उस परमतत्व स्वरूप आत्मतत्व के दर्शन नहीं किए जा सकते, दर्शन करने के लिए दर्पण का अनुभूति की आभा से चमकना आवश्यक है। अनुभूति शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती; हाँ, शास्त्र ज्ञान से वाक् चातुर्य में वृद्धि हो सकती है, अनुभूति की नहीं। सन्त कवियों में ये तत्व सीधे शास्त्र से नहीं आये वरन् शताब्दियों की अनुभूति तुला पर तुलकर, महात्माओं की व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर, सत्संग और गुरु के उपदेशों से संगृहीत हुए हैं। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि मधु की एक बूंद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगंध मधु में नहीं है, उस मधु निर्माण में भ्रमर की अनेक पुष्प तीर्थों की यात्राएँ सन्निविष्ट हैं, अनेक पुष्पों की क्यारियाँ मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं, उसी प्रकार सन्त सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।[३] सन्त बहुश्रुत थे, भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करते-करते उन्हें जो अनुभूति हुई वह अपने आप में पूर्ण और मार्मिक है। यह अनुभूति तथा यह चिरन्तन सत्य स्वयं विचार करते-करते उनके मन में स्फुरित हो उठा। इसके लिए उन्हें कहीं आना जाना नहीं पड़ा, राम धन पाकर समस्त शंकाएँ स्वयमेव ही छूट गईं; मन में 'सहज भाव' उत्पन्न हो गया—आत्मा राम में रम कर तदाकार हो गई।[४]

सन्त साहित्य के दार्शनिक विचार प्रमुखत: ब्रह्म, जीव, माया, जगत इन चार तत्वों पर ही आधारित हैं। इनके स्वरूप, कार्य, स्थिति पारस्परिक सम्बन्ध आदि को स्पष्ट करने के लिए सन्तों ने विविध प्रकार की प्रतीक योजना की है। इन चारों तत्वों का क्षेत्र विस्तार ही इतना है कि विविध प्रतीक विधान द्वारा भी सम्भवत: इनका बहुत कुछ अनभिव्यक्त ही रह गया होगा। फिर भी सन्तों ने अपनी-अपनी

१. कल्याण, योगांक, कबीर का योग, पृ० २९९
२. कबीर
३. डा० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन, पृ० ७७
४. सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाइ। क० ग्र०, पृ० ९३
कहै कबीर संसा सब छूटा, रांम रतन धन पाया॥ वही, पृ० ९६

अपने समान कर लिया है, कुछ हद तक परित्यक्त है और किसी हद तक उनके कठोर आघातों से आहत भी।''[१] इस प्रकार परम्परा से हटकर चलना सांसारिकता तथा शास्त्रों के प्रति उदासीनता प्रदर्शित करना सन्तों की अपनी विशेषता है। किसी एक दृष्टिकोण अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों को आधार बनाकर लिखे गए शास्त्र में परमतत्व की वास्तविक अनुभूति व्यक्त नहीं हो पाती, दूसरे शब्दों में परमतत्व के प्रति दृष्टिकोण एकांकी ही रहता है, सन्तों को ऐसा सीमित दृष्टिकोण सर्वथा अमान्य रहा है। उनका तो विश्वास है—

जौ दरसन देख्या चाहिये, तो दरपन मांजत रहिये।
जौ दरपन लागै काई, तो दरसन किया न जाई।[२]

अर्थात् दर्शन का दर्पण काई युक्त है तो उस परमतत्व स्वरूप आत्मतत्व के दर्शन नहीं किए जा सकते, दर्शन करने के लिए दर्पण का अनुभूति की आभा से चमकना आवश्यक है। अनुभूति शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती; हाँ, शास्त्र ज्ञान से वाक् चातुर्य में वृद्धि हो सकती है, अनुभूति की नहीं। सन्त कवियों में ये तत्व सीधे शास्त्र से नहीं आये वरन् शताब्दियों की अनुभूति तुला पर तुलकर, महात्माओं की व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर, सत्संग और गुरु के उपदेशों से संगृहीत हुए हैं। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है। जैसे सहस्रों पुष्पों की सुगन्धि मधु की एक बूंद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगंध मधु में नहीं है, उस मधु निर्माण में भ्रमर की अनेक पुष्प तीर्थों की यात्राएँ सन्निविष्ट हैं, अनेक पुष्पों की क्यारियाँ मधु के एक-एक कण में निवास करती हैं, उसी प्रकार सन्त सम्प्रदाय का दर्शन अनेक युगों और साधकों की अनुभूतियों का समुच्चय है।[३] सन्त बहुश्रुत थे, भिन्न-भिन्न स्थानों पर भ्रमण करते-करते उन्हें जो अनुभूति हुई वह अपने आप में पूर्ण और मार्मिक है। यह अनुभूति तथा यह चिरन्तन सत्य स्वयं विचार करते-करते उनके मन में स्फुरित हो उठा। इसके लिए उन्हें कहीं आना जाना नहीं पड़ा, राम धन पाकर समस्त शंकाएँ स्वयमेव ही छूट गईं; मन में 'सहज भाव' उत्पन्न हो गया—आत्मा राम में रम कर तदाकार हो गई।[४]

सन्त साहित्य के दार्शनिक विचार प्रमुखत: ब्रह्म, जीव, माया, जगत इन चार तत्वों पर ही आधारित हैं। इनके स्वरूप, कार्य, स्थिति पारस्परिक सम्बन्ध आदि को स्पष्ट करने के लिए सन्तों ने विविध प्रकार की प्रतीक योजना की है। इन चारों तत्वों का क्षेत्र विस्तार ही इतना है कि विविध प्रतीक विधान द्वारा भी सम्भवत: इनका बहुत कुछ अनभिव्यक्त ही रह गया होगा। फिर भी सन्तों ने अपनी-अपनी

---

१. **कल्याण, योगांक, कबीर का योग**, पृ० २९९

२. **कबीर**

३. **डा० रामकुमार वर्मा : अनुशीलन**, पृ० ७७

४. **सहज भाइ जिहिं ऊपजै, ते रमि रहे समाइ।** क० ग्र०, पृ० ९३
कहै कबीर संसा सब छूटा, रांम रतन धन पाया॥ वही, पृ० ९६

अनुभूति के आधार पर ब्रह्म, माया, जीव, जगत आदि का निरूपण किया है। इस तात्विक विवेचन में कबीर ही प्रमुख हैं, अन्य सन्तों ने थोड़े बहुत अन्तर से उसी रूप को स्वीकार कर लिया है। जो थोड़ा बहुत अन्तर दीख भी पड़ता है वह सिद्धान्त गत न होकर व्यक्तिगत अनुभूत जन्य है। यहाँ इन तात्विक आधारों का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

ब्रह्म-परमतत्व

सन्त साहित्य में परमतत्व का निरूपण निम्नलिखित प्रकार से हुआ है—

१. ब्रह्म का निर्गुण रूप
२. भक्तिमार्गीय ढंग पर ब्रह्म का सगुणात्मक रूप
३. यौगिक शब्दावली (प्रतीकात्मक शैली) द्वारा ब्रह्म निरूपण
४. माधुर्य भाव के ब्रह्मवाची शब्द प्रतीक
५. व्यावसायिक शब्दों के माध्यम से ब्रह्म का निरूपण

(१) ब्रह्म का निर्गुण रूप

ब्रह्म का निर्गुण रूप में चित्रण वैदिक परम्परा से गृहीत है। यजुर्वेद की एक ऋचा में ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों की कल्पना की गई है—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धमकविर्मनीषी।
परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥[1]

इस ऋचा के अनुसार वह प्रभु अकायम्, अव्रणम् और अस्नाविरम् अर्थात् निराकार है, इसके साथ-साथ वह शुद्धम्, अपापविद्धम्, कवि, मनीषी और स्वयम्भू है।

सन्त कवियों ने ब्रह्म के निर्गुण रूप का सविस्तार वर्णन किया है। वह एक, अनादि, सीमा तथा परिमाण रहित अलख निरंजन है।[2]

वह ब्रह्म न तो पाप रूप है न पुण्य रूप, न स्थूल है न शून्य, न बोलता है न मौन रहता है; न सोता है न जागता है, न वह एक है न दो, न पुरुष है न स्त्री रूप है, न उसके कोई आगे है न कोई पीछे है, न वह वृद्ध है न बाल स्वरूप है; कर्म, काल, ह्रस्व, विशाल कुछ भी नहीं है, न तो जूझता है न मारता है, वह बन्धन और मोक्ष से भी दूर है, वह सुन्दर अथवा असुन्दर भी नहीं लगता। सुन्दर दास के शब्दों में—

पाप न पुन्न न स्थूल न सून्य, न बोलै न मौन न सोवै न जागै।
एक न दोइ न पुर्ष न जोइ, कहै कहाँ कोई, पीछे न आगै।

---

१. यजुर्वेद ४०/८. सन्त साहित्य, पृ० ६१ से उद्धृत
२. जब हम एको एकु करि जानिआ।
तब लोगहि काहे दुख मानिया।—सन्त कबीर, रागु गउडी ३, पृ० ५
चीनत चीतु निरंजन जाइया।
कहु कबीर तौ अनभउ पाइआ।—वही, रागु गउडी २७, पृ० २६

वृद्ध न बाल न कर्म न काल, न ह्रस्व विशाल न जूझै न भागै ।
बन्ध न मोक्ष अमोक्ष न प्रोक्ष न सुन्दर है न असुन्दर लागै ।।[१]

तो फिर वह ब्रह्म कैसा है ? सुन्दरदास कहते हैं—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन, नित्य निरंजन और न भासै ।
ब्रह्म अखण्डित है अध ऊरध, बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै ।।
ब्रह्महि सूच्छम स्थूल जहां लगि, ब्रह्महि साहिब ब्रह्महि दासै ।
सुन्दर और कछु मत जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै ।।[२]

वह परमात्मा बिना मुख के खाता है, बिना चरणों के चलता है, बिना जिह्वा के गुण गान करता है ।[3] सन्त कबीर के शब्दों में—

बिन हाथनि पांइन बिन कांननि, बिन लोचन जग सूझै ।।
बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुन गावै ।[४]

वह ब्रह्म तो अविगत, अकल और अनुपम है । इसके साक्षात्कार जन्य आनन्द का कोई वर्णन करना भी चाहे तो नहीं कर सकता, निराशा ही उसे हाथ लगेगी, क्योंकि वह तो गूंगे की मिठाई के समान है, जो अन्तरतम में उसका रसास्वादन स्वयं तो करता है पर दूसरों पर प्रकट नहीं कर सकता । सैन, संकेत मात्र करके ही अपनी प्रसन्नता प्रकट कर सकता है ।[५]

वह परमतत्व सर्वव्यापक है ।[६] इस जगत की नाना दृश्यावलियों पर जहाँ भी दृष्टि फैलाइए उसी का प्रसार है । उसके बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं, जैसे एक धागे में सहस्रों सूत की मणिकाएँ पिरो दी जाएं, उसके भीतर बाहर सूत ही सूत रहता है, जैसे एक कंचन के विविध गहने बना दिए जाएं पर कंचन मूल रूप में सब में विद्यमान है, या जैसे जल में तरंग, फेन, बुदबुदा अनेक भांति के हैं पर सबमें मूलरूप में जल विद्यमान है उसी प्रकार यह ब्रह्म संसार के समस्त पदार्थों में नाना रूप में विद्यमान है ।[७] ब्रह्म के इसी अद्वैतवादी रूप का यारी साहब ने बड़ी सुन्दरता से चित्रण किया है, उनके विचार से सोना यदि गहने के रूप में मढ़ दिया

---

१. सुन्दर विलास, अथ आश्चर्य को अंग, पद ६, पृ० १६८
२. वही, अद्वैत ज्ञान को अंग २०, पृ० १२९
३. (दादू) बिन रसना जहं बोलिए, तहं अन्तरजामी आप ।
बिन स्रवननि साईं सुनै, जे कछु कीजै जाय ।
दादू बानी १, परचा को अंग २८, पृ० ४४
४. कबीर ग्रन्थावली, पद १५६, पृ० १४०
५. अविगत अमल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई ।
सैंन करै मन ही मन रहसै, गूंगे जांनि मिठाई । वही, पद ६, पृ० १९०
६. दादू देखौं दयाल कौं, बाहरि भीतरि सोइ ।
सब दिसि देखौं पीव कौं, दूसर नाहीं कोइ ।। दादू बानी १, परचा को अंग ७९
७. सुन्दर विलास, अद्वैत ज्ञान को अंग, पृ० १२६, २७, २८

जाए तो उसका सोना (ब्रह्मत्व) कहीं चला नहीं जाता। सोना और गहना (पिण्डाण्ड) में मूलरूप से स्वर्णत्व ही विद्यमान है, यह पिण्डाण्ड तो मरणशील है, स्वर्णत्व ही अजर अमर है, इसलिए उस सोने (ब्रह्म) को जान लो और गहने को चाहे बरबाद हो जाने दो—

गहने के गढ़े तें कहीं सोनो भी जातु है,
सोनो बीच गहनो और गहनो बीच सोन है ।।
सोन को तो जानि लीजै गहनो बरबाद कीजै,
भारी एक सोनो तामें ऊंच कवन नीच है ।[1]

विविध खिलौने और भाजन (शरीर का प्रतीक) एक ही मिट्टी (ब्रह्म) से बने हैं, नाम उनके अनंत हो सकते हैं। मनुष्य भ्रमवश ही नर शरीर को उस ब्रह्मत्व से पृथक समझता है परन्तु अरे ओ भोले इन्सान ! स्वर्णाभूषणों को गलाकर देख ले, मूलतत्व स्वर्ण (ब्रह्म) ज्यों का त्यों उसमें विद्यमान है—

भूषन ताहि गंवाइ के देखु, यारी कंचन ऐन को ऐन धरो है ।।[2]

सर्वत्र उसी का पसारा है। सन्त नामदेव को सर्वत्र अपने आराध्य बीठल ही बीठल दृष्टिगोचर होते हैं—

ज्यूं कुरंग निसि नाद बाहला त्यूं मेरे मनि रमइया ।
ज्यूं तरणी कौं कंत बाहला त्यूं मेरे मनि रमइया ।

× × ×

सगल भवन तेरो नाम बाहला त्यूं नामे मनि बीठुला ।।[3]

सन्तों ने उस परमतत्व के विराट स्वरूप का भी चित्रण किया है—उस ब्रह्म के पास करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं, करोड़ों महादेव अपने कैलाश पर्वत सहित हैं, करोड़ों दुर्गाएं सेवा करती हैं, करोड़ों ब्रह्मा वेद का उच्चारण करते हैं, करोड़ों चन्द्रमा दीपक की भांति वहां प्रकाश करते हैं, तैंतीसों करोड़ देवता वहाँ भोजन करते हैं, नवग्रह के करोड़ों समूह जिनकी सभा में खड़े हुए हैं, करोड़ों धर्मराज जिसके प्रतिहारी हैं, करोड़ों पवन जिसके चौबारों में प्रवाहित होते हैं, करोड़ों वासुकि सर्प जिसकी सेज का विस्तार करते हैं, करोड़ों समुद्र जिसके यहाँ पानी भरते हैं। × × जिसके ध्यान मात्र से हृदय के भीतर भावनाएं खो जाती हैं, उस सारंगपाणि (प्रभु) से कबीर कहते हैं कि हे प्रभु, मुझे अभय-पद का दान दो—

कोटि सूर जाकै परगास । कोटि महादेव अरु कविलास ।।
दुर्गा कोटि जाकै मरदनु करै । ब्रह्मा कोटि वेद उचरै ।।

× × ×

कहि कबीर सुनि सारिगपान । देहि अभै पदु मांगउ दान ।।[4]

---

१. **यारी रत्नावली, कवित्त ९**
२. वही कवित्त ८, पृ० १३
३. **सन्त सुधा सार, नामदेव महाराज,** पृ० ५२-५३
४. **सन्त कबीर, रागु भैरउ** २०, पृ० २२८-२९

सन्तों ने निर्गुण ब्रह्म का ही सर्वत्र वर्णन किया है; निर्गुण ही उनके आराध्य हैं, पर निर्गुण ब्रह्म, मनन चिन्तन और अनुभूति का विषय तो हो सकता है, भावविह्वल माधुर्योपासक भक्त का आराध्य नहीं हो सकता। सन्त अपनी विचार साधना में निर्गुण वादी तो हैं पर भक्त का हृदय भी उन्हें प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने निर्गुण ब्रह्म में भी कुछ भावोचित गुणों का आरोप किया है लेकिन फिर भी उनका निर्गुण निर्गुणत्व की गद्दी से इतना नीचे उतर कर नहीं आया है कि उसे मूर्तिपूजक सम्मत सगुणत्व प्राप्त हो जाए। अनेक कर्म करता हुआ अनेक गुणों को धारण करता हुआ भी सन्तों का ब्रह्म निर्गुण ही रहा है। भगवान के विराट स्वरूप में उनका सगुण रूप ही उभर कर आया है। दाम्पत्य, वात्सल्य, दास्य, सख्य भाव से जब संत उसका स्मरण (ध्यान) करते हैं तब भी सगुण की ही प्रधानता रहती है। वे भक्त बछल गोपाल सन्त रूप में स्वयं अवतार धारण करते हैं। पलटू साहब ने सगुण रूप का समर्थन इस प्रकार किया है :

सन्त रूप अवतार आप हरि धरि कै आये।[1]

ब्रह्म में कतिपय गुणों का आरोप करते हुए भी सन्तों ने ब्रह्म को एक माना है। सन्त दादू दयाल इसी एकत्व की ओर संकेत करते हैं—

एकहि एकैं भया अनंद, एकहि एकैं भागे दंद।

× × ×

एकहि एकैं भये लेलीन, एकहि एकैं दादू दीन॥[2]

भीखा साहब भी एकात्मवाद का समर्थन करते हुए ब्रह्म के सम्बन्ध में द्वैत बुद्धि का निषेध करते हैं।[3] इस प्रकार सन्तों ने निर्गुण ब्रह्म का अनेकशः चित्रण किया है।

(२) **भक्तिमार्गीय ढंग पर ब्रह्म का सगुणात्मक रूप**

सन्त यद्यपि ब्रह्म के निराकार रूप की ही उपासना प्रमुख रूप से करते हैं पर अपने समय के प्रचलित सभी नामों को उन्होंने उदारतापूर्वक ग्रहण किया है। ब्रह्म को जहाँ उन्होंने निरंजन, निर्गुण, निर्विकल्प, अविगत, अजर, अमर आदि निराकार रूपों में स्मरण किया है उसके साथ-साथ सगुणवादी भक्तों के समान हरि, राम, कृष्ण, गोपाल, केशव, कन्हाई, बीठल, शालग्राम, गोविन्द, कृष्ण, साहब, पुरुषोत्तम, दीनबन्धु, दीनदयाल, जगदीश, जगन्नाथ आदि-आदि नामों द्वारा भी स्मरण किया है। इन सबमें राम नाम सन्तों को विशेष प्रिय हैं। डा० गोविन्द त्रिगुणायत के मतानुसार इसका यौगिक कारण है। उन्होंने राम शब्द में 'र' वर्ण को अग्नि का, 'अ' को सूर्य का और 'म' को चन्द्रमा का प्रतीक माना है।[4] यहाँ कतिपय नामों का उल्लेख द्रष्टव्य है —

राम—कबीर ने 'राम' नाम का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है, उसी का

१. **पलटू बानी,** शब्द ३२, पृ० १४
२. **दादू बानी, भाग २, शब्द** २८६, पृ० ११३
३. **एकै सोन बहुत विधि गहना, समुझै द्वैत नसावै।** भीखा बानी, शब्द १२, पृ० ७
४. **हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि,** पृ० ३६०

स्मरण कर मनुष्य संसार सागर से पार हो सकता है—

राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेश ।[1]

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि ।[2]

राम नाम का स्मरण छोड़कर जो अन्य का ध्यान करते हैं वह वेश्या-पुत्र के समान हैं जो किसी को भी अपना बाप कहने की स्थिति में नहीं होते—

राम पियारा छांडि करि, करै आन का जाप ।
वेस्वां केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सूं बाप ।।[3]

राम ही विरहिन आत्मा का आधार है, उसके बिना विरहिन की आँखों में झाँई पड़ गई हैं, पुकारते-पुकारते जीभ में छाला पड़ गया है—

अंषडियां झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि ।
जीभड़ियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि ।।[4]

कबीर के समान ही दादू,[5] भीखा,[6] सुन्दरदास,[7] पलटू,[8] मलूकदास,[9] दरिया साहब (मारवाड़ वाले)[10] जगजीवन,[11] यारी,[12] दूलनदास,[13] गुलाल[14] और रैदास[15] आदि सन्तों ने भी राम नाम के माहात्म्य का एक कण्ठ से उच्चारण किया है ।

---

१. **कबीर ग्रन्थावली, सुमिरण कौ अंग** २, पृ० ५

२. **वही,** ८

३. **वही,** पृ० २२

४. **वही, विरह कौ अंग,** २२, पृ० ९

५. **राम कहे सब रहत है, जीव ब्रह्म की लार ।**
दादू बानी १, सुमिरन को अंग ५०, पृ० १९

६. **राम सों करु प्रीति हे मन राम सों करु प्रीति ।**
भीखा बानी, शब्द २१, पृ० १३

७. **पूर्णहु राम अपूर्णहु राम······बैठत रामहि, ऊठत रामहि, बोलत रामहि राम रह्यो है ।** सुन्दर विलास, पृ० ८६-८७

८. **हमरे केवल राम आन कों नाही जानौं ।** पलटू बानी १, २१३, पृ० ८९

९. **सदा सुहागिन नारी सो जाके राम भर्तार·········मेरे रामै पूंजी ।**
मलूक बानी पृ० ३, ८

१०. **नमो राम परब्रह्म जी ।** दरिया बानी, पृ० १

११. **काया कैलास कासी राम सो बनायो ।** जगजीवन बानी २, पृ० ४४

१२. **राम रमझनी यारी जीव के ।** यारी रत्नावली, शब्द १८, पृ० ५

१३. **बोल मनुआं राम राम ।** दूलन बानी, उपदेश का अंग १, पृ० ७

१४. **राम मोर पुंजिया मोर धना ।** गुलाल बानी, शब्द १०, पृ० ५

१५. **जन को तारि तारि बाप रमइया ।** रैदास बानी, शब्द ८१, पृ० ३९

हरि—भी राम के समान अभय प्रदाता है, सन्तों ने हरि नाम को राम का पर्याय ही माना है। कबीर,[1] धर्मदास,[2] धरनीदास,[3] मलूकदास,[4] रैदास,[5] गुलाल,[6] यारी, जगजीवन,[8] भीखा,[9] पलटू[10] और दादू[11] आदि ने हरि नाम का बार-बार गुण गाया है।

राम और हरि के समान ही इन भक्त सन्तों ने कृष्ण[12], गोबिन्द[13], साहब[14],

---

१. हरि कौ नांव अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी।
कबीर ग्रन्थावली, पद ३४६, पृ० २०५

२. जो नर हरि धन सूं चित्त लावै। धनी धरमदास बानी, शब्द ७, पृ० ३३

३. मन रे तू हरि भजु........। धरनीदास बानी, शब्द १०, पृ० ५

४. हरि समान दाता कोउ नाहीं। मलूकबानी, शब्द ४, पृ० २

५. चल मन हरि चटसाल पढ़ाऊं। रैदास बानी ७०, पृ० ३३

६. हरि संग लागत बुंद सोहावन। गुलाल बानी, प्रेम ६, पृ० ३२

७. दिन दिन प्रीति मोहिं अधिक हरि की। यारी रत्नावली, शब्द ३ पृ० १

८. हरि छबिहिं दिखाय मोर मन हरि लियो। जगजीवन बानी, शब्द १३, पृ० ६

९. भीखा हरि नटवर बहुरूपी.........। भीखाबानी, प्रेम और प्रीति १०, पृ० २६

१०. बोलु हरिनाम तू छोड़ि दे काम सब। पलटू बानी, २, पृ० ३

११. हरि हां दिखावौ नैना। दादू बानी २, शब्द १७३, पृ० ६९

१२. इहि बनि खेलै राही रुकमनि, उहिबन कान्ह अहीत रे। क०ग्र०, ७६, पृ० ११२
माया मोहिला कान्हा, मैं जन सेवक तेरा। रैदास बानी, शब्द ६९; पृ० ३३

१३. गुरू गोविन्द दोउ खड़े......।
गोबिन्द मिलै न झल बुझै...। कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६, ३५
गोव्यदें नाँउ तेरा जीवन मेरा, तारण भौ पारा। दादू बानी २, ८१, पृ० ३३
गोबिंदे तुम्हारे से समाधि लागी......। रैदास बानी, ६३, पृ० २९
गुरू गोबिद की करत आरती। भीखा बानी, आरती १, पृ० ३३
गुरू गोबिद सार मत दीन्ह......। मलूक बानी, उपदेश ५, पृ० १८

१४. साहिब सूं पर्चा नहीं......। कबीर ग्रन्थावली पृ० ३१
सकल मांड़ मैं रमि रह्या, साहिब कहिए सोई। वही, पृ० ६०
साहिब मिलै तो को बिलगावै। रैदास बानी १०, पृ० ६
साहिब मिलि तब साहिब होवै, ज्यों जल बूंद समावै। मलूक बानी, पृ० ४
सतगुरू साहब नाम पारसी......। भीखाबानी, शब्द ८, पृ० २१
मैं झूंठा मेरा साहब सच्चा.....। धरनीदास बानी, शब्द ४, पृ० १९
साहिब जलथल घट घट व्यापत, धरती पवन अकास हो। दूलनदास बानी पृ० २४
खसम हमारा सिरजन हारा, साहिब समरथ सांई। दादूबानी २, शब्द ८६ पृ० ३५
साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई। धनी धरमदास बानी, पृ० ६४
साहिब से परचा का कीजै, भरि-भरि नैन निरखि लीजै। पलटूबानी १, पृ० ३५
साहिब से लागी री सजनी, मेरो ब्याह भयो बिन मंगनी। वही २, पृ० १८
साहब समरत्थ प्रीति तुम्ह तें लागी। जगजीवन बानी २, शब्द १४, पृ० ६
साखियां साहब ना मिलै, भजन किए भरपूरा। दरिया (मारवाड़) बानी पृ० १२

गोपाल[1] और नारायण[2] आदि सगुणात्मक नामों का प्रयोग अपनी वाणी में किया है। ये विविध नाम कहीं-कहीं तो निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों की समान अभिव्यक्ति करते हैं, फिर भी निर्गुणपरक रूप ही सन्तों का धातव्य है।

(३) **यौगिक शब्दावली (प्रतीकात्मक शैली) द्वारा ब्रह्म निरूपण—**

सन्त जितने ज्ञानमार्ग और भक्ति मार्ग से प्रभावित हैं उतने ही योगमार्ग से भी प्रभावित हैं। योग दर्शन भारत का प्राचीनतम दर्शन हैं। समस्त आर्ष ग्रन्थों में योग की चर्चा किसी न किसी रूप में की गई है। योग में ब्रह्म के सगुण या निर्गुण रूप से सम्बन्धित विवेचन रहता है। योग शास्त्र में लिखा है कि जो पुरुष विशेष क्लेश कर्म विपाक और आशय से शून्य रहता है वह ईश्वर कहलाता है।[3] ब्रह्म भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालों में अविच्छिन्न रहने के कारण नित्य है।

सन्तों पर योग की उस परम्परागत धारा का सीधा प्रभाव तो अपेक्षाकृत कम ही पड़ा है, सिद्ध और नाथपन्थी योगियों की योग साधना का प्रभाव ही अधिक दीख पड़ता है। यथा—

शब्द ब्रह्म—ओंकार, शब्द, शून्य—भारतीय धर्म और दर्शन साधना में शब्द ब्रह्म की धारणा बहुत प्राचीन है। कठोपनिषद में कहा गया है कि जिस परमपद का वेदादि बारम्बार प्रतिपादन करते है वह शब्द 'ओम्' है[4] यह अविनाशी प्रणव-ऊँकार ही तो ब्रह्म है, यही परब्रह्म परम पुरुष पुरुषोत्तम है अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनों का ही नाम ऊंकार है।

उपनिषदों के ढंग पर किए गए इस प्रणव (ऊंकार) से सन्त भली-भाँति परिचित थे। दादू कहते हैं—

ओंकार थैं ऊपजै, अरस परस संजोग।
अंकुर बीज द्वै पाप पुन, यहि विधि जोग रू भोग॥

---

१. **आइ तलब गोपाल राइ की, मैंडी मन्दिर छांड़ि चलौ।**
क० ग्र० पद ३४३, पृ० १७०

जो पै सेयो श्री गोपाल—। रज्जब, संत सुधा सार पृ० ३०७
तेरी प्रीति गोपाल सों जनि घटै हो। रैदास बानी, ७६, पृ० ३७
सांचा तू गोपाल···। मलूक बानी, पृ० ५

२. **ताथैं सेवियै नांराइणां**···। क० ग्र० पद २४८
पारस नारायण को मोहिं लागै। गुलाल बानी, पृ० ५६
नारायन अरु नगर के रज्जब पंथ अनेक। रज्जब, संत सुधा सार, पृ० ३१२

३. **डा० गोविन्द त्रिगुणायत, हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि**, पृ० ४१४-१५

४. **कठ**, १/२/१५,१६

आदि सबद ओंकार है, बोलै सब घट मांहि।
दादू माया विस्तरी, परम तत यहु नांहि ।।[1]

कबीर कहते हैं—

ऊंकारे जग ऊपजै, बिकारे जग जाइ।[2]
ओंकार के पार भजु, तजि अभिमान कलेस।
यारी आदि ओंकार जा सों यह भयो संसार।[3]

आगे चलकर ओंकार अर्थात् शब्द के स्थान पर नाद-बिन्दु की स्थापना पर विशेष बल दिया जाने लगा। यह तन्त्रवाद का प्रभाव था। तन्त्र ग्रन्थों में ब्रह्म को नाद स्वरूपी माना गया है। इस नाद बिन्दुवाद का सन्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा था जिसके अनुकरण पर सन्तों ने अपने निर्गुण शब्द सुरतिवाद की प्रतिष्ठा की। सन्तों ने प्रायः नाद के स्थान पर शब्द का प्रयोग किया है—

सबदैं बंध्या सब रहै, सबदैं सब ही जाइ।
सबदैं ही सब ऊपजैं, सबदैं सबै समाइ ।।[4]

बौद्ध तांत्रिकों के प्रभाव से सन्तों ने भी शून्य का ब्रह्म के अर्थ में प्रयोग किया है। शून्य शब्द का नाथपंथी योगियों ने खुलकर प्रयोग किया है। सन्तों ने शून्य की परम्परा बौद्ध तांत्रिकों से सीधी न लेकर नाथ पंथी योगियों के माध्यम से ली मालूम पड़ती है। सन्तों का शून्यवाद नास्तिकवाद पर नहीं वरन् पूर्ण आस्तिकता लिए हुए है। यथा—

सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिंगे।[5]
सहज सुंनि इकु बिरवा उपजिया धरती जलहरु सोखिआ।[6]
कहै रैदास सहज सुन्न सत, जिवन मुक्त निधि कासी ।।[7]

अन्य तांत्रिक शब्दों के समान शून्य शब्द का भी संत साहित्य में तिरस्कार हुआ, शून्य परमतत्व के उच्चासन से गिरकर केवल ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार आदि का ही वाचक रह गया।

---

१. दादू बानी, सबद कौ अंग, ६,७, ८, १२ पृ० १८८
१. कबीर ग्रन्थावली, पद १२१, पृ० १२६
३. यारी रत्नावली, अलिफनामा, पृ० ७१; कवित्त १, पृ० ११
४. दादू बानी भाग १, सबद कौ अंग २, ४, १७, पृ० १८८-८९
५. सन्त कबीर, रागु मारू ४, पृ० १९२
६. सन्त कबीर, रागु रामकली ६, पृ० १८१
७. रैदास बानी, शब्द ५३ पृ० २५

(४) माधुर्यभाव के ब्रह्मवाची शब्द प्रतीक—

भरतार,[1] सैंया,[2] कंत[3], पिव-पिया[4] खसम[5] आदि माधुर्य परक शब्द प्रतीकों से सन्तों ने ब्रह्म से दाम्पत्य परक सम्बन्ध स्थापित किया है, ये शब्द सगुण साधना के अधिक निकट हैं, फिर भी सन्तों के ये शब्द विशेष अर्थों में निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति ही करते हैं।

---

१. **हम घरि आये हो राजा राम भरतार।** कबीर ग्रन्थावली, पद १

२. **सैंया बुलावे मैं जैहों ससुरे।** कबीर शब्दावली २, पृ० ७८
सइयां महरा मोर डोलिया फदावो। धनी धरमदास बानी, शब्द १७, पृ० ६८
सैंयां के वचन गड़िगे मोरे हिय में। पलटू बानी, ५७, पृ० २६
सइयां तू है साहिब मेरा, मैं हू बन्दा तेरा। दादू बानी २, ८६, पृ० ३५

३. **भई कंत दरस बिनु बावरी।** धरनीदास बानी, शब्द १, पृ० १४
लगै न तेरौ चित कंत को नाहिं मनावै। पलटू बानी ४१, पृ० १८

४. **विरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलफै माई।** कबीर ग्रन्थावली पृ० १०
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैगे आइ। वही पृ० ८
पिव आव हमारे। दादू बानी २, ८३, पृ० ३४
पिया बिन मोहि नींद न आवै। धनी धरमदास बानी, ६६, पृ० १४
अपने पिय की सुन्दरी लोग कहैं बौरान। पलटू बानी, पृ० २६
पिय को खोजन मैं चली आपुहि गई हिराय। वही, पृ० २५
पिया मिलन कब होइ, अंदेसवा लागि रही। दूलनदास बानी, पृ० १८
पिया मोर बैसल मांझ अटारी। भीखा बानी, पृ० २६
हरि पीव कूं पाइया सखि पूरन मेरे भाग। चरनदास बानी, पृ० २७
हौं तो खैलौं पिया संग होरी। यारी रत्नावली, पृ० १
मोर मनुवां मनावै धावै पिया नहिं आवै हो।—बुल्ला, शब्द सागर, पृ० ६
देखो पिया काली घटा मो पै भारी। वही, पृ० ६
प्यारी पिया पैहौं कौने भेस। तुलसी (हाथरस) बानी, पृ० ३

५. **होइगा खसम त लइगा राखि।** सन्त कबीर, रागु गउडी ३३, पृ० ३५
लेइ खसम को नांव खसम से परचै नाहीं। पलटू बानी, पृ० १७
खसम रहा है रूठि नहिं तू पठवै पाती। वही, पृ० १८
सुरति सुहागिन चरन मनावहि खसम आपनौ पैवों।
बुल्ला शब्द सागर १४, पृ० ११
दूरिन भाई खसम खुदाई। है हाजिर पहिचानि न आई।
धरनीदास बानी, ५ पृ० १६

खसम शब्द का भाग्य विपर्यय बहुत हुआ है। सिद्ध साहित्य में खसम= शून्यावस्था या सहजावस्था का वाचक प्रतीक है। खसम शब्द अरबी, फारसी की परम्परा से आया पतिवाचक शब्द है। सन्तों ने खसम का ब्रह्म तथा पति रूप में प्रयोग किया है।

(५) व्यावसायिक शब्दों के माध्यम से ब्रह्म निरूपण—

अधिकांश सन्त तथाकथित समाज के निम्न वर्ग से आए हैं अतः अपने-अपने व्यवसायानुसार ब्रह्म का प्रतीकात्मक निरूपण किया है। यथा—

बढ़ैया— **जो चरखा जरि जाय, बढ़ैया ना मरै।**
मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै ॥[1]

यहाँ स्पष्ट ही चरखा = शरीर का बढ़ैया = सिरजनहार ब्रह्म का, सूत = कर्म का प्रतीक है।

कोरी = जुलाहा—

कोरी को काहु मरमु न जानां।
सभु जगु आनि तनाइओ ताना।[2]

यहाँ ब्रह्म का और ताना-सृष्टि विस्तार का प्रतीक है।

कुम्हार— **कुम्हारै एक जु माटी गूंथी बहु विधि बानी लाई।**
काहू महि मोती मुक्ताहल काहू बिआधि लगाई।[3]

यहाँ कुम्हार = ब्रह्म, माटी = शरीर, मोती मुक्ताहल = ऐश्वर्य के प्रतीक हैं।

बाजीगर—बाजीगर डंक बजाई। सभ खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांगु सकेला। अपने रंग रवै अकेला।[4]
बाजीगर पसारी बाजी। भूल भुलायो सब काजी।[5]
भाई रे बाजीगर नट खेला, ऐसैं आपै रहै अकेला।
यहु बाजी खेल पसारा, सब मोहै कोतिग हारा।
बाजीगर भुरकी बाही, काहू पै लखी न जाई।
बाजीगर परकासा, यहु बाजी झूठ तमासा ॥[6]

यहाँ बाजीगर = ब्रह्म और बाजी = संसार का प्रतीक है।

धोबी तथा रंगरेज—

मोरी रंगी चुनरिया धो धुबिया।[7]

यहां धोबी = ब्रह्म का, रंगी चुनरिया = पापपूर्ण शरीर का प्रतीक है। जिस प्रकार धोबी कपड़े से मैल-दाग छुड़ाकर उसे उज्ज्वल बना देता है, उसी प्रकार ब्रह्मरूपी धोबी भी आत्मा से पाप-पुण्य के प्रभाव को मिटाकर उसे उज्ज्वल कर देता है।

कौन रंगरेजवा रंगै मोरी चुनरी।[8]

---

१. कबीर बीजक, शब्द ७८
२. सन्त कबीर, रागु आसा ३६
३. सन्त कबीर, रागु आसा १६
४. सन्त कबीर, रागु सोरठि ४
५. मलूक बानी, शब्द १४
६. दादू बानी २, शब्द ३०६
७. कबीर शब्दावली, २, शब्द २३, पृ० ७४
८. कबीर शब्दावली, २, पृ० ७४

जिस प्रकार धोबी मैल छुड़ा देता है रंगरेज (ब्रह्म का प्रतीक) नए वस्त्र पर या पुराने वस्त्रों को धोकर उस पर रंग चढ़ा देता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी उज्ज्वल आत्मा पर भक्ति का रंग चढ़ा देता है।

इस प्रकार सन्तों ने अपने व्यवसायानुसार अनेक शब्द प्रतीकों के माध्यम से ब्रह्म की अभिव्यक्ति की है।

जीवात्मा

मानव का समस्त चेतन व्यापार ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्तृत्व इन तीन शक्तियों से युक्त है। ये शक्तियाँ ही चित्त के महत्व को व्यक्त करती हैं। चित्त सम्पर्क युक्त आत्मा ही चेतन बनती है और वही जीव या जीवात्मा की उपाधि धारण करता हुआ कर्मयोग की इच्छा से किसी न किसी शरीर में इस व्यक्त जगत में विचरण करता है। यहाँ जीव या आत्मा अनेकानेक भोगों को भोगता हुआ जन्म मरण के चक्र में पड़ता है। साधना के द्वारा जब जीव इस आवागमन के चक्र से छूट जाता है तो 'जीव मुक्त' की अवस्था धारण कर लेता है। कठोपनिषद् में कहा है कि उस स्वयंभू ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर बनाए हैं, इसलिए वह (मनुष्य) बाहर की ही वस्तुओं को (इन्द्रियों द्वारा) ही देखता है अन्तरात्मा को नहीं, पर कोई सौभाग्यशाली धीर वीर मनुष्य अमरपद पाने की कामना से आत्मा को देखता है, आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहिचान कर बाह्य इन्द्रियों के मिथ्या आचरण से विमुख हो जाता है, पर मूर्ख मनुष्य बाह्य भोगों का ही अनुकरण करते हुए मृत्युपाश में बँधे रहते हैं।[1]

भारतीय दर्शन शास्त्रों में आत्मा को अजरामर माना है। मृत्युपाश में आत्मा नहीं शरीर बँधता है। आत्मा तो इससे भिन्न है, क्लेशादि शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं। गीता (२/२३) में कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

मृत्यु तो आत्मा के लिए उसी प्रकार है जैसे हम पुराने वस्त्रों के स्थान पर नए वस्त्र धारण कर लेते हैं, आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेती है,[2] आत्मा ब्रह्मांश होने के कारण ब्रह्म के समान ही अजर, अमर और सनातन है।[3] देह के संयोग से ही आत्मा बद्धात्मा या जीव कहलाता है, लेकिन देह, प्राण, मन, बुद्धि आदि आत्मा से भिन्न ही हैं; पर प्रायः लोग शरीर, मन, प्राण के सुख दुखों को भ्रमवश आत्मा का सुख दुख मान लेते हैं। सन्त सुन्दर दास ने इस सम्बन्ध में कहा है—

ज्यूं कोई कूप में झांकि अलापत, वैसिहि भांति सु कूप अलापै।
ज्यूं जल हालत है लगि पौन, कहै भ्रम में प्रतिबिंबहि कांपै॥
देह के प्राण के औ मन के कृत, मानत है सब मोहि कूं व्यापै।[4]

---

१. कठ० २/१/१-२
२. गीता, २/२२
३. वही, २/२४
४. सुन्दर विलास, रूप विस्मरण को अंग ६, पृ० ९४-९५

जीव का स्वरूप—आत्मा ब्रह्म का ही अंश है। जब आत्मा शरीर के बन्धन में पड़कर इन्द्रियों के अधीन होकर अपने को भूल जाता है तो वह जीव कहलाता है। सन्त सुन्दरदास ने स्पष्ट ही कहा है—

देह को संजोग पाइ इन्द्रिन के बस पर्‌यो।
आप ही कूं आप भूलि गयो सुख चाहतें॥
ज्यूं कोई मद्य पिये अति छाकत, नांहि कछु सुधि है भ्रम ऐसो।
× × ×
तैसेहि सुन्दर आप कूं भूलि सु, देखहु चेतन मानत कैसो॥[1]

जीवरूप ब्रह्म की परा अर्थात् चेतन प्रकृति है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है।[2] विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर (परमात्मा), जीव (चित्) और प्रकृति (अचित्) ये तीन नित्य और स्वतन्त्र पदार्थ हैं। परमात्मा अन्तर्यामी रूप से जीवन और प्रकृति में विद्यमान है। वह अंगी (अंशी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) हैं।[3] ऋग्वेद के अनुसार एक संसार रूपी वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं एक उस वृक्ष के कर्मरूपी फलों को भोगता है (आत्मा) और दूसरा उपेक्षाभाव से देखता हुआ उनका भोग नहीं करता (परमात्मा)[4]। इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा और आत्मा नित्य हैं, आत्मा संसार के कर्म बन्धन में पड़कर जीवात्मा कहलाता है और परमात्मा उन संसार फल को न भोगने के कारण आवागमन से मुक्त है, नित्य है।

जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध—आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध अंशी और अंश भाव का है। रामानुज का कथन है कि जिस प्रकार चिनगारी अग्नि का अंश है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। दोनों का सम्बन्ध अंशांशी भाव अथवा विशेषण विशेष्य भाव रूप में है।[5] ब्रह्मस्वरूपी आत्मा अहंकार से विमोहित होकर ही जीव की संज्ञा धारण करती है। आत्मा परमात्मा के अंशांशी भाव को कबीर ने स्पष्ट स्वीकार किया है—

कहु कबीर इहु राम की अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु।[6]

अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत—तीनों ही दार्शनिक मत आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में विवेचना करते हैं (अद्वैत में ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म से ऊपर, भिन्न नहीं है। द्वैत में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति इन तीनों की सत्ता स्वीकार करते हुए आत्मा और प्रकृति को परमात्मा की शक्ति माना है। विशिष्टाद्वैत में परमात्मा अंशी तथा जीव और प्रकृति अंश हैं) पर सन्तमत अद्वैतवाद की ओर

---

१. वही, ४५, पृ० ९४
२. **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ गीता ७/५
३. **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ७८५
४. **ऋग्वेद १/१६४/२०**
५. **सन्त साहित्य**, पृ० १०४
६. **कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट १२६**, पृ० ३०१

विशेष रूप से झुका हुआ है। हिन्दी साहित्य कोश (पृ० २२) में कबीर, दादू, मलूकदास, भीखा, गुलाल, पलटू आदि विभिन्न सन्तों को स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी कहा हैं। स्वयं सन्तों की बानियों में ब्रह्म और जीव के अद्वैत सम्बन्ध की ओर संकेत किया गया है। अद्वैतवाद का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद का है।[१] जैसे एक घट में सुगन्धित जल, एक में दुर्गन्धयुक्त जल, एक में गंगोदक, एक में मदिरा, एक में घी, एक में तेल, एक में मक्खन रखा हो, पर सविता का प्रतिबिम्व सभी में समान भाव से पड़ता है उसी प्रकार ऊँच, नीच और मध्य में ईश्वर नाम और देह भेद से प्रतिभासित है—

एक घट मांहि तौ सुगंध जल भरि राख्यो।
एक घट मांहि तो दुर्गन्ध जल भर्यौ है॥

× × ×

तैसे ही सुन्दर ऊँच नीच मध्य एक ब्रह्म।
देह भेद देखि भिन्न-भिन्न नाम धर्यौ है॥[२]

अद्वैतवाद के दूसरे सिद्धान्त विवर्तवाद या अध्यारोपवाद का भी सुन्दरदास ने स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है—

भासत है कछु और कूं औरहि, ज्यूं रजू में अहि सीपि में रूपा॥
सुन्दर ज्ञान प्रकास भयो जब, एक अखंडित ब्रह्म अनूपा॥[३]

इस भ्रम का नाश ज्ञान के उदित होने पर ही हो सकता है, और तभी ब्रह्म का अखण्डित रूप प्रकट हो जाता है—

जीव और ब्रह्म एक हैं, ईसुर जीव जुदे कछु नाहीं।[४]

जीव और ब्रह्म कंचन और आभूषण,[५] हिम और जल,[६] बूंद तथा समुद्र[७] के समान दो होते हुए भी एक हैं। कबीर ने इसी अभेदत्व को 'पानी और हिम'[८] तथा 'जल

---

१. डा० गोविन्द त्रिगुणायत,
हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ४२५

२. सुन्दर विलास, पृ० ११२

३. वही, ज्ञानी को अंग १०, पृ० १४७

४. वही, पृ० ११६

५. **जैसे एक कंचन के भूषन अनेक भये,**
आदि मध्य अंत एक कंचन ही जानिये। वही, पृ० १४७
एक सुबर्न को भयो गहनो बहुत, देखु बीचार हेम खानी।
भीखा बानी, रेखता ८, पृ० ५४

६. **जैसे पानी जमिके, पाषाण हूं सो देखियत, सो पाषाण फेरि पानीं होय के बहतु है।**
सुदन्र विलास पृ० १२८

७. **जहां तक समुंद दरियाव जल कूप है, लहरि अरु बुंद को एकु पानी।**
भीखा बानी पृ० ५४

८. **पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।**
जो कुछ था सोइ भया, अब कछू कह्या न जाइ॥ कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३

जीव का स्वरूप—आत्मा ब्रह्म का ही अंश है। जब आत्मा शरीर के बन्धन में पड़कर इन्द्रियों के अधीन होकर अपने को भूल जाता है तो वह जीव कहलाता है। सन्त सुन्दरदास ने स्पष्ट ही कहा है—

देह की संजोग पाइ इन्द्रिन के बस पर्यो।
आप ही कूं आप भूलि गयो सुख चाहतें।।
ज्यूं कोई मद्य पिये अति छाकत, नाहिं कछु सुधि है भ्रम ऐसो।
× × ×
तैसेहि सुन्दर आप कूं भूलि सु, देखहु चेतन मानत कैसो।।[1]

जीवरूप ब्रह्म की परा अर्थात् चेतन प्रकृति है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है।[2] विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार ईश्वर (परमात्मा), जीव (चित्) और प्रकृति (अचित्) ये तीन नित्य और स्वतन्त्र पदार्थ हैं। परमात्मा अन्तर्यामी रूप से जीवन और प्रकृति में विद्यमान है। वह अंगी (अंशी) है और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) हैं।[3] ऋग्वेद के अनुसार एक संसार रूपी वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं एक उस वृक्ष के कर्मरूपी फलों को भोगता है (आत्मा) और दूसरा उपेक्षाभाव से देखता हुआ उनका भोग नहीं करता (परमात्मा)[4]। इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा और आत्मा नित्य हैं, आत्मा संसार के कर्म बन्धन में पड़कर जीवात्मा कहलाता है और परमात्मा उन संसार फल को न भोगने के कारण आवागमन से मुक्त है, नित्य है।

जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध—आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध अंशी और अंश भाव का है। रामानुज का कथन है कि जिस प्रकार चिनगारी अग्नि का अंश है उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। दोनों का सम्बन्ध अंशांशी भाव अथवा विशेषण विशेष्य भाव रूप में है।[5] ब्रह्मस्वरूपी आत्मा अहंकार से विमोहित होकर ही जीव की संज्ञा धारण करती है। आत्मा परमात्मा के अंशांशी भाव को कबीर ने स्पष्ट स्वीकार किया है—

कहु कबीर इहु राम की अंसु। जस कागद पर मिटै न मंसु।[6]

अद्वैत, द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत—तीनों ही दार्शनिक मत आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में विवेचना करते हैं (अद्वैत में ब्रह्म सत्य है, जगत मिथ्या है, जीव ब्रह्म से ऊपर, भिन्न नहीं है। द्वैत में परमात्मा, आत्मा और प्रकृति इन तीनों की सत्ता स्वीकार करते हुए आत्मा और प्रकृति को परमात्मा की शक्ति माना है। विशिष्टाद्वैत में परमात्मा अंशी तथा जीव और प्रकृति अंश हैं) पर सन्तमत अद्वैतवाद की ओर

---

१. वही, ४५, पृ० ६४
२. **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। गीता ७/५
३. **हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७८५**
४. **ऋग्वेद १/१६४/२०**
५. **सन्त साहित्य, पृ० १०४**
६. **कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट १२६, पृ० ३०१**

विशेष रूप से झुका हुआ है । हिन्दी साहित्य कोश (पृ० २२) में कबीर, दादू, मलूकदास, भीखा, गुलाल, पलटू आदि विभिन्न सन्तों को स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी कहा हैं। स्वयं सन्तों की बानियों में ब्रह्म और जीव के अद्वैत सम्बन्ध की ओर संकेत किया गया है । अद्वैतवाद का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद का है।[1] जैसे एक घट में सुगन्धित जल, एक में दुर्गन्धयुक्त जल, एक में गंगोदक, एक में मदिरा, एक में घी, एक में तेल, एक में मक्खन रखा हो, पर सविता का प्रतिबिम्ब सभी में समान भाव से पड़ता है उसी प्रकार ऊँच, नीच और मध्य में ईश्वर नाम और देह भेद से प्रतिभासित है—

एक घट माँहि तो सुगंध जल भरि राख्यो ।
एक घट माँहि तो दुर्गन्ध जल भर्‌यौ है ।।

× × ×

तैसे ही सुन्दर ऊँच नीच मध्य एक ब्रह्म ।
देह भेद देखि भिन्न-भिन्न नाम धर्‌यौ है ।।[2]

अद्वैतवाद के दूसरे सिद्धान्त विवर्तवाद या अध्यारोपवाद का भी सुन्दरदास ने स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है—

भासत है कछु और कूं औरहि, ज्यूं रजू में अहि सीपि में रूपा ।।
सुन्दर ज्ञान प्रकास भयो जब, एक अखंडित ब्रह्म अनूपा ।।[3]

इस भ्रम का नाश ज्ञान के उदित होने पर ही हो सकता है, और तभी ब्रह्म का अखण्डित रूप प्रकट हो जाता है—

जीव और ब्रह्म एक हैं, ईसुर जीव जुदे कछु नाहीं ।[4]

जीव और ब्रह्म कंचन और आभूषण,[5] हिम और जल,[6] बूंद तथा समुद्र[7] के समान दो होते हुए भी एक हैं । कबीर ने इसी अभेदत्व को 'पानी और हिम'[8] तथा 'जल

---

१. डा० गोविन्द त्रिगुणायत,
हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ४२५

२. सुन्दर विलास, पृ० ११२

३. वही, ज्ञानी को अंग १०, पृ० १४७

४. वही, पृ० ११६

५. **जैसे एक कंचन के भूषन अनेक भये,**
आदि मध्य अंत एक कंचन ही जानिये । वही, पृ० १४७
एक सुबर्न को भयो गहनो बहुत, देखु बीचार हेम खानी ।
भीखा बानी, रेखता ८, पृ० ५४

६. **जैसे पानी जमिके, पाषाण हूं सो देखियत, सो पाषाण फेरि पानीं होय के बहतु है ।**
सुदनर विलास पृ० १२८

७. **जहां तक समुंद दरियाव जल कूप है, लहरि अरु बुंद को एकु पानी ।**
भीखा बानी पृ० ५४

८. **पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ ।**
जो कुछ था सोइ भया, अब कछू कह्या न जाइ ।। कबीर ग्रन्थावली, पृ० १३

और कुम्भ'[1] के प्रतीक से स्पष्ट किया है।

कुम्भ शरीरगत आत्मा का और जल परमात्मा का प्रतीक है, दोनों में एक समान तत्व विद्यमान है परन्तु शरीर (कुम्भ) के कारण बाहर और भीतर का पानी पृथक-पृथक है, शरीर (कुम्भ) के नष्ट होने पर आत्मा का परमात्मा में महामिलन हो जाता है। यहां एक बात और स्पष्ट रूप से उभर कर आई है, असीम (ब्रह्म) और ससीम (पिण्डाण्ड) में मूलतः अन्तर नहीं है परन्तु ससीम का अस्तित्व कुछ पृथक ही रहता है, चाहे यह अस्तित्व भ्रमवश या माया के कारण ही हो, और जब भ्रम-माया का पर्दा बीच से उठ जाता है, ससीम असीम में मिलकर एकाकार हो जाता है। बूंद का समुद्र[2] के विशाल जल में समा जाना ससीम सत्ता (जीव, प्रकृति आदि) का उस असीम सत्ता ब्रह्म में समा जाने का प्रतीक है। पर केवल ब्रह्माण्ड (असीम सत्ता) में ही पिण्डाण्ड (ससीम सत्ता) नहीं समाता, उसके साथ-साथ पिण्डाण्ड भी ब्रह्माण्ड की विशालता का द्योतक है। तात्विक दृष्टि से एक-एक बूंद मिलकर ही इतना विशाल समुद्र बना है। समुद्र और बूंद के प्रतीक द्वारा कबीर ने ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का अन्योन्याश्रित अभेदत्व स्थापित किया है। मूल रूप से वही ब्रह्म खालिक और खलक में समाया हुआ है।[3] प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब आत्मा और परमात्मा एक हैं तो यह दीखने वाला द्वैत भाव क्यों? सन्तों का विश्वास है कि जीव और ब्रह्म के बीच माया ही व्यवधान पैदा करती है। माया के कारण ही ब्रह्म और जीव दो लगते हैं। मायाभिभूत जीव दिग्भ्रमित हो जाता है, सांसारिक प्रलोभनों के पीछे भागते-भागते कस्तूरी के मृग समान वह स्वयं के रूप को भी भूल जाता है; परन्तु ज्ञान के प्रकाश[4] में जब मायाजनित अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है तो जीव पुनः स्वात्मस्वरूप को पहचान अंशी ब्रह्म में लीन हो जाता है।[5] सन्त साहित्य में जीवात्मा को अनेक प्रतीकात्मक शब्दों द्वारा चित्रित किया गया है। इन प्रतीकों को हम निम्न प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

१. चेतन प्रतीक
२. मानवेतर चेतन प्रतीक
३. मानवेतर अचेतन प्रतीक

---

१. जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहरि भीतरि पांनी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समांना यहु तत कथौ गियानी ॥ वही, पृ० १०३

२. बूंद समानीं समंद में···समंद समानां बूंद में···। वही, पृ० १७

३. खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई।
वही, पद ५१, पृ० १०४

खालिक खलक खलक में खालिक ऐसा अजब जहूरा है।
पलटू बानी ३, शब्द १२०, पृ० ६७

४. झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि। कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११

५. अंतरि कंवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहां होइ। वही, पृ० १३

(१) चेतन प्रतीक–सन्तों ने जीवात्मा को पूत[1], जोलाहा[2], पारथ,[3] जोगिया[4] रैयति,[5] महावत,[6] बजावनिहार,[7] घरनी,[8] तिरिया,[9] औरत,[10] बहुरिया,[11] नारि[12] सुन्दरी,[13]

---

१. पहिले जन्म पुत्र को भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत कै एकै नारी, ई अचरज को काछे ।। कबीर बीजक, शब्द १, पृ० ३६
बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बिग्राय ।। वही, पृ० ४

२. भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई। वही, शब्द १५, पृ० ३८
अस जोलहा को मर्म न जाना, जिन्ह जग आनि पसारिन ताना।
वही, रमैनी २८ पृ० १३

३. रोहु मृगा संसय वन हाँकै, पारथ आना मेलै। वही, शब्द १९, पृ० ४०

४. जोगिया तन कौ तंत्र बजाई, ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ।
क० ग्र० २०८, पृ० १५६

५. राजा देस बड़ो परपंची, रइयति रहत उजारी।
कबीर बीजक, शब्द ५६, पृ० ५१
रैयत कौन कहावै घर घर हाकिम होय। पलटू बानी १, पृ० ४

६. महावत गयन्द मानै नहीं, चलै सुरति के साथ।
दीन महावत का करै, अंकुस नाही हाथ। कबीर बीजक

७. जंत्र बिचारा क्या करे गया बजावनहार ।। कबीर बीजक, साखी, पृ० ११२

८. जाड़न मरै सफेदी सौरी, खसम न चीन्हें घरनि भै बौरी।
वही, रमैनी ७३, पृ० २८

९. एक न रोवै उनकी तिरिया, जिन्ह के सिखावनहार ।।
कबीर शब्दा० ३, शब्द १२, पृ० २४

१०. औरत सोई सेज पर बैठा खसम हजूर। सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८९

११. हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिहिया। क० ग्र० ११७, पृ० १२५
जागु बहुरिया पहिरु रंग सारी।
धनी धरमदास शब्दा०, मिश्रित का अंग ६, पृ० ६५

१२. गर्व गुमानि नारि फिरै जोबन की माती। पलटू बानी १, ४१, पृ० १८

१३. कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजाण।
जे सुन्दरि सांई भजै, तजै आन की आस ।।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीस ।।
क० ग्र०, सुन्दरि कौ अंग १, ३, ४, पृ० ८०-८१

आरतिवन्ती सुन्दरी पल पल चाहै पीव।
दादू सुन्दरि पीव तू, दूजा नाहीं और।
सुन्दरि मोहै पीव कौं बहुत भांति भर्तार ।।
दादू बानी १, सुन्दरी को अंग २, ५, २६, पृ० २२५-२७

श्रौर कुम्भ'[1] के प्रतीक से स्पष्ट किया है।

कुम्भ शरीरगत आत्मा का श्रौर जल परमात्मा का प्रतीक है, दोनों में एक समान तत्व विद्यमान है परन्तु शरीर (कुम्भ) के कारण बाहर श्रौर भीतर का पानी पृथक-पृथक है, शरीर (कुम्भ) के नष्ट होने पर आत्मा का परमात्मा में महामिलन हो जाता है। यहां एक बात श्रौर स्पष्ट रूप से उभर कर आई है, असीम (ब्रह्म) श्रौर ससीम (पिण्डाण्ड) में मूलतः अन्तर नहीं है परन्तु ससीम का अस्तित्व कुछ पृथक ही रहता है, चाहे यह अस्तित्व भ्रमवश या माया के कारण ही हो, श्रौर जब भ्रम-माया का पर्दा बीच से उठ जाता है, ससीम असीम में मिलकर एकाकार हो जाता है। बूंद का समुद्र[2] के विशाल जल में समा जाना ससीम सत्ता (जीव, प्रकृति आदि) का उस असीम सत्ता ब्रह्म में समा जाने का प्रतीक है। पर केवल ब्रह्माण्ड (असीम सत्ता) में ही पिण्डाण्ड (ससीम सत्ता) नहीं समाता, उसके साथ-साथ पिण्डाण्ड भी ब्रह्माण्ड की विशालता का द्योतक है। तात्विक दृष्टि से एक-एक बूंद मिलकर ही इतना विशाल समुद्र बना है। समुद्र श्रौर बूंद के प्रतीक द्वारा कबीर ने ब्रह्माण्ड श्रौर पिण्डाण्ड का अन्योन्याश्रित अभेदत्व स्थापित किया है। मूल रूप से वही ब्रह्म खालिक श्रौर खलक में समाया हुआ है।[3] प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब आत्मा श्रौर परमात्मा एक हैं तो यह दीखने वाला द्वैत भाव क्यों? सन्तों का विश्वास है कि जीव श्रौर ब्रह्म के बीच माया ही व्यवधान पैदा करती है। माया के कारण ही ब्रह्म श्रौर जीव दो लगते हैं। मायाभिभूत जीव दिग्भ्रमित हो जाता है, सांसारिक प्रलोभनों के पीछे भागते-भागते कस्तूरी के मृग समान वह स्वयं के रूप को भी भूल जाता है; परन्तु ज्ञान के प्रकाश[4] में जब मायाजनित अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है तो जीव पुनः स्वात्मस्वरूप को पहचान अंशी ब्रह्म में लीन हो जाता है।[5] सन्त साहित्य में जीवात्मा को अनेक प्रतीकात्मक शब्दों द्वारा चित्रित किया गया है। इन प्रतीकों को हम निम्न प्रकार विभाजित कर सकते हैं—

१. चेतन प्रतीक
२. मानवेतर चेतन प्रतीक
३. मानवेतर अचेतन प्रतीक

---

१. जल मैं कुम्भ कुम्भ मैं जल है, बाहरि भीतरि पांनी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समांना यहु तत कथौ गियानी ॥ वही, पृ० १०३

२. बूंद समानीं समंद में···समंद समानां बूंद में···। वही, पृ० १७

३. खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई।
वही, पद ५१, पृ० १०४

खालिक खलक खलक में खालिक ऐसा अजब जहूरा है।
पलटू बानी ३, शब्द १२०, पृ० ६७

४. झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि। कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११

५. अंतरि कंवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहां होइ। वही, पृ० १३

(१) चेतन प्रतीक—सन्तों ने जीवात्मा को पूत[1], जोलाहा[2], पारथ,[3] जोगिया[4] रैयति,[5] महावत,[6] बजावनिहार,[7] घरनी,[8] तिरिया,[9] औरत,[10] बहुरिया,[11] नारि[12] सुन्दरी,[13]

---

१. पहिले जन्म पुत्र को भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत कै एकै नारी, ई अचरज को काछे।। कबीर बीजक, शब्द १, पृ० ३६
बाप पूत की एकै नारी, एकै माय बिआय।। वही, पृ० ४

२. भींगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई। वही, शब्द १५, पृ० ३८
अस जोलहा को मर्म न जाना, जिन्ह जग आनि पसारिन ताना।
वही, रमैनी २८ पृ० १३

३. रोहु मृगा संसय वन हाँकै, पारथ आना मेलै। वही, शब्द १९, पृ० ४०

४. जोगिया तन कौ तंत्र बजाई, ज्यूं तेरा आवागमन मिटाइ।
क० ग्र० २०८, पृ० १५९

५. राजा देस बड़ो परपंची, रइयति रहत उजारी।
कबीर बीजक, शब्द ५६, पृ० ५१

रैयत कौन कहावै घर घर हाकिम होय। पलटू बानी १, पृ० ४

६. महावत गयन्द मानै नहीं, चलै सुरति के साथ।
दीन महावत का करै, अंकुस नाही हाथ। कबीर बीजक

७. जंत्र बिचारा क्या करे गया बजावनहार।। कबीर बीजक, साखी, पृ० ११२

८. जाड़न मरै सफेदी सौरी, खसम न चीन्हें घरनि भै बौरी।
वही, रमैनी ७३, पृ० २८

९. एक न रोवै उनकी तिरिया, जिन्ह के सिखावनहार।।
कबीर शब्दा० ३, शब्द १२, पृ० २४

१०. औरत सोई सेज पर बैठा खसम हजूर। सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ८९

११. हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिहिया। क० ग्र० ११७, पृ० १२५
जागु बहुरिया पहिरु रंग सारी।
धनी धरमदास शब्दा०, मिश्रित का अंग ६, पृ० ६५

१२. गर्व गुमानि नारि फिरै जोबन की माती। पलटू बानी १, ४१, पृ० १८

१३. कबीर सुन्दरि यों कहै, सुणि हो कंत सुजाण।
जे सुन्दरि सांई भजै, तजै आन की आस।।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलकै सीस।।
क० ग्र०, सुन्दरि कौ अंग १, ३, ४, पृ० ८०-८१

आरतिवन्ती सुन्दरी पल पल चाहै पीव।
दादू सुन्दरि पीव तू, दूजा नाहीं और।
सुन्दरि मोहै पीव कौं बहुत भांति भर्तार।।
दादू बानी १, सुन्दरी को अंग २, ५, २६, पृ० २२५-२७

सजनी,[१] सुहागिन,[२] दुलहिन,[३] पतिव्रता,[४] विभिचारिणी,[५] जोरू,[६] धुबिया[७] घन[८] (स्त्री) आदि विविध चेतन प्रतीकों के माध्यम से चित्रित किया है।

(२) **मानवेतर चेतन प्रतीक**—हंस[९] जीवात्मा का प्रसिद्ध प्रतीक है। वैदिक परम्परा से गृहीत इस प्रतीक का सन्तों ने विविधेन वर्णन किया है। हंस के अति-

---

१. **सजनी रजनी घटती जाइ।** दादू बानी २, १३८, पृ० ५४
ज्ञान की चुनरी धुमल भई सजनी। धनी धरमदास बानी, पृ० ६३
सजनिया नेह न तोरो री। दादू बानी भाग २, पृ० १६६

२. **सोइ सुहागनि साच सिंगार, तन मन लाइ भजै भरतार।**
दादू बानी २, पृ० २६
सेज सुहागनि प्रीति प्रेम रस, दरसन नाहीं तोहि। वही २/७६ पृ० ३१
पलटू सोई सुहागिनी जियतै पिय को खाय। पलटू बानी १८१, पृ० ७६

३. **दुलहनीं गावहु मंगलचार।** क० ग्र०, पद १, पृ० ८७
दुलहिनि दुलहा ब्याहन आये, भये दोऊ एक ठौर हो।
धनी धरमदास बानी मंगल १७, पृ० ४६

४. **पतिव्रता नांगी रहै, तो उसही पुरिस कौं लाज।** क० ग्र० पृ० २०
पतिव्रता के एक है दूजा नहीं आन। दादू बानी, १, पृ० ६०

५. **अति आनंद बिभिचारिणी जाके खसम अनेक।** वही, १, पृ० ६०

६. **खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान।** पलटू बानी १/१८० पृ० ७५

७. **धुबिया फिर मर जाएगा, चादर लीजै धोय।** वही, १/७, पृ० ३

८. **धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ।**
क० ग्र०, परचा कौ अंग ३६, पृ० १५

९. **वैदिक परम्परा में हंस—**
हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षत्.........। कठ० २/२/२
नवद्वारे पुरे देहि हंसो लेलायते वहि:। श्वेताश्वतर ३/३/१८
एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्नि: सलिले सन्निविष्ट:। वही, ६/६/१५
वैदिक साहित्य में हंस अधिकांशत: परमात्मा के अर्थ में चित्रित हुआ है, पर सन्तों में इसका प्रयोग जीवात्मा के लिए ही हुआ है—
मानसरोवर सुभर जल हंसा केलि कराहिं।
हंस न बोवै चंच। क० ग्र०, पृ० १५/३५
हंस सरोवर तहं रमै सूभर हरि जल नीर। दादू बानी २/२४७, पृ० ६८
हंस चुगै न घोंघी......। पलटू बानी १/२४०, पृ० ६६
चलो हंसा सत लोक हमारे छांड़ो यह संसारा हो। धनीधरमदास बानी, पृ० ३८
काग गवन बुधि छांडि हंस का हंस कहावै।
पुरुष परे दरबार हंस होइ चलै अगारी। तुलसी बानी, अरियल ३, ४, पृ० २६
सांचा सतगुरु जो मिलै हंसा पीवै छीरा। गरीबदास बानी, पृ० ५८

रिक्त सन्तों ने चातक, चकवा-चकवी,[१] मीन,[२] सिंह,[३] पंछी,[४] सुआ,[५] करहा[६] (खरगोश) और भंवर[७] आदि से जीवात्मा का प्रतीकात्मक चित्रण किया है। इसमें हंस शुद्ध, बुद्ध आत्मा का; चातक, चकवा-चकवी आदि अनन्य प्रेम और विरहिन आत्मा का एवं सिंह निर्भीक आत्मा के प्रतीक स्वरूप हैं।

(३) **मानवेतर अचेतन प्रतीक**—मानवेतर अचेतन प्रतीकों के माध्यम से भी जीवात्मा को चित्रित करते हुए सन्तों ने उसे बूंद,[८] हिम,[९] चन्दन,[१०] चेतन हीरा[११] वस्तु,[१२] चरखा[१३] आदि कहा है।

---

१. पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम। क० ग्र०, पृ० ६
ज्यूं चातक जल बूंद कौं, करै पुकारि पुकारि ।। दादू बानी १, पृ० २४
सागर सलिल सब भरे, परि चातिक के नाहीं भाव।
रज्जब, संत सुधा सार, पृ० ५१७
चल चकवी वा देस कों जहां रैन ना होइ। क० शब्दा० २, पृ० ४७
चकोर भरोसे चन्द्र के, निगले तप्त अंगार। कबीर बीजक, साखी, पृ० ९२
२. कबीर थोरे जलि माछुलि झीवर मेलिओ जालु। संत कबीर, सलोकु ४९
दादू तलफै मीन ज्यूं, तुझ दया न आवै। दादू बानी १, पृ० २८
३. सिंह अकेला बन रमैं……। कबीर बीजक, साखी, पृ० ११४
नित उठि स्याल स्यंघ सू झूझै……। क० ग्र०, पद ८०, पृ० ११३
सिंहहि खाय अघानो स्याल। सुन्दर विलास, विपर्जय को अंग ३, पृ० ८७
४. पंषि उडाणी गगन कूं प्यंड रह्या परदेस। क० ग्र० पृ० १४
दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी पौन। कबीर बीजक, साखी, पृ० ११०
५. सुवटा डरपत रहु मेरे भाई। क० ग्र० पद ९७, पृ० ११९
हरि बोल सुआ बारबार। वही, पद ३८१, पृ० २१४
६. करहा पड़िगा गाढ़ में दूरि परा पछिताए। क० बीजक, पृ० ९२
वैदन करहा कासों कहै, को करहा को जान। वही, पृ० ९२
७. कबीर मन मधुकर भया, रह्या निरन्तर बास। क० ग्र०, पृ० १३
८. बूंद समांनी समद में…समद समांना बूंद में…।
वही, लाबि कौ अंग ३/४ पृ० १७
९. पाणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
वही, परचा कौ अंग १७, पृ० १३
१०. चन्दन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराय।
बीजक साखी, पृ० ९२ (सर्प=माया, चन्दन=जीवात्मा।)
चन्दन की चाह करि सर्प अकुलात है। सुन्दरदास, सन्त सुधा सार, पृ० ५७८
११. चेतनि हीरा चलि गयौ, भयौ अंधेरा धूप।
वही, देहात्मा बिछोह को अंग, पृ० ६४१
१२. पुरिया जरै वस्तु निज उबरे विकल रांम रंग तेरा। बीजक, शब्द ५८, पृ० ५२
१३. जो चरखा जरि जाय, बढ़ैया ना मरै। वही, शब्द ६८, पृ० ५५

माया

जीव और ब्रह्म में अभेद है, दोनों की सत्ता एक है पर माया दोनों (आत्मा और परमात्मा) के बीच अन्तर डालकर पृथक प्रतीति कराने वाली शक्ति है। माया की शक्ति त्रिगुणात्मक है, यही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। अद्वैतवाद के अनुसार माया तीन शक्तियों का पुंज है। ये तीन शक्तियाँ—आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति और मल शक्ति हैं। आवरण शक्ति के कारण वस्तु का जैसा स्वरूप रहता है, वह नहीं दिखाई देता और उस पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है; विक्षेप शक्ति के कारण उसके स्थान पर दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है और मल शक्ति के कारण मनुष्य उस दूसरी वस्तु का उपयोग करने लगता है।[1]

माया ब्रह्म की शक्ति के रूप में है। ब्रह्म में वह उसी प्रकार समाई हुई है जिस प्रकार अग्नि में उसकी दाहिका शक्ति। इस माया के दो भेद हैं, विद्या माया और अविद्या माया। विद्या माया संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कार्य करती है, अविद्या माया दुखरूपा है, नियति का चक्र है। उपनिषद् के अनुसार विद्या और अविद्या (स्वरूप माया) को सम्यक् प्रकार जानकर मनुष्य मृत्यु को पारकर अमृत को भोगता है।[2] पर अविद्या ग्रस्त संसारी चेतन जीव, इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के विषयों का आनन्द लेता हुआ उस अवस्था में पहुँच जाता है कि वह अपने उद्गम आत्मतत्व को विस्तृत कर इस शरीर के सुख दुख को ही आत्मा का सुख दुख मानने लगता है, परमात्मा से उसका सम्बन्ध सूत्र (स्मृति) टूट सा जाता है, इस प्रकार संसार और उसके नाना आकर्षणों में आसक्त जीव काल पाश में आबद्ध होकर आवागमन के चक्र में पड़ा दुख भोगता रहता है, ज्ञान के उदय होने पर यह बन्धन टूट जाता है, आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहचान कर उस परमतत्व में लय होने को अग्रसर हो जाती है। पर माया का जाल बहुत विस्तृत और बहुरंगी है। जीव सप्रयास एक बन्धन को तोड़ता है तो दूसरा आकर्षण उसके सामने उपस्थित हो जाता है। जीव जब तक वास्तविकता समझे, माया और कोई रूप धारण कर उपस्थित हो जाती है। इस माया 'बेलि' को जितना काटा जाता है उतनी ही यह फलती फूलती है पर (ज्ञान-वारि से) सींचने से यह कुम्हला जाती है—

जे काटौ तौं डहडही, सींचौं तौ कुमिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुंण कह्या न जाइ॥[3]

फिर यह बेलि है भी बड़ी विचित्र—आगे-आगे इसमें आग लगी हुई है परन्तु पीछे से हरियाली छाई हुई है, जड़ काटने पर भी फल देती है—

आगैं-आगैं दौ जलै, पीछैं हरिया होइ॥
बलिहारी ता बिरष की, जड़ कांट्यां फल होइ॥[4]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६४३-४४
२. ईशावास्योपनिषद्, मंत्र ११
३. कबीर ग्रन्थावली बेली कौ अंग ३
४. वही, बेली कौ अंग २

सन्तों ने माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में ही ग्रहण किया है पर उन्होंने इसके अविद्यात्मक रूप का ही वर्णन अधिक किया है क्योंकि यही अविद्या माया जीव और ब्रह्म के मिलन में बाधक है। यही नाना जाल पसारकर जीव को भ्रमित किए रहती है। इसलिए सन्तों ने माया को प्रायः हेय वस्तुओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त किया है। माया के चित्रण में सन्तों के चेतन अथवा अवचेतन मस्तिष्क में दबी घृणात्मक वृत्तियों की खुलकर अभिव्यक्ति हुई है। वह कहीं नटिनी है तो कहीं डाइन, चोरटी, सर्पिणी, ठगिनी आदि है। हां एकाध स्थल पर सन्तों ने माया को कामधेनु एवं बहिन के रूप में भी चित्रित किया है, परन्तु भावना यहाँ भी तिरस्कारपूर्ण है।

सन्तों ने माया को अनेक प्रतीक रूपों द्वारा चित्रित किया है, हम उन प्रतीकों को प्रमुखतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. मानवीय चेतन प्रतीक
२. मानवेतर चेतन प्रतीक
३. मानवेतर अचेतन प्रतीक

(१) **मानवीय चेतन प्रतीक**—सन्तों ने माया को मानवीय चेतन प्रतीकों के माध्यम से दो रूपों में चित्रित किया है—एक तो सांसारिक दृष्टि से समादृत कामिनी-नारी[१], बहन[२]-कन्या,[३] महतारी[४] और सुहागिन[५]

---

१. **नारी कुंड नरक का···।······कांमणि काली नागणी···।**
क० ग्र० पृ० ३९, ४०
नारी घोंटी अमल की अमली सब संसार। मलूकदास बानी, साखी ७४
नारी नागणि जे डसे ते नर मुए निदान।
कामणि कटारी कर गहै मारी पुरिष कूं खाइ।
दादूबानी १, माया को अंग १६०, ७१
संतो नारि सकल जग लूटा···। गुलाल बानी, मन माया को अंग २, पृ० १७
नारी विष की बेली। सुन्दर विलास, पृ० ५१
२. **तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनां, विष लागैं तुम्हारे नैंना।** क० ग्र० पद २७०
३. **पिता के संगहि भई बावरी, कन्या रहलि कुंवारी।** बीजक, शब्द ६
सबहीं परवली भोग कियो है, अजहूं कन्या क्वारी। गुलाल बानी, पृ० १७, १८
४. **संतो अचरज एक भों भारी, पुत्र धरल महतारी।** बीजक, शब्द ६
जननी ह्वै के सब जग पाला···जोय होइ जग खाई। गुलाल बानी, पृ० १८
५. दाम्पत्य भाव के चित्रण में सुहागन और दुलहिन ब्रह्मोन्मुख आत्मा का प्रतीक है, पर माया के रूप में वह सबकी पत्नी, प्यारी तथा वैश्या है—
एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंतु की नारी।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरे होवै।
क० ग्र० पद ३७०
बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार। पलटू बानी १, पृ० १७

माया

जीव और ब्रह्म में अभेद है, दोनों की सत्ता एक है पर माया दोनों (आत्मा और परमात्मा) के बीच अन्तर डालकर पृथक प्रतीति कराने वाली शक्ति है। माया की शक्ति त्रिगुणात्मक है, यही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। अद्वैतवाद के अनुसार माया तीन शक्तियों का पुंज है। ये तीन शक्तियाँ—आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति और मल शक्ति हैं। आवरण शक्ति के कारण वस्तु का जैसा स्वरूप रहता है, वह नहीं दिखाई देता और उस पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है; विक्षेप शक्ति के कारण उसके स्थान पर दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है और मल शक्ति के कारण मनुष्य उस दूसरी वस्तु का उपयोग करने लगता है।[1]

माया ब्रह्म की शक्ति के रूप में है। ब्रह्म में वह उसी प्रकार समाई हुई है जिस प्रकार अग्नि में उसकी दाहिका शक्ति। इस माया के दो भेद हैं, विद्या माया और अविद्या माया। विद्या माया संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कार्य करती है, अविद्या माया दुखरूपा है, नियति का चक्र है। उपनिषद् के अनुसार विद्या और अविद्या (स्वरूप माया) को सम्यक् प्रकार जानकर मनुष्य मृत्यु को पारकर अमृत को भोगता है।[2] पर अविद्या ग्रस्त संसारी चेतन जीव, इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न प्रकार के विषयों का आनन्द लेता हुआ उस अवस्था में पहुँच जाता है कि वह अपने उद्गम आत्मतत्व को विस्तृत कर इस शरीर के सुख दुख को ही आत्मा का सुख दुख मानने लगता है, परमात्मा से उसका सम्बन्ध सूत्र (स्मृति) टूट सा जाता है, इस प्रकार संसार और उसके नाना आकर्षणों में आसक्त जीव काल पाश में आबद्ध होकर आवागमन के चक्र में पड़ा दुख भोगता रहता है, ज्ञान के उदय होने पर यह बन्धन टूट जाता है, आत्मा अपने सच्चे स्वरूप को पहचान कर उस परमतत्व में लय होने को अग्रसर हो जाती है। पर माया का जाल बहुत विस्तृत और बहुरंगी है। जीव सप्रयास एक बन्धन को तोड़ता है तो दूसरा आकर्षण उसके सामने उपस्थित हो जाता है। जीव जब तक वास्तविकता समझे, माया और कोई रूप धारण कर उपस्थित हो जाती है। इस माया 'बेलि' को जितना काटा जाता है उतनी ही यह फलती फूलती है पर (ज्ञान-वारि से) सींचने से यह कुम्हला जाती है—

जे काटौ तौं डहडही, सीचौं तौ कुमिलाइ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुंण कह्या न जाइ॥[3]

फिर यह बेलि है भी बड़ी विचित्र—आगे-आगे इसमें आग लगी हुई है परन्तु पीछे से हरियाली छाई हुई है, जड़ काटने पर भी फल देती है—

आगैं-आगैं दौ जलै, पीछें हरिया होइ॥
बलिहारी ता विरष की, जड़ कांट्यां फल होइ॥[4]

---

१. **हिन्दी साहित्य कोश**, पृ० ६४३-४४
२. **ईशावास्योपनिषद्, मंत्र** ११
३. **कबीर ग्रन्थावली** बेली कौ अंग ३
४. वही, बेली कौ अंग २

सन्तों ने माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में ही ग्रहण किया है पर उन्होंने इसके अविद्यात्मक रूप का ही वर्णन अधिक किया है क्योंकि यही अविद्या माया जीव और ब्रह्म के मिलन में बाधक है। यही नाना जाल पसारकर जीव को भ्रमित किए रहती है। इसलिए सन्तों ने माया को प्रायः हेय वस्तुओं के माध्यम से ही अभिव्यक्त किया है। माया के चित्रण में सन्तों के चेतन अथवा अवचेतन मस्तिष्क में दबी घृणात्मक वृत्तियों की खुलकर अभिव्यक्ति हुई है। वह कहीं नटिनी है तो कहीं डाइन, चोरटी, सर्पिणी, ठगिनी आदि है। हां एकाध स्थल पर सन्तों ने माया को कामधेनु एवं बहिन के रूप में भी चित्रित किया है, परन्तु भावना यहाँ भी तिरस्कारपूर्ण है।

सन्तों ने माया को अनेक प्रतीक रूपों द्वारा चित्रित किया है, हम उन प्रतीकों को प्रमुखतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. मानवीय चेतन प्रतीक
२. मानवेतर चेतन प्रतीक
३. मानवेतर अचेतन प्रतीक

(१) **मानवीय चेतन प्रतीक**—सन्तों ने माया को मानवीय चेतन प्रतीकों के माध्यम से दो रूपों में चित्रित किया है—एक तो सांसारिक दृष्टि से समादृत कामिनी-नारी[1], बहन[2]-कन्या,[3] महतारी[4] और सुहागिन[5]

---

१. **नारी कुंड नरक का···।······कांमणि काली नागणी···।**
क० ग्र० पृ० ३९, ४०

नारी घोंटी अमल की अमली सब संसार। मलूकदास बानो, साखी ७४
नारी नागणि जे डसे ते नर मुए निदान।
कामणि कटारी कर गहै मारी पुरिष कूं खाइ।
दादूबानी १, माया को अंग १६०, ७१

संतो नारि सकल जग लूटा···। गुलाल बानी, मन माया को अंग २, पृ० १७
नारी विष की बेली। सुन्दर विलास, पृ० ५१

२. **तुम्ह घरि जाहु हंमारी बहनां, विष लागैं तुम्हारै नैंना।** क० ग्र० पद २७०
३. **पिता के संगहि भई बावरी, कन्या रहलि कुंवारी।** बीजक, शब्द ६
सबहीं परवली भोग कियो है, अजहूं कन्या क्वारी। गुलाल बानी, पृ० १७, १८
४. **संतो अचरज एक मों भारी, पुत्र धरल महतारी।** बीजक, शब्द ६
जननी ह्वै के सब जग पाला···जोय होइ जग खाई। गुलाल बानी, पृ० १८
५. दाम्पत्य भाव के चित्रण में सुहागन और दुलहिन ब्रह्मोन्मुख आत्मा का प्रतीक है, पर माया के रूप में वह सबकी पत्नी, प्यारी तथा वैश्या है—

एक सुहागिन जगत पियारी, सकल जीव जंतु की नारी।
खसम मरै वा नारि न रोवै, उस रखवाला औरे होवै।
क० ग्र० पद ३७०

बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार। पलटू बानी १, पृ० १७

दुलहिन[1] रूप में और दूसरे हेय या घृणित रूप में, यथा—डाइन,[2] ठगिनी,[3] नटणी,[4] नकटी,[5] चोरटी,[6] डाकिनी[7] आदि। जन सामान्य की दृष्टि से समादृत रूप भी सन्तों के लिए हेय है क्योंकि वह भी मनुष्य की आत्मिक उन्नति में बाधक होती है। ठगिनी और चोरटी रूप में वह मनुष्य की सद्वृत्तियों को चुराकर बाजार में बेच आती है, इसके फन्दे से कोई बच नहीं पाता, सन्तों के पास यह माया नहीं आती।

(२)**मानवेतर चेतन प्रतीक**—सन्तों ने माया को सर्पिणी,[8] कामधेनु,[9] गाय,[10] कीड़ी,[11] बिलाई[12] आदि प्रतीकों द्वारा चित्रित कर मानसिक घृणा का ही खुलकर प्रदर्शन

---

१. **दुलहिन लीपि चौक बैठारे, निरभय पद परमाता।** कबीर बीजक, शब्द २५

२. **इक डांइनि मेरे मन मैं बसै रे,···या डांइन्य के लरिका पांच रे।**
क० ग्र०, पद २३६
यहां स्पष्ट ही डाइन=माया, पाँच लरिका=पंचेन्द्रिय, तथा काम क्रोध, मद, लोभ, मोह के प्रतीक हैं।
यह माया जस डाइनी, हरहि लेति है प्रान। बुल्ला शब्दसागर, पृ० २९

३. **माया महाठगिनी हम जानी।** कबीर बीजक, शब्द ५६
माया ठगिनी जग बौराई। पलटू बानी ३, पद १३५, पृ० ७५-७६

४. **माया बहुरूपी नटणी नाचै, सुर नर मुनि कूं मोहै॥** दादू बानी १, पृ० १२४

५. **सगल माहि नकटी का बासा सगल मारि अउहेरी।**
संत कबीर, रागु आसा ४, पृ० ९४

६. **कबीर माया चोरटी, मुसि मुसि लावै हाटि।** सन्त कबीर, सलोकु २०

७. **कबीर माया डाकिणीं सब किसही कौं खाइ॥** क० ग्र, पृ० ३४

८. **चन्दन सर्प लपेटिया, चन्दन काह कराए।** कबीर बीजक, साखी, पृ ९२
सांपणि इक सब जीव कौं आगे पीछे खाइ।
दादू खाये सांपणी, क्यों करि जीवैं लोग॥ दादू बानी १, पृ० ११६/२४
सरपनी ते ऊपरि नहीं बलिआ···। मारु मारु स्रपनी निरमल जलि पैठीं।
संत कबीर, रागु आसा, १९

९. **अवधू कामधेनु गहि राखो।**
बसि कीन्हीं तब अमृत सरवै, आगैं चारि न नाखो।
भूखी भलैं दूध नित दूणां, यौं या धेनु दुहावै॥ दादू बानी २, पद ७४

१०. **भाई रे गइया एक बिरंचि दियो है, भार अमर भौ भाई।**
एतिक गइया खाय बढ़ायो, गइया तहुं न अघाई।
पुर तामें रहत है गइया, स्वेत सींग है भाई। कबीर बीजक, शब्द २८

११. **कीड़ी ये हस्ती बिडार्‌यो···।** दादू बानी २, पद २१३

१२. **मूस बिलारी एक संग कहु कैसे रहि जाय।** बीजक, रमैनी १२
बिल्ली का दुख दहै जोर, मारे पिंजरा तोर तोर।
दरिया (मारवाड़) बानी, पृ० ३९

किया है। कामधेनु तथा गाय सामान्य रूप से आदरणीय हैं, पर मायारूप कामधेनु के सारे कार्य लोक विपरीत हैं; चारा न मिलने पर यह अमृत स्रवित करती है, भूखा रहने पर यह दूध भी अधिक और सुस्वादु देती है, पालन पोषण से तो यह भयंकर रूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार गाय (माया) भक्ष्याभक्ष्य खाती हुई संसार को नचा रही है, निरन्तर पोषण पाकर यह दुर्दमनीय हो गई है। सर्पिणी रूप में यह माया आगे पीछे सभी जीवों को डस रही है।

(३) **मानवेतर अचेतन प्रतीक**—सन्तों ने माया के स्वरूप-स्वभाव को अभिव्यक्त करने के लिए कुछ प्रतीक जड़ प्रकृति से भी ग्रहण किए हैं। माया अपने पाश में संसार को जकड़ लेती है, जेवड़ी[१] की पकड़ भी इतनी दृढ़ होती है कि नर उससे आसानी से मुक्त नहीं हो सकता। जेवड़ी भी माया के समान त्रिगुणात्मक है—गुण साम्य के आधार पर सन्तों ने जेवड़ी एवं 'बेल' प्रतीक ग्रहण किया है। यह बेल सदासद् वृत्तियों से युक्त है, एक ओर तो यह 'आंगणि बेलि' है जो आतप से रक्षा करती है तो दूसरी ओर अनव्याई गाय का दूध, ससा सींग तथा बाँझ का पूत है।[२] पर 'कडई बेलड़ी[३] के रूप में इसका फल भी कड़वा होता है। विचित्र बेलड़ी काटने पर बढ़ती है पर (प्रभु भक्ति रूपी जल से) सींचने पर मुरझा जाती है।[४] यह ढीट बेल जरा सा आधार पाकर वृक्ष (मानव-जीव) को सम्पूर्णतः आवृत कर लेती है।[५] कबीर ने जिस बेल को माया का प्रतीक माना है, दादू ने उसी को आतमा का प्रतीक मानकर प्रेम जल से सींचकर अमृत फल की कामना की है।[६]

इस प्रकार सन्तों ने माया को विविध प्रतीकों के माध्यम से चित्रित किया है, जिसमें माया का अविद्यात्मक रूप ही अधिक उभर कर आया है। वह 'रमैया की दुलहिन' बनकर भी बाजार (संसार) को लूटती है, रघुनाथ की माया होकर भी यह खेल खेल में सबको मार देती है—

तू माया रघुनाथ की, खेंतण चढ़ी अहेड़ै।
चतुर चिकोर चुणि चुणि मारै, कोई न छोड्या नेड़ै ।।[७]

---

१. **एक जेबड़ी सब लपटानें, के बांधे के छूटे :** क० ग्र०, पद १७५, पृ० १४७
२. **आंगणि बेलि अकासि फल, अण व्यावर का दूध।**
ससा सींग की धूनहड़ी रमें बाँझ का पूत। वही पृ० ८६
३. **कबीर कड़ई बेलड़ी, कड़वा ही फल होइ।** वही, पृ० ८६
४. **जे काटौं तो डहडही, सींचौं तो कुमिलाइ।** वही, पृ० ८६
५. **बाड़ि चढ़ति बेलि ज्यूं, उलझी आसा फंध।**
तूटै पणि छूटै नहीं, भइ ज बाचा बंध ।। वही, पृ० ३४
६. **दादू बेली आतमा, सहज फूल फल होइ।**
हरि तरवर तत आतमा, बेली करि बिस्तार।
दादू लागै अमर फल, कोइ साधू सींचणहार ।। दादू बानी १, पृ० २४३
७. **कबीर ग्रन्थावली,** पद १८७, पृ० १५१

जगत

जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विलय के सम्बन्ध में भी सन्त अद्वैतवादी विचारधारा से विशेष रूप से प्रभावित हैं। वैसे तीन गुण (सत्व, रज, तम), पांच तत्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) और पच्चीस प्रकृति (तीन गुण, पांच तत्वों के अतिरिक्त पंच तन्मात्राएं—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, इनका ज्ञान कराने वाली पंचेन्द्रियाँ, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, महत्तत्व, पुरुष तथा प्रकृति) का तीन, पांच, पच्चीस की संख्या का प्रतीकात्मक प्रयोग सांख्य शास्त्र के प्रभाव का भी द्योतक है। शंकर के अनुसार यह जगत किसी चेतन पदार्थ से आविर्भूत हुआ है। अचेतन वस्तु इस जगत को उत्पन्न करने में नितान्त असमर्थ है। चेतन तथा अचेतन (ईश्वर तथा प्रकृति) के परस्पर संयोग से जगत की उत्पत्ति मानना भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि यह जगत् न तो अचेतन प्रकृति का परिणाम है और न अचेतन परमाणुओं के संयोग का फल है। वास्तव में इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से होती है। माया विशिष्ट ब्रह्म ही इस जगत की उत्पत्ति में उपादान कारण है और निमित्ति कारण भी। जगत की उत्पत्ति में ब्रह्म की स्थिति एक जादूगर जैसी है जो अपनी माया शक्ति से विचित्र सृष्टि उत्पन्न करता है और पुनः उसे समेट भी लेता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म भी इस विचित्र सृष्टि का प्रसार करता है और पुनः उसे समेट भी लेता है। उपनिषद् में इसको मकड़ी के रूपक से बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। मकड़ी जिस प्रकार जाले का उपादान और निमित्त कारण है, मकड़ी अपने उदर से ही जाले के सूक्ष्म तन्तुओं का निर्माण करती है और समेट लेती है उसी प्रकार वह ब्रह्म इस जगत का उपादान और निमित्त कारण भी है।[1] अद्वैतवादी इस विचारधारा के अनुसार ब्रह्म ही इस जगत का मूल अधिष्ठान है, जगत मिथ्या है। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इसी सिद्धान्त के पोषक हैं। आचार्य शंकर के मतानुसार 'ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक है परन्तु जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। जब तक हम जगत में रहकर उसके कार्यों में लीन हैं, ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए हैं, तब तक इस जगत की सत्ता हमारे लिए बनी ही रहेगी परन्तु ज्योंही परमतत्व का ज्ञान हमें सम्पन्न हो जाता है त्यों ही जगत की सत्ता मिट जाती है। उस समय ब्रह्म ही एक सत्ता के रूप में प्रकट हो जाता है।[2] अलक्ष्य ब्रह्म ही मायाविष्ट जनों को लक्ष्य जगत के रूप में दिखाई पड़ता है। जगत का जो व्यक्त रूप हमें बाह्य नेत्रों से दीख पड़ता है वह सत्य नहीं है, भ्रमवश ही ऐसा दिखाई पड़ता है। शंकराद्वैत के अध्यासवाद का सिद्धान्त भी यही है, सीप में रजत का भ्रम और रज्जू में सर्प का भ्रम होना अध्यास है। विवर्तवाद तथा प्रतिबिम्बवाद भी अद्वैतवाद के महत्वपूर्ण सिद्धान्त हैं जिनका सन्तों की जगत सम्बन्धी विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। 'मूल वस्तु में बिना परिवर्तन

---

१. **यस्तन्तुनाम इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्। सनो दधाद्ब्रह्माप्ययम्।" श्वे० ६/१०**

२. **बलदेव उपाध्याय**—श्री शंकराचार्य, पृ० २५६

हुए ही जब बाह्य स्वरूप परिवर्तित हो जाए तब उस परिवर्तन को विवर्त परिणाम ही कहेंगे। कनक-कुण्डल, जल-तरंग, क्षीर और दधि आदि विवर्तवाद के ही उदाहरण हैं। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार संसार ब्रह्म का प्रतिनिधि है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब केवल दृष्टिग्राह्य ही होता है, सत्य नहीं होता, उसी प्रकार यह संसार भी सत्य नहीं हैं।'[1]

सन्त साहित्य में अध्यासवाद, विवर्तवाद और प्रतिबिम्बवाद के स्पष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। सन्तों ने सृष्टि का मूल उत्पादन कारण ब्रह्म को ही माना है, अन्य जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वह, सुन्दरदस के शब्दों में—

मृत्तिका समाई रही, भाजन के रूप माँहि।
मृत्तिका को नाम मिटि भाजनहिं गह्यो है।
कनक समाई ज्यूं ही, होइ रह्यो आभूषण,
कनक कहै न कोई, आभूषण कह्यो है।
बीजहू समाइ करि, वृच्छ होइ रह्यो पुनि,
वृच्छ ही कूं देखियत बीज नहिं लह्यो है।
सुन्दर कहत यह, यूं ही करि जान्यो सब,
ब्रह्म ही जगत होइ, ब्रह्म दूरि रह्यो है।[2]

व्यक्ति पर भ्रम का आवरण जब तक छाया रहता है तभी तक उसे संसार सत्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु ज्ञान के मर्मभेदी प्रकाश से भ्रम-अज्ञान का पर्दा उठते ही परमतत्व का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है।[3] अज्ञान के कारण ही उस समस्त सृष्टि के पीछे छिपे ब्रह्म को कोई नहीं देखता, रात की अंधियारी में जेवरी को साँप मानकर व्यक्ति व्यर्थ ही दुख पाता है।[4] अद्वैत का वर्णन करते हुए सुन्दर दास कहते हैं कि जिस प्रकार समुद्र और उसमें उठने वाली विविध तरंगों को पृथक सत्ता के रूप में नहीं देखा जा सकता, उसी प्रकार ब्रह्म अखंडित रूप से विद्यमान है,[5] वस्तुतः विचार करने पर सब एक ही वृक्ष में बीज, बीज में वृक्ष, बाप से पुत्र, पुत्र से बाप, ताना-बाना से सूत और सूत से ताना-बाना पृथक नहीं है, एक ही है, क्योंकि सब चेतन स्वरूप हैं।[6] ज्ञान होने पर व्यक्ति का द्वैत जनित भ्रम नष्ट हो जाता है

१. डा० गोविन्द त्रिगुणायत—कबीर की विचारधारा, पृ० २५६-५७
२. सुन्दर विलास, जगन्मिथ्या को अंग ४, पृ० १२३
३. **जैसे एक आरसी सदा ही हाथ माँहि रहै**
सुमुख न देखै फेर, फेर देखै पृष्टि कूं।
× × ×
ब्रह्म कूं न देखै कोउ देखै सब सृष्टि कूं। सुन्दर विलास, पृ० १२२
४. **जेवरी को सांप मानि, सीप विषे रूपो जानि**
और को औरहि देखि, यूं ही भ्रम कर्यो है। वही, पृ० १२३
५. **सुन्दर विलास, अद्वैत ज्ञान को अंग ५, पृ० १२५**
६. वही, ६, ७/१२५

और उसे उस ब्रह्म की अखण्ड सत्ता का स्पष्ट आभास हो जाता है, जगत् का मिथ्यात्व उस पर प्रकट हो जाता है। तरंग, फेन, बुदबुदा आदि रूपों में प्रतिभासित जल तत्व मूलतः सबमें विद्यमान रहता है। वेद, पुराण और महापुरुषों का भी यही सिद्धान्त है कि ब्रह्म सत्य है,[१] उसी ने इस जगत् की सृष्टि की है और सभी स्थानों पर आप ही में आप व्याप्त हो रहा है।[२] उसी ब्रह्म से ही पुरुष प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, सत, रज, तम, महाभूत आदि उत्पन्न हुए हैं।[३]

सन्त कबीर के अनुसार व्यक्ति स्वयं को ही माया के मिथ्या के आवरण में छिपाकर भूला हुआ है, माया, मोह, धन, यौवन आदि के झूठे बन्धनों में पड़कर उस अलख को नहीं देख पाता, पर जब जीव समझ जाता है कि यह संसार तो स्वप्नवत् है[४], पुरइन के पत्ते के समान जहां उत्पन्न होता है वहीं नष्ट भी हो जाता है।[५] संसार के मिथ्यात्व के प्रति सचेत करते हुए कबीर मनुष्य को ठीक रास्ते पर चलने का उपदेश देते हैं, अन्यथा यह संसार एक ऐसा धक्का देगा कि सब कुछ ही विनष्ट हो जाएगा, काल रूपी बिल्ली सभी को खा जाएगी।[६] इस प्रकार यत्किंचित सांख्य दर्शन से प्रभावित होते हुए भी सन्तों का जगत् वर्णन अद्वैतवाद से ही अनुप्राणित है। ब्रह्म और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए सन्तों[७] ने जल-हिम, कनक-कुण्डल, जल-तरंग और मिट्टी-कुम्भ आदि विविध उदाहरण दिए हैं।

सन्त कवियों ने संसार की क्षण भंगुरता का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। यह संसार चार दिन की चाँदनी है। हाट है, जो सुबह लगती है और शाम होते-होते उठ जाती है, इस हाट में सब अपना सामान उतारते हैं—'आनि कबीरा हाट उतारा'।[८] यह तो सेमल का फूल है,[९] ऊपर से जितना सुन्दर और आकर्षक लगता है भीतर से उतना ही सारहीन है। इस अस्थिरता पर विश्वास करना अपने को धोखे में ही डालना मात्र है। टेसू का फूल चार दिन ही फूलता है।[१०] इस असार संसार

---

१. वही, १४/१२७
२. वही, २४/१३१
३. वही, सांख्यज्ञान को अंग, ७/११०
४. **समझि बिचारि जीव जब देखा, यह संसार सुपन करि लेखा।**
कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृ० २२९/३४
५. **जह उपजै बिनसै तही जैसे पुरिवन पाता।**
संत कबीर, रागु बिलावल १०, पृ० १६१
६. **मानसु बपुरा मूसा कीनो मीचु बिलईआ खई है रे।** वही, १/१५२
७. कबीर ग्रन्थावली पृ० १३, १०३, १३७, भीखाबानी पृ० ५४, सुन्दर विलास, पृ० १२३
८. **कबीर ग्रन्थावली**, पद ११३, पृ० १२४
९. **यहु ऐसा संसार है जैसा सैंबल फूल।** वही, चितावणी कौ अंग. १३/२१
१०. **टेसू फूले दिवस चारि, खंखर भये पलास॥** वही, ८/२१

में दस दिन अपनी नौबत बजालो, फिर ये पुर, पटन, गली देखने को नहीं मिलेंगी।[1] दुख के भांडे इस दुनियां[2] को सुख का घर समझना मूर्खता ही है। सुख का सागर तो बस राम नाम ही है।[3] दुखाग्नि से जलते इस संसार से भला कौन बच सकता है ? दादू को तो संसार की इस असारता को देखकर ही अफसोस होता है।[4] पर माया ग्रस्त संसारी जीव को इस संसार से जाने का दुख ही होता है।[5] इस प्रकार सन्तों ने अद्वैतवादी दर्शन के आधार पर संसार का प्रतीकात्मक चित्रण किया है उसमें उसकी असारता और नश्वरता पर विशेष जोर देते हुए उस परमतत्व की ओर उन्मुख होने का उपदेश दिया है।

(ग) साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक प्रतीक)

धर्म प्रधान इस देश में 'योग' शब्द का बहुत प्राचीनकाल से महत्व रहा है। वेदों और उपनिषदों में 'योग' की स्थान-स्थान पर चर्चा की गई है। "युजिर् योगे" इस धातु के आगे 'कर्तरिघञ्' प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न होने वाले 'योग' शब्द का अर्थ है मेल और 'करणे घञ्' लगाने पर इसका अर्थ मिलाने वाला होता है। अर्थात् नरनारायण संयोग रूपी लक्ष्य भी 'योग' शब्द का अर्थ है और उन दोनों को एक करने वाली साधन सामग्री का नाम भी 'योग' है। क्रियात्मक दृष्टि से रूढ़ि में तो साधन का नाम ही 'योग' है।[6] श्री गंगेश्वरानन्द जी के अनुसार 'योग' शब्द 'युज् समाधौ' धातु से घञ् प्रत्यय होकर बना है अतएव उसका अर्थ संयोग न होकर समाधि ही हुआ।[7] पण्डित प्रवर श्री पंचानन जी के मतानुसार 'युज्' का अर्थ क्रमशः संयोग और संयमन है।[8] स्वामी शिवानन्द सरस्वती ने कहा है कि 'योग का आध्यात्मिक अर्थ है, वह साधन सरणि जिसके द्वारा योगी को जीवात्मा और परमात्मा के साथ ज्ञानपूर्वक संयोग होता है।...योग वह आध्यात्मिक विद्या है जो जीवात्मा का परमात्मा के साथ संयोग कराने की प्रक्रिया बतलाती है। योग वह परमार्थ विद्या है जो जीव को इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपंच के जंजाल से मुक्त कर अखण्ड आनन्द, परम

---

१. **कबीर नौबत आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।**
ए पुर पाटन ए गली, बहुरि न देखै आइ॥ वही, १/२०

२. वही, ४७/२५

३. **दुख दरिया संसार है, सुख का सागर राम।**
दादू बानी १, चितावणी को अंग १६/९५

४. वही, काल को अंग ४२, ५१/२०७

५. **अहेडी दौ लाइआ, मृग पुकारे रोइ।**
जा वन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ। कबीर ग्रन्थावली पृ० १२

६. कल्याण, योगांक पृ० ७

७. वही, पृ० ८२

८. वही, पृ० ३५८

शान्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त जीवन आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त परमात्मा के साथ उसका संयोग करा देती है।[1] अमरकोश[2] में योग के विभिन्न अर्थों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है 'योगः सन्नहनोपायध्यानसंगति युक्तिषु', अर्थात् सन्नहन=कवच, हथियार आदि धारण कर तैयार होने; उपाय=वैद्यक के नुस्खे=योग, ध्यान=विशेष प्रकार का नाम योग, संगति=दो विशेष वस्तुओं का मिलना और युक्तिषु=उपाय का नाम योग है।'

श्री पातंजल योग दर्शन[3] में 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः" कहकर योग की परिभाषा की है। वास्तव में योग चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, चित्त-वृत्तियों के निरोध से उसका सम्बन्ध अनिवार्य है। साधारणतः चित्तवृत्तियां प्रतिपल परिवर्तित होती रहती हैं। परन्तु समाधि की अवस्था में चित्तवृत्ति एकाकार हो जाती है। प्रायः देखा जाता है कि मन इन्द्रियों द्वारा बहिर्मुख होकर नाना प्रकार के विषयों में आसक्त रहता है और यदि मन को इन्द्रियों से खींचकर रोक भी लिया जाए तो मानव की अन्तःकरण की वृत्तियां प्रायः चंचल रहती हैं। जैसे अंधेरे कमरे में आँख बंद किए साधक का मन कमरे की चार दीवारी से परे के जगत् में स्वच्छंद विचरण किया करता है। स्वप्न में भी चित्त की वृत्तियाँ विविध प्रसंगों में उलझी रहती हैं। योग का मुख्य ध्येय इन बाह्य एवं आन्तरिक चित्तवृत्तियों का निरोध कर उन्हें ईश्वराभिमुख करना है।

भारतीय शास्त्रों में 'योग' को अनेक अर्थों में स्वीकार किया गया है, पर मूल भावना सभी में समान है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का मत है कि 'योग', प्राचीन भारतीय शास्त्र में नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है, फिर भी इनका जो आध्यात्मिक अर्थ, उसमें प्रकार भेद होने पर भी, मूलतः कुछ अंशों में सामंजस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहा जाए अथवा प्राण और अपान के संयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन, शिव और शक्ति के सामरस्य, चित्तवृत्ति के निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकार से योग का लक्षण निश्चित किया जाय, मूल में विशेष पार्थक्य नहीं है।"[4] चित्तवृत्ति निरोध रूपिणी साधना के आठ अंग बतलाए गये हैं—

यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्ठावंगानि।[5]

(१) **यम**—योग दर्शन में यम पांच प्रकार के हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह।[6] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में यम दस प्रकार के बताए हैं।

---

१. वही, पृ० ४२५
२. **अमरकोश, तृतीय काण्ड, तृतीय वर्ग नानार्थ,** श्लोक २२
३. **कल्याण, योगांक,** पृ० ५१
४. वही, पृ० ५१
५. **पातञ्जल योग दर्शनम्,** साधनापाद, २९
६. **तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।** वही, साधनापाद ३०

यथा—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. दया, ६. आर्जव, ७. क्षमा, ८. धृति, ९. मिताहार और १०. शौच।[1] भागवत[2] में यम के द्वादश भेदों का वर्णन हुआ है। यथा—१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. असंग ५. ह्री ६. असंचय ७. आस्तिक्य ८. ब्रह्मचर्य ९. मौन १०. स्थैर्य ११. क्षमा और १२. अभय। हठयोग प्रदीपिका[3] में भी यम दस बतलाए हैं। सन्तों ने यम का उल्लेख इस प्रकार किया है—

प्रथम अहिंसा सत्य हि जानि सोय सुन्यागै।
ब्रह्मचर्य दृढ़ गहै क्षमा धृति सौं अनुरागै।।
दया बड़ो गुन होइ आर्ज्जव हृदय सुआनै।।
मिताहार पुनि करै शौच नीकी विधि जानै।।[4]

सन्त मलूकदास ने भी इसी प्रकार कहा है—

सत अहिंसा ब्रह्मचर्य परधन तजब विकार।
दया आर्जव छमा सौच पुनि संग्रह नित्याहार।।

(२) **नियम**—नियम पा०योगदर्शन[5] के अनुसार पाँच, त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्[6] तथा हठयोग प्रदीपिका[7] के अनुसार दस तथा श्रीमद्भागवत[8] के अनुसार बारह हैं। सुन्दरदास ने नियमों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

तप सन्तोषहि ग्रहै बुद्धि आस्तक्य सुआनय।
दान समझ करि देइ मानसी पूजा ठानय।
बचन सिद्धान्त सुनय लाजमति दृढ़ करि राषय।
जाप करय मुख मौन तहां लग बचन न भाषय।

---

१. कल्याण, योगांक, पृ० ९६
२. भागवत ११/१९/३३
३. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमादशः। हठयोग प्रदीपिका १/१७
४. सुन्दर दर्शन पृ० २९, द्वारा त्रिलोकी नारायण दीक्षित
५. शौच सन्तोष तप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः।
योग दर्शन, साधनपाद ३२
६. कल्याण, योगांक पृ० ९६
७. तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्त वाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्र विशारदैः। हठ० प्रदी० १/१७
८. भागवत ११/१९/३४

पुनि होम करै इहिं विधि तहाँ जैसी विधि सदगुरु कहैं।
ये दश प्रकार के नियम हैं भाग्य बिना कैसे लहैं ।।[१]

(३) आसन[२]—शरीर की ऐसी दशा हो जिसमें योगी स्थिर होकर बैठकर ईश्वराधन कर सके। यह स्थान एकान्त, जल का शान्त किनारा आदि हो। योग शास्त्रों में वैसे तो ८४ आसनों का उल्लेख आया है परन्तु उसमें चार आसन-सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वस्तिकासन प्रमुख हैं। इनमें से किसी एक (या अनेक) आसन को साध कर योग साधन करे। आसन पर अधिकार हो जाने पर साधक को बाह्य शीत-तापादि क्लेश पीड़ित नहीं करते। शरीर रोग शोक से मुक्त हो जाता है।

सन्तों ने किसी विशेष आसन का वर्णन न कर केवल 'आसन' शब्द का ही प्रयोग किया है। यथा :—

'मनकरि निहचल आसंण निहचल,[३]
मन मैं आसण मन मैं रहता।[४]
चढ़ि आकास आसण नहीं छाड़े,[५]
सुखमन के घर आसन मांडो।[६]
भूल चोंप दृढ़ आसन बैठा, ध्यान धनी से लाया।'[७]
गुफा सुफा में आसन मोड़े सुन में ध्यान लगावै।[८]

पर आसन का तिरस्कार भी मिलता है—

का आसन वासन को बांधे, का मौं पवन चढ़ावै।[९]
सुखमना पर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाव।[१०]

सन्त सुन्दरदास ने सिद्धासन और पद्मासन को ही सर्वश्रेष्ठ माना है, इन्हीं का उन्होंने सविस्तार वर्णन किया है—

एड़ी बाम पाँव की लगाये सीवनि के बीचि।

× × ×

---

१. सुन्दर दर्शन, पृ० ३२
२. स्थिर सुखमासनम्। पा० योगदर्शन, साधन पाद ४६
३. कबीर ग्रन्थावली, पद २०८
४. वही, पद २०६
५. वही, पद ६६
६. भीखा बानी, पृ० ६८
७. दरिया-बानी, पृ० ४२
८. दरिया साहब के चुने हुए शब्द, पृ० ४७
९. वही, पृ० ४८
१०. यारी रत्नावली, पृ० ३

सुन्दर कहत सिद्ध आसन बखानिये।
दक्षिण उस उप्परम प्रथम वामहि पग आनय

× × ×

सब व्याधि हरण योगीन की पद्मासन यह भाषिये।[1]

सन्त किसी विशेष आसन के स्थान पर सहज सुखासन पर विशेष बल देते हैं।

(४) **प्राणायाम**—योग के संदर्भ में प्राणायाम का बहुत महत्त्व है। वायु-स्नायु या स्नायु केन्द्रों पर इस प्रकार अधिकार प्राप्त कर लेना कि श्वास-प्रश्वास की गति नियमित और नादयुक्त हो जाए—प्राणायाम है। आसन के सिद्ध हो जाने पर ही श्वास-प्रश्वास की गति नियमित करने वाले प्राणायाम की शक्ति उद्भाषित होती है।[2] प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास की तीन गति हैं—१. पूरक (श्वास को भीतर भरना) २. कुम्भक (श्वास को भीतर ही रोकना) और ३. रेचक (श्वास को बाहर फेंकना) श्रीमद्भागवत (२/१/१७) के अनुसार प्राणायाम करते समय अ-उ-म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर ऊंकार की मन में पुन: पुन: आवृत्ति करना चाहिए। इसे सगर्भ या सबीज प्राणायाम की संज्ञा दी है।

सन्तों में प्राणायाम का विशेष महत्व है। सन्त गुलाल साहब कहते हैं कि अजर अमर पुर देश पर चढ़ाई करने के लिए सन्तों के पास प्राणायाम का साज होना आवश्यक है—

अजर अमर पुर देस संत रन साजिया।
मनपवना होउ साज नौबति धुनि बाजिया॥

× × ×

मन पवना को संगम कोइ नर पाइया।
मन पवना दोउ दांव सहज नर लाइया।

× × ×

हे मन गगन गरजि धुन भारी
लेके पवन भवन गन लावो थकित भई नौ नारी।[3]

कबीर का भी इस पवन साधना (प्राणायाम) से परिचय है—

मन पवन जब परचा भया।[4]

---

१. **सुन्दर दर्शन**, पृ० ३८-३९

२. **डा० रामकुमार वर्मा**, कबीर का रहस्यवाद, पृ० ७१

३. **गुलालबानी**, पृ० ६४, ७०, ७१, १३४

४. **कबीर ग्रन्थावली**, पद २०२

उस 'नरहरि' को प्राप्त करने के लिए 'सबद अनाहद' का च्यंतन (चिंतन) करना आवश्यक है और उसके लिए यारी साहब ने प्राण और अपान (दो वायु) को मिलाने का वर्णन किया है—

घर में प्राण अपान दुबाई। अरध उरध आवै अरु जाई।
लेके प्रान अपान मिलावै। वाही पवन तें गगन गर जावै।[1]

एक अन्य स्थान पर इसे साँस उसाँस भी कहा है—

साँस उसाँस से सुमिरन मंडे। करम करै चौरासी खंडे।[2]

सन्त सुन्दरदास ने रेचक, पूरक और कुम्भक का वर्णन इस प्रकार किया है—

इडा नाडी पूरक करै, कुम्भक राखै मांहि।
रेचक करिये पिंगला, सब पातक कटि जांहि॥[3]

हठयोग की साधना में प्राणायाम का विशेष महत्त्व है, इसी कारण सन्तों ने भी प्राणायाम को अधिक महत्त्व दिया है।

(५) **प्रत्याहार**—यम, नियम, आसन और प्राणायाम से श्वास को जीतकर मन की सहायता से इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से विलग कर दे। प्रत्याहार में इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को त्यागकर चित्त स्वरूप हो जाती है—

स्वविषयासंप्रयोगे चितस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।[4]

साधारण रूप से मनुष्य अपनी इन्द्रियों का दास होता है, मन बड़ा चंचल होता है, इन्द्रियाँ उसे संसार के नाना विषयों की ओर खींच ले जाती हैं, भ्रमवश मनुष्य भी देह (इन्द्रियों) के दुख-सुख को अपना दुख-सुख समझ लेता है। मनुष्य के इस भ्रम का सुन्दरदास ने बड़ा ही रोचक वर्णन किया है—

इन्द्रिन कूं प्रेरी पुनि इन्द्रिन के पीछे पर्‌यो।
आपनी अविद्या करि, आप तनु गह्यो है॥
जोइ जोइ देह कूं, संकट आई परै कछु।
सोइ सोइ मानें आप, या तैं दुख सह्यो है।[5]

परन्तु प्रत्याहार में इन्द्रियों, मन और चित की यह भ्रमास्पद स्थिति समाप्त हो जाती है; साधक उनको (इन्द्रियों को) अपने परम शुद्ध स्वरूप मन के अनुकूल बना लेता है। मन द्वारा प्रेरित होकर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। यदि साधक चक्षुओं से देखना नहीं चाहता तो विविध दृश्यावली भी उसे अपनी

---

१. **यारी रत्नावली**, शब्द १८, पृ० ५
२. वही, पृ० ६
३. **सुन्दर दर्शन**, पृ० ३८
४. **पा० योग दर्शन, साधनपाद ५४**
५. **सुन्दर विलास**, पृ० ९६

ओर आकृष्ट नहीं कर सकती, कर्णेन्द्रिय मधुर, तीक्ष्ण और कटु ध्वनि के प्रभाव से मुक्त रहती है, पर जब साधक कोई मधुर संगीत सुनना चाहता है तो कर्णेन्द्रियों में कोई मनचाही अलौकिक गुंजार शब्दायमान हो उठती है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय मन के अनुरूप ही व्यवहार करती है। साधक को कच्छपवृत्ति से समस्त इन्द्रियों तथा उनके विषयों से मन को हटाकर आत्मस्वरूप में लीन करना चाहिए। सामान्यत: इन्द्रियाँ उन्मत्त हाथी के समान मनको नाना भ्रमों में घुमाती रहती हैं परन्तु प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर साधक की इन्द्रियाँ पूर्णतया उसके वशवर्ती हो जाती हैं, वह मनोजयी बन जाता है।

(६) **धारणा**—(देशबन्धश्चित्तस्य धारणा:[1]) मन को किसी विशेष वस्तु या भाव पर केन्द्रीभूत कर देना ही धारणा है। भागवत में स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार की धारणाओं का उल्लेख मिलता है। साधक सर्वप्रथम भगवान् के स्थूल रूप की धारणा करे। पुराण-ग्रन्थों में भगवान् के विराट रूप की कल्पना स्थान-स्थान पर की गई है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के भ्रम को दूर करने के लिए अपने विराट स्वरूप का दर्शन कराते हैं।[2] सूरदास ने भी भगवान के इस विराट रूप की कल्पना की है।[3] जब साधक का मन मूर्त रूप में रम जाए और मूर्त धारणा हाथ में आ जाए तब सूक्ष्म रूप की धारणा करनी चाहिए।

श्री रामचन्द्र रघुवंशी 'अखण्डानन्द'[4] ने धारणा की परिभाषा इस प्रकार की है—'आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक भेद से तीन प्रकार के देशों में से किसी योग्य ध्येय, देश के विषय में चित्त को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। इसके लिए उन्होंने अगोचरी, भूचरी, चाचरी और शाम्भवी इन चार मुद्राओं का कथन किया है जिसके माध्यम से साधक चित्त को एकाग्र कर सकता है। यारी साहब ने इन मुद्राओं के सम्बन्ध में कहा है—

आँखि कान नाक मुँह मूँदि के निहार देखु,
सुन्न में जोति याही परगट गुरु ज्ञान है।
त्रिकुटी में चित्त देई ध्यान धरि देखु तहाँ,
दामिनी दमक चाचरी मुद्रा को अस्थान है।
भूचरी मुद्रा सोहाग जागै मस्तक,
भाग पायो सकल निरंतर को खान है।

---

१. **पातंजल योग दर्शन**, विभूतिपाद १
२. **गीता**, अध्याय ११, श्लोक ११, १२ से ३० तक
३. **सूर सागर**, प्रथम भाग, माटी भक्षण प्रसंग ८७३-७४ पृ० ३४७
४. **कल्याण**, योगांक, पृ० ४४६

गगन गुफा में पैठि अधर आसन बैठि,
खेचरी मुद्रा अकास फूलै निर्वान है ।[१]
साधि पवन षट चक्र छुड़ावो । तिरबेनी के घाटै आवो ।
उनमनी मुद्रा लगी समाधि । रबि ससि पवनहिं राखो बाँधि ।[२]

(७) **ध्यान**—(तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्[३]) किसी वस्तु विशेष में अनुस्यूत रूप से मन धारणा करे । प्रत्यय की एकतानता हो । एक ही वस्तु पर निरन्तर रूप से ध्यान करने पर मन पूर्णत: एकाग्र हो जाता है, वह वस्तुमय होने लगता है । ब्रह्म के मूर्तिमान स्थूल रूप का ध्यान स्थूल ध्यान कहलाता है, और उसके ज्योतिस्वरूप का ध्यान सूक्ष्म ध्यान । संत निर्गुण वादी थे, उन्हें ब्रह्म का सगुण रूप स्वीकार नहीं था, इसी कारण उन्होंने उसके निर्गुण, ज्योतिर्मय रूप का ध्यान किया है । यही सूक्ष्म ध्यान सन्तों का अभीष्ट है । सन्त रैदास निरंजन के अलख रूप का ध्यान धर कर अमर घर पहुँच जाना चाहते हैं—

ऐसा ध्यान धरौं बरौं बनवारी,मन पवन दै सुखमन नारी ।
× × ×
कह रैदास निरंजन ध्यावौं । जिस घर जावँ सो बहुरि आवौं ।।[४]

यारी साहब के अनुसार सहज ध्यान, निश्चयपूर्वक लगाने से ही ब्रह्म दर्शन सम्भव हैं, जैसे कछुए का ध्यान सुरत में अपने अण्डों पर होता है, ऐसा ही योगी का निरन्तर ध्यान हो—

सुखमना पर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाव ।
नि:चय करि ध्यान धरु पावहु दरसन ।
कच्छ दृष्टि तहँ ध्यान लगावै । पल महँ कीट भृंग होइ जावै ।[५]

वास्तव में वही साधक सच्चा साधक है, शूरवीर है जिसके हृदय में सदा एक ही लक्ष्य का, ब्रह्म का ध्यान है—

सोई सूर ज्ञानी जाकै हिरदे सदा ध्यान है ।[६]

बुल्ला साहिब कहते हैं—

आठ पहर चौंसठ घरि, जन बुल्ला धर ध्यान ।
नहिं जानो कौनी घरि, आइ मिलैं भगवान ।।[७]

---

१. यारी रत्नावली, कवित्त ५, पृ० १२
२. बुल्ला साहब शब्द सागर, भेद २, पृ० २४
३. योग-दर्शन, विभूतिपाद, २
४. रैदास बानी, ५६/२६
५. यारी रत्नावली, शब्द ११, १५, १६
६. वही, कवित्त ४
७. बुल्ला शब्द सागर, पृ० ३१

(८) **समाधि**[1]—अष्टांग योग का अन्तिम अंग समाधि है। समाधि में मन एकाग्रता की चरमावस्था में पहुँच जाता है। जिस वस्तु विशेष का ध्यान किया जाता है उसमें मानव की समस्त वृत्तियाँ इस प्रकार रम जाती हैं कि हृदय का अस्तित्व ही उसमें विलीन हो जाता है, केवल एक भाव, एक विचार, एक प्रकाश ही शेष रह जाता है और आत्मा शरीर के बन्धन से मुक्त होकर उस अनन्त प्रकाश सत्ता में लीन हो जाती है, बाह्य जगत और वातावरण से उसका सम्बन्ध एकदम छूट जाता है। श्रीमद्भागवत (३/२८/३४-३६) में इस समाध्यावस्था का काव्यात्मक वर्णन किया गया है। पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमांचित होकर, उत्कण्ठा से आँसुओं की धारा में नहाने वाला भगवान का भक्त अपने चित्त को भी ध्येय पदार्थ से उसी प्रकार अलग कर देता हैं 'जिस प्रकार मछली के मारे जाने पर मछुआ बडिश (काँटे) को अलग कर देता है 'चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते।' इस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुणप्रवाह से रहित होकर भगवान् में लय प्राप्त कर लेता है, ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है।[2] ध्याता का ध्येय से भिन्न अपने आपका ज्ञान नहीं रह जाता। इस प्रकार ध्याता, ध्यान ध्येय की भिन्नता नष्ट होकर एकत्व स्थापन हो जाता है।

योग के प्रकार

अष्टांग योग एक विशाल वृक्ष के समान है जिसकी भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से मान्यता रही है, पर मध्यकाल में आकर उस विशाल योग वृक्ष से प्रस्फुटित डालियों का महत्त्व अपेक्षाकृत बहुत बढ़ गया। मंत्रयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लय योग और राजयोग इसी अष्टांग योग की महत्वपूर्ण प्रशाखाएँ हैं। सन्तों ने शब्द-सुरति योग और सहजयोग इन दो योगों का प्रचार किया। सन्तों ने अपनी योग साधना में (पूर्ववर्ती सिद्धों और नाथों से विशेषत: प्रभावित होकर) हठयोग का भी विशेष वर्णन किया है, वैसे छुटपुट अन्य योगों का वर्णन भी मिल जाता है।

मन्त्रयोग—डा० रामकुमार वर्मा ने मंत्रयोग की व्याख्या करते हुए कहा है कि मन्त्रयोग में 'आत्मा परमात्मा के नाम अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली किसी पंक्ति का उच्चारण करते-करते, किसी कार्य विशेष को करते हुए, ध्यान में मग्न हो जाती है।।'[3] शिखोपनिषद् में मन्त्रयोग के स्वरूप को समझाते हुए कहा है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसह सेति मंत्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते।

---

१. 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि। योग दर्शन, विभूतिपाद ३

२. कल्याण, योगांक, श्रीमद्भागवत में योग चर्चा, पृ० ११५

३. कबीर का रहस्यवाद, पृ० ६६

गुरु वाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मंत्रयोगः स उच्यते ।।[1]

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य जब साँस लेता हैं तो साँस के बाहर जाते समय हकार की ध्वनि होती है और अन्दर जाते हुए सकार की ध्वनि होती है। दोनों ध्वनियाँ मिलकर हंस मंत्र हो जाता है। इस मन्त्र का जाप प्रत्येक स्वांसधारी मनुष्य स्वयं करता रहता है, किन्तु योगी गुरु के आदेश से इसके विपरीत रूप का सुषुम्ना में मनन करता है। इसका विपरीत रूप सोऽहं सोऽहं है। यह सोऽहं जाप ही मन्त्रयोग कहलाता है।

सन्त सर्वग्राही थे, विभिन्न दर्शन पद्धतियों का प्रभाव यत्र तत्र उनकी बानियों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मन्त्रयोग में सन्तों ने विशेष रूप से 'राम' नाम का सहज जप स्वीकार किया है। वैसे तो ब्रह्म सम्बन्धी सभी नामों का सन्तों ने यत्किंचित प्रयोग किया है पर मन की एकाग्रता के लिए तथा सहज जाप के लिए 'राम' नाम से अच्छा और कोई मन्त्र वे नहीं समझते। वैसे सोऽह के जाप का वर्णन भी सन्त सुन्दरदास में मिलता है—

ब्रह्म अपरोक्ष जानि, कहत है अहं ब्रह्म
सोहं सोहं होइ सदा निदिध्यात धुनिये ।।[2]

इस कठिन साधना के लिए मन को एकाग्र करना बहुत आवश्यक है। जैसे मृग नाद सुनकर अपनी बाह्य स्थिति को भूल जाता है, चातक दिन रात एक ही स्वातिबूंद की रट लगाए रखता है, चकोर चन्द्रमा का एकटक ध्यान करता है, ऐसे ही शरीर को सर्दी में गलाकर, गर्मी में तपाकर, वर्षा में आपादमस्तक सराबोर करके भी एक मंत्र का (सोहं या राम आदि) जप साधक को करते रहना चाहिए।[3]

कबीर के अनुसार इस सर्वोतम मंत्र के रंग में रंगकर अन्य रंग में छूट जाते हैं, मन में कोई इच्छा शेष नहीं रहती, किसी अन्य के आगे उसका सिर ही नहीं झुकता। संसार में 'सुमिरण' ही सार है और बाकी सब जंजाल है। भक्त साधक इस मंत्र को जानकर अन्य सब कुछ भूल जाता है, यह राम नाम उसे भवसागर से

---

१. योगशिखोपनिषद, श्लोक १३०-३१, डा० गोविन्द त्रिगुणायत—हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ० ५२४-२५ से उद्धृत

२. सुन्दर विलास, आत्म अनुभव को अंग २६, पृ० १६५

३. वही ३०/१६५ तथा
अजपा जापहि जाप सोहं डोरि लगाई।
बुल्ला तामें पैठि जोति में गाजई। बुल्ला शब्दसागर, पृ० २४

पार कर देता है।[1] दादू के अनुसार भी राम सुमिरण से समस्त संशय भाग जाते हैं, सद्गुरु प्रदत्त राम-मंत्र उसके रोम-रोम में रम जाता है और स्वयं साधक भी उस अमृत रस का पान करता हुआ उस तत्व के सहज रूप में मनसा वाचा कर्मणा समा जाता है।[2] रैदास की आत्मा राम नाम का निशदिन ध्यान करते-करते उसके मजीठ रंग में रंग गई है।[3] भीखा साहब के अनुसार राम नाम ही सर्वस्व हैं, उसके बिना जीव की भलाई नहीं हो सकती।[4] राम नाम को विशेष मंत्र के रूप में सभी सन्तों ने स्वीकार करते हुए उसके निरन्तर स्मरण पर बल दिया है। सुन्दरदास उठते बैठते, खाते पीते, सोते जागते उसी का स्मरण और उसी को व्याप्त मानते हैं—

बैठत रामहि ऊठत रामहि......सुन्दर रामहि राम रह्यो है।[5]

ज्ञानयोग—आत्मा परमात्मा के साथ अनेक प्रकार से सम्बन्ध स्थापित करती है। ज्ञानयोग के स्वरूप का विवेचन करते हुए डा० रामकुमार वर्मा[6] ने लिखा है कि 'ज्ञान के विकास से जब आत्मा विवेक और वैराग्य में अपने अस्तित्व को भूल जाती है और अस्तित्व के कण में परमात्मा का अविनाशी रूप देखती है तब मुक्ति में दोनों का अविहित सम्मिलन हो जाता है, उसे ज्ञानयोग कहते है।' गीता (३/३) में ज्ञानयोग के सम्बन्ध में कहा है, माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में वर्तते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने का नाम ज्ञानयोग है। गीता में ज्ञानयोग को ज्ञान यज्ञ के नाम से ही पुकारा गया है। यह ज्ञान यज्ञ सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले अन्य

---

१. **कहै कबीर मेरे रंग रांम राई, और पतंग रंग उडि जाई।**
कबीर ग्रन्थावली, पद २१५ पृ० १६१

कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल। वही, पृ० ५
दास रांमहि जानिहै रे, और न जानें कोई। वही, पृ० ६७

२. **दादू आतम जीव का, संसा सब भागै।**
अविचल मन्त्र...राम मन्त्र निजसार।
मनसा वाचा कर्मना, तेहि तत सहज समाइ। दादू बानी १, पृ० १४, १८, १६

३. **रमइया रंग मजीठ का, ताते मन रैदास विचार रे।**
जपौ जगदीस गोविन्द राया।
राम रसायन रसना चाखूँ। रैदास बानी, पृ० ३४-३६

४. **रामनाम जाने बिना वृथा है सकल काम,**
...जिव चाहहु भलाई तौ पै राम नाम जपना। भीखा बानी पृ० ४६-५०

५. **सुन्दर विलास,** पृ० ८६

६. **कबीर का रहस्यवाद** पृ० ६८-६६

यज्ञों से श्रेष्ठ है क्योंकि सम्पूर्ण यावन्कर्म ज्ञान में शेष होते हैं अर्थात् ज्ञान उनकी पराकाष्ठा है।[1] ज्ञान रूपी नौका पर चढ़कर पापी से पापी व्यक्ति भी भली प्रकार तर जाता है। यह ज्ञान मनुष्य के सम्पूर्ण कर्मों को ऐसे ही भस्म कर देता है जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को क्षण मात्र में भस्म कर देती है। ज्ञानोदय होने पर मनुष्य फिर मोह को प्राप्त नहीं होता और वह सर्वत्र ही उस सर्वव्यापी अनन्त चेतनरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को ही देखता है परन्तु अज्ञानी मनुष्य अज्ञ, श्रद्धारहित और संशय युक्त होने के कारण परमार्थ से भ्रष्ट होता हुआ इस लोक के और परलोक के भी सुखों से वंचित हो जाता है।[2]

सन्तों में ज्ञानयोग का बहुत महत्त्व है। ज्ञान ही सब कुछ है। ज्ञान के बिना जन्म को वृथा गंवाना है।[3] बिना ज्ञान के हृदय की ग्रंथी ही नहीं छूटती, उसे कहीं भी सुख प्राप्त नहीं होता, भ्रम में पड़ें यूँही मर जाता है।[4] बिना ज्ञान के साधक को परब्रह्म के दर्शन भी नहीं हो सकते।[5] उसे बराबर संसार के नानाविध कष्ट सहने के लिए जन्म लेना पड़ता है; इस आवागमन के चक्र से केवल ज्ञान योगी ही मुक्ति पा सकता है।

ज्ञान योग की साधना कोई सरल साधना नहीं है। भक्त तो भक्ति रूपी नौका पर चढ़कर भवसागर पार कर लेता है, पर ज्ञान योगी को तो अपने ही हाथों, अपने ही प्रयत्नों का सम्बल ग्रहण कर तैर कर भवसागर पार करना पड़ता है। भक्त तो अपने समस्त गुणावगुणों को भगवदर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है—त्वदीय वस्तु गोविन्दं तुभ्यमेव समर्पये' परन्तु ज्ञानी को तो पग-पग पर नाना कष्ट उठाने पड़ते हैं, कठिन साधना के मध्य से गुजरते हुए यदि कहीं रंच मात्र भी भूल या कमी हो गई तो सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। उसे नाना विधि चौकन्ना होकर कार्य करना पड़ता है। सांसारिक माया अनेक प्रकार के प्रलोभन रूपी प्रभंजन से साधक के दिव्य ज्ञान-दीपक को बुझाकर निविडान्धकार फैला देना चाहती है, दैविक शक्तियाँ पग-पग पर ज्ञानयोगी की परीक्षा लेती हैं, इन सभी कठिन परीक्षाओं में सफल होकर ही ज्ञानी उस परब्रह्म का साक्षात्कार कर पाता है।

---

१. **श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।**
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ गीता ४/३३

२. वही ४/३५, ३६, ३७, ४०

३. **बावरे तैं ज्ञान विचार न पाया। बिरथा जनम गंवाया।**
कबीर ग्रन्थावली, पृ० २९७.

४. **बिना ज्ञान पाये नहिं छूटत हृदय ग्रन्थी।**
सुन्दर कहत यूं ही भ्रमि के मरतु है। सुन्दर विलास, पृ० ६४

५ **ज्ञान बिना नहिं दीठ दिखाई। दरिया (बिहार) सागर,** पृ० २५

सन्त ज्ञान मार्गी हैं, ज्ञान मार्ग के नाना कष्टों को समझते हुए भी वे ज्ञान के उपासक हैं। वे बिना ज्ञान के मनुष्य की मुक्ति सम्भव नहीं मानते। चाहे कितने जप, तप, दान, स्नान आदि क्यों न किये जाएं पर ज्ञान के बिना सभी कुछ व्यर्थ

दर दास कहते हैं—

जोग करै जज्ञ करै, वेदविधि त्याग करै।
जप करै तप करै, यूं ही आपु खूटि है।

× × ×

औरहु अनेक विधि, कोटिक उपाय करै।
सुन्दर कहत बिन ज्ञान नहिं छूटि है।।[1]

अन्य साधनाएं तो जुगनु के प्रकाश की भाँति हैं उससे तम, अज्ञानांधकार नष्ट नहीं हो सकता[2], घर में भरे अन्धकार को कोई लाठियों से मार कर बाहर करने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करें तम हट नहीं सकता, परन्तु ज्ञान रवि की एक ही प्रकाश-किरण समस्त तम को देखते ही देखते निगल जाती है।[3]

अज्ञान के कारण मनुष्य अपने आत्मरूप को भूलकर कठिन बन्धन के बँधता जाता है। दर्पण में मुख देखने के लिए उसे सीधा करना होगा, औंधी' ओर प्रयत्न करने पर भी मुह नहीं दीख पड़ेगा—

अति ही अज्ञात उर, विविध उपाय करै।
निज रूप भूलि के बँधत जाई पर तें।।

सुन्दर कहत औंधी ओर कैसे दीखै मुख।
हाथ माहिं आरसी, न फेरे मूढ़ कर तें।।[4]

सन्त प्रमुखतः अद्वैतवादी हैं। जीव और ब्रह्म एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान अभिन्न हैं। जैसे बूंद और समुद्र में जलतत्व समान होता है, उसी प्रकार खालिक में खलक और खलक में खालिक समाया हुआ है। पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही परमतत्व मूलत: अंशाधिक्य रूप में विद्यमान है। ब्रह्म और आत्मा के बीच माया द्वैत बुद्धि पैदा कर देती है; अज्ञान शवलित माया का आवरण हटते ही अद्वैतपरक रूप उभर आता है। ज्ञान के द्वारा ही माया का यह आवरण हटता है, तम की गहरी परतें नष्ट हो जाती हैं। इसी ज्ञान को आधार बनाकर सन्तों ने ब्रह्म की ओर सफल अभियान किया है। परन्तु सन्तों का यह ज्ञान शुष्क, नीरस, जड़, दुर्वह शास्त्रीय या तर्क वितर्क जन्य नहीं हैं, इसमें सहज भक्ति का मधुरामृत

---

१. **सुन्दर विलास** पृ० ६५
२. वही, चाणक को अंग ५, पृ० ६६
३. **सुन्दर सूर प्रकास भयो, तब तौ कितहू नहिं देखिये नेरो।** वही, १० पृ० ६७
४. वही, पृ० ६५

मिला हुआ है। यह ज्ञान तो जीवन-मरण की शंका नष्ट करने वाला गुरुमुख से प्राप्त होने वाला ब्रह्म ज्ञान है, इससे क्लेश नष्ट होकर भक्ति का वह माणिक्य चमक उठता है जिससे दिव्य प्रकाश से सब जग भर जाता है।[1] ज्ञान के द्वारा ही भ्रम, अन्ध विश्वास और निरर्थक कर्मकाण्ड की मोटी तहों को भेदकर धर्म के सच्चे रूप को पहिचानने की अन्तर्दृष्टि आती है। वास्तविक माया अज्ञान मूलक अन्धविश्वास है। मोह, तृष्णा, स्वार्थ आदि सभी कलमष आँधी के साथ उड़ जाते है, आंधी के बाद की वर्षा से भक्त का मानस भीग उठता है, ज्ञानोदय होने पर सर्वत्र प्रकाश छा जाता है—

देखो भाई ज्ञान की आई आँधी।
सबै उडानी भ्रम की टाटी, रहै न माया बाँधि ॥
आँधी पाछै जो जल बर्षे तिहि तेरा जन भीना।
कहि कबीर मन भया प्रगासा उदय भानु जब चीना ॥[2]

ज्ञान योग की दृष्टि से आंधी के पीछे जल वर्षण का विशेष प्रतीकात्मक अर्थ है, आँधी के बाद स्वभावतः जल बरसता है, आंधी से कूड़ा कर्कट तथा अन्य अनैच्छिक वस्तुएँ उड़ जाती हैं, जल बरसने से सारा वातावरण शान्त हो जाता है, सर्वत्र हरियाली छा जाती है, एक आनन्दमय स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ज्ञान उत्पन्न होने पर मन से समस्त विकार तिरोहित हो जाते हैं, काम, क्रोध, मद तृष्णा आदि कलमष से रहित मानस में ही आध्यात्मिक प्रेमरस का अनुभव किया जा सकता है। सन्तों का अन्तिम लक्ष्य उस अमृत रस का पान करना है, ज्ञान ही उसका परम साधन है। सन्तों के अनुसार ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल करके ही भगवद् प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। 'मन की सत्ता अज्ञान के कारण से है और वह ज्ञान द्वारा उसी प्रकार सरलता से नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सी में साँप की सत्ता और मरुभूमि में मृगतृष्णा के जल की सत्ता। जो वस्तु अज्ञान जन्य है वह ज्ञान द्वारा तुरन्त नष्ट हो जाती है। सत्य का ज्ञान होने पर यह भली भाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है।'[3]

ज्ञान का महत्व इसी में है कि वह ब्रह्म और आत्मा के बीच के आवरण को नष्ट कर दे ताकि आत्मा स्वरूप को पहचान कर ब्रह्म में तदाकार हो सके। बादलों से आवृत होने पर सूर्य के प्रकाशमान रूप का यथार्थ भान नहीं होता, हवा के प्रभाव से बादल हटते ही सूर्य का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है। सामान्य भाषा में कहा

१. प्रगटी जोति मिटिआ अंधियारा। राम रतनु पाइआ करत बीचारा ॥
—संत कबीर, रागु बिभास प्रभाती १ पृ० २४२
२. कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट, ११८ पृ० २६९
३. कल्याण, योगांक, पृ० ११८-१९

जा सकता है कि हवा ने सूर्य के दर्शन करा दिए, पर वास्तव में हवा ने तो बादलों का आवरण मात्र हटाया है, सूर्य को तैयार नहीं किया, सूर्य तो पहले से ही विद्यमान था, जो आवरण के कारण स्पष्ट नहीं था। इसी प्रकार हवा पानी से काई को फाड़कर एक तरफ कर देती है, भीतर से स्वच्छ जल प्रकट हो जाता है, हवा ने पानी को तैयार नहीं किया, केवल काई का आवरण दूर किया है। सन्त ज्ञानेश्वर के शब्दों में—

बारा आमालचि पेन्डी। वांचूनि सूर्यातें न घड़ी।
का हातु बाबुली घाड़ी। तोय न करी।
तैसा आत्म दर्शानीं आडलु। असे अविछेचा जो मलु।
तो शास्त्र नासी येरु निर्मलु। मी प्रकाशे स्वये।।
म्हणोनि आधवीचि शास्त्रे। अविद्या विनाशाचीं पात्रें।
बांचोनि न होती स्वतंत्रे। आत्म बोधीं।।[1]

सन्तों की योग साधना की एक प्रमुख विशेषता है उनकी सहजीकरण की प्रवृत्ति। ज्ञानयोग अब उनके लिए कठिन नहीं हैं। ज्ञानयोग के लिए अपेक्षित वैराग (सहज) के लिए अब वनादि जाने की आवश्यकता नहीं। यदि वन जाकर वैराग्य साधन से मिथ्याडम्बर, विषय वासनाएं नहीं छूटीं तो साधक का वन जाना ढोंग मात्र ही है। कबीर कहते हैं कि विषय वासनाओं से दूर उदास होकर जिसने मन को जीत लिया उसने जगत को जीत लिया। ऐसे वन में बसने से भी क्या लाभ यदि मन विषय वासनाओं का त्याग न करे तो—

बनहि बसै क्यों पाइयै जौ लौ मनहु न तजै विकार।
जिह घर बन सम सरि किया ते पूरे संसार।[2]

कबीर ने सहज भाव से घर में रहते हुए ही गुरु के ज्ञानोपदेश से हरि से भेंट कर ली अब कहीं जाने की क्या आवश्यकता? यह वैराग्य तो साधन है साध्य नहीं। परब्रह्म चाहे घर मिल जाएँ या बन में, उस परब्रह्म के लिए मन में सहज वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए, फिर बन या घर कैसा? सच्चा वैरागी तो पहले तन में वैराग्य उत्पन्न करता है। पलटू साहिब कहते हैं—

पहले दासातन करै सो वैराग प्रमान।
तब छोड़ै संसार बूझ घर ही में लीजै।।[3]

सन्त अन्तःसाधना और आत्मा विचार पर विशेष बल देते हैं—'आप ही आप बिचारिये तब केता होय अनन्द रे'[2] परन्तु इस आत्मोपासना की सिद्धि ज्ञान के

---

१. कल्याण, योगांक पृ० २०५
२. **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ३०८
३. **पलटू बानी**, भाग १, ६७/४०
४. **कबीर ग्रन्थावली**, पद ५, पृ० ८६

बिना सम्भव नहीं। कबीर श्रीगुरु चरणों का स्पश कर जो सनातन प्रश्न करते हैं वे इसी आत्मसाधना की ओर संकेत करते हैं :—

गुर चरण लागि हम बिनवता पूछत कह जीउ पाइआ।

× × × ×

माइआ फास बँध नहीं फारै अस मन सुंनि न लूके।
आपा पदु निरवाणु न चीन्हिआ इन विधि अभिउ न चूके ।।[1]

जीव, जगत और माया सम्बन्धी इन बन्धनों से मुक्ति ज्ञानोदय होने पर ही हो सकती है, ज्ञानयोग ही इन प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। गुरु की कृपा से जब ज्ञान उत्पन्न हो जाएगा और उसके प्रभाव से प्रतिबिम्ब (जीवात्मा) बिम्ब (परमात्मा) में मिल जाएगा, यह जल से भरा घड़ा (शरीर) नष्ट हो जायगा, तब भ्रम भाग जाएगा और मन अनंत शून्य में लीन हो जाएगा। दीपक की ज्योति के संस्पर्श से जैसे शत शत दीप प्रज्ज्वलित हो उठते हैं उसी प्रकार आत्मानुभूति एक हृदय में स्फुरित होकर अपने प्रभाव से अन्य हृदयों को दिव्य प्रकाश से आलोकित कर देती है, यह सहज ज्ञान ही संतों का इष्ट है। ज्ञान द्वारा सिंचित भूमि पर ही भगवद् भक्ति का बिरवा पनप सकता है। ब्रह्म जीव का अद्वैत परक ज्ञान होने पर आत्मा एक अलौकिक ब्रह्मानन्द का अनुभव करती है, तभी उस पिय से परिचय होता है, मिलन का अनिर्वचनीय आनन्द सब ओर व्याप्त हो जाता है।[2] निर्मल ज्ञान रूपी सूर्य के उदय होने पर हृदय-कमल प्रकाशित हो गया, अज्ञान-निशा मिट गई, अनहद गुंजित हो गया,[3] ऐसी स्थिति में उर में ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो गया।[4]

इस प्रकार ज्ञान योग की साधना कर अज्ञानांधकार से छूटकर परब्रह्म से तदाकार होना ही संतों का चरम लक्ष्य है।

हठयोग—हठयोग के प्रसंग में सन्तों ने कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों, विभिन्न चक्र, सहस्रार—ब्रह्म-रन्ध्र का, प्राणायाम आदि विभिन्न अंशों का विविध प्रकार से प्रतीकात्मक वर्णन किया है। कबीर कहते हैं कि जब गुरु ने वासनाओं की अग्नि बुझा दी, उन्मन मुद्रा में रहकर विशुद्ध हुआ मैं तब पवन (प्राणायाम) पर आधिपत्य करके मृत्यु, जन्म, जरा आदि व्याधियों से रहित हो गया। शक्ति के सहारे अपनी प्रवृत्तियों को उलट लिया (अन्तर्मुखी कर लिया) तब गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश पा सका। कुण्डलिनी (सर्प) से (षट्) चक्र बेध लिए तब एकाकी

१. **सन्त कबीर, रागु आसा,** १, पृ० ६०

२. **संसा खूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत। कबीर ग्रन्थावली,** परचा को अंग, १३

३. वही, पृ० ४३

४. **अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान।** वही, ४४ पृ० १६

स्वामी-ब्रह्म से भेंट कर सका। जब मैं मोहमयी आशा से रहित हो गया तब मेरे (सहस्रदल स्थिति) चन्द्र ने (मूलाधार स्थित) सूर्य का ग्रास कर लिया। कुम्भक के साधने से (गगन शून्य में) अनाहद वीणा बज सकी।[1] एक अन्य स्थान पर शरीर को अमृतमय बाडी का और हरि को उसके रखवाले का प्रतीक बताते हुए हठयोग की शब्दावली में कबीर कहते हैं :—

तरुवर एकु अनत डार साखा पुहुप पत्र रस भरीआ।

× × ×

भंवरु एकु पुहप रस बीधा बारह ले उरधरिआ।
सोरह मधे पवनु झकोरिआ आकासे फरु फरिआ॥
सहज सुनि इकु बिरवा उपजिआ धरती जलहरु सोखिया।[2]

यहाँ तरुवर, अमृतबाडी = शरीर का प्रतीक है, भंवरु = जीवात्मा, पुष्प = चक्र, बारह = बारह दलवाला चक्र—अनाहद चक्र, सोरह = विशुद्ध चक्र, (सोलह दलवाला), पवन = प्राणायाम, आकाश में फल = सहस्रदल कमल, बिरवा = कुण्डलिनी, धरती = मूलाधार चक्र, जलहरु सागर = सहस्र दल कमल आदि के प्रतीक हैं। इडा और पिंगला को गंगा और यमुना का प्रतीक बताते हुए कबीर कहते हैं :—

कबीर गंग जमुन के अंतरे सहज सुंन के घाट।
तहां कबीरे मटु कीआ खोजत मुनि जन बाट॥[3]

"खेचरी मुद्रा" हठयोग की महत्वपूर्ण मुद्रा है। साधक गो (जिह्वा) को उलटकर कपाल-कुहर में प्रविष्ट कर ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नामक त्रिकोणात्मक शक्ति केन्द्र में स्थित चन्द्रमा से स्रवित अमृत—अमर वारुणी—का पान करता है। कबीर उस अमृत का छककर पान करना चाहते हैं :—

अवधू, गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नालि रस पीजै॥[4]

इस महारस को पीकर शिव सनकादिक भी मतवाले हुए फिरते हैं, इस महारस को 'इला' 'प्यंगुला' की भाटी पर ब्रह्म अगनि जला कर, दसों द्वारों को बंदकर, 'जोग' की 'तारी' लगाकर तैयार किया गया है। इसको पीने से सदा खुमारी ही बनी रहती है, सोई हुई नागिन (कुण्डलिनी शक्ति) जाग जाती है। कबीर को गुरु प्रसाद से ही सहज शून्य में इस रस को चखने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है।[5]

---

१. **सन्त कबीर, रागु रामकली** १०, पृ० १८६
२. वही, रागु रामकली ६, पृ० १८१
३. वही, सलोकु १५२, पृ० २७०
४. **कबीर ग्रन्थावली**, पद ७०, पृ० ११०
५. वही, पद ७४, पृ० १११

हठयोग का पथ आसान नहीं है, सन्त सुन्दरदास 'अवधू' को सम्बोधित करते हुए समस्त हठयोग साधना का रूप प्रस्तुत करते हैं :—

है कोई जोगी साधै पवना ।
मन थिर होइ बिन्द नहिं डोलै, जितेन्द्री सुमरै नहिं कौना ।
यम अरु नेम धरै दृढ़ आसन, प्राणायाम करै मन मौना ।।
प्रत्याहार धारणा ध्यानं लै समाधि लावै ठिक ठौना ।
इडा पिंगला सम करि राखै, सुषमन करै गगन दिशि गौना ।।
अहर्निशि ब्रह्म अग्नि परजारै सापनि द्वार छांडि दे जौना ।।
बहुदल षट्दल दशदल षोजै, द्वादशदल तहाँ अनहद भौना ।
षोडशदल अमृत रस पीवै, ऊपरि द्वै दल करै चितौना ।
चढ़ि आकास अमरपद पावै, ताको काल कदे नहिं षौना ।।
सुन्दरदास कहै सुन अवधू, महा कठिन यह पंथ अलौना ।।[1]

जिस अमी रस को कबीर ने छक कर पिया है, सन्त पलटू साहिब भी उसका रसास्वादन कर चुके हैं, पर इस अमीरस का रसास्वादन वही कर सकता है जो सांपिनी (कुण्डलिनी) को मार (जागृत कर सहस्रार तक पहुँचा) सके :—

गगन के बीच में अमी की बुंद है,
पियत इक सांपिनी धार धारा ।
सांपिनी मारि के पिये कोउ संत जन,
मुए संसार को फटकि सारा ।।
सहस दल कँवल में भँवर गुंजार है,
कँवल के बीच में सेत कल्ली ।।
इडा औ पिंगला सुखमना घाट है,
सुखमना घाट में लगी नल्ली ।।
अमी रस चुवै सोइ पियत इक नागिनी,
नागिनी मारि कै बुंद रल्ली ।।[2]

बुल्ला साहिब का मन त्रिकुटी संगम और वहाँ की जगमग ज्योति में उलझ गया है :—

तिरकुटी जहँ बसत संगम, गंग जमुन बहाय ।
बरत झिलमिलि होत जगमग, तहाँ रहु अरुझाय ।।[3]

प्राणायाम की साधना करते हुए, संगम में स्नान कर, गगन में पहुँचकर, अहनद सुनकर और दिव्य ज्योति का दर्शन कर बुल्ला साहिब निहाल हो गए हैं :—

---

१. **डा० प्रेमनारायण शुक्ल**, संत साहित्य, पृ० १७५
२. **पलटू बानी**, भाग २, रेखता ७०-७१, पृ० २६
३. **बुल्ला शब्द** सागर, शब्द ५

गंग जमुना मिलि सरस्वति, उमंगि सिखर बहाव।
ले कुंभक पूरक घर रखना, रेचक संजम देई।
त्राटक ताडी लगलि केवारी, राम-नाम जपि लेई।
तीरथ तिरबेनी नहइबों, गगन में जइबों हो।
अनहद धुनि सुनि, दीपक बरइबों हो[1]।

दरिया साहेब (बिहार वाले) ने हठयोग परक साधना से जो अमृतरस पिया है उससे आत्मा (हंस) ने अमर पद प्राप्त कर लिया है—

इंगला पिंगला सुखमनि नारी।···ओही पवन षट चक्रहिं छेदा।

× × ×

अमृत बुंद तहाँ झरि आवै। पीयत हंस अमर पद पावै॥[2]

दादू कहते हैं—

पंच बाइ जो सहजि समावै, ससिहर के घरि आणै सूर।
बंक नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवाँ कहीं न जाइ।
बिगसै कँवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीव की करै सहाइ॥[3]

यारी साहब ने प्राण-अपान का साधन करके, त्रिवेणी में स्नान करके, सूर-चन्द की भाठी बनाकर जो अमृत पान किया है उसके प्रभाव से आत्मा ब्रह्म से मिलकर खेल रचाती है—

घट में प्रान अपान दुबाई। अरध उरध आवै अरु जाई।
लेके प्रान अपान मिलावै। वही पवन तें गगन गरजावै।
तिरबेनी मन में असनान।
जरूरत सुखमन जोई। चाँद सूर बिच भाठी होई।
पीवै अमृत मन परचंड। खेलै एक एक ब्रह्मंड॥[4]

संतों ने इड़ा पिंगला और सुषुम्ना को गंगा, यमुना, सरस्वती[5] त्रिवेणी आदि[6] प्रतीका-

---

१. बुल्ला शब्द सागर, शब्द १, ८, ६
२. दरिया सागर, चौपाई, पृ० ३
३. दादूबानी, २, शब्द ४०५ पृ० १५६
४. यारी रत्नावली, पृ० ५, ८
५. वही, पृ० ८ धनी धरमदास पृ० ५५, दादूबानी भाग २, शब्द ७१ क० ग्र० पृ० ६३
गुलाल बानी, पृ० ११६
६. क० ग्र० पृ० ८८, ६४, धनी धरमदास, पृ० ७१, दादू भाग २, पद ७३,
धरनीदास १५, पृ० ४७

त्मक शब्दों से अभिव्यक्त किया है। त्रिकुटी के लिए भंवर गुफा,[१] ज्ञान गुफा,[२] गगन गुफा[३] आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। सुषुम्ना नाडी के महत्व को सभी संतों ने एक स्वर में स्वीकार किया है। इसी नाडी के सहारे तो कुण्डलिनी ऊर्ध्वमुखी होकर सहस्रार तक पहुँचती है। कबीर कहते हैं—

चंद सूर दुइ भाठी कीन्हीं, सुखमनि चिगवा लागी रे।[४]

धरनीदास,[५] दरिया साहब,[६] यारी-साहब,[७] धरमदास,[८] गुलाल साहब[९] आदि संतों ने सुषुम्ना की जागृति पर बल दिया है। कुण्डलिनी को सन्तों ने सांपिनी,[१०] नागिन,[११] गोरी,[१२] बालरण्डा आदि विविध नामों से सम्बोधित किया है।

सन्तों ने प्राय: हठयोग साधना का खुलकर समर्थन किया है, उसकी विभिन्न साधनाओं एवं अंगों का विस्तृत वर्णन यत्रतत्र बिखरा पड़ा है, पर उन्होंने क्रमबद्ध विवेचन कहीं भी नहीं किया। इसका प्रमुख कारण उनकी सारग्राही प्रवृत्ति है, जहाँ से जो अच्छा मिल गया, ग्रहण कर वाणी द्वारा अभिव्यक्त कर दिया और हाथ झाड़कर आगे चल दिए, किसी विशेष वस्तु या साधना से चिपट कर नहीं रह गये हैं। यही कारण है कि निर्गुणवादी होते हुए भी सन्तों पर भक्ति का रंग गहरा चढ़ा

---

१. चरनदास १, पृ० ३४-४८ क० ग्र० ८८, यारी रत्नावली, पृ० ३.

२. काया बनखण्ड पायौं चेला। ज्ञान गुफा में रहै अकेला।
दादू २, शब्द २३१, पृ० ९२

३. गगन गुफा में बैठ के...। मलूक, शब्द १३, पृ० २१
तहँ है गगन गुफा गाढ़ो—। धरनी०, शब्द ५ पृ० १५
गगन गुफा के मारग को, तुम धीरज से चढ़ना।
धनी धरमदास, बारह मासा, पृ० ५३.

४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ११०.

५. धरनी दास बानी, पृ० ५, शब्द ९

६. दरिया (मारवाड) बानी, नाद को अंग १५, १६, पृ० १४

७. यारी रत्नावली, ११, अलिफनामा १३, १६ पृ० ८

८. धनी धरमदास बानी, विरह और प्रेम का अंग, शब्द ४, पृ० ११
बारहमासा २, पृ० ५३

९. गुलाल बानी, प्रेम, शब्द ४/७ पृ० ३१, ५/२ पृ० ३१,
मंगल २, ३, ४, पृ० ११९-२०-२१

१०. पलटू बानी २, रेखता ७० पृ० २६

११. 'सोवत नागिन जागी।' वही, रेखता ७१
'पवन पियाय नागिन मारो।, बुल्ला पृ० १६

१२. 'गोरी मुख मन्दिर बाजै।' बीजक, शब्द ८२

है। राम नाम की नौका पर चढ़कर वे भवसागर पार करना चाहते हैं। संसार की ऋद्धि सिद्धियों से उनका कोई लगाव नहीं, वे ऊपर से नीचे तक संत हैं, घर फूंक बैरागी फक्कड़ हैं। सहज उनको प्रिय है सहज से दूर करने वाली हर बात का उन्होंने खण्डन किया है। हठयोगियों का खण्डन वे इसी आधार पर करते हैं कि "हठयोगी मुक्ति नहीं चाहते, उनको तो सर्वभोगकारी अष्टसिद्धियाँ ही प्रिय हैं क्योंकि 'कच्चे सिद्धन माया प्यारी।' अपने मन के संयम से मनुष्य सुखी रह सकता है, हठयोगी अपने मन को वासना रहित नहीं कर सकते क्योंकि ये लोग तो राजा बनकर नाना भोग भोगना चाहते हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि यह वसुधा सदा से कुमारी ही है।[1] हठयोगी आत्म ज्ञान रूपी नौका के आरोहण से वंचित रहकर संसार सागर में डूब जाते हैं।[2] एक अन्य स्थान पर कबीर कहते हैं—

हिरदै कपट हरि सूं नहीं साचौं, कहा भयौं जे अनहद नाच्यौ।[3]

इसीलिए अरे ओ पागल! डंडा, मुद्रा, भेष, आसन, प्राणायाम साधना आदि दूर करके हरि का भजन कर।[4] हरि भजन ही सार है। निर्मल ज्ञान से उसका अन्वेषण करो, व्यर्थ में आसन, पवन साधना अर्थात् हठ निग्रह में अपने आपको क्यों भूले हुए हो?[5] इन विरोधात्मक उक्तियों से स्पष्ट ही ध्वनित होता है कि हठयोग का अनेकशः वर्णन करते हुए सन्तों ने उसे सिद्धान्ततः स्वीकार नहीं किया है।

राजयोग—राजयोग हठयोग के आगे की साधना है। हठयोग जहाँ समाप्त होता है राजयोग वहाँ से प्रारम्भ होता है। हठयोग तो राजयोग की भूमिका है, हठयोग प्रदीपिका में राजयोग को विभिन्न नामों से पुकारा गया है। हठयोग प्राण साधना है तो राजयोग मनसाधना। राजयोग का उद्देश्य सभी प्रकार की मानसिक बाधाओं को हटाकर मन को पूर्णतया स्वस्थ और संयमी बनाना है। पूर्ण विकसित इच्छाशक्ति द्वारा संयत सुदृढ़ मन जिसने पाया है वह सहज ही भौतिक शक्तियों पर

---

१. कहँहि कबीर सुनहू हो सन्तो जोगिन सिद्धि प्यारी।
सदा रहै सुख सजंम अपने, वसुधा आदि कुमारी। बीजक, शब्द ८०
२. बीजक, विचारदास की टीका, पृ० २०७
३. कबीर ग्रन्थावली, पद २७८, पृ० १८२
४. वही पद १०६ परिशिष्ट, पृ० २९५
५. हठ निग्रह करि भूले जोगी। आसन बांधि पवन रस भोगी।
दरिया सागर (बिहार) पृ० ३७-३८
६. राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्य परं पदम्॥
अमनस्कं तथा द्वैतं निरालंबं निरंजनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः। हठयोग प्रदीपिका, ४/३, ४

विजय प्राप्त कर सकता है। मन की वृत्तियों को आन्तरिक वस्तुओं पर स्थिर कर आध्यात्मिक जगत् और विश्वात्मा का पूर्ण परिचय प्राप्त किया जा सकता है। "राजयोगी बिजली की सर्चलाइट के समान मन को केन्द्रीभूत तथा एकोन्मुखी किरणों को जब किसी पदार्थ विशेष पर फेंकता है, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, तब उस वस्तु का रेशा-रेशा जगमगा उठता है।"[1]

प्राण साधना के बाद ही मन साधना सम्भव है क्योंकि जो व्यक्ति पवन को बाँध लेता है वह मन को भी बाँध लेता है और जिसने मन बाँध लिया, संसार की समस्त ऋद्धि सिद्धि उसके द्वार पर दासी बनी खड़ी रहती हैं। मनसाधना से समस्त वासना भस्म हो जाती है। वस्तुतः राजयोग अनन्त शक्तिशाली मन को वशीभूत करने की साधना है।

सन्तों ने मन को मैमंता हाथी[2] कहा है, इसे अंकुश देकर घट में ही रोक लेना उचित है। राम नाम का 'आडा' देकर इस मन को काबू में किया जा सकता है, और जब मन एक बार 'उनमनी' से लग गया फिर कहीं नहीं जा सकता। वास्तव में मन की साधना करने वाला ही 'सूर' है।[3] मन के स्थिर हो जाने पर राम भी प्राप्त हो जाते हैं। दादू कहते हैं—

मन निर्मल थिर होत हैं, राम नाम आनन्द।
दादू दरसन पाइये। पूरण परमानंद ॥[4]

कबीर कहते हैं—

मन गोरख मन गोबिंदौ, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपै करता सोइ ॥[5]

बुल्ला साहब के अनुसार भी यदि मन हरि से स्नेह करता रहे तो मुक्ति कोई कठिन वस्तु नहीं।[6]। भीखा साहब मन को 'सठ' बताते हुए उसे राम नाम जपने का उपदेश देते हैं।[7] यारी साहब के अनुसार जब मन संयमित हो जाता है तो अमृत रस पीकर ब्रह्म से खेल रचाता है।[8]

---

१. कल्याण, योगांक पृ० ७७
२. **मैमंता मन मारि रे, घटहीं मांहै घेरि।**
जब ही चालै पीठि दे, अंकुश दे दे फेरि।
क० ग्र०, मन को अंग १६, २० पृ० २६
३. दादू बानी १, मन को अंग २, ६, ५७, पृ० ६६
४. वही, १५, २२, पृ० ६७
५. क० ग्र० मन कौ अंग १०, पृ० २६
६. बुल्ला शब्दसार, पृ० २६, शब्द मिश्रित ११
७. भीखा बानी, शब्द १२, २१
८. यारी रत्नावली, अलिफनामा १६, पृ० ८

मलूकदास के अनुसार मन के जीते जीत है, इसे जीते बिना सकल साधन क्लेश ही हैं।[1] इस प्रकार मन को संयमित कर ब्रह्म की ओर लगाने का प्रत्येक सन्त ने प्रयत्न किया है।

सहजयोग—सन्तों के इस सहजयोग का सम्बन्ध हम बौद्धधर्म के 'सहजयान' से जोड़ सकते हैं। विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के आस-पास गौतम बुद्ध के उपदेशों को महायान द्वारा देवत्व प्राप्त होने लगा था। उनके उपदेशों तथा वचनों का अपार श्रद्धा के साथ पाठ होने लगा तो सम्प्रदाय के कुछ साधकों ने वचनों के विस्तार को सूक्ष्म और सूक्ष्मतर रूप देकर मंत्रयान का प्रणयन किया। मंत्रयान का सामान्य जनता में खूब प्रचार हुआ, इस कारण कुछ मंत्रयानी साधकों ने भोली भाली जनता की श्रद्धा का अनुचित लाभ उठाकर प्रभूत वैभव एकत्रित करना प्रारम्भ कर दिया, परिणामतः विलासिता को प्रश्रय मिलने लगा। मंत्रों के साथ-साथ हठयोग तथा मैथुनपरक क्रियाओं की ओर भी साधक आकर्षित होने लगे। ऐसे ही साधकों ने अपने विचारों को सुव्यवस्थित रूप देकर 'वज्रयान' के नाम से एक अन्य उपयान का आरम्भ किया। इन वज्रयानी साधकों ने 'महायान' की 'शून्यता' एवं 'करुणा' को क्रमशः प्रज्ञा एवं उपाय के नाम दे दिए और इन दोनों को 'युगनद्ध' की दशा बतलाकर उसे प्रत्येक साधक का अन्तिम लक्ष्य ठहराया।...प्रज्ञा का स्वरूप एक निर्विशिष्ट, किन्तु निष्क्रिय ज्ञान मात्र है, जिसे स्त्री रूप देते हैं, और उसके विपरीत एक सक्रिय तत्व है जिसे पुरुषवत् मानते हैं और इन दोनों का अन्तिम मिलन शिव एवं शक्ति के मिलन के समान परमावश्यक समझा जाता है।[2] ये वज्रयानी साधक किसी नीच जाति की सुन्दरी स्त्री को अपनी महामुद्रा बनाकर उसके सहवास में रहकर दोनों की मनोवृत्तियों में साम्यावस्था लाने का प्रयत्न करते थे। उनका विश्वास था कि तीव्र और कठिन साधनाओं के द्वारा सिद्धि उतनी शीघ्रता से प्राप्त नहीं होती जितनी शीघ्र कामोपभोगों से हो जाया करती है। इस साधना में स्त्री जितनी ही नीच जाति (चाण्डाली, डोमिन आदि) की होगी, साधक को सिद्धि उतनी ही शीघ्रता से मिलेगी। इस प्रकार इन साधकों के अनुसार 'स्त्रीन्द्रिय वास्तव में पद्मस्वरूप है और पुंसेन्द्रिय, उसी प्रकार वज्र का प्रतीक है।[1] कालान्तर में, जैसा स्वाभाविक भी है, इस प्रज्ञोपायात्मक साधना का पतन हुआ और साधारण कोटि के साधक इसका वास्तविक साधनापरक अर्थ विस्मृत कर इसके व्यभिचारपरक रूप के ही आराधक बन गए।

---

१. **कोई जीति सकै नहीं, यह मन जैसे देव।**
याके जीते जीत है, अब मैं पायो भेव॥
मन जीते बिन जो करै, साधन सकल कलेस॥
मलूक बानी, मन, साखी ६८, पृ० ३८

२. **परशुराम चतुर्वेदी**, उत्तर भारत की सन्त परम्परा, भूमिका, पृ० ३४-३५

१. **स्त्रीन्द्रियंच यथा पद्मवज्रं पुंसेन्द्रियं तथा।**
परशुराम चतुर्वेदी, उत्तर भारत की सन्त परम्परा पृ० ३६

परन्तु सभी साधकों की स्थिति एकसी नहीं थी, कुछ साधक (जिसमें प्रसिद्ध ८४ सिद्धों की भी गणना की जाती है) साधना के मूल रहस्य को हृदयंगम करते हुए इसके सच्चे स्वरूप को 'सहज' नाम से अभिहित करने लगे, वे इसके द्वारा सहज सिद्धि' अर्थात् सभी प्रकार की सिद्धियों को सफलतापूर्वक प्राप्त कर लेना सम्भव समझते थे। उनका कहना था कि 'हमारी साधना ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो सके, क्योंकि चित्त रत्न के क्षुब्ध हो जाने पर सिद्धि का होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।'[1] सहजयानी साधकों ने मंत्रयान और वज्रयान के मंत्र, मण्डल आदि बाह्य साधनाओं की उपेक्षा करके योग एवं मानसिक शक्तियों के उत्तरोत्तर विकास पर अधिक बल दिया। उन्होंने वज्रयान के पारिभाषिक शब्दों को अपने सिद्धान्तानुसार परिवर्तित किया, वज्र का अर्थ अब प्रज्ञा (बोधिचित के सार स्वरूप अर्थ में) ग्रहण किया गया। गुरु का महत्व बढ़ गया था। साधना के लिए पांच कुलों—डोंबी, नटी, रजकी, चांडाली एवं ब्राह्मणी की कल्पना की गई। साधक गुरु के निर्देशानुसार किसी एक कुल का सदस्य माना जाता। कुछ मूलभूत अन्तर होते हुए भी वज्रयान और सहजयान दोनों का एक ही लक्ष्य अर्थात् 'महासुख' का पूर्ण आनन्द था। समरस की दशा का ही अन्य नाम 'सहज' था[2] इसी कारण इस साधना को सहजयान के नाम से भी अभिहित किया गया।

सिद्धों, नाथों और सन्तों ने समान रूप से 'सहज' शब्द को स्वीकार किया है, यद्यपि सभी ने एक समान अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है। इसकी प्राचीनता पर प्रकाश डालते हुए डा० धर्मवीर भारती ने[3] 'विष्णु पुराण' (लगभग ४०० ई०) से इसका सम्बन्ध स्थापित किया है जिसमें 'सहजा सिद्धि या स्वाभाविक सिद्धि' का उल्लेख है। बौद्धों ने इसके प्रज्ञोपाय युगनद्धपरक अर्थ को स्वीकार करते हुए प्रज्ञा और उपाय के सहगमन से उत्पन्न तत्व को 'सहज' माना है। नाथ साहित्य में सहज परमतत्व[4], परमज्ञान[5], परमपद[6] या आनन्द, देह के भीतर योगिन या शक्ति से संगम लाभ करने की योग पद्धति[7] एवं जीवन पद्धति[8] आदि विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुआ है। गोरखनाथ सहज तत्व के व्यापारी हैं, वे पाँच बैल (पंचेन्द्रिय) और नौ गाय (शरीर के नवरन्ध्र) का सौदा करने आए हैं।[9] वे सहज को ही जीवन सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं।[10]

१. वही, पृ० ३८
२. वही, पृ० ३९
३. **हिन्दी साहित्य कोश १**, पृ० ८९८
४. **गोरखबानी**, पृ० १००
५. वही, पृ० ११६, १९६
६. वही, पृ० २३१
७. वही, पृ० १००, १०५
८. वही, पृ० ११, ७९
९. **सहज गोरषनाथ वाणिज कराई, पंच बलद नौं गाई।** वही, पृ० १०४
१०. **ठबकि न चलिबा, हबकि न बोलिबा···सहजे रहिबा···।** वही, पृ० ११

सन्तों ने सहज का विविधेन प्रयोग करते हुए भी उसे प्रज्ञोपाय-युगनद्ध परक अर्थ में कभी भी स्वीकार नहीं किया। 'सहज' को बौद्ध (सिद्ध तथा नाथ) परम्परा से ग्रहण करते हुए भी सन्तों का उसी अर्थ में प्रयोग न करने का प्रमुख कारण उनकी अपनी स्वतन्त्र सुधारवादी विचारधारा है। सन्तों ने सामाजिक कुरीतियों पर कसकर प्रहार किया है। जहाँ कहीं भी उन्हें दोष दिखाई पड़ा, वहीं कुठार लेकर उपस्थित हो गए। नारी को साधना मार्ग में बाधक मानते हुए उसे नागिन, डांइन, विष फल, नरक कुण्ड[1] आदि रूपों में चित्रित कर हृदयगत घृणा की व्यापक अभिव्यक्ति की है। सन्तों की वाणियों में तत्कालीन समाज के प्रज्ञोपायात्मक स्वरूप के प्रति व्याप्त व्यापक असन्तोष का स्वर स्पष्ट उभर कर आया है। सन्त घुमक्कड़, सारग्राही और आत्म दर्शी थे, ऐसी अवस्था में वे सहज के युगनद्धपरक रूप को कैसे स्वीकार कर सकते थे? उन्होंने तो सहज के असामाजिक अर्थ को नया रूप प्रदान कर समाज और साहित्य में नया मोड़ उपस्थित किया है। इस सन्दर्भ में जब कबीर कहते हैं—'साधो सहज समाधि भली।' तो इस सहज समाधि से उनका तात्पर्य न तो प्रज्ञोपायात्मक समागम (युगनद्ध) से है और न नाद तथा बिन्दु के मिलन से है वरन् उनका तात्पर्य वाह्य आडम्बरों से रहित, सरल, भावपूर्ण सहज साधना से है जिसमें वे जीवन के सामान्य कार्य करते हुए भी उस राम के प्रेम रस में डूबे रहें। उनकी यह 'उनमुनी' अवस्था उठते बैठते कभी छूटे नहीं, और वे दुख सुख से परे उस परमपद में चिर समाधि ले लें—

आंख न मूंदौं, कान न रूंधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हंसि हंसि, सुन्दर रूप निहारौं॥
सब्द निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुं न छूटै, ऐसी तारी लागी॥
कहै कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
दुख सुख से कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥[2]

सहज साधना की परम्परा में सन्तों पर तान्त्रिक साधना का कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तान्त्रिकों ने योगपरक दृष्टि से सहज की स्थिति को 'धर्ममुद्रा' (करुणा एवं शून्य की अभेद स्थिति) माना है। वे कहते हैं कि मन जब तक विश्व के नाना रूपों में भ्रमणशील रहता है तब तक वह चंचल होने के कारण अशान्त रहता है और जब मन अपनी विशालता में विश्व को समाविष्ट कर लेता है, तब वह स्थिर होकर सहजावस्था को प्राप्त करता है।[3] इसी भाव को कबीर ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि मन जब सहज ही विषयों का त्याग कर दे, सुत, बित, कांमणि आदि के

---

१. **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ३६, ४०, ६१
२. **कबीर शब्दावली**, प्रथम भाग, शब्द ३०, पृ० १६
३. **सुखं न सहजादन्यत् सुखं चासंगलक्षणम् विश्वं स्वसमयं कृत्वा, मग्नः सहजसागरे।**
अद्वयवज्र संग्रह, प्रेम नारायण शुक्ल, सन्त साहित्य पृ० १६५ से उद्धृत

बन्धनों से सहज ही मुक्त हो जाता है तो उस ब्रह्म से सहज ही एकमेव हो जाता है।[1] ब्रह्मानुभूति होने पर मन संकीर्णता से ऊपर उठकर विश्व रूप ब्रह्म को अपने में ही अभिव्यक्त हुआ पाता है।

अपनी योगपरक साधनाओं में सन्त सहजयोग के अधिक समीप हैं। योग की अन्य साधनाओं में तो 'कोटि उपाधि' रहती हैं पर उनको 'सहज' में बदल देने पर वे ही सुखकारक हो जाती हैं। द्वन्द्व रहित साधना को सन्तों ने सहजयोग कहा है। कबीर के शब्दों में वही साधना श्रेष्ठ है जिसके लिए साधक को किसी प्रकार का प्रयत्न न करना पड़े, वह हरि तो सर्व निरन्तर है उसी में साधक का तन है और उसी तन में हरि है। फिर 'सहजे होई सु होइ रे।'[2] सन्त अपने ब्रह्म को सहज की रसमय स्थिति में लाकर प्राप्त करना चाहते हैं, यह रसमय स्थिति जीवन की सहज प्रक्रिया से ही उत्पन्न हो सकती है, ब्रह्म को सहज साधना से प्राप्त कर लेने पर ही तन्मयी[3] स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इस तन्मयी स्थिति को प्राप्त करने के लिए साधक का तड़पना स्वाभाविक है। वह उसे अपना सारा जप तप दलाली में देने को तत्पर हो जाता है जो सहज द्वारा उस रामरस की एक बूंद भी दिला दे।[4] कबीर के अनुसार सहजयोगी ही जोगेश्वर है—

कहै कबीर सोइ जोगेस्वर, सहज सुनि ल्यौ लागै।[5]

हठयौगिक शब्दावली में कबीर कहते हैं—

गंग जमुन उर अन्तरैं, सहज सुंनि ल्यौ घाट।
तहां कबीरे मठ रच्या, मुनि जन जौवैं बाट।[6]

दादू ने सहज की साधनापरक अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

सहजैं मुद्रा अलख अधारी, अनहद सींगी रहणि हमारी।[7]
तन मन पवना पंच गहि, निरंजन ल्यौ लाइ।
जहें आतम तहें परआतमा, दादू सहजि समाइ।
सहज जोग सुख मैं रहै, दादू निर्गुण जाणि।[8]

१. **जिन्ह सहजैं विषिया तजी, सहज कहीजै सोइ।**
सहजैं सहजैं सब गए, सुत बित कांमणि काम।
एकमेव ह्वै मिलि रह्या, दासिक बीरा राम।।
क० ग्र० सहज कौ अंग १. ३ पृ० ४१-४२

२. वही, पद १५, परिशिष्ट पृ० २६६,

३. वही, पद १५२, परिशिष्ट, पृ० ३१२

४. वही, पद १५५ पृ० १३८-३६

५. वही, पद ६६, पृ० १०६

६. वही, लैकौ अंग ३, पृ० १८

७. **दादू बानी** २, शब्द २३१, पृ० ६२

८. वही, भाग १, लय को अंग ५, ३३ पृ० ८१, ८४

इस प्रकार जीवन की सहज स्वाभाविक गति को ही संतों ने सहजयोग माना है। साधना के समस्त बाह्य उपकरण सहज साधना के समक्ष व्यर्थ हैं। मन निग्रह करना ही योगी का ध्येय होता है। सन्तों के सहजयोग में योगी वास्तविक अर्थात् भौतिक मुद्रा धारण न करके मन की मुद्रा धारण करता है। साधना में मग्न मन को वह कहीं भी नहीं जाने देता। रात दिन सहज रूप से जप तप चलता रहता है, वह मन में ही 'खपरा', सींगी धारण करता है।[1] उसका वास्तविक भौगिक स्वरूप उसकी साधना में ही निहित है। सहज साधना में निमग्न मन से विकार स्वाभाविक रूप से दूर हो जाते हैं, समस्त भ्रम भाग जाता है और आत्मा परमात्मा के साथ क्रीड़ारत हो जाती है।[2]

(घ) संख्यावाचक प्रतीक

साहित्य में संख्यात्मक प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् में 'एकोऽहं बहुस्याम्' कहकर संख्या के महत्व को स्पष्ट किया है। तीन, पांच, सोलह आदि संख्याएं तो बहुत प्रख्यात हैं, अन्य संख्याओं का भी महत्व है। सांख्य में तीन शब्द—तीन गुण—सत्व, रज, तम; तीन व्याधियाँ—दैहिक, दैविक, भौतिक; तीन तत्व—ईश्वर, जीव, प्रकृति; तीन देव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि विभिन्न वस्तुओं का प्रतीक है। पांच शब्द भी पाँच प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान; पंच तत्व—क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर; पंचेन्द्रिय–आंख, नाक, कान, रसना, त्वचा; पंचावगुण – काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि विभिन्न वस्तुओं का प्रतीक है। सोलह—सोलह संस्कार, चन्द्र की सोलह कला, आदि का प्रतीक है। वेद भी जहां पाँच (महाभूत) तीन (गुण) और सोलह (संस्कारों) आदि का प्रयोग करते हैं, वहां वह सांख्य का ही प्रतिपादन करते हैं। सन्तों में भी संख्या अपने प्रतीकात्मक सन्दर्भ में प्रयुक्त हुई है। वहां भी एक विशेष संख्या एक या अनेक वस्तुओं का प्रतीक बनकर आई है। इन संख्यावादी प्रतीकों के प्रयोग में सन्तों ने जहां परम्परागत अर्थों को ग्रहण किया है, वहां तत्कालीन समय का प्रभाव भी स्वीकार करते हुए अपनी साधन पद्धति के अनुसार उनकी व्याख्या की है।

सन्तों के संख्यावाची प्रतीक अद्वैतवाद, सांख्यवाद तथा हठयोग से प्रभावित हैं। पाँच और पच्चीस की संख्या सन्तों को कुछ विशेष प्रिय रही है। प्रायः सभी सन्तों ने पांच पच्चीस का किसी न किसी रूप में उल्लेख किया है। कबीर कहते हैं—

पाँच पचीस के धक्का खाइन,
घरहु की पूंजी आई गँवाय।
पाँच पचीस तीन कै पिंजरा, तेहि माँ राखि छिपाई हो॥

१. **कबीर ग्रन्थावली**, पद २०३, पृ० १५८
२. वही, पद २०३, पृ० १५७
३. वही, २, पृ० ४३-४८

दादू ने पाँच को पंच कर्मेन्द्रिय, पच्चीस को २५ प्रकृतियों को प्रतीक माना है—

काया के अस्थल रहै, मन राजा पंच प्रधान ।
पचिस प्रकिरती तीन गुण, आपा गर्व गुमान ।।[1]

सन्त सुन्दरदास ने पांच को पंच तत्व का द्योतक प्रतीक माना है—

पंच तत्व को देह जड़, सब गुन मिलि चौबीस ।
सुन्दर चेतनि आतमा, ताहि मिलै पच्चीस ।।[2]

पंचेन्द्रिय का प्रतीकात्मक वर्णन भी द्रष्टव्य है—

गज अलि मीन पतंग मृग, इक इक दोष विनाश ।
जाकै तन पंचौं बसैं, ताकी कैसी आश ।।[3]

यहां गज = त्वचा, अलि = नासिका, मीन = जिह्वा, पतंग = नेत्र और मृग = श्रवण का प्रतीक है । हाथी का स्पर्श सुख से, भ्रमर का गंध सुख से, मीन का रस सुख से, पतंग का रूप सुख से और मृग का नाद सुख से नाश होता है अर्थात ये अपने विशेष सुख के कारण ही बाँधे जाकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं । कवि की व्यंजना कितनी मार्मिक है कि जिसमें ये पाँचों सुख एक साथ विद्यमान हैं उसका क्या हाल होगा ? अर्थात् बिहारी के शब्दों में 'आगे कौन हवाल ।' पाँच पच्चीस का प्रयोग सन्त रज्जब,[4] धनी धरमदास,[5] धरनीदास,[6] दरिया साहब (बिहार)[7] मलूकदास,[8] यारी साहब,[9] गुलाल साहेब,[10] दूलनदास,[11] बुल्ला[12] आदि संतों ने भी विभिन्न रूपों में किया है ।

सन्तों द्वारा वर्णित (विशेष रूप से कबीर के सन्दर्भ में) अन्य अंकों (दस तक) का प्रतीकात्मक प्रयोग द्रष्टव्य है—

एक = ब्रह्म (सन्त कबीर, पृ० १५८)

दो = ईश्वर, जीव (बीजक १), इडा, पिंगला (बी०, ६४) लोक परलोक (बी० २६, रमैनी, २६)

तीन = त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु, महेश (बी० रमैनी, २) तीन गुण—सत, रज,

---

१. **दादू बानी** १, परचा को अंग १२८, पृ० ५३
२. **सुन्दर ग्रन्थावली**, पृ० ७७६
३. **सन्त सुधा सार**, सुन्दरदास, पंचेन्द्रियनिर्णय १, पृ० ५८३
४. **रज्जबबानी**, पृ० १५
५. **धनी धरमदास बानी**, पहाड़ा ५, पृ० ७१
६. **धरनीदास** बानी, कवित्त २, पृ० ३४
७. **दरिया सागर** पृ० २४, ३८, ४१
८. **मलूकबानी**, मिश्रित ७, पृ० २६
९. **यारी रत्नावली** शब्द ४ पृ० १२,
१०. **गुलालबानी**, उपदेश, शब्द ७, ८, १३, १४, १६, २०, २२
११. **दूलन बानी**, शब्द ४ पृ० २
१२. **बुल्ला शब्द सागर**, शब्द ४ पृ० २

तम (बी० २६, ३२, ५३, बसंत, ३)ताप—दैहिक, दैविक, भौतिक (बी० रमैनी, ६२) तीन भवन (बी० ६६)

चार=अंत:करण चतुष्टय=मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार (बी० ५४, साखी १३०)

पांच=ज्ञानेन्द्रिय (बी०, १६, ६२) पंच तत्व (बी० ६२, बसंत ७, बेलि, १) **पंच** प्राण (बी० ६५), पंच विषय=रूप, रस गन्ध, शब्द, स्पर्श (बी० ३)

छ:=षट्चक्र (बी० ८२) षट् दर्शन (बी० रमैनी, १, २२ हिंडौला, १) षट रस (बी० रमैनी २२)

सात=सप्तधातु—रस, रक्त, माँस, बसा, मज्जा, अस्थि, शुक्र (बी० १५)

आठ=अष्टकमल (बी०, बसन्त, २), अष्टसिद्धि (बी०, रमैनी ६४)

नव=नवग्रह (बी०, १) नवद्वार (बी०, १५), नवकोश—अन्न, शब्द, प्राण, आनन्द, मनोमय, प्रकाश, ज्ञान, आकाश तथा विज्ञानमय कोश (बी० साखी ५०)

दस—दस इन्द्रियां=पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, (बी०, १५) दस द्वार (बी० ७२)

(ङ) विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

उलटबाँसी, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है, काव्य का वह रूप है जिसमें किसी भाव, धारणा या विचार को ऐसे माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है जो अपने बाह्य रूप में नितान्त असंगत, अतार्किक और लौकिक धरातल पर अघटित हो, पर आन्तरिक रूप में, प्रतीकार्थ स्पष्ट हो जाने पर एक नूतन, गूढ़ार्थ की चमत्कारिक अभिव्यंजना करे। उलटबांसी का आदि स्रोत योग ही है। योग के आठ अंग माने गए हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। उलटबाँसी के विवेचन में प्रत्याहार का विशेष महत्व है जिसमें साधक इन्द्रियों की बहुर्मुखी गति की अपेक्षा अन्तर्मुखी गति की आवश्यकता पर विशेष बल देता है; ऐसी अवस्था में बाह्य वस्तुएँ अन्तरतम में जाकर 'उलट' जाती हैं; बाह्य सांसारिकता आध्यात्मिकता में बदल जाती है; कवि-साधक तद्विषयक अनुभूति का वर्णन भी उसी उलटे रूप में करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष अपने सामान्य रूप से उलट कर मोक्ष, काम, अर्थ और धर्म हो जाते हैं; साधक को सारा संसार उल्टी दिशा में बहता दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार उलटबाँसी का क्षेत्र तात्विक ही है, बाह्य रूप में इसका रूप कितना ही असंगत और विरोधी क्यों न जान पड़े।

काव्य का यह रूप प्राचीन काल से ही काफी लोकप्रिय रहा है। वेदों और उपनिषदों से पोषित इस परम्परा का सिद्ध नाथ साहित्य में पर्याप्त विकास हुआ है, सन्तों ने यह परम्परा मुख्य रूप से सिद्धों और नाथों से ही ग्रहण की है।

इस शैली के प्रचलन का मूल कारण यह था कि तन्त्रों के साधक अपनी साधनाओं को प्राय: गुप्त रखने के उद्देश्य से ऐसी शैली का आश्रय ग्रहण करते थे जिनमें प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द रूपकों पर आश्रित होने के कारण गूढ़ से

गूढ़तर हो जाते थे। पाली भाषा में उपलब्ध महात्मा बुद्ध के विचारों के वास्तविक मर्म को समझकर बौद्ध आचार्यों ने रूपकों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति प्रारम्भ की और धीरे-धीरे रूपकों की दुरूह शैली दुरूहतर होती गई। यहां तक कि तान्त्रिक साहित्य में प्रयुक्त रूपकों का अभिप्राय: ही समझना एक प्रकार से टेढ़ी खीर हो गई। बाद में पारिभाषिक, सांकेतिक तथा रहस्यात्मक शब्दों की सप्रयास खोज की जाने लगी। 'सन्धा भाषा' में अभिव्यक्त ये प्रयोग सिद्धों और नाथों की बानियों में सर्वत: मिलते हैं। सन्तों में यह परम्परा कुछ विकसित और सुधरे रूप में मिलती है।

उलटबाँसियों का वर्गीकरण—कबीर साहित्य का विवेचन करते हुए सन्त साहित्य के मर्मज्ञ परशुराम चतुर्वेदी[1] ने इसका वर्गीकरण दो प्रकार से किया है—एक तो विषय के आधार पर और दूसरा उनके द्वारा प्रयुक्त किये गए उपमानों के आधार पर। पहले प्रकार के अनुसार पाँच भेद किए हैं—

(१) वे, जिनमें सांसारिक भ्रम, प्रपंच, व्यवहार जैसे विषय आते हैं तथा जो कबीर साहब की व्यक्तिगत समस्याओं की चर्चा करती हैं,

(२) वे, जिनमें साधनात्मक रहस्यों का परिचय पाया जाता है,

(३) वे, जिनमें ज्ञान, विरह, सहजानुभूति अथवा आध्यात्मिक जीवन तथा वर्णन रहा करता है,

(४) वे, जिनमें आत्म ज्ञान, माया, काल, सृष्टि एवं मन जैसे विषयों का स्वरूप विवेचन रहता है और

(५) वे, जिनके द्वारा कबीर साहब सर्वसाधारण को किसी न किसी रूप में उपदेश देते जान पड़ते हैं।

डा० सरनाम सिंह[2] ने उलटबाँसी में विरोध मूलक अलंकार को प्रमुख मान कर उसका वर्गीकरण किया है।

हम उलटबाँसियों की प्रतीक योजना का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) योगपरक उलटबाँसियों में प्रतीक,
(२) तात्विक उलटबाँसियों में प्रतीक,
(३) उलटबाँसियों में विरोध मूलक अलंकार प्रधान प्रतीक योजना,
(४) उलटबाँसियों में अद्भुत रस प्रधान प्रतीक योजना,
(५) मानव शरीर तथा संसार से सम्बन्धित प्रतीक,
(६) उपदेश परक प्रतीक,

(१) **योगपरक उलटबाँसियों में प्रतीक**—हठयोग की समस्त प्रक्रियाओं का मूलाधार सर्पाकार कुण्डलिनी है। इसी का उद्बोधन और षट्चक्र भेदन कर मेरुदण्ड के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाकर योगी-साधक अमरत्व प्राप्त कर सकता है। नाथ साहित्य में हठयोग की इस प्रक्रिया का कबीर आदि सन्तों ने विस्तार से वर्णन किया

१. **कबीर साहित्य की परख**, पृ० १६२-६३
१. **कबीर एक विवेचन**, पृ० ३३२

है। अपने एक पद में कबीर कहते हैं—

पहिला पूतु पिछै री माई। गुरू लागो चेले की पाई।
एकु अचंभउ सुनहु तुम भाई। देखत सिंघ चरावत गाई।।
जल की मछली तरवरि बिग्राई। देखत कुतरा लै गई बिलाई।
तलै रे बैसा ऊपरि मूला। तिस कै पेड़ि लगे फल फूला।।
घोरे चरि भैंस चरावन जाई। बाहरि बैलु गोनि घरि आई।
कहत कबीर जु इस पद बूझै। राम रमत तिस सभु किछु सूझै।।[1]

ऊपर से देखने पर सारा कार्य व्यापार अजीब सा लगता है पर यहां कबीर ने मानवेतर प्राणियों और पदार्थों द्वारा मूलाधार स्थित कुण्डलिनी तथा उसके षट्चक्र भेदन की यौगिक प्रक्रियाओं का सुन्दरता से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि पहले पुत्र (जीव) पैदा हुआ और पीछे माता (माया) उत्पन्न हुई; गुरु (शब्द) अपने शिष्य (जीवात्मा) के चरण स्पर्श करता है। हे भाई, तुम यह आश्चर्य सुनो कि तुम्हारे देखते हुए गाय (वाणी) सिंह (ज्ञान) को चरा रही है। जल की मछली (कुण्डलिनी) अपनी क्रियात्मक शक्ति से पेड़ (मेरुदण्ड) पर जाकर जनती है। आंखों के ही सामने कुत्ते (अज्ञानी) को बिल्ली (माया) उठाकर ले गई। एक वृक्ष है (सुषुम्ना नाड़ी) जो नीचे तो बैठा हुआ है अथवा जिसके पत्ते तो नीचे हैं, और जड़ें ऊपर हैं। ऐसा पेड़ फल फूल (चक्र और सहस्रदल कमल) से परिपूर्ण है। घोड़ा (मन) तो संसार की विषय वासनाओं को ग्रहण (चरना) करता है और भैंस (तामसी वृत्तियाँ) उसे इस विषय की ओर अग्रसर करती है। बैल (पंच प्राण) तो बाहर ही खड़ा रहता है और गोनि (स्वरूप की सिद्धि) घर के भीतर स्वयं चली जाती है। अर्थात् पंच प्राण (इन्द्रियां) तो बाह्य जगत् में निमग्न रहती है और मन के भीतर जो परमतत्वरूपी स्वरूप सिद्धि है वह जीव के अज्ञान के कारण उससे विलग ही रहती है। कबीर कहते हैं जो इस पद को समझता है वह राम में रमण करता है और संसार का सारा रहस्य उसे सहज ही ज्ञात हो जाता है। अन्यत्र भी कबीर ने इसी आशय के एक पद में कहा है—

उलटि गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं व्यंब प्रकासै।।
डाल गह्याँ थैं मूल न सूझै, मूल गह्याँ फल पावा।
बँबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महा रस खावा।।
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनकि पारधी मारयो, यहु अचिरज कोई बूझै।।
धरती बरसै अंबर भीजै, बूझै बिरला कोई।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसां की बांणीं।।[2]

प्राणायाम द्वारा ब्रह्माण्ड में चढ़ाई हुई श्वासा रूप गंगा नाना शोक सन्ताप रूप समुद्र को सोख लेती है। समाधिकाल में बाह्य प्रपंच नहीं भासता है और वही उलटी गंगा

१. सन्त कबीर, रागु आसा २२, पृ० ११२
२. कबीर ग्रन्थावली, पद १६२

चन्द्र (इडा) तथा सूर्य (पिंगला) को भी ग्रस लेती है। भाव यह है कि योगी जब सुषुम्ना काल में ध्यान लगाते हैं तब सुषुम्ना नाड़ी के चलने से उक्त सूर्य और चन्द्र का लय हो जाता है। पश्चात् नवों द्वारों को बन्द कर 'जोगिया' (योगी) निश्चल हो जाते हैं। इस प्रकार स्थिर चित्त होने से जल में (ब्रह्माण्ड में) बिम्ब का प्रकाश होता है अर्थात् ब्रह्म ज्योति का दर्शन होता है।[1]

(२) **तात्विक उलटबाँसियों में प्रतीक**—भारतीय समाज की विचारधारा पर दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा है। जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करने में प्रत्येक साधक उत्सुक रहा है। सन्तों ने अपनी प्रतीक योजना में ऐसी उलटबाँसियों का प्रयोग खुले रूप में प्रयोग किया है जिनमें ब्रह्म, जीव, प्रकृति, माया, संसार आदि के तात्विक विवेचन का प्राधान्य है। यह तात्विक विवेचन दो रूपों में मुख्य रूप से किया जा सकता है—एक तो मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से और दूसरा मानवेतर प्राणियों तथा वस्तुओं के माध्यम से।

(क) **मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से प्रतीक योजना**—सन्तों ने मानवीय सम्बन्धों को लेकर जिस तात्विक विवेचन को प्रधानता दी है उसमें ब्रह्म, जीव, माया और संसार का ही चित्रण है।

कबीर के अनुसार माया सृष्टिपरक शक्ति है, इसके बिना तो ईश्वर और देवताओं की रूपकल्पना भी असम्भव है; इसीलिए स्त्री (माया) ही सर्वोपरि है, उसी ने अपने स्वामी (देवताओं, ईश्वर के अनेक रूपों) को जन्म दिया है। पुत्र ने (अज्ञान) अपने पिता (मन) को अनेक प्रकार से (खेल) खिलाया है और बिना तरलता का दूध (थोथा ज्ञान) उसे पिलाया है। हे लोगो, कलियुग की इस परिस्थिति को तो देखो कि पुत्र (अज्ञान) अपनी माता (माया) को बन्धन मुक्त करा लाया है या संसार में वापिस ले आया है। वह (अज्ञानी) बिना पैर के लात मारता है, बिना मुख के खिलखिलाकर हँसता है, बिना निद्रा के मनुष्य पर शयन करता है और बिना बर्तन (सत्य) दूध (ज्ञान की बातों) का मंथन करता है। बिना स्तन (वास्तविकता) के गाय (मोह ममता) दूध पिलाती है। बिना पथ (ज्ञान) के बहुत से मार्ग (सम्प्रदाय) हैं। कबीर समझा रहे हैं कि बिना सतगुरू के सच्चा मार्ग नहीं पाया जा सकता—

जोइ खसम है जाइआ। पूति बाप खेलाइआ ॥
बिनु स्रवणा खीरु पिलाइआ। देखहुं लोगा कलि का भाउ।
सुति मुकलाई अपनी माउ ॥
पगा बिनु हुरीआ मारता। बदनै बिनु खिर खिर हासता ॥
निद्रा बिनु नरु पै सौवै। बिनु बासन खीरु बिलोवै ॥
बिनु असथन गऊ लवेरी। पैडे बिनु बाट घनेरी।
बिन सतिगुर बाट न पाई। कहु कबीर समझाई ॥[2]

---

१. **बीजक**, विचारदास शास्त्री की टीका, पृ० ९७-९८
२. **सन्त कबीर**, रागु बसन्त, ३, पृ० २३२,

मिथुनपरक सृष्टि तत्व को कबीर ने मानवीय रूप में एक विचित्र स्थिति में रखा है—

एक अचंभव देखिया, बिटिया ब्याहल बाप।[1]

उस ब्रह्म की अनुभूति और उसे शब्दों में अभिव्यक्त करना दोनों ही रहस्य पूर्ण हैं। साधक उस अनुभूति को कहना तो चाहता है पर क्या वास्तव में कह पाता है? कहना कुछ चाहता है, कह कुछ जाता है, लेकिन उसमें भी अबूझ गम्भीरता, सत्य और भावुकता की चरम सीमा के दर्शन यकायक ही हो जाते हैं। वह मिलन बड़ा ही अद्भुत होता है। यूनानी दार्शनिक ड्योनोसिस ने उस मिलनानुभूति को कुछ इस प्रकार कहा है, कि उससे मिलन होने पर उसे कुछ भी देखना सुनना नहीं रह जाता, वह अज्ञान के उस रहस्यमय अंधकार में प्रवेश करता है, जहां बौद्धिक विषमताओं का अन्त हो जाता है। तब वह एक नितान्त अदृश्य और अनिर्वचनीय एवं अगम्य सत्ता में निवास करता है। उस समय वह उसी सत्ता का हो जाता है और अन्ततः इस महान् सत्ता का एक ऐसा अभिन्न अंग बन जाता है कि उसके जानने योग्य कुछ भी नहीं रहता। वह वहाँ पहुँचता है जहां साधारण मनुष्य का मन नहीं पहुँचता।[2]

इस मिलनावस्था का सुख तथा अनुभव सदैव ही वर्णनातीत रहा है। उस समय आत्मा और परमात्मा की दो सत्ता नहीं रहती, दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। आनन्द की इस चरमावस्था पर साधक आँसुओं की आह्लादकारिणी बौछार से परिप्लावित हो जाता है, शब्द डगमगा जाते हैं, जुबाँ बन्द सी बेबस। कहानी तो लम्बी है पर सब तो नहीं कही जा सकती। सूफी कवि जलालुद्दीन रूमी ने कितना सटीक कहा है—

यह कहानी यहीं तक कही जा सकती है,
जो कुछ उसके बाद होता है, शब्दों में व्यक्त करने योग्य नहीं है
इसे व्यक्त करने को तुम सैंकड़ों ढंग अपनाओ और आजमाओ
तो भी व्यर्थ है, इस रहस्य का उद्घाटन नहीं होता है।
तुम घोड़े और जीन की सवारी करके समुद्र तट तक जा सकते हो,
इसके बाद तुम्हें काष्ठवाहन (नौका) से ही काम लेना पड़ेगा।

---

१. **बीजक,** शब्द ६८, पृ० १८८

२. Then is he delivered from all seeing and being seen and passed into the truely mystical darkness of ignorance where he excludes all intellectual apprehension and abides in the utterly impalpable and invisible; being wholly His who is above all, will on other dependance either on himself, or any other, and is made one, as to his nobler part with the bitterly unknown, by the action of all knowings, and at the same time, in the very knowing nothing, be knows what transeends the minds of man."
(De Mystics theologia, Chapt. I, P. 710)

काष्ठ का घोड़ा सूखी भूमि पर बेकार होता है,
किन्तु समुद्र यात्रियों के लिए वही मुख्य वाहन है।
मौन ही यह काठ का घोड़ा है,
मौन ही समुद्र यात्रियों का मार्ग दर्शक और सहारा है।[1]

उस अनिर्वचनीय आनन्द को निर्द्वन्द्व प्राप्त करना बड़ा कठिन कार्य है। माया नाना-विध अपना रूप जाल बिछाए बैठी है, जीवात्मा को एक नजर में ही वह दृढ़ पाश में आबद्ध कर लेती हैं। सभी इन्द्रियाँ माया के ही आदेश पर कार्य करना प्रारम्भ कर देती हैं; माया के इस जाल से छूटकर ही जीवात्मा परब्रह्म तक पहुँच सकती है।

भारतीय दर्शन ग्रंथों में माया के दो रूप माने गए हैं, एक ईश्वरीय माया और दूसरी अविद्या माया। त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है, यह सात्विक गुणों का भण्डार है। ईश्वर अपने सभी कार्य उसी माया से सम्पादित कराता है, परन्तु अहं एवं अज्ञान से आवेष्टित होने पर यह माया अविद्यात्मक माया का रूप धारण कर जीवात्मा को नानाविध भरमाती है। सन्तों ने इसी माया का विविधेन वर्णन किया है। ईश्वर और जीव इस माया रूप कामधेनु के बछड़े हैं जो यथेष्ट द्वैत रूपी दूध पीते हुए भी यथार्थतः अद्वैत है।[2]

सन्त कवियों ने अविद्यापरक माया का ही वर्णन किया है। इसे नारी, बाघिन, सर्पिणी आदि रूपों में चित्रित किया गया है। माया के प्रभाव से कोई एकाध ही गुरु के प्रभाव से बच सकता है। सभी देवी देवता इसके जाल में आबद्ध हो जाते हैं। मायाबद्ध मनुष्य सारे संसार को मायाबद्ध देखना चाहता है। पलटू साहब कहते हैं—

अंधरन केरि बजार में गयो एक डिठियार।
गयो एक डिठियार सबै अंधे उठि धाए॥

क्योंकि सभी मायाबद्ध अन्धे उसे भी अपने जैसा बना लेना चाहते हैं—जहाँ सभी अन्धे हों वहाँ बेचारे एक व्यक्ति की कौन सुने ?—

जहवाँ लाखन अंध एक क्या करे बिचारा।
सुनै न बाकी कोउ तहाँ डिठियारौ हारा॥[3]

यह माया रूपी बाँझ गाय बियाती है तो सारा दूध, दही स्वयं ही खा जाती है। उसका बछड़ा इतना अज्ञानी है कि गाय की चालाकी को नहीं समझ पाता। ब्रह्मा, विष्णु महेश भी इस दूध के प्रभाव से नहीं बच पाते। मनुष्य रूपी पक्षी इसे प्राप्त

---

१. **रेनाल्ड ए० निकलसन,** इस्लाम के सूफी साधक, पृ० १२७,
अनु० नर्मदेश्वर चतुर्वेद

२. **मायाख्याय कामधेन्वा वत्सौ जीवेश्वरा उभौ।**
कामं तौ पिवतां द्वैतं तत्वं त्वद्वैतमेवहि॥ बीजक ग्रन्थ, पृ० २५४
हनुमान जी साहब,

३. **पलटू साहब की बानी,** भाग १, पद १६४, पृ० ८१

करने को महा उत्सुक रहता है।[1] इस माया के खेल अपार हैं। कबीर को उस समय बड़ा आश्चर्य हुआ कि जब महतारी (माया) ने पुत्र (जीव-आत्मा) के साथ सम्बन्ध कर लिया। इतना ही नहीं वह कुंवारी कन्या (माया) ऐसी पागल हो गई है कि उसने अपने पिता (ईश्वर) के साथ भी सम्बन्ध (स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध) कर लिया है। इसके बाद खसम (ईश्वर) को छोड़ कर उसने ससुर (अज्ञान) के पीछे-पीछे चलना प्रारम्भ किया है। इतना ही नहीं इसके बाद वह (माया) अपने भाई (अविवेक) के साथ ससुराल (संसार) में चली आई और यहाँ आकर सासु (वंचक लोगों की वाणी) को अपनी सौत बना लिया। यह सब प्रपंच ननद (कुमति) और भउजि (अविद्या) ने रचा है उसमें जीव को मिथ्या ही कलंक दिया जाता है। वह (माया) समधी (सन्तों) के पास नहीं आती है क्यों वह स्वभाव से ही प्रपंच से सम्बन्ध रखती है। कबीर कहते हैं कि पुरुष (जीव) से नारी (इच्छा) का जन्म हुआ है। यह जीवात्मा अज्ञानवश अपनी कामना से आप ही बन्धन में पड़ जाता है—

सन्तो अचरज एक भौ भारी, पुत्र धइल महंतारी।
पिता के संगे भई है बावरी, कन्या रहलि कुमारी।
खसमहिं छाड़ि ससुर संग गवनी, सो किन लेहु बिचारी।

× × ×

कहंहि कबीर सुनहु हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी।[2]

इसी प्रकार तुलसी साहिब (हाथरस वाले) ने भी कहा है—

धी घर ब्याह बाप ने कीया, माता पुत्र बियाही।
भैया भाव ब्याह बहिनी संग, उलटि रीति चलाइ रे।[3]

(ख) **मानवेतर प्राणियों और वस्तुओं के माध्यम से प्रतीक योजना**—सन्तों ने मानवेतर प्राणियों—चींटी, हाथी, सियाल, गरुड़, दादुर, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, गिद्ध और बैल आदि के माध्यम से भी शरीर, जीव, मन, बुद्धि, गुरु आदि विविध तात्विक रूपों का विवेचन किया है। कबीर कहते हैं—

ऐसे हरिसों जगत लरतु हैं. पंडुर कतहूं गरुड़ धरतु है।
मूंस बिलाई कैसनि हेतू, जंमुक करै केहरि सों खेतू।
अचरज एक देखहु संसारा, सुनहा खेदे कुंजल असवारा॥
कहंहि कबीर सुनहु सन्तो भाई, इहै सन्धि काहु बिरले पाई॥[4]

---

१. **तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय।**
बंझा गऊ बियाय खाय दधि माखन सारा॥

× × ×

तुलसी बूझ बिचार बिन दुनिया दधि को जाय।
तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग १, कुंडलिया २, पृ० ३४

२. **बीजक**, शब्द ६, पृ० १०४

३. **तुलसी साहब की शब्दावली**, उलटमासी १, पृ० १३६

४. **बीजक**, शब्द ३६, पृ० १४४

माया के फन्दे में पड़े संसारी जन उस हरिसों 'लरतु हैं' अर्थात् उससे वंचित हो रहे हैं, यहां तक कि वे हरिजनों से भी लड़ते हैं पर क्या पंडुर (जल का सर्प) गरुड़ को पकड़ सकता है ? बिलाई (वंचक गुरु) मूस (अज्ञानी जीवों) की 'हितू' भला कैसे हो सकती है ? वह तो अपने स्वार्थवश ही प्रेम करती है । इसी प्रकार जम्बुक (अज्ञानी मन) केहरि (निर्भय ज्ञानी पुरुष) से युद्ध करता है, क्या सम्भव है ? एक बड़ा आश्चर्य है कि सुनहा (तुच्छ संसारी जन-मन) हाथी (सर्वात्मज्ञानी आत्मा) पर अधिकार प्रदर्शित करता है ।

इसी प्रकार सुन्दरदास कहते हैं—

> **कुंजर कूं कीरी गिलि बैठी, सिंहहि खाय अघानो स्याल ।**
> **मछली अग्नि मांहि सुख पायो, जल मैं बहुत हुती बेहाल ।।**[1]

यहां कुंजर=अनन्त बाह्य नामों से युक्त मन; कीरी=सूक्ष्म विचार वाली अन्तर्मुखी बुद्धि; सिंहहि=संसै, स्याल=जीव, मछरी=माया ग्रस्त मन; अग्नि=सांसारिक विषय वासना, जल=ब्रह्मानुभूति का प्रतीक है ।

मन और जीव की असहायावस्था का दादू ने सुन्दर चित्र खींचा है—

> **मूनैं यहै अचम्भौ थाये ।**
> **कीडीयै हस्ती बिडरायो, तिन्है बैठी खाये ।**
> **नान्हो हुगै ते मोटो थायौ, गगन मंडल नहि भाये ।**
> **मोटे रा विस्तार भणी जै, तेतौ केन्है जाये ।।**[2]

दादू को यही आश्चर्य हो रहा है कि कीडीयै (मनसा) हस्ती (जीव, मन) को क्षतविक्षत कर उसे खाने बैठी है, यह छोटे कीड़े के समान चींटी नित्यप्रति अपना भोजन (मन से) पाते-पाते मोटी (सशक्त) हो गई है इसीलिए वह मन (जीव) को गगन मण्डल (परब्रह्म) की ओर नहीं जाने देती । माया के इस सशक्त बन्धन से छूटने या बचने का उपाय यही है कि विषय वासनाओं का भोजन देकर इसे मोटा एवं सशक्त न किया जाए, भूखा मार मारकर इसे नष्ट किया जा सकता है । परन्तु आश्चर्य यह है कि यह संसार दही (ब्रह्म) के धोखे में पानी (माया) का मंथन कर रहा है । गधा (कपठी गुरु या कपटी मन) हरी अंगूरी बेल (ब्रह्म ज्ञान) चर रहा है और वह (अपने अहंकार में) हंसता है और रेंकता (हीस हीस करता) रहता है । भैंस (माया) मुख रहित बछड़ा (अज्ञान) उत्पन्न करती है जो पृथ्वीतल पर प्रसन्न होकर (जीवों का) भक्षण करता है । भेड़ (वासना) बकरी के बच्चे लेले (धार्मिक पुस्तकों) का स्तनपान करती है । कबीर के अनुसार राम में रमण करना ही इस माया से मुक्ति का सहज उपाय है—

> **ऐसो अचरजु देखिओ कबीर । दधि कै भौले बिरोलै नीरु ।।**

---

१. **सुन्दर विलास**, विपर्जय को अंग ३, पृ० ८७

२. **दादूदयाल की बानी**, पद २१३, पृ० ८५-८६, रज्जबजी ने भी इसी प्रकार कहा है—'कीडी कुंजर मार गरास्यो' । रज्जब जी की बानी, असावरी १ पद ५

हरी अंगूरी गदहा चरै । नित उठि हासैं हीगै भरै ।।
माता भैंसा अमुंहा जाइ । कुदि कुदि चरै रसातलि पाइ ।।
कहु कबीर परगटु भई खेउ । लेले कउ चूघै नित भेउ ।।
राम रमत मति परगटी आई । कहु कबीर गुरि सोझी पाई ।।[1]

विवेक मनुष्य को सुमार्ग पर ले जाता है पर इस माया का सर्वप्रथम आक्रमण विवेक पर ही होता है । मायावेष्ठित अज्ञानी जन अपनी विवेक दृष्टि को खोकर इतने अन्धे हो जाते हैं कि पानी में (उनके हृदय में) पावक (त्रितापाग्नि) सदैव जलती रहती है परन्तु उनको नहीं सूझता । कितना आश्चर्य है कि गाय (माया)ने नाहर=सिंह (जीव) को खा डाला; हिरण (तृष्णा) ने चीता (सन्तोष) को पछाड़ दिया । कौवे (अविवेक) ने लगर=एक शिकारी पक्षी (विवेक) को अपने पंजे में फंसा लिया और बटेर (अज्ञान) ने बाज (ज्ञान) को जीत लिया । इसी प्रकार मूसे (भय) ने बिलाव (निर्भयता) को खा लिया । स्यार (मन) ने स्वान (अज्ञानी) को खा लिया । एक दादुर (भ्रम) ने पाँच भुजंगों (ज्ञान, विवेक, वैराग्य, शम और दम) को खा लिया ।[2] कबीर कहते हैं (पूर्वोक्त) गुणावगुण, शुभाशुभ के रहने का स्थान हृदय रूप एक घर ही है परन्तु जो प्रबल होता है वह अपने वैरियों को मार भगाता है । वास्तव में ये ही शुभाशुभ गुण दैवी सम्पत्ति तथा आसुरी सम्पत्ति नाम से प्रसिद्ध हैं; दैवासुर संग्राम सदैव हुआ करता है; अतः मुमुक्षुओं को उचित है कि वे उक्त शत्रुओं से अपने को बचाकर रखें, चेतन मन ही अज्ञानान्धकार की गहरी पर्तों को पार कर प्रकाश प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार सन्तों ने मानव तथा मानवेतर प्राणियों और वस्तुओं के माध्यम से तात्विक उलटबाँसियों की जो योजना की है वह आश्चर्य और गहन अनुभूति से ओतप्रोत है ।

(३) **उलटबाँसियों में विरोध मूलक अलंकार प्रधान प्रतीक योजना**—आचार्य भिखारीदास ने विरोध अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है कि कहने में, सुनने में और देखने में कुछ बेमेल बात दिखाई दे तथा अर्थ में भी जहां चमत्कार हो वहां विरुद्ध अलंकार होता है ।[3] विरोधी बात कहने की परम्परा वैदिक काल से आज तक अनवरत चली आई है। सन्तों पर सिद्ध-नाथों का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा है । सिद्ध ढेण्ढणपा के एक चर्यागीत[4] का कबीर ने इस प्रकार वर्णन किया है—

को अस करइ नगर कोटवलिया मांसु फैलाय गीध रखवरिया ।
मुस भौ नाव मंजार कंडिहरिया, सौवै दादुल सरप पहरिया ।
बैल बियाय गाय भैं बंझा बछवहिं दूहहिं तिनि तिनि संझा ।

---

१. सन्त कबीर, रागु गउडी १४, पृ० १६१
२. बीजक, शब्द १११, पृ० २३८-३६ सम्पा० विचारदास शास्त्री
३. काव्य निर्णय, पृ० ३२६
४. बलद बिआअल गविआ बांझे । पिटहु दुहिअइ ए तिनो सांझे ।
निति सिआला सिहे सम जूझअ । टेंटण पाएर गीत बिरलै बूझअ ।
हिन्दी काव्य धारा पृ० १६४

निति उठि सिंघ सियार सों जूझै, कबिर का पद जन बिरला बूझै ॥[१]

इस पद में आए मुख्य प्रतीकों का नेयार्थ इस प्रकार किया जा सकता है—नगर= शरीर, कोटवलिया=गुरुपन, मांस=विषय, गीध=विषयासक्त मन, मूस=अज्ञानी, मजार=स्वार्थी गुरु, कड़हरिया=पार उतारने वाला, दादुल=अज्ञानी, सर्प= अहंकार, बैल=जड़ बुद्धि, बियाय=बढ़ना, गाय=सात्विक बुद्धि, बछवा=संकल्प, सिंह=जीव और सियार=मन ।

धनी धरमदास का एक अमर पद देखिए—

बुढ़िया ने काता सूत, जोलहवा ने बीना हो,
दरजी ने टुक टुक कीन्ह, दरद नहि जाना हो ।
भेड़ी चरावत बाघ, मूस रखवारा हो ।
मेंगुची ने बांधा ताल, सिह के ठाटा हो ।
गोडिया पसारा जाल, ऊंट एक बाझा हो ।
दुलहिनि के सिर मौर बिलारी साजा हो ॥[२]

यारी साहब के उलटे अनुभव में जमीन बरसती है और आकाश भीगता है, उस लोक का नूर इतना तेज है कि बिना रंग के भी रंग छा जाता है । उस लोक की रीति ही अनोखी है क्योंकि मूल के बिना फल उत्पन्न हो जाता है और फल भी पूर्ण लज्जतदार ।[३]

दरिया साहब (बिहार वाले) भी इस विपर्यय लोक की अनूठी झांकी के दर्शन कर चुके हैं । उनके यहां रास्तागीर नहीं थकता, रास्ता थक जाता है, प्यासे को जल अप्राप्य है जबकि अनप्यासे को छककर जल मिलता है । विश्व में फल से बीज प्राप्त होता है परन्तु दरिया साहब का तो लोक ही विचित्र है, वहाँ तो फल को देखते ही बीज नष्ट हो गया, भौंरे का भी स्वभाव बदल गया है, वह सुगन्धि की पराकाष्ठा वाले स्थान पर न जाकर अनवास में लिप्त है। संसार की तो रीति है कि आकाश में तारे ही दिखाई देते हैं परन्तु उस संसार में गगन में तारे ही नहीं चन्द्र और सूर्य का मेला सा लगा दिखाई देता है । अवगति की गति ही न्यारी है वहां न सूर्य है, न पवन, न पानी, जहां छाँव दिखाई पड़ती है वहां धूप भी है, बिना जल के ही नदी का अस्तित्व है और अचम्भा यह है कि उसमें मछली ब्याती है ।[४]

दूलनदास जी कहते हैं कि बिना रसना के ही उन दो अक्षरों की रट लगी

---

१. **बीजक,** शब्द, ६५, पृ० २२० सम्पा० विचारदास शास्त्री
कबीर ग्रन्थावली (पद ८०, पृ० ११३) में यही पद कुछ पाठान्तर से आया हैं।

२. **धनी धरमदास जी की शब्दावली,** शब्द १२, पृ० ३३

३. **यारी साहब की रत्नावली,** झूलना ११, पृ० १५-१६

४. **दरिया साहब (बिहार वाले) के चुने हुए शब्द,** विहागरा ६, पृ० ३५-३६

रहती है जिसके लिए होठ हिलते नहीं, जिह्वा कार्य नहीं करती।[1] पर यह अजपाजाप सबके बूते का नहीं, सच्चा गुरु ही इस गुण को बता सकता है—

गुरु बिन यह घर कौन दिखावै।
जेहि घर अग्नि जरै जल मांही यह अचरज दरसावै॥
कामधेनु जहं ठाढ़ी सोहैं नैन हाथ बिन दुहना।
धाये दूधा थोड़ा देवै भूखै देवै दूना॥[2]

दरिया साहब (मारवाड़ वाले) भी इस अनुभूति को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

साधो एक अचंभा दीठा।
कडुवा नीम कहै सब कोई, पीवै जाको मीठा।
बूंद के माहीं समुंद समाना, राई में परबत डोलै।
चींटी के माहीं हस्ती बैठा, घट में अघटा औलै॥
हिरनी जाय सिंघ घर रोका, डरप सिंघनी हारी।
सोता साह होयकर निर्भय, वस्तु करै रखवारी।
अजगर उड़ा सिखर को डांका, गरुड़ थकित होय बैठा।
भोम उलटकर चढी अकासा, गगन भोम में पैठा।
सिंघ भया जाय स्याल अधीना, मच्छा चढ़ै अकासा।
कुरभ जाय अगना में सोता, देखै खलक तमासा।
राजा रंक महल में पौढ़ा रानी तहाँ सिधारी।
जन दरिया वा पद को परसै, ता जन की बलिहारी॥[3]

इस प्रकार सन्तों ने विरोधमूलक प्रतीक योजना द्वारा जिस अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की है उसमें ब्रह्म, माया, जगत्, जीव, प्रकृति आदि विषय ही प्रमुख हैं।

(४) **उलटबाँसियों में अद्भुत रस प्रधान प्रतीक योजना**—उलटबाँसियों के इतिहास में एक अन्य प्रवृत्ति चमत्कार प्रवृत्ति रही है जिसका प्रारम्भिक स्वरूप अद्भुत के संचार के लिए प्रकट हुआ था। उपनिषद् काल से भी 'अद्भुत' की झाँकी दिखाई देती है और बाद में 'अद्भुत' चमत्कार में परिणत हो गया। इसमें कवि का उद्देश्य अद्भुत शब्द और भाव योजना से पाठक को चमत्कृत करना ही अधिक था, इस प्रयास में भाव तिरोहित ही क्यों न हो जाए, पर कलाबाजी अवश्य रहनी चाहिए। सन्तों ने इस प्रकार की अद्भुत रस प्रधान उलटबाँसियों में भी गम्भीर अर्थ योजना की है। उन्होंने पाठक को चमत्कार, उद्देश्य और आकर्षण के तिराहे पर खड़ा कर जो रसधारा प्रवाहित की है उससे काव्य की पृष्ठभूमि आर्द्र हो उठी है।

---

१. **मंत्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै।**
होठ न डोलै जीभ न बोलै, सूरत धरनि दिढाइ गहै॥
दूलनदास जी की बानी, शब्द ३, पृ० १

२. **चरनदास जी की बानी**, भाग २, भेदबानी, शब्द ७, पृ० ४-५

३. **दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी**, राग गौरी, पृ० ४४-४५

बौद्ध धर्म में तो इस प्रकार की कूटोक्तियाँ गहरी पैठ चुकी थी। चीन और जापान तो इस प्रकार की काव्य प्रवृत्ति के गढ़ ही बन गए। पांचवीं-छठी शताब्दी के सन्त फुदायशी का एक कथन है—

मैं खाली हाथ चला जा रहा हू देखो
मेरे हाथ में एक फावड़ा है।
मैं पैदल चला जा रहा हूं, फिर भी
एक बैल की पीठ पर सवार हूं।
तो देखो, पानी बहता नहीं, पर
पुल बहता जा रहा है।[1]

अद्भुत रस से परिपूर्ण कबीर का एक पद विशेष द्रष्टव्य है जिसमें वे खुली चुनौती देते हैं कि जो इस पद का अर्थ ठीक-ठीक बतावेगा वही सच्चा गुरु है। कपटी गुरु कभी भी जीवात्मा को उससे मिलन का मार्ग नहीं बता सकता। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो, मैंने एक आश्चर्य देखा कि बन्दर गाय को दुह रहा है। बनतरु तो दूध खा पी गए पर घी बनारस भेजा जा रहा है। एक छोटी सिहरी (मछली) के मरने पर मैंने नौ सौ गिद्धों को अघाते देखा। उन्होंने कुछ तो खाया कुछ पृथ्वी पर गिराया और बाकी का गाड़ियों पर लदान किया। हे सन्तो, एक आश्चर्य और भी देखा कि जल के भीतर आग लगी हुई है। पानी जलकर कोयला हो गया पर उसमें रहने वाली मछली को दाग तक नहीं लगा। फिर एक चिउँटी ने पेशाब किया जिससे नदी नाले बह निकले जिसमें ब्राह्मण वधू धोती पखारती है और मल्लाह जाल डालता है। कबीर कहते हैं कि यह महानिर्वाण का पद है इसका अर्थ बताने वाला महा ज्ञानी और सच्चा गुरु है।[2]

---

१. राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १६६ में डा० भरतसिंह उपाध्याय का '**ध्यान सम्प्रदाय**' लेख से उद्धृत

२. नदिया बिच नदिया डूबलि जाई।
एक अचरज हम देखिये सन्तो कि बानर दूलहे गाइ।
बनतरु दुधवा खाइ पी गइले, घीउआ बनारस जाइ।
एक सिहरी के परले सन्तो नौ सौ गीध अघाइ।
कुछ खइले कुछ भुइले गिरवले किछु छड़कन लदाई।
एक अचरज हम देखल सन्तो जल बीच लागलि आगी।
जलवा जरिवरि कोइला भइले, मछरी में ना लागलि दागी।
एक चींटीं के मूतले सन्तों नदी नार बहि जाइ।
बम्हना बहुआ पखारेले धोतिया, गोडिया लगावे महाजाल।
कहत कबीर सुनो भई सन्तो यह पद हव निरवानी।
जो यह पद के अरथ लगइहै सोई गुरु महा ज्ञानी।

दुर्गा शंकर प्रसाद सिंह, भोजपुरी के कवि और काव्य पृ० ३६

यहां एक बात द्रष्टव्य है कि प्रायः सभी सन्तों ने इस प्रकार की कूटोक्तियाँ कही हैं मानों इसी में उनकी पूर्णता भी थी; सभी ने पद के अन्त में एक खुली चुनौती स्वरूप कह दिया है कि इस पद का अर्थ बिरले ही समझ सकते हैं, महापण्डित ही उसका अर्थ कर सकते हैं, जो इस अर्थ को स्पष्ट कर सकेगा वही निर्वाण पद प्राप्त कर सकता है[1] आदि आदि। चमत्कार प्रधान इस शैली का प्रसार केवल सन्तों तक ही सीमित नहीं रहा जन साधारण में भी अपना रौब गाँठने की नीयत से इस शैली का प्रयोग होने लगा। कालान्तर में उसका रूप अधिक जटिल होता चला गया, यहां तक कि वास्तविक अर्थ तो बहुत कुछ तिरोहित हो गया, केवल बाह्य रूप, जो जनसाधारण के लिए शब्द चमत्कार मात्र ही था, शेष रह गया। स्वयं शब्दों का प्रतीकार्थ इतना अधिक परिवर्तनशील रहा कि एक स्थान पर उसका जो अर्थ अभिव्यंजित होता है दूसरे स्थान पर ठीक विपरीत अर्थ व्यंजित होता। काव्य सौन्दर्य इस चमत्कार की ओट में लुप्त प्रायः ही हो गया। इस प्रकार की अद्भुत रस प्रधान रचनाओं में परम्परा निर्वाह तो था ही, साथ-साथ लोक जीवन भी इनसे काफी प्रभावित हुआ है। एक लोकगीत द्रष्टव्य है—

अतरस कह्या न जाय महाराजा जी।
बैठे कुत कमल झांझ बजावै,
गदहा शंख बजावै महाराजा जी ॥१॥
बैठि बिलइया पढ़िया पोरे
बन्दर बहा दिखावै महाराजा जी ॥२॥
बैठि बकरी पान चबावै
मकरा फौज लेके आवै महाराजा जी ॥३॥
भैंस को सींग कसीदा काढ़ै,
पढ़रा बजरिया जाय महाराजा जी ॥४॥

स्पष्ट है इस प्रकार के गीत औरतें ब्याह शादियों के अवसर पर या अन्य किसी उत्सव पर मिल बैठकर गाती हैं तो इसका अर्थ समझना टेढ़ी खीर ही होता है।

(५) **मानव शरीर तथा संसार से सम्बन्धित प्रतीक**—सन्त साहित्य में कुछ ऐसी भी उलटबाँसियां प्राप्त होती हैं जो मानवेतर प्राणियों तथा सांसारिक वस्तुओं के माध्यम से मानव जीवन तथा परिवर्तनशील संसार के अन्धविश्वासों और क्रिया कलापों का वर्णन करती हैं। इन उलटबाँसियों की प्रतीक योजना मानवीय इन्द्रियों, सांसारिक अन्धविश्वासों, काल, माया आदि के चित्र समष्टि रूप में चित्रित

१. **कबीर ग्रन्था०** पद, ९, ११, १६१, १६५, **सुन्दर ग्रन्था०**, द्वितीय खण्ड पद, ९ १८, राग काल्हेडो ३, **दरिया (बिहार)** झूलना तीन, राग विहागरा ४, **यारी साहब की रत्नावली** शब्द १८, कवित्व १४, **मलूक बानी**, सतगुरु महिमा ६, चेतावनी ९१, **चरनदास की बानी २**, भेदवाणी ३१, **दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की बानी**, मिश्रित अंग, पृ० ४५

करती है। सन्तों का विश्वास है कि मानव शरीर एक समन्वय के आधार पर टिका है, पंचतत्वों के संयोग से यह शरीर बना है, यदि ये सभी तत्व अलग-अलग हो जाएँ तो शरीर के अस्तित्व का क्या होगा ? इसी प्रकार जब मानव जीवन की पंच ज्ञानेन्द्रियों के मध्य असन्तुलन हो जाता है, तो जीवन और व्यक्तित्व विघटन की ओर उन्मुख होने लगते हैं। इस असन्तुलन और विघटन के विनाशकारी प्रभाव को रोकने के लिए मन को वशीभूत कर, कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर ब्रह्मरन्ध्र (परमतत्व) की ओर अग्रसर करना होगा ताकि विश्वप्रेम का उदय हो सके। कबीर कहते हैं —

हरि ने षारे बड़े पकाये, जिन जारे तिन खाये।
ग्यान अचेत फिरै नर लोई, ताथे जनमि जनमि डहकाये।
धौल मंदलिया बैल रबाबी, काउआ ताल बजावै।
पहिर चोलना गदहा नाचै, भैंसा निरति करावै॥
स्यंघ बैठा पान कतरे, घूंस गिलौरा लावै।
उंदरी बापुरी मंगल गावै, कछुये आनन्द सुनावै॥
कहत कबीर सुनहु रे सन्तो, गड़री परवत खावा।
चकवा बैठि अंगारै निगलै, समंद अकासै धावा॥[1]

अर्थात् कबीर कहते हैं कि हरि ने नरदेह या जीवन (बड़े) का दान दिया है पर उसका सदुपयोग वही व्यक्ति कर सकता है जो अपनी इच्छाओं तथा विषय-वासनाओं को जला डालता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (धौल मदालिया, बैल रवाबी, कौआ का ताल बजाना, चोलना पहिर कर गधे का नृत्य, भैंसा का निरति कराना आदि) अपने-अपने कार्य में रत हैं, पर यहां यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि किस कृत्य से किस इन्द्रिय का बोध होता है। सब ओर असम्बद्ध कार्य ही हो रहा है, इस कारण अन्तःकरण चतुष्टय भी असन्तुलित अवस्था में है (सिंह का पान कतरना, मूस का गिलौरी लगाना, बन्दरी का मंगलगान गाना और कछुआ का आनन्द मनाना आदि असन्तुलित कार्य व्यापार के द्योतक हैं।) जब मानव की समस्त इन्द्रियों में परस्पर सन्तुलन नहीं रहता तो सारे कार्य व्यापार इसी प्रकार के होने लगते हैं। मन ही इन्हें वश में कर उस परमतत्व की ओर उन्मुख कर सकता है और योगपरक साधनाओं से कुण्डलिनी को जागृत कर परमतत्व से मिलन कर अंगार (विश्व प्रेम) को हृदयंगम कर सकता है।

डा० रामकुमार वर्मा[2] ने इस पद को विवाह रूपक मानते हुए इसे जीवात्मा और माया का विवाह बताया है जिसमें हाथी, बैल, कौआ, गधा और भैंसा (कर्मेन्द्रियां) तथा सिंह, घूंस, चूहा, कछुआ, शशक (ज्ञानेन्द्रियाँ) आदि उत्सव मनाती हैं।

इस प्रकार इस उलटबाँसी में मानवेतर प्राणियों और पदार्थों द्वारा मानवीय कार्य व्यापार तथा सांसारिक कार्यों का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है।

(६) **उपदेशपरक प्रतीक**—सन्त सन्त थे, वे संसार के कल्याण के लिए ही आए थे, भला वे उसे कुमार्ग पर चलता देखते हुए भी चुप कैसे रहते ? कबीर आदि

१. **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ९२, पद १२
२. **सन्त कबीर**, रागु आसा ६, पृ० ९६

सन्तों ने व्यक्ति में, समाज में, धर्म में जहाँ भी अव्यवस्था देखी, अपने उपदेश की ताखी धार से वहीं पर बार किया। बाह्याचार, पाखण्ड, सामाजिक, धार्मिक कुरीतियों और रूढ़ियों के लिए उनके मन में व्यापक असन्तोष था जिसकी उन्होंने समय-समय पर अभिव्यक्ति की है। उनका विद्रोह व्यंगपरक है। वे सन्तों या अवधू को सम्बोधित कर ऐसी करारी चोट करते हैं कि खाने वाला एक बारगी बिलख उठता है। एक प्रतीकात्मक उलटबाँसी द्रष्टव्य है—

अवधू ऐसा ज्ञान बिचारं।
भेरै चढ़े सूं अधधर डूबै, निराधार भये पारं।
ऊघट चले सु नगर पहूंते, बाट चले ते लूटे॥
एक जेबड़ी सब लपटाने के बांधे के छूटे॥
मंदिर पैसि चहुं दिसि भीगै, बहर रहै ते सूका।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूखा॥
बिन नैनन के सब जग देखै, लोचन अछते अन्धा।
कहैं कबीर कछु समझ परी है, यह जग देख्या धन्धा॥[1]

भ्रमपूर्ण संसार पर चोट करते हुए कबीर कहते हैं कि हे सन्तो, यह संसार भी कैसा भ्रमपूर्ण है, इसे जरा विचार कर तो देखो। वे मनुष्य जो अनेकानेक साधना पद्धतियों को अपनाकर, अनेक देवों की उपासना करके इस संसार सागर से पार होना चाहते हैं वे तो मंझधार में डूब जाते हैं; पर जो व्यक्ति निराधार हैं, संसार सागर पार करने के लिए अनेक यानों पर पैर नहीं रखते, एक ही पूर्ण ब्रह्म का आश्रय ग्रहण करते हैं वे सहज ही पार हो जाते हैं। एक साधन, ध्येय और भाव को लेकर ही नर किसी वस्तु को प्राप्त कर सकता है। जो लोग बिना मार्ग के चलते हैं अर्थात् प्राचीन पाखण्डपूर्ण लीक पर नहीं चलते, वे परमपद (सुनगर) तक पहुँच जाते हैं पर जो अन्धविश्वासों तथा घिसी पिटी परम्पराओं की (बाट) लेकर चलते हैं वे मार्ग में ही लूट लिए जाते हैं अर्थात् उन्हें आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति होती ही नहीं। इस संसार में माया ने अपना जाल फैला रखा है, उस माया ने एक ही जेवड़ी (पाश) में सबको जकड़ रखा है, अर्थात् सारा संसार माया मोह में पड़कर पथभ्रष्ट हो रहा है, सही मार्ग किसी को भी नहीं सूझता। इस माया से मुक्ति उसी समय मिल सकती है जब मनुष्य अपनी अन्तरात्मा को पहचानकर उस ईश्वरीय रस (मन्दिर पैसि चहूँदिसि भीगै) में अपने को सराबोर कर दे। उस अमरतत्व की वर्षा से जब आत्मा आपाद मस्तक भीग जाएगी तो समस्त कालुष्य स्वयमेव ही घुल जाएगा, पर जो मनुष्य इस अमृत वर्षा का आनन्द नहीं लेता वह बाहर ही रहता है, सूखा रहता है, ईश्वरानुभूति उसे छू भी नहीं पाती। जिसे गुरु के उपदेश (सरि) लग जाते हैं वे इस संसार के तथ्य को समझकर सुख पाते हैं पर जो गुरु के सर से घायल नहीं वे सदैव आवागमन के ही चक्र में पड़े दुख पाते रहते हैं। जो व्यक्ति शब्द-बाण से घायल हो जाते हैं

१. कबीर ग्रन्थावली, पद १७५, पृ० १४७

वे बिना नयनों के ही सारे जग को देख लेते हैं, लेकिन लोचन वाले अन्धे ही बने रहते हैं। अर्थात् अन्तर्दृष्टि जिसे प्राप्त हो जाती है वे बाह्य रूप से अन्धे हो जाते हैं पर जिन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं होती वे बाह्य नेत्रों से संसार, माया, ब्रह्म आदि के वास्तविक रहस्य को नहीं समझ पाते। कबीर उपदेश देते हैं कि सांसारिक माया में फंसे रहने वाला व्यक्ति नानाविध दुख भोगता है पर जिसके मन में वह बस गया है वह हर प्रकार से सुखी हो जाता है। इसलिए हे सन्तो, संसार का धन्धा समझकर व्यवहार करो, भ्रम दूर कर उस परमतत्व को पहचानो।

निष्कर्ष

भावात्मक रहस्यपरक, दार्शनिक, यौगिक, संख्यावाचक एवं विपर्यय प्रतीक योजना पर समष्टि रूप में विस्तृत अध्ययन के पश्चात् हम साधिकार कह सकते हैं कि सन्तकाव्य की भावभूमि में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति वह प्रबल माध्यम है जो क्या लौकिक और क्या आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीकों के माध्यम से सन्तों ने हृदय की जिस मधुर भावना की अभिव्यक्ति की है, वह बाह्य रूप से लौकिकता के स्तर का स्पर्श चाहे करती हो, पर मूल रूप से वह आत्मिक है, रहस्यवादी है। रहस्य के आँचल के पीछे जीवात्मा (नारी) ने परमात्मा से जो निश्चल सम्बन्ध स्थापित किया है उसमें वह अनेक मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तरों को पार करती हुई अग्रसर हुई है। कवि की विरहिन आत्मा ने प्रिय की ऊँची अटारी तक जाने के लिए न जाने कितने कष्ट साध्य सोपानों को पार किया है और जब कंत आए तो वधू को घर बैठे ही मिल गए। यह सुखानुभूति और मिलन उस रहस्यवाद की सृष्टि करता है जिसमें तत्व चिन्तन और अनुभूति का समन्वय कवि और अध्येता में समरस का संचार कर देता है। सन्तों ने इस प्रेमपरक रहस्य की अभिव्यक्ति न केवल मानवीय रूपों में वरन् मानवेतर प्राणियों द्वारा भी की है, प्रतीक योजना ऐसे स्थलों पर दर्शनीय हो उठी है।

तात्विक (दार्शनिक) चिन्तन प्रधान प्रतीकों में ब्रह्म, जीव, माया, संसार आदि का चित्रण अपने भीतर अद्वैतवादी भावना एवं दर्शन, सगुणवादी भक्तिदर्शन और प्रेरपरक सूफी भावना को एक साथ समेटे हुए है। सन्तों का ब्रह्म निराकार भी है, और निराकार के वेश में साकार भी। जीव ब्रह्मांश है, मायावरण के छिन्न होते ही ब्रह्ममय हो जाता है, संसार उसी ब्रह्म की माया का पसारा है। वस्तुतः संसार अर्थात् दृश्यमान जगत की अभिव्यक्ति, स्थिति और लय ब्रह्म से है, ब्रह्ममय है। निरंजन, शून्य, सहज आदि शब्द ब्रह्मवाचक तो हैं ही, एक विशेष भावधारा का द्योतन भी करते हैं। परम्परा से प्राप्त इन शब्दों के द्वारा आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन भी किया हैं और सत्य का अन्वेषण भी। इन शब्दों के विकारों को अपनी भाव साधना की चोट से ध्वस्त कर उन्हें सच्चे अर्थ में प्रयुक्त किया है।

दार्शनिक तथा यौगिक विचारधारा को अपनाकर भी ये सन्त उसी के होकर नहीं रह गए हैं। वस्तुतः सन्तों ने जिस समन्वयात्मक रूप का साधना क्षेत्र में अभ्युदय

किया है, उसने उनकी साधना को एक नया मोड़ ही दे दिया है। उन्होंने 'सहज' में सभी साधनाओं की जटिलता का समापन कर दिया है, उनकी दृष्टि में 'सहज पके सौ मीठा होय' सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। योग के विभिन्न प्रकारों (अष्टांग योग आदि) का उनकी बानियों में विस्तृत वर्णन हुआ है। हठयोग से सन्तों का विशेष लगाव भी रहा है, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, चक्र, अनाहद आदि का स्थान-स्थान पर चित्रण हुआ है, पर सन्तों ने हठयोग की कष्ट साध्य साधना को सिद्धांत रूप में कभी भी स्वीकार नहीं किया है। वह हठयोग, नाड़ी एवं प्राण साधना व्यर्थ है यदि उसमें भक्ति का समावेश नहीं है। भक्ति रहित साधना का सन्तों ने विरोध किया है। वे आसन लगाकर बैठने के पक्ष में नहीं हैं। मन ही उनका आसन है, चलते, बैठते, उठते, सोते, जागते अर्थात् जीवन के सामान्य कार्यों में रत रहते हुए भी वे जिस योग की साधना करते हैं उसे सहजयोग कहकर समादृत किया है। इस प्रकार समस्त योग साधनाओं को 'सहज' के द्वार पर लाकर खड़ा कर देना सन्तों की अपनी विशेषता है। वैसे सहज की परम्परा प्राचीन रही है, पर सन्तों का सहज सबसे भिन्न है— न्यारा है।

अद्वैत, सांख्य, हठयोग आदि से प्रभावित होकर जिन संख्यावाची शब्दों का प्रतीकात्मक चित्रण सन्तों में पाया जाता है उसमें उनका व्यक्तित्व भी स्पष्ट झलकता है। एक ही संख्या विभिन्न वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होकर अद्भुत चमत्कार की सृष्टि करती है।

वैदिक परम्परा से उद्भूत और सिद्ध-नाथों से पोषित उलटबाँसी की परम्परा ग्रहण कर सन्तों ने उसमें नए-नए क्षेत्रों की उद्भावना की है। कहीं वे उपदेश देते दिखाई पड़ते हैं तो कहीं ब्रह्म, जीव, संसार, माया, आदि तात्विक समस्याओं पर मत प्रकट करते हैं, तो कहीं विविध अलंकारों (विभावना[1], असंगति,[2]

---

१. **बिन चरणन को दहुँ दिशि धावै, बिन लोचन जग सूझै।**
बीजक, शब्द २, पृ० ६७

रामुरा (य) झीझी जंतर बाजै, (कर) चरन बिहूना नाचै।
कर बिनु बाजै सुनै स्रवन बिन, स्रवन सरोता सोई।
बिज बिन अंकुल पेड़ बिनु तरिवर, बिनु फूले फल फरिया।
बांझ कि कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पगु तरिवर चढ़िया।
मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागद, बिनु अच्छर सुधि होई।
सुधि बिन सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहि कबीर जन सोई॥
बीजक, शब्द १६, पृ० ११४

अन्धा तीन लोक कूं देखै, बहिरा सुनै बहुत बिधि नाद।
नकटा बास कमल की लेवै, गूंगा करै बहुत संवाद॥
सुन्दर विलास, विपर्जय का अंग, पृ० ८७

२. **आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार।** कबीर ग्रन्था०, पद १९६
आगमि बेलि अकास फल अण व्यावण का दूध। वही, पृ० ८६

असम्भव,[१] विषम,[२] अधिक[३], आदि) की छटा छिटकी हुई है। तात्पर्य यह है कि जीवन और काव्य के प्रत्येक क्षेत्र का इन सन्तों ने व्यापक चित्रण किया है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि सन्तों ने प्रतीकों का जो हिमालय सम ऊँचा पर्वत खड़ा किया है, उससे एक ओर आध्यात्मिकता की गंगा प्रवाहित हो रही है तो दूसरी ओर दार्शनिकता की यमुना कलकल छलछल करती मानस-भावभूमि को आप्लावित करती चलती है। योग के उच्च शिखर पर चढ़कर जिस चित्र के दर्शन होते हैं उसमें जीवन का सत्य झलक उठता है, जीवन की पवित्र भूमि में समस्त विकार समूल नष्ट हो गए हैं, अन्धकार तिरोहित हो गया है। और इस प्रकार सन्तों का यह विस्तृत प्रतीक विधान जिस अलौकिक जगत की सृष्टि करता है उससे सहृदय की मनश्चेतना नव प्रकाश और नव उमंग से भर उठती है।

---

१. बैल बियाय गाय भई बांझ, बछरा दूहे तीन्यू सांझ। वही, पद ८०
२. आकास मुखि औंधा कुआं, पाताले पनिहारि। वही १६, परचा कौ अंग ४५
३. जिहि सर घड़ा न डूबता, अब मैंगल मलि मलि न्हाय।
देवता बूड़ा कलस सूं, पंखि तिसाई जाय॥ वही, रस कौ अंग ७ पृ० १७,

७. सन्त साहित्य : परिचयात्मक विवरण

(प्रतीक योजना की दृष्टि से)

प्रतीकात्मक दृष्टि से सन्त साहित्य एक ऐसा अथाह सागर है कि उसकी गहराइयों में उतरकर सहृदय जितने नीचे तक पहुँचाता है उतने ही नवीन और अननुभूत रत्नों को प्राप्त कर लेता है। देव और दानवों द्वारा मथित समुद्र तो केवल चौदह रत्न देकर ही रिक्त हो गया था पर सन्त साहित्य-सागर तो एक से एक नवीन प्रतीक-रत्न देकर भी चिर नवीन बना हुआ है। इन प्रतीक-रत्नों में भाषा, भाव और रूप की दृष्टि से इतनी विचित्रता और विविधता है कि प्रत्येक रत्न एक दूसरे से अधिक चमकीला, अधिक प्रभावशाली दीख पड़ता है। इन प्रतीकों में कहीं प्रेमसिक्त भक्ति का सौन्दर्य-प्रवाह है तो कहीं गहरी दार्शनिकता की आभा, कहीं यौगिक साधनात्मक रहस्य झिलमिल झिलमिल करता सहृदयों को चकाचौंध कर देता है तो कहीं विपर्यय अनजाने लोक का दिग्दर्शन कराता हुआ मानस में एक विचित्र ही बीज का वपन कर देता है। जीवन की भावभूमि पर जो अनुभूत्यात्मक चित्र सन्तों ने खींचे हैं उनका व्यापक दिग्दर्शन कराने की दृष्टि से प्रमुख सन्त कवियों का पृथक् विश्लेषण आवश्यक है। सन्तों के समस्त साहित्य का प्रतीकात्मक अध्ययन निम्नलिखित वर्ग में किया जा सकता है—

(क) परम्परागत प्रतीक
(ख) भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक
(ग) तात्विक या दार्शनिक प्रतीक
(घ) साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)
(ङ) विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

१. कबीर

(जन्म १४५६ वि० मृत्यु १५७५ वि०)

(क) **परम्परागत प्रतीक**—सन्त कवियों में कबीर का स्थान प्रमुख है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इनकी सामान्य गति है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए इन्होंने जीवन का प्रभूत अनुभव प्राप्त किया था। 'सन्त समागम और हरि कथा' श्रवण से आपने जो भी हृदयंगम किया उसे अपने सिद्धान्तानुसार सधुक्कड़ी भाषा में अभिव्यंजित कर दिया। इस प्रक्रिया में कबीर ने जिन परम्परागत प्रतीकों का प्रयोग किया है उसमें वे वैदिक और सिद्ध-नाथ परम्परा से प्रभावित हैं।

वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रतीकों में सन्तों ने वृक्ष का प्रयोग सर्वत्र किया है। 'ऊर्ध्वमूल: अध: शाख:' वाले जिस वृक्ष का वैदिक साहित्य में वर्णन मिलता है उसके सम्बन्ध में कबीर कहते हैं कि 'एक तरुवर, जिसके न मूल है और न शाखा, परन्तु नाना विधि वह फल-फूल रहा है, ये सांसारिक प्राणी व्यर्थ में उसके आकर्षण में भूल रहे हैं, उसके फल को कभी किसी ने नहीं चखा।'[1]

एक अन्य स्थान पर उलटबाँसी की शैली में (संसार रूपी) वृक्ष के बारे में कहते हैं—

तल करि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल ॥[2]
बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरबर फलिया ॥[3]

उस अद्भुत परमतत्व रूप वृक्ष का वर्णन करते हुए कबीर पुनः कहते हैं कि शून्य तरु पर एक अनन्त सौन्दर्यमयी मूर्ति-ब्रह्म है। 'सुरत' (सहज-समाधि) द्वारा ही उसके दर्शन किए जा सकते हैं। उस तरु की शाखा, पत्र, तना आदि सामान्य वृक्ष के समान नहीं हैं। वहाँ तो केवल मात्र अमृत की वाणी उच्चरित होती है और अमृत का ही स्रवण होता है। उस तरुवर के फूल पर मधु-वास लुब्धक भ्रमर (साधक) गमन कर उसके अमृत को अपने हृदय में धारण कर लेता है, सोलह पवन उस वृक्ष को झकझोरते हैं, आकाश शून्य-ब्रह्मरन्ध्र में उसका फल (अमरत्व) लगता है। सहज समाधि के द्वारा ही इस वृक्ष का अभिसिंचन किया जाता है, धरती का जल (सांसारिकता, विषयवासनादि) इसे स्पर्श भी नहीं कर सकता। कबीर उसके शिष्य होने के लिए तत्पर है जिसने ऐसा अद्भुत वृक्ष-तरवर देखा हो।[4] इस वृक्ष प्रतीक का कबीर ने स्थान-स्थान[5] पर अनेक रूपों में वर्णन किया है।

सिद्ध साहित्य का कबीर तथा अन्य सन्तों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सिद्धों ने 'सहज' का प्रयोग प्रज्ञा-उपाय के समागम (युगनद्ध) के रूप में किया है। कबीर ने सहज के मिथुन परक रूप को तिरस्कृत कर दिया है, हाँ जहाँ सिद्धों ने सहज का परमतत्वमय[6] रूप ग्रहण किया है, उसे स्वीकार कर लिया है।

कबीर ने सहज को परमतत्व,[7] सहज स्वभाव,[8] सहज समाधि[9] आदि विविध रूपों में प्रयुक्त किया है।

---

१. **कबीर ग्रन्थावली**, पद २६८
२. वही, पद ११
३. वही, पद १५८
४. वही, पृ० १६६
५. वही, पद १६५, बीजक, शब्द ५३, ६३
६. काण्हपा, **हिन्दी काव्य धारा**, पृ० १४६-४८
७. **कबीर ग्रन्थावली**, सहज को अंग १, २ बीजक, शब्द ४; सन्त कबीर, रागु भैरउ ४, पृ० २०९
८. वही, ३, ४ पृ० ४२, रागु गउडी १९, पृ० २१
९. वही, पद ४, ६, कबीर शब्दावली भाग १, शब्द १६

(ख) **भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक**—कबीर रहस्यवादी कवि हैं, परमात्मा के साथ उन्होंने जो भावात्मक सम्बन्ध स्थापित किए हैं उसमें वे तदाकार हो गए हैं। सम्बन्ध की दृष्टि से उन्होंने (क) दास्य भाव (ख) सख्यभाव (ग) वात्सल्य भाव और (घ) दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध उस प्रभु के साथ स्थापित किए हैं—

(क) **दास्य भाव**—

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नांउं।
गलै राम की जेवड़ी जित खैंचै तित जांउं ।।[1]

कबीर दास्य के सम्पूर्ण आदर्श लिए उपस्थित हैं, वे राम के कुत्ता हैं 'मुतिया' नाम है, राम नाम का पट्टा (जेवड़ी) गले में पड़ा है, वे जिधर खींचते हैं, उधर ही चले जाते हैं, 'तो तो' करने पर निकट आ जाते हैं। 'दुर-दुर' करने पर भागने के सिवाय और कोई चारा ही नहीं, वे मालिक हैं जैसा हुक्म होगा, बजाकर लाना पड़ेगा। 'मुतिया' शब्द में कबीर ने अन्तर की सारी निरीहता समाहित कर दी है, समस्त 'कुत्तात्व' इस शब्द में साकार हो उठता है।

(ख) **सख्य भाव**—का सम्बन्ध जोड़ते हुए कबीर कहते हैं—

देखौ कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ।।[2]
भाई रे बिरले दोसत कबीर के, यहु तत बार बार कासों कहिये।[3]

(ग) **वात्सल्य भाव**—

हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न औगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते ।।
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता ।।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ।।[4]

(घ) **दाम्पत्य भाव**—ब्रह्म के साथ आत्मा का सबसे मधुर सम्बन्ध दाम्पत्य भाव में ही स्थापित होता है। संसार के अन्य सभी सम्बन्धों में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से द्वैत भावना बनी ही रहती है पर दाम्पत्य भाव में यह द्वैत सर्वभावेन मिट जाता है। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता की अद्वैत भावना पति पत्नी भाव में ही सम्भव है। स्त्री अपने नाम, गोत्र, आत्मा को पत्यर्पण कर शरीर, मन, प्राण, हृदय और स्वत्व से अपना अधिकार हटा लेती है। सर्वस्व पति चरणों में समर्पण कर सर्वत्र अखण्ड रूप से उसी के दर्शनों की लालसा बनी रहती है। सारा संसार

१. वही, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग १४
२. वही, परचा कौ अंग १२, पृ० १३
३. वही, पद ३४, पृ० ६६
४. वही, पद १११

प्रिय की 'लाली' में लाल दृष्टिगोचर होता है—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।[१]

इस जगत् की प्रत्येक वस्तु में वह 'ईश' ही व्याप्त दीख पड़ता है। यहां उपनिषद् का 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्[२]' का भाव साकार हो उठता है।

ब्रह्म से आत्मा का दाम्पत्य भाव बैठे ठाले ही नहीं जुड़ सकता। कबीर कहते हैं कि वे भी अन्य जीवों के समान संसार के वात्याचक्र में बहे जा रहे थे, पर सद्गुरु ने शब्द की ऐसी चोट मारी कि आत्मा उस चक्र से छिटक गई और प्रेम की पीर अन्तर में जाग उठी[३], धीरे-धीरे पीर गहरी होती चली गई, साहिब से परिचय[४] तो हो गया था, पर मिलन नहीं हुआ था, हाँ एक विश्वास घर करने लगा—

हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया।[५]

यह मिलन का मार्ग बहुत ही कठिन है, सिर का सौदा है, हंसते हंसते तो उसे पाया ही नहीं जा सकता, जिसने पाया है रोकर ही पाया है,[६] पर दिन रात रोकर भी आत्मा मिलन को तड़पती रहती है, चिर उत्सुकता बनी रहती है, इस 'तालाबेली' में आत्मा पुकार उठती है—

वै दिन कब आवैंगे माइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ।[७]

विरह की ज्वाला तीव्र रूप में कवि के हृदय में धधक उठती है, विरहिन मौत की कामना करती है क्योंकि रात दिन का 'दाभना' सहा नहीं जाता।[८] यह ज्वाला अमृतमयी है, हृदय के भीतर ही भीतर यह जलती रहती है, बाहर धुवां प्रगट नहीं होता, इसे तो कोई भुक्तभोगी ही देख या समझ सकता है—

हिरदे भीतर दव बलै, धुवाँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय।।[९]

विरहिन आत्मा की पुकार वे सुन लेते हैं, धूमधाम से विवाह होता है—

दुलहिन गावहु मंगलचार, हम घर आये राजा राम भरतार।[१०]

---

१. **कबीर साखी संग्रह**, परिचय का अंग २, पृ० ११४
२. **ईशावास्योपनिषद्**, मंत्र १
३. **कबीर ग्रन्थावली**, गुरुदेव कौ अंग ६, ७, ८, ११
४. वही, ३५ पृ० ४
५. वही, पद ११७, पृ० १२५
६. वही, विरह कौ अंग २६, ३०
७. वही, पद ३०६
८. **कबीर साखी संग्रह**, विरह का अंग १३, पृ० ३८
९. वही, ४८, पृ० ४१
१०. **कबीर ग्रन्थावली**, पद १

कबीर के भाग्य बहुत अच्छे हैं जिनकी वर्षों से तलाश थी वही 'प्रीतम' घर बैठे आ गए।[1] सैंया का डोला आ गया, वधू नैहर के सभी रिश्तों को तोड़कर प्रीतम की नगरी चल देती है, एक एक रिश्ते से मोह उत्पन्न हो रहा है—

नैहर के सब लोग छूटत रे. कहा करूं अब कुछ नहिं बस रे।
बीरन आवो गरे तोरे लागों, फेर मिलब ह्वै न जानो कस रे।[2]
आई गवनवाँ की सारी, उमिरि अबहीं मोरी बारी।

× × ×

गवन कराइ पिया लै चाले, इत उत बाट निहारी।
छूटत गांव नगर से नाता, छूटे महल अटारी॥

पिया ले चले, गोरी डरती सी, काँपती चली, डोली नदिया किनारे पहुँच गई, बलम बड़े रसिया हैं, एकान्त देखकर घूंघट पट खोल दिया, सारा शरीर सन्नाटे में आ गया —

नदिया किनारे बलम मोर रसिया, दीन्ह घुंघट पट टारी।
थरथराय तन कांपन लागे, काहू न देखि हमारी।
पिया लै आये गोहारी।[3]

जब तक कन्या (आत्मा) का विवाह (ब्रह्मानुभूति) नहीं होता, नैहरवा (संसार) ही उसका सब कुछ होता है; पर एक बार पिया मिलन हो जाए, नैहरवा अच्छा नहीं लगता, गुड्डे गुड़ियों के खेल झूठे हो जाते हैं, हृदय में पिय की 'मूरत' सर्वभावेन बस जाती है, नैहरवा छोड़ते हुए एक बार झिझक तो होती है पर वधू शीघ्र ही समझ जाती है कि उसका देश तो कोई और है, साईं की नगरी उसे अब प्यारी लगती है, वहां कुछ भी अपरिचित नहीं लगता, प्राणप्रिय, प्राणाधार 'प्रिय' जो उसके पास हैं—

नैहरवा हमकाँ नहि भावै।
साँई की नगरी परम अति सुन्दर, जहँ कोई जाय न आवै।[4]

नैहरवा (संसार) में ठग घरबार को लूटने में लगे हुए हैं, भला वधू का मन कैसे लगे —

नैहर से जियरा फाटि रे।
नैहर नगरी अस कै बिगरी, ठग लागें घर बाट रे।[5]

वधू तो आज सुहाग की वेला में तनिक घूंघट दिखाकर पिय की बाट जोह रही है। कैसी अद्भुत, कोमल, नाजुक घड़ी है यह भी। सारा संसार प्रगाढ़ निद्रा में सो रहा है, उसी समय प्रीतम पैरों की चाप छुपाकर धीरे-धीरे हृदय में प्रवेश करते हैं, चुपके

---

१. **कबीर शब्दा०** भाग २, प्रेम १६, पृ० ७२
२. वही, शब्द ३४, पृ० ७६
३. वही, भाग २, होली, शब्द ५ पृ० ८२
४. वही, १, भेदबानी ११, पृ० ६३
५. वही, भाग २, चितावनी २०, पृ० ३६

से घूँघट उठा देते हैं, चिर प्रतीक्षा में बैठी दुलहिन असीम आनन्द में विभोर हो उठती है रोम रोम जागृत हो जाता है, पर कहीं यह स्वप्न तो नहीं, क्या वे आ गये ? यदि यह स्वप्न है तो चलता ही रहे, आँख खुल जाने पर तो यह स्वप्न भंग हो जाएगा—

सुपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आंखि न खोलूँ डरपता मत सुपना ह्वै जाय ॥[1]

कबीर का ब्रह्म से आध्यात्मिक परिणय सम्पन्न हो गया। इसके कई सोपान हैं—स्मृति, जो धीरे-धीरे बढ़ती हुई निश्चलता की दशा तक पहुँच जाती है। उस समय आत्मा प्राण-प्यारे के बिना हिलती, डोलती भी नहीं, निश्चल मन प्रभु को प्राप्त कर लेती है, तभी मिलन होता है। मिलनानन्द में विभोर आत्मा उन्मत्त हो उठती है। एक विशेष प्रकार की अलौकिक आत्मविस्मृति होने लगती है, शरीर की सुधबुध भूल आत्मा ब्रह्म में समुद्र में बूंद के समान मिल जाती है, तद्रूप हो जाती है। इस तन्मयता की अवस्था में आत्मा को प्रसाद रूप में विरह का दान मिलता है। इस विरहानुभूति में भक्त निरावरण हो उसी का हो जाता है। आठ पहर चौंसठ घड़ी उसी का ध्यान रहता है, एक पल को भी ध्यान नहीं छूटता। इस प्रकार विरह का दान प्राप्त होने पर ही आत्मा का आध्यात्मिक परिणय पूर्ण होता है।

भगवान के विरह का आनन्द ब्रह्म मिलन के सुख से कहीं अधिक सुखकर है। मिलन के बाद साधक की साधना अवसान को प्राप्त कर लेती है, उसके बाद कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रहता, पर विरह में मिलन की उत्कण्ठा बनी रहती है। विरह वास्तव में प्रेम की जागृत अवस्था है। विरहाग्नि की धधकती भट्टी में पड़कर आत्मा कुन्दन सी चमक जाती है, कोई मैल उस पर चढ़ नहीं सकता। विरहाभिभूत साधक एक क्षण के लिए भी अपने प्रभु से विलग नहीं होना चाहता। यह ज्वाला ही तो उसके लिए अमृत है। ज्यों-ज्यों आत्मा विरह में झुलसती है त्यों-त्यों उसकी कांति, उज्ज्वलता बढ़ती है।

कबीर की आत्मा विरह के इस महासागर में आकण्ठ निमग्न है, इस रस का उन्होंने छककर पान किया है। एक से एक मार्मिक उक्तियाँ उनकी वाणी से निसृत हुई हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

बालम आओ हमारे गेह रे। तुम बिन दुखिया देह रे।

× × ×

अब तो बेहाल कबीर भये हैं, बिन देखे जिउ जाय रे।[2]
तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहि चैन रात नहिं निंदिया तलफ तलफ कै भोर किया।

× × ×

---

१. **कबीर साखी संग्रह**, मिश्रित का अंग २, पृ० १७९
२. **कबीर शब्दावली** १, विरह और प्रेम ४, पृ० ८

कहै कबीर सुनो भई साधो हरो पीर दुख जोर किया ।[1]

इसके अतिरिक्त कबीर ने अनेक विरह प्रधान साखियाँ[2] लिखी हैं ।

फागुन की ऋतु निकट आ जाती है, पूर्व स्मृति स्वरूप भक्त सोचता है कि हाय क्या वह सुख सौभाग्य फिर मिल सकेगा ? उनके हाथों रंग पड़े, रंग की चोट से तन मन व्याकुल हो जाए, क्या ऐसा सौभाग्य फिर मिल सकेगा ? क्या कोई पुन: पिया से मिला देगा ? वास्तव में वे धन्य हैं जो मनमाने ढंग से पिय से फाग खेलती हैं, पर जो कुल की मान मर्यादा या ऐंचातानी में ही लगी रहीं वे अभागिन हैं । उस अलबेले साजन का रूप कहाँ तक कहूँ ? उनका रूप तो रूप में ही समा गया है । उसके रंग में जो रंग गए वे समस्त रूप से 'छक' गए, तन मन की सुध बिसर गई । इस फाग की तो अकथ कहानी है, इसकी गति को बिरले ही जान सकते हैं । कबीर ने इस दिव्य फाग का आनन्द जी भर कर लूटा है, वे कहते हैं—

ऋतु फागुन नियरानी, कोइ पिया से मिलावे ।
सोइ तो सुन्दर जाके पिय को ध्यान है, सोइ पिया के मन मानी ।
× × ×
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह गति बिरले जानी ।।[3]

विरह के पश्चात् मिलन सुख का अनुभव करती हुई कबीर की आत्मा जिस फाग का आयोजन करती है उसके रंग में रंगकर और सब रंग धुल जाते हैं या फीके पड़ जाते हैं । फाग में एक अद्भुत आनन्द समाया होता है, पिय के साथ फाग ? उस रंग में डूबकर आत्मा निखर जाती है, प्रेम रस की बूंदों से सारी चुनरिया भीग उठती है[4], उस सतगुरु ने भरभराकर रंग डाल दिया, ऐसा रंग जो सबसे न्यारा ही दीख पड़ता है ।[5]

पिया से होली खेलने में लज्जा कैसी ? और फिर वे तो फाग खेलने आ ही गए; बस ऐसी होली खेल जिससे आवागमन मिट जाए ।[6] उस खिलाड़ी पिया ने ऐसा रंग डाला है कि स्याही के रंग छुड़ा कर आत्मा पर प्रेम का गहरा मजीष्ठ रंग चढ़ा दिया है ।[7]

---

१. वही, भाग २, प्रेम शब्द २८ पृ० ७६
२. **कबीर ग्रन्था०**, विरह कौ अंग, ज्ञान विरह कौ अंग, निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग तथा **कबीर शब्दा०**, शब्द १०, ११, १८, २२; भाग २, शब्द १४, १५; भाग ३, शब्द १, ५
३. वही, भाग १, शब्द २२, पृ० १३
४. वही, भाग १, विरह और प्रेम ६, पृ० ८
५. **सतगुरु हो महाराज मो पै साँई रंग डारा ।**
× × ×
साहेब कबीर सर्व रंग रंगिया, सब रंग से रंग न्यारा । वही, १, शब्द ५
६. **ऐसी खेल ले होरी जोगिया, जामें आवागमन तजि डारी ।** वही २, पृ० ८७
७. वही, भाग २, पृ० ६५

दाम्पत्य भाव केइन प्रतीकों में कबीर ने उस ब्रह्म को साहिब, सतगुरु, बलम, सैंया, पिया, जोगिया, परदेसी, रंगरेज, धुबिया आदि नामों से सम्बोधित कर हृदय की मार्मिक अनुभूति को व्यक्त किया है। इन प्रतीकों के वर्णन के समय कवि की मनस्थिति भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में से होकर गुजरी है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—कबीर की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा प्रमुख रूप से अद्वैतवादी है जिसकी अभिव्यक्ति प्राय: उपदेशात्मक, भावात्मक, रहस्यात्मक और बुद्धिमूलक शैली में हुई है। कबीर ने ब्रह्म निरुपण में किसी शास्त्रीय पद्धति को नहीं अपनाया।

कबीर का अद्वैत तत्व अद्भुत है जो न कहने में आ सकता, न 'लुका' छिपाकर रखा जा सकता, कहने पर कोई विश्वास भी नहीं करेगा।[1] वह गुण विहीन है, रंग रूप भी कुछ नहीं। वह मुख के बिना खा सकता है, चरणों के बिना चल सकता है।[2] यहां उपनिषद (कठ० १/२/२१) का भाव 'आसीनो दूरं व्रजति······ स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वह ब्रह्म देशकाल की सीमा से भी परे है, उदय, अस्त, आदि अंत से परे अजर अमर है, गुण में निर्गुण और निर्गुण में गुण है; एक है।[3] वही सर्वत्र व्याप्त है, वही विभिन्न रूपों में संसार की वस्तुओं में निवास करता है, यह संसार दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान है। मनुष्य माया के गर्व में उसके वास्तविक रूप को भूल जाता है।[4]

कबीर ने ब्रह्म को अनेक रूपों में चित्रित किया है। कहीं उन्होंने सगुण-वादियों के समान ब्रह्म को राम,[5] हरि,[6] गोपाल,[7] कृष्ण,[8] साहब,[9] आदि कहा है तो कहीं यौगिक शब्दावली में ओंकार[10], सहज,[11] शून्य[12] कहा है। माधुर्यभाव का

---

१. **कबीर ग्रन्था०,** जर्णा कौ अंग ३, पृ० १८
२. **बिन मुख खाइ चरन बिन चालै बिन जिभ्या गुण गावै**। वही, पद १५९
३. **गुंण मैं निरगुण निरगुंण मैं गुंण**········—। वही, पद १८०
हंम तौ एक एक करि जांनां। वही, पद ५५
४. वही, पद ५४, ५५
५. वही, सुमिरण कौ अंग २, ८, २३
६. वही, पद २४६
७. वही, पद ३४३
८. वही, पद ७६
९. वही, पृ० १२, ३१, ६१
१०. वही, पद १२१
११. वही, सहज कौ अंग १, २, ३, ४
१२. **संत कबीर,** पृ० १८१

स्फुरण करते हुए कहीं सैंया,[१] पिव-पिया,[२] बलम,[३] खसम,[४] कंत[५] आदि कहा है तो कहीं सामान्य जीवन के व्यवसायपरक प्रतीक शब्दों—बढ़ैया,[६] कोरी-जुलाहा,[७] कुम्हार,[८] बाजीगर,[९] धोबी,[१०] और रंगरेज[११] आदि द्वारा अभिव्यक्त किया है।

जीवात्मा—कबीर जीव को ब्रह्मांश मानते हैं, जो तत्व समष्टि रूप में ब्रह्माण्ड में है वही व्यष्टि रूप में पिण्डाण्ड में हैं। वही परमतत्व पंच तत्वों के बने शरीर में अभिव्यक्त होकर जीव कहलाता है। जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, उसका ही एक अंश है, उसी में उसकी गति है और अन्त में उसी सत्ता में पूर्णभावेन विलय हो जाता है, फिर संसार के पाप-शाप से कुम्हलाना व्यर्थ है।[१२] जीव और ब्रह्म की तात्विक एकता को कबीर ने जल-कुम्भ[१३], बूंद-समुद्र,[१४] पानी-हिम,[१५] और दरियाव-लहर[१६] आदि प्रतीक योजना से अभिव्यंजित किया है।

इसके अतिरिक्त कबीर ने जीवात्मा को पूत, जोलाहा, पारथ, जोगिया, रैयति महावत, घरनी, तिरिया, औरत, बहुरिया, नारि, सुन्दरी, सुहागिन, दुलहिन, पतिव्रता, जोरू, धुबिया, धन, हंस, चातक, चकवा-चकवी, मीन, सिंह, पंछी, सुवटा, करहा, भंवर, चदरिया, बूंद, हिम, चन्दन, चेतन हीरा, वस्तु और चरखा आदि प्रतीकों से चित्रित किया है।

माया—कबीर ने माया को ब्रह्म और जीव के बीच व्यवधान पैदा करने वाली कहा है। इसके दो रूप हैं—विद्या माया और अविद्या माया।[१७] विद्या माया

---

१. कबीर शब्दा० २, प्रेम ३४
२. वही, पृ० २३, ८५
३. वही, पृ० ७६
४. वही, पृ० ११, संत कबीर, रागु गउडी ३३
५. क० ग्र०, विरह कौ अंग २९
६. बीजक, शब्द ६८, कबीर शब्दा १, पृ० ९५
७. सन्त कबीर, रागु आसा ३६
८. वही, रागु आसा १६, विभास प्रभाती ३
९. वही, रागु सोरठि ४
१०. क० शब्दा० २, पृ० ७४
११. वही, पृ० ६५, ७४
१२. काहे री नलनीं तू कुमिलानी, तेरे ही नालि सरोवर पांनी। क० ग्र० पृ० १०८
१३. जल में कुंभ कुंभ में जल···फूटा कुंभ जल जलहि समांनां···। वही, पृ० १०३
१४. बूंद समानी समंद में···समंद समाना बूंद में···। वही, पृ० १७
१५. पांणी ही तैं हिम भया- हिम ह्वै गया बिलाइ। वही, पृ० १३
१६. दरियाब की लहर दरियाब है जी, दरियाब और लहर में भिन्न कोयम। कबीर शब्दा० १, पृ० ७९
१७. माया है दुइ भांति की, देखी ठोंक बजाय।
एक मिलावै नाम से, एक नरक लै जाय॥ कबीर साखी संग्रह, पृ० १६४/३२

ही संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करती है। अविद्या माया दुखरूपा है। वह जीव को नानाचक्रों में घुमाती हुई परमतत्व से इतनी दूर ले जाती है कि वह (जीव) अपने स्रोत (ब्रह्म) को भी भूल जाता है, वह शरीर के सुख-दुख को ही अपना सुख-दुख मानने लगता है। सद्गुरु की कृपा से जीव माया का बन्धन तोड़कर परमतत्व की ओर अग्रसर होता है फिर भी माया उसके मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित करती चलती है। यह दीपक बनकर नर रूपी पतंग को आकृष्ट करती है।[१] कबीर ने माया को कामिनी[२], नारी,[३] कन्या,[४] महतारी,[५] डाइन,[६] ठगिनी,[७] बाघिनी,[८] नकटी,[९] चोरटी,[१०] डाकिनी,[११] चूहड़ी,[१२] सर्पिणी,[१३] नागिन,[१४] गाय,[१५] आगणि बेलि[१६] कड़ई बेलड़ी,[१७] आदि विविध प्रतीकात्मक रूपों में चित्रित किया है। यही माया 'रमैया की दुलहिन' है जो नित्यप्रति 'बाजार' (संसार) को लूटती रहती है।[१८]

---

१. **माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पडंत।** क० ग्र० पृ० ३/२०
२. वही, काम नटी कौ अंग, पृ० ३६-४०
३. वही, पृ० ३६-४०
४. **बीजक**, शब्द ६
५. वही, शब्द ६
६. **क० ग्र०**, पद २३६
७. **बीजक**, शब्द ५६, कबीर शब्दावली २, शब्द १६, पृ० ५३
८. वही, ३, पृ० ३८, कबीर साखी संग्रह, कनक और कामिनी का अंग ६, ३०, पृ० १६५-६७
९. **सन्त कबीर**, रागु आसा ४, पृ० ६४
१०. वही, सलोकु २०, पृ० २५१, क० ग्र० परिशिष्ट, साखी ११३
११. वही, माया कौ अंग २१, पृ० ३४
१२. **कबीर साखी संग्रह**, माया का अंग ३३, पृ० १६४
१३. वही, कनक और कामिनी का अंग ४, पृ० १६५, बीजक, साखी, पृ० ६२
माया को 'सर्पनी' बताते समय कबीर पर गोरखनाथ का प्रभाव लक्षित होता है—
मारौ मारौ स्रपनी निरमल जल पैठी, त्रिभुवन डसती गोरषनाथ दीठी॥
गोरखबानी, पृ० १३६-४०
मारु मारु सर्पनी निर्मल जल पैठी, जिन त्रिभुवन डसिले गुरु प्रसादि डीठी॥
कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट पद २०४
१४. कबीर साखी संग्रह, कनक कामिनी का अंग, ३, ५, पृ० १६५
१५. **बीजक**, शब्द २८ पृ० ४२-४३
१६. **क० ग्र०**, बेली कौ अंग ४, पृ० ८६
१७. वही, पृ० ८६
१८. **क० शब्दा०** ४, पृ० २२

कबीर ने माया को ब्रह्म की पत्नी के रूप में भी चित्रित किया है। वह भी जीवात्मा के साथ एक ही सेज पर रमण करती है, दोनों ही पिया की पियारी हैं—

बलम संग सोइ गइ दोइ जनी।
इक ब्याही इक अरधी कहावै, दूनों सुभग सुहाग भरी ॥
× × ×
कह कबीर सुनो भाइ साधो, दूनों पिया पियारि रहीं।[1]

जगत्—कबीर ने जगत् की सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने कहा है कि जीव रज्जू में सर्प और सीप में रजत के मिथ्याभास को सत्य मानकर नाना कष्ट उठाता है। 'जगन्मिथ्या' सिद्धान्त के पोषक कबीर ने इस जगत् को जल की बूंद[2], बिराना देश, कागद की पुड़िया[3], सेमल का फूल[4], मेले की हाट,[5] चार दिन की चांदनी, नैहरवा[6] आदि प्रतीकों से अभिचित्रित किया है।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

कबीर प्रमुखतः रहस्यवादी कवि हैं, इस संसार के व्यापक प्रसार में उन्होंने अनन्त शक्ति का रूप निहारकर आत्मा को उससे सम्बद्ध कर जो रूपक योजना की है वह अत्यन्त मार्मिक है। व्यवसायपरक प्रतीकों के माध्यम से एक रहस्यपरक योजना द्रष्टव्य है—

जौ चरखा जरि जाय, बढ़ैया ना मरै।
मैं कातों सूत हजार, चरखुला जिन जरै।
× × ×
कहहि कबीर सुनो हो सन्तो चरखा लखै जो कोय।
जो यह चरखा लखि परै ताको आवागमन न होय।[7]

साधनात्मक प्रतीकों (यौगिक) में कबीर ने नाथ पंथ से प्रभावित हठयोग का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। हठयोग साधना के सम्बन्धित षट्चक्र, कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, स्वांस निरोध, खेचरी आदि मुद्राओं का चित्रण कबीर की प्रतीकात्मक भाषा में द्रष्टव्य है—

उलटी गंग संमुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं ब्यंब प्रकासै ॥

---

१. क० शब्दा० ४, राग दादरा १, पृ० २१
२. ज्यूं जल बूंद तैसा संसारा···। क० ग्र० पद १०४, पृ० १०३
३. रहना नहिं देस बिराना है।···यह संसार कागद की पुड़िया। क० शब्दा० १, पृ० ३९
४. यहु ऐसा संसार है जैसा सैंवल फूल। क० ग्र० पृ० २१
५. आनि कबीरा हाट उतारा······। वही, पृ० १२४
६. क० शब्दा० १, पृ० २२, ४२, ६३, भाग २, पृ० ३९, ५९
७. कबीर बीजक, शब्द ६८

डाल गह्या थैं मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि शरप कौं लागी, धरणि महा रस खावा।[1]

इसी प्रकार—

ऐसी रे अवधू की वांणी, ऊपरि कूवटा तलि भरि पांणी।
जब लग गगन जोति नहीं पलटै, अविनासी सूं चित नहीं चिहुटै॥
जब लग भवर गुफा नहीं जानै, तौ मेरा मन कैसे मांनै।
जब लग त्रिकुटी संधि न जांनै, ससिहर कै घरि सूर न आनैं॥
जब लग नाभि कवल नहीं सोधै, तौं हीरे हीरा कैसें बैंधैं।
सोलह कला संपूरण छाजा, अनहद कै घरि बाजै बाजा॥
सुषमन कै घरि भया अनंदा, उलटि कवल भेटे गोब्यंदा।
मन पवन जब परचा भया, ज्यूं नाले रांधी रस मइया।
कहै कबीर घटि लेहु बिचारी, औघट घाट सींचि ले क्यारी॥[2]

इसी प्रकार कबीर ने अन्यत्र[3] भी हठयोगपरक प्रतीकों की योजना की है।

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबांसी)

उलटबाँसियों की स्वस्थ परम्परा वैदिक काल से ही अनवरत चली आ रही है, उपनिषदों, पुराणों और रामायण महाभारत को अभिसिंचित करती हुई इस धारा का सिद्धों और नाथों में पर्याप्त प्रसार और विकास हुआ। सन्त कवि उलटबाँसियों की दृष्टि से वैदिक परम्परा से अप्रत्यक्ष रूप में और सिद्ध नाथों से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुए हैं। सन्तकवियों में प्रमुख कबीर ने किंचित शब्दान्तर से सिद्ध परम्परा का निर्वाह कई स्थानों पर किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

सिद्ध ढेण्ढणपा कहते हैं—

बेंगस साप बडहिल जाअ। दुहिल दुधु कि बेन्टे समाअ॥
बलद बिआअल गविआ बांझे। पिटहु दुहिअइ ए तिनो सांझे॥
निति सिआला सिहे सम जूझअ। टेंटण पाएर गीत बिरले बूझअ॥[4]

कबीर : **बैल बियाइ गाइ भई बांझ। बछरा दूहै तीन्यूं सांझ॥**
नित उठि स्याल स्यंघ सूं झूझै। कहै कबीर कोई बिरला बूझै॥[5]

---

१. क० ग्र०, पद १६२
२. वही, पद २०२
३. क० शब्दा० १, पृ० ११, ६३, ६४, ६६, ८४, ८५, ८६, ९०, बीजक हिंडोला ३, पृ० ८८, कबीर ग्रन्थावली, पद ४, ७, १८, ३२, ७१, ७२, ७४, १२१, १५३, १६६, १७१, १७३, २१०, २१४, ३५४
४. हिन्दी काव्य धारा, पद ३३, पृ० १६४
५. क० ग्र० पद ८०, पृ० ११३ (कबीर बीजक, शब्द ९५ में यह पद कुछ पाठान्तर से प्राप्त होता है।)

कबीर उलटबाँसियों के सम्राट हैं। सिद्ध नाथ साहित्य से इस परम्परा को ग्रहण करते हुए भी अपनी स्वाभाविक साधनात्मक मेधा तथा रहस्यात्मक प्रवृत्ति से एक से एक मार्मिक उलटबाँसियों की योजना की है। ऊपर से देखने में ये जितनी विचित्र, अटपटी और क्लिष्ट दीख पड़ती हैं, अर्थ स्पष्ट हो जाने अर्थात् कुंजी मिल जाने पर वे उतनी ही मधुर, सरस और आह्लादक हो जाती हैं। कबीर साहित्य से कुछ चित्र द्रष्टव्य हैं—

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।
पहलैं पूत पीछैं भई माई, चेला कै गुर लागै पाई।
जल की मछली तरवर ब्याई पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि हारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई।।
तलिकरि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहैं कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै।[1]
धौल मदलिया बैल रवाबी, कउवा ताल बजावै।
पहरि चोलनां गादह नांचै, भैंसा निरति करावै।।
स्यंघ बैठा पान कतरै, घूंस गिलौंरा छावै।
उंदरी बपुरी मंगल गावै, कछू एक आनंद सुनावै।
कहै कबीर सुनहुं रे संतौ, गडरी परवत खावा।
चकवा बैसी अंगारे निगलै, समंद अकासां धावा।।[2]

अन्यत्र[3] भी कबीर ने एक से एक सुन्दर उलटबाँसियों की योजना की है। इन सभी उलटबाँसियों में प्रायः चुनौती का स्वर स्पष्ट उभरकर आया है कि जो कोई भी इनके अर्थ को स्पष्ट कर देगा, कबीर उसको अपना गुरु स्वीकार कर लेंगे। इन चुनौती पूर्ण उक्तियों द्वारा कबीर ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को अथवा अधकचरे योगियों को ललकारा है। ये लोग योग, ब्रह्मादि की बात तो बहुत बघारते हैं पर जानते कुछ भी नहीं। ऐसे ही लोगों को करारी चोट देकर कबीर ने राह पर लाने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार कबीर साहित्य का प्रतीकात्मक दृष्टि से विचार करने के उपरान्त हम कह सकते हैं कि कबीर ने अपने अद्भुत करघे पर इंगला पिंगला के ताने बाने से जो चदरिया तैयार की है उसके एक-एक छिद्र में, बनावट में सहस्रों रहस्य भरे पड़े हैं। अपने चरखे से जितना सूत उन्होंने काता है उसकी पूरी लम्बाई का अनुमान बड़े-बड़े साधक भी नहीं लगा सके हैं। प्रतीकात्मक दृष्टि से कबीर साहित्य ऐसा गहरा सागर है जिसमें अनेक धाराएँ तथा रहस्य, दर्शन और यौगिक साधना की

१. वही, पद ११
२. वही, पद १२
३. क० ग्र० पद १५८, १५६, १६०, १६१, १६२, १७७, ३४६, परिशिष्ट, पद ३३, ६६, १३५, १४३

त्रिवेणी तदाकार हो गई है। कबीर के प्रतीकों का प्रभाव न केवल सन्तों (समकालीन तथा परवर्ती) पर वरन् अन्य निर्गुण और सगुण भक्त कवियों पर भी समान रूप से पड़ा है। आधुनिक साहित्य पर भी यह प्रभाव किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता है।

२. भक्त प्रवर रैदास

(जन्म — अज्ञात, कबीर के समकालीन)

कबीर के समकालीन, प्रेमयोगिनी मीरा के मार्गदर्शक गुरु रैदास एक उच्च कोटि के भक्त थे। अलमस्त फकीर, लोक-परलोक की निन्दा-स्तुति की चिन्ता से दूर सती साध्वी पत्नी के साथ एक मामूली झोंपड़े में बैठकर जूते सी सीकर जीविका चलाने वाले रैदास सामने ही चतुर्भुजी ठाकुर मूर्ति को निहार निहार प्रेम-विह्वल स्वर में जब गाते हैं—

प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी। जाकी अंग अंग बास समानी।
प्रभुजी तुम घन हम बन मोरा। जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भक्ति करै रैदासा॥[1]

तो आसपास का समस्त वातावरण भक्ति की अमृतमयी धारा में निमग्न हो जाता है। आप निर्गुणिये सन्त हैं, प्रेम और वैराग्य की साक्षात् मूर्ति और भगवान के श्री चरणों में सर्वस्व अर्पण करने वाले भक्त प्रवर।

प्रतीकात्मक दृष्टि से रैदास की बानी का अध्ययन करने पर हम परम्परागत (वैदिक) प्रतीकों का प्रायः अभाव ही पाते हैं, हाँ सिद्ध परम्परा से समर्थित सहज का प्रयोग अपने परिवर्तित रूप में इनकी बानी में मिलता है। सहज का परमतत्व के अर्थ में प्रयोग करते हुए उन्होंने कहा है —

भाई रे सहज बन्दो लोई, बिन सहज सिद्धि न होई।
लौलीन मन जो जानिये, तब कीट भृंगी होई।[2]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

रैदास सच्चे अर्थों में भक्त हैं, भक्ति के प्रवाह में निर्गुण और सगुण का बन्धन उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। आपने दास्य[3] और वात्सल्य[4] भाव के अतिरिक्त दाम्पत्य भाव की मधुर व्यंजना करते हुए आत्मा को उस पत्नी का प्रतीक माना है जो सर्वात्म भाव से प्रिय पर न्यौछावर हो जाती है। पिय पास रहते हैं, सुहागिन प्रेम रंग में आकण्ठ निमग्न रहती है, पर प्रिय के दूर जाने पर विरह की तीव्र ज्वाला तन मन को जलाने लगती है, एक बेबसी, निरीहता प्राणों में समा जाती है, आकुल

१. **रैदास जी की बानी**, पद ८६ पृ० ४१
२. वही, पद ४१, पृ० २०
३. वही, पद ६०, ८६, पृ० २८, ४१
४. वही, पद ८१, पृ० ३९

आत्मा 'दर्शन' के लिए पुकार उठती है, अंग अंग में चातक वृत्ति समा जाती है। इस मर्मान्तिक विरह में झूरती आत्मा का क्या भरोसा ? कब महाप्रयाण की तैयारी कर ले, अब 'दर्शन' नहीं मिले तो फिर भला कब की आशा करूं—

दरसन दीजै राम दरसन दीजै ।
दरसन दीजे बिलम्ब न कीजै ।।
दरसन तोरा जीवन मोरा, बिन दरसन क्यों जिवै चकोरा ।।[1]

आत्मा की भी अपनी विवशता है, जिसने सबसे सम्बन्ध तोड़कर उसी से, केवल उसी से जोड़ लिया हो, वह कहाँ जाए ?[2] बिना हरि दरस के जीवन का अस्तित्व बनाए रखना कठिन है। यह रात दिन का विरह तन मन को जला रहा है, पर कौन सुनेगा ? विरहिन अपनी वेदना किससे कहे—

मैं वेदनि कासनि आखूँ,
हरि बिन जिव न रहै कस राखूँ ।।

× × ×

कह रैदास अँदेसा ये ही, बिन दरसन क्यों जिवहि सनेही ।।[3]

उस निर्मोही पिया के बिन सेज सूनी पड़ी है, तलफत तलफत सारी रात बीत गई। विरह व्यथा तन मन को क्षण क्षण खा रही है—

पिय बिन सेजइ क्यों सुख सोऊं, बिरह बिथा तन खाई ।।
मेटि दुहाग सुहागिन कीजै, अपने अंग लगाई ।
कह रैदास स्वामी क्यों बिछोहै, एक पलक जुग जाई ।।[4]

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म – के सम्बन्ध में रैदास की धारणा निर्गुण मत सम्मत ही है। वे हरि में सब और सब में हरि को मानते हुए कहते हैं कि उसे जानने वाला ही जान सकता है क्योंकि बाजीगर के रूप में उसने अपनी बाजी फैला रखी है, पर बाजी तो झूठ है—

सब में हरि है हरि में सब हैं, हरि अपनो जिन जाना ।
साखी नहीं और कोइ दूसर जाननहार सयाना ।
बाजीगर सों राचि रहा, बाजी का मरम न जाना ।
बाजी झूंठ सांच बाजीगर, जाना मन पतियाना ।[5]

---

१. वही, पद ८०, पृ० ३८-३९
२. **जो तुम तोरो राम मैं नहि तोरों ।**
तुम से तोरि कवन से जोरों । वही, पद ५०, पृ० २३
३. वही, पद ६१, पृ० २८-२९
४. वही, पद ७३, पृ० ३४-३५
५. वही पद १०, पृ० ६

जिस दशरथ पुत्र राम के स्थान पर परब्रह्म राम की कबीर ने स्थापना की है, रैदास भी उसी स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं—

राम कहत सब जगत भुलाना, सो यह राम न होई ।[1]

वास्तव में वह राम तो—

सब घट अंतर रमसि निरन्तर, मैं देखन नहि जाना ।।[2]

कर्ता एक है, वही सत्य है, वही राम है, उसी कर्ता को रैदास ने अनेक नामों से पुकारा है। वे उस ब्रह्म के उपासक हैं जो निर्गुण, निराकार है, जिसका आदि, अन्त कुछ भी नहीं—

निस्चल निराकार अज अनुपम, निरभय अति गोबिन्दा ।
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंत अनंदा ।[3]

घट घट में व्याप्त उस विराट ब्रह्म का स्वरूप बुद्धि द्वारा वर्णन नितांत असम्भव है। जिसके चरण पाताल और 'सीस' आसमान में है शिव सनकादिक, ब्रह्मा भी जिसको खोजकर हार चुके हैं, वे भला सम्पुट में कैसे समा जाएँगे ?

चरन पताल सीस असमाना । सो ठाकुर कैसे संपुट समाना ।
शिव सनकादिक अंत न पाये । ब्रह्म खोजत जनम गंवाये ।।[4]

ब्रह्म प्राप्ति के सुख का अनुभव ही आनन्द की चरम सीमा है। यह ब्रह्म प्राप्ति असम्भव नहीं है। आत्म चिन्तन द्वारा हृदय एवं मस्तिष्क को ज्ञान-ज्योति से प्रकाशित करके ही उस ब्रह्मानन्द का सुख प्राप्त किया जा सकता है। रैदास ने ब्रह्म को राम,[5] हरि,[6] माधव,[7] गोविन्द,[8] कृष्ण,[9] निरंजन,[10] गोपाल,[11] साहिब[12] आदि नामों से स्मरण किया है। एक पद में शिव की आराधना सगुणवादी भक्तों के समान करते हुए आप कहते हैं—

उर भुअंग भस्म अंग संतन बैरागी
जाके तीन नैन अमृत बैन, सीस जटाधारी ।।

---

१. **रैदास बानी**, पद, ९ पृ० ६
२. वही, पद १२, पृ० ७
३. वहीं, पद ५३
४. वही, पद ५७
५. वही, पद १३, १४, २२, २४
६. वही, पद १७, ६२, ७२, ८४
७. वही, पद ३८, ३९, ५२, ५३, ६५
८. वही, पद २०, ६३, ७५
९. वही, पद १२, ६९
१०. वही, पद ५६, ५७
११. वही, पद ७६, ८५
१२. वही, पद १०, ३६

प्रेम मगन फिरत नगन, संग सखा बाला।
अस महेस बिकट भेस, अजहुं दरस आसा ॥[1]

जीवात्मा—आत्मा ज्ञान का स्वरूप है, आत्मा ही ज्ञाता है और ज्ञाता तथा ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं। दोनों वस्तुतः एक हैं, पर जब तक भ्रमबुद्धि बनी रहती है, तब तक आत्मा परमात्मा में एकता स्थापित नहीं हो सकती। आत्म चिंतन द्वारा ज्ञान के कपाट खोलकर भेद उत्पन्न करने वाले भ्रम का अन्त करके ही दोनों में एकत्व स्थापित हो सकता है। अभ्यास द्वारा ही उस ब्रह्म को जाना जा सकता है। उस सर्वव्यापक, आदि, अन्त और मध्य में व्याप्त ब्रह्म को अलग या दूसरा मानना भ्रम है। आत्मा ब्रह्मांश ही है, ब्रह्म से पृथक् आत्मा की कल्पना भ्रमपूर्ण है। रैदास के अनुसार आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध तो स्वर्ण और स्वर्ण से बने अलंकार-आभूषण जैसा ही है—

आदिहु एक, अन्त पुनि सोई, मध्य उपाई सु कैसे।
अहै एक पै भ्रम से दूजो, कनक अलंकृत जैसे।[2]

आत्मा और परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में रैदास अद्वैतवाद के अनुयायी हैं। आत्मा और ब्रह्म वस्तुतः एक हैं, अभिन्न हैं। ब्रह्म माया से परे होने के कारण ईश्वर कहलाता है, पिण्डाण्ड में आबद्ध आत्मा जीव कहलाता है जो ब्रह्म का ही अंश अथवा प्रतिबिम्ब है। पिण्डाण्ड जीव को ही माया व्यापती है पर दोनों में भेद मानना सांसारिक भ्रम है, माया है। कनक और कुण्डल, सूत और पट, जल और तरंग, पाहन और प्रतिमा आदि में जिस प्रकार एक ही तत्व नाम भेद से विद्यमान है उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा में कोई अंतर नहीं है। रैदास कहते हैं—

रजु भुअंग रजनी परगासा, अस कछु भरम जनावा।
समुझि परि मोहि कनक अलंकृत, अब कछु कहत न आवा।
माधो भरम कैसेहु न बिलाई। ताते द्वैत दरसै आई।
कनक कुंडल सूत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यों, ब्रह्म जीव द्वति ऐसा।
बिमल एक रस उपजै न बिनसै, उदय अस्त दोउ नाहीं।
बिगता बिगत घटै नहि कबहूं, बसत सबै सब माहीं ॥[3]

ब्रह्मांश होते हुए भी रैदास ने जीव को अधम कहा है क्योंकि वह मायावेष्टित होकर अपने अंशी से अलग हो जाता है, पर उस परमपारस का स्पर्श होते ही उसका अज्ञान मिट जाता है—

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरे,
पतित पावन भये परसि सारं।[4]

---

१. वही, पद ६३
२. वही, पद ५४
३. वही, पद ५२-५३
४. वही, पद ४२

माया—विद्या और अविद्या माया में रैदास ने अविद्या माया का ही वर्णन किया है। माया का विस्तार सर्वत्र है, पिण्डाण्ड स्थित आत्मा मायाबद्ध होकर ही जीव की संज्ञा धारण करती है। माया के चक्र में फंसकर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है और इस झूंठे संसार को ही सर्वस्व समझने लगता है। ज्ञानी माया के चक्र से दूर ही रहते हैं, वे माया के रंग बिरंगे जाल को भेदकर ब्रह्म को उसी प्रकार प्राप्त कर लेते हैं जिस प्रकार हंस जल को छोड़कर दुग्ध का पान कर लेता है अथवा बुद्धिमान जन सिवार हटाकर स्वच्छ जल का पान कर लेता है। अज्ञानी जीव पर माया के कारण एक प्रकार की मोहिनी सी छाई रहती है जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाता। माया भी अपने शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्रों (काम, क्रोध, मद, लोभ, मोहादि) से जीव को वश में किए रहती है। कबीर ने जिसे महाठगिनी कहा है, उसी का परिचय रैदास ने इन शब्दों देते हुए जनसामान्य को सावधान किया है—

बरजि हो बरजिवी उतूले माया।
जग खेया महाप्रबल सब ही बस करिये, सुर नर मुनि भरमाया ॥[१]

माया के इस विकट मोह पाश बन्धन से मनुष्य तो क्या देवता भी बच नहीं पाते। कण-कण में व्याप्त माया ही संसार के दुख दैन्य का कारण है, रैदास प्रार्थना करते हैं—

केसवे विकट माया तोर, ताते विकल गति मति मोर।
सुविषंग सन कराल अहिमुख, ग्रसति सुटल सुभेष।[२]

राम नाम की 'संभारि' करने से इस कुटिल माया पर विजय प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा माया के भ्रम में भूलकर 'कर झारि' कर ही संसार से जाना पड़ेगा। यह माया तो 'थोथरी' है,[३] राम नाम ही सत्य है, उसी के स्मरण से माया के बन्धन कट सकते हैं, जीव ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है। काम क्रोधादि का नाश हो सकता है,[४] माया के हाथ बिकने से बच सकता है।[५] माया का पंक हरि के अमृत जल से ही छूट सकता है।[६] राम नाम से ही भेद अभेद में समा सकता है।[७]

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक

रैदास प्रमुख रूप से भक्त कवि है, हठयोगादि की जटिल साधनाओं के प्रति उनमें आकर्षण कुछ कम ही है, फिर भी उन्होंने पवन, गंग, यमुना, अनाहद, सुन्न

१. वही, पद ३३
२. वही, पद ३२
३. वही, पद ७१
४. वही, पद ७५
५. वही, पद ७८
६. वही, पद १७
७. वही, पद १४

मंडल आदि हठयोग परक शब्दों का प्रयोग किया है—

ऐसा ध्यान धरौं बरो बनवारी, मन पवन दै सुखमन नारी ।
उलटि गंग जमुन में लावौं । बिनहीं जल मंजन है पावौं ।।
पिंड परे जिव जिस घर जाता । सबद अतीत अनाहद राता ।।
सुन्न मंडल में मेरा बासा । तातें जिव में रहौं उदासा ।
कह रैदास निरंजन ध्यावौं । जिस घर जांव सो बहुरि न आवौं ।।[1]
पहिले ज्ञान किया चांदना, पाछे दिया बुझाई ।
सुन्न सहज में दोऊ त्यागे, राम न कहुं दुखदाई ।।[2]

रैदास से सहज समाधि और सहज योग की भी चर्चा की है—

भाई रे सहज बन्दो लोई, बिन सहज सिद्धि न होई ।[3]
चल मन हरि चटसाल पढ़ाऊं ।
गुरु की साटि ज्ञान का अच्छर, बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊं ।[4]
तोड़ूं न पाती पूजूं न देवा । सहज समाधि करूं हरि सेवा ।[5]

राम नाम का धन पाकर रैदास सहज का 'ब्योहार' करते हैं—

राम धन पाइयो, ताते सहज करूं ब्यौहार रे ।।[6]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रैदास एक उच्चकोटि के सन्त एवं भक्त हैं। इनके पदों में ऐसा आत्म निवेदन और ईश्वर विरह की पीड़ा है, जो शुष्क तत्व ज्ञान की चर्चा से प्राप्त नहीं हो सकती। ज्ञान और निर्गुण की चर्चा से प्रेम धारा अवरुद्ध नहीं हुई है। एक भक्त के निरीह आत्म समर्पण और विरहिन की कातर पुकार ने इनके काव्य का अनूठा शृंगार किया है। ब्रह्म के निर्गुण रूप को मानते हुए भी सगुण रूपों के प्रति स्वाभाविक निष्ठा सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध में अद्वैतवादी विचारधारा से प्रभावित होकर दोनों में अंश-अंशी भाव की स्थापना की है। रैदास के काव्य में न तो कबीर के समान मति भ्रम उत्पन्न करने वाला अटपटापन है और न भाव की जटिलता; उन्होंने तो अपने समय की प्रचलित भाषा में अपने आराध्य देव की उपासना के गीत भी गाए हैं और सरल शब्दों से समाज में व्याप्त वैषम्य का निराकरण किया है।[7] हठयोगपरक शब्दों को अपनाते हुए भी इनका मन उसकी जटिल साधना में रमा नहीं है, सहजयोग के प्रति ही अपेक्षाकृत

---

१. वही, पद ५६
२. वही, पद २
३. वही, पद ४१
४. वही, पद ७०
५. वही, पद ५७
६. वही, पद ७२
७. **स्वामी रामानन्द शास्त्री एवं वीरेन्द्र पाण्डेय,** सन्त रविदास और उनका काव्य, पृ० १८५

झुकाव अधिक है। सीधे-सरल संत और भक्त होने के कारण उक्ति की जटिलता आप में नहीं पाई जाती। इसी कारण उलटबाँसी जैसा चमत्कारपूर्ण काव्य रूप का आपके काव्य में प्राय: अभाव सा है।

रैदास भक्त थे और भक्ति के क्षेत्र में कम ही सन्तों की तुलना आपसे की जा सकती है।

३. धनी धरमदास

जन्म—१४६० वि० अनुमानत:, मृत्यु—१६०० वि०)

कबीर के अनन्य शिष्य धनी धरमदास उच्चकोटि के आत्मदर्शी संत हैं। अगाध गुरु-भक्ति, अप्रतिम भगवत प्रेम, एकान्त अध्यात्म निष्ठा और यौगिक साधनाओं के प्रति समुचित आग्रह आपकी वाणी के प्रत्येक शब्द में कुछ इस प्रकार भरा पड़ा है कि आज कई सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सरलता, सहजता, अमृतमयी मधुरता और तप्त हृदय को क्षण मात्र में शीतलता प्रदान करने वाली सरसता का जो सागर उसमें लहरा रहा है उसमें जन-मानस गोते लगाकर मनोवाञ्छित मोती माणिक्य तो प्राप्त कर ही रहा है, जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण और चिर प्रश्नों का नूतन समाधान प्राप्त कर कृतकृत्य हो रहा है। गुरु के श्री चरणों में बैठ अनन्त ज्ञानामृत का छककर पान करते हुए भी आप तत्कालीन परम्पराओं का भी समुचित प्रभाव ग्रहण करते चले हैं।

प्रतीकात्मक दृष्टि से वैदिक साहित्य में जिस वृक्ष का चित्रण हुआ है, उसकी अभिव्यक्ति धरमदास की वाणी में इस प्रकार हुई है—

जल भीतर इक वृच्छा उपजै, तामें अगिन जरै।
ठाढ़ी साखा पवन झकोरे, दीपक जोति बरै॥
माथे पर तिरबेनी बहत है, चढ़ि ऊपर असनान करै।[1]

एक अन्य स्थान पर आपने इस वृक्ष को 'अछय वृक्ष'[2] भी कहा है। सिद्धों द्वारा समर्थित 'सहज' का आपने प्रभु-भक्ति के अर्थ में प्रयोग किया है—

साहेब हमरे सहज लगी डोरी।[3]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

आप प्रमुख रूप से भक्त कवि हैं, सन्तों ने भक्त को विरहिन के रूप में सर्वत्र चित्रित किया है। विरह वेदना की कसमसाहट ही भक्त का श्रृंगार है, इस ज्वाला में जलकर ही अन्तर का सारा मैल जल जाता है, आत्मा कुन्दन सी निखर आती है। धरमदास की आत्मा भी व्याकुल होकर तड़प उठती है, 'नैन' बिन दरस के प्यासे मरने का उपक्रम करते हैं, विरहिन के एक ही तो जीवनाधार हैं, यदि वही दूर हैं तो

---

१. **धनी धरमदास की शब्दावली**, भेद का अंग, शब्द ६, पृ० ३१
२. वही, मंगल शब्द १४, पृ० ४३
३. वही, पृ० ६७

वह किसके सहारे जिए ? उसे तो बस उसी की आसा है—

नैन दरस बिन मरत पियासा ।
तुमहीं छांड़ि भजूं नहिं औरे, नाहिं दूसरी आसा ।।[1]

वे 'मितऊ' 'मढ़ैया' सूनी कर गए हैं, 'बलम' बिना कुछ कहे-सुने 'परदेस' निकल गए हैं, जोगन के वेश में वन-वन ढूंढ रही हूँ, वे निर्मोही कैसी विरह की 'गैल' बता गए हैं ? सब सुहागन प्रिय के साथ पार उतर गई हैं, केवल मैं ही राह में अकेली खड़ी हूँ, विरह तन मन में समा गया है, कोई बताए मैं क्या करूं ?

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो ।
अपन बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के कछुवो न गुन दै गैलो ।
जोगिन होइ के मैं बनबन ढूंढौं, हमरा कै बिरह बैराग दै गैलो ।
संग की सखी सब पार उतरि गैली, हम धन ठाढ़ी अकेली रहि गैलो ।

× × ×

तन तलफै हिय कछु न सोहाय, तोहि बिन पिय मोसे रहल न जाय ।।[2]

न जाने वे निष्ठुर पिया कौन देश जाकर बस गए हैं, 'जोगनियाँ' 'पिया कारन बावरी' हो गई है,[3] जैसे-जैसे सन्ध्या निकट आती जाती है, व्याकुलता बढ़ती जाती है,[4] रात्री का हर पहर बड़ी बेचैनी से कटता है, पिया बिन भला बिरहिन को नींद कैसी ? उस समय तो विरह अधिक तीव्र हो उठता है, पिया का वियोग मन सालने लगता है, जब बादल क्षण-क्षण में गरज उठते हैं, बिजली क्षण-क्षण में चमक उठती है, ऊपर से झाँक झाँक कर डराते हैं, सास ननद तरह-तरह के ताने मारती हैं, कोई भी उस पिया का गाँव-निवास ठीक-ठीक नहीं बतलाता, कोई दूर कहता है तो कोई पास ।[5] भला मैं क्या करूं ? चलते-चलते पैर थक गए हैं, आगे पथ नहीं सूझता है, पीछे पैर नहीं पड़ते । ससुराल में पिया नहीं पहचानते, पीहर में जाते लाज आती है ।[6] पिया के बिना 'मंदिलवा' सूना है, काग आ आकर बैठने लगे हैं,[7] सारा यौवन प्रतीक्षा करते करते ही बीत गया । हाय रे बिरहिन के भाग्य, होली खेलने की 'उमरिया' में ही पिय मिलकर बिछुड़ गए, भोली वधू तो समझ बैठी थी कि अब यह सुख मिटने का

---

१. वही, शब्द ३, पृ० ११
२. वही, शब्द २, ६, पृ० ११, ११
३. वही, ८, पृ० १३
४. वही, शब्द १५, पृ० १५
५. वही, शब्द १३, पृ० १४
६. **पिया बिना मोहिं नीक न लागैं गांव ।**
ससुरे जाउं पिया नहिं चीन्हें, नैहर जात लजाउं ।
इहाँ मोर गाँव उहाँ मोर पाही, बीचे अमरपुर धाम ।
धरमदास बिनवै कर जोरि, तहाँ गाँव न ठांव ।। वही, शब्द १४, पृ० १४-१५
७. वही, मंगल शब्द १३, पृ० ४३

नहीं, पर बीच में न जाने कैसा अन्तर आ गया ? अब तो पिया बिना जीना मुश्किल हो रहा है ।[1] पिया रूठ गए हैं, धरमदास की विरहिन आत्मा अपने व्यवहार पर स्वयं को ही कोस उठती है—

गांठ परी पिया बोले न हम से ।
निसु बासर पिय संग मैं सूतिउँ, नैन अलसानी निकरि गये घर से ।[2]

इस प्रकार ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते हुए धरमदास ने मार्मिक प्रतीक योजना की है ।

चिन्तन प्रधान दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—धरमदास का जीवन सगुण और निर्गुण का सम्मिश्रण है । प्रारम्भ में वे सगुणवादी मूर्तिपूजक थे, पर कबीर के प्रभाव से निर्गुण ब्रह्म के उपासक हो गए; इसलिए निर्गुण ब्रह्म के साथ-साथ स्वाभाविक रूप से सगुण ब्रह्म का भी यत्र-तत्र निरूपण हो गया है । वैसे धरमदास प्रमुख रूप से ब्रह्म के निर्गुण रूप के ही उपासक हैं । नाम के महत्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

नाम रस ऐसा है भाई ।
आगे आगे दाहि चलै, पाछे हरियर होई ।

× × ×

धरमदास पी छकित भये हैं और पिये कोइ दासा ।।[3]

आपने ब्रह्म को सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सामर्थ्यवान[4], एक और अखण्डित माना है । वह ब्रह्म स्वयं की ही ज्योति से प्रकाशित है—

ब्रह्म अखंडित साहेब कहिये, आपु में आपु प्रगासा ।।[5]
सच्चिदानंद सरूप अखंडित, व्यापक है सब ठौरी ।।[6]

कोई उसे निर्गुण कोई सगुण तो कोई कर्ता मानता है, पर वह ब्रह्म हर जीव-जन्तु में समान रूप से रम रहा है ।[7] उस निर्गुण ब्रह्म-पुरुष का देश भी तो ऐसा है जहाँ सांसारिक उपादान नाममात्र को भी नहीं—

नहिं सागर नहिं सिखर, नहिं तहँ पवन न पानी ।
जहाँ 'पुरुष' आपै बसै, तहँ कुल कर्म न पांति ।।[8]

---

१. वही, होली १, पृ० ५६
२. वही, मिश्रित का अंग १९, पृ० ६९-७०
३. वही, नाम महिमा का अंग १, पृ० ५
४. वही, विनती का अंग १८, पृ० २४-२६
५. वही, भेद का अंग १, पृ० २८
६. वही, होली ३, पृ० ५७
७. वही, मिश्रित का अंग १३, पृ० ६६
८. वही, नाम लीला १२, पृ० ७४

जीवात्मा—आत्मा और परमात्मा में अंश-अंशी भाव का सम्बन्ध है लेकिन आत्मा माया के चक्र में फंसकर अपने रूप को भूल जाती है—

चेतन अंस पुरुष की भाई, चारो माँहि भुलाई हो।
सुछम देंह में ओहं सोहं, इनको ख्याल अपारा हो।
स्थिर देंह में अंस है अच्छर, इच्छा उनसे धारा हो ।।[1]

माया--ब्रह्मांश होते हुए भी आत्मा सांसारिक माया में कुछ इस प्रकार फंस जाती है कि उसे आत्म स्वरूप का ध्यान भी नहीं रहता, वह माया अपना आकर्षक रूप दिखाकर आत्मा को बहका लेती है और नाम से नाता टूट जाता है—

जो मरि भाखा बोल, बोलि कामिन चित चार्‌यो।
छिनहीं प्रीति बढ़ाय, नाम से नाता तोर्‌यो ।।
रस बस कीन्हो आइके, गयो ठगौरी मेल।
जीव लोभ बस भ्रमि रहे, करि केवल सुख केल ।।[2]

'कुसुम्भ रंग' के समान माया प्रारम्भ में तो बड़ी आकर्षक लगती है पर दो चार दिन बाद ही उसका रंग उतर जाता है,[3] इसके विपरीत नाम का रंग पक्का 'मंजीठ रंग' है जो कभी धुंधला नहीं पड़ता बल्कि बार बार धोने पर भी और अधिक उज्ज्वल होता जाता है।[4] माया मोह और भरम की मोटरी है, जो सारे संसार को अपने में समाए हुए है।[5] यह माया जोगिनी है, हाथ में धनुष-बाण लिए हुए क्षण भर में नष्ट भ्रष्ट कर देती है। उसके हृदय में दया नामक कोई वस्तु नहीं है,[6] इस माया ने संसार में होली मचाई हुई है, धरमदास ने सन्तों को इस फाग से बचने का उपदेश दिया है, यह माया अपने अनेक सहयोगियों के साथ नाच गाकर होली मचाए हुए हैं।[7]

सन्तों ने जिस अविद्या माया का अतिशय वर्णन किया है उसमें केवल अज्ञानी संसारी जन ही फँसते हैं, अन्य ज्ञानी लोगों की तो गैल ही न्यारी है, वे माया के फन्द को तोड़कर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उन्हें माया व्यापती ही नहीं है। धरमदास कहते हैं कि सतगुरु की कृपा से सन्त लोग ज्ञान खड्ग से त्रिगुणात्मक माया के कठिन पाश को काट देते हैं।[8]

---

१. वही, भेद का अंग ३, पृ० २९-३०
२. वही, मुक्ति लीला १३, पृ० ७७
३. वही, ७/७६
४. वही, ८/७६
५. वही, विनती का अंग २४, पृ० २६
६. वही, मंगल १३, पृ० ४२
७. **तुम संतो खेलु सम्हारि, जग में होरी मचि रहि भारी।**
वही, होली ४ पृ० ५७-५८
८. **ज्ञान खडग तिरगुन को मारूँ, पाँच पचीसों चोर।** वही, पृ० ६६

संसार—को धरमदास ने अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार मिथ्या, क्षणिक और समस्त झंझटों का कारण माना है। पानी के बुलबुले के समान इसका अस्तित्व है। रहट की घरिया के समान यह संसार भरता और खाली होता रहता है।[१] आगे इसी संसार को गुड और जीव को 'माखी भी कहा गया है, माखी रस के लोभ में गुड़ के ऊपर बैठ तो जाती है, पर जब दोनों पंख लिपट जाते हैं तो पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता।[२] यह संसार काँटे की बाड़ी है जिसमें भ्रमित जीव 'अरुझि अरुझि' के मरते रहते हैं, भादों की भरी नदिया है जिसमें जीव डूबते मरते रहते हैं।[३] यह संसार झूंठा है,[४] जम का फन्दा है जिसमें कर्म का जाल बिछा हुआ है। हे सतगुरु, मुझे उस 'देसवा' में ले चलो जहाँ अमृत की धारा बरसती हो, पुरुष (ब्रह्म) का नित्य दरबार लगा हो—

यह संसार काल जम फंदा, कर्म का जाल पसारा हो।

× × ×

वोहि देसवा एक अजर वस्तु है, बरसत अमृत धारा हो।
कहै कबीर सुना धर्मदासा, लखो पुरुष दरबारा हो॥[५]

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

धनी धरमदास की वाणी में जहाँ भक्ति की अप्रतिम धारा उद्दाम वेग से प्रवहमान है वहाँ यौगिक (हठयौगिक) साधना और सिद्धान्तों की सरिता भी साथ-साथ बहती है। नाथपंथी विचारधारा से प्रभावित होकर सभी सन्तों ने न्यूनाधिक रूप में हठयोगपरक शब्दावली को अपनाया है। धरमदास जी ने इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, त्रिवेणी, चन्द्र, सूर्य, गंगा, जमुना, सुन्न समाधि, विविध चक्र, गगन गुफा आदि-आदि प्रतीकात्मक शब्दों का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

तीआ तीन त्रिवेनी संगम, जहां गगन अस्थाना।
पाँचे पाँच पचीसो बस करि, साँचे होइ ठहरावै।
इंगला पिंगला सुखमनि सोधै, तब चरनोदक पावै।
छठएँ छँयो चक्र बेधै, सुन्न भवन मन लावै।
बिगसै कँवल माया के भीतर, तब चंदा दरसावै।
अठएँ आठै अष्ट कँवल में, ऊरध निरखै सोई।
आतम चीन्हि परमातम चीन्है, ताहि तुलै नहिं कोई॥

---

१. वही, मुक्ति लीला २०, पृ० ७८
२. वही, २१/७८
३. वही, मिश्रित का अंग ५, पृ० ६३
४. वही, मंगल ४, पृ० ३७
५. वही, शब्द ६, पृ० ३९

नवएँ नवों द्वार होइ निरखै, जहँ बरै जगमग जोती ।
दामिनि दमकै अमृत बरसै, अजर झरै जहँ मोती ।
दसएँ दसम द्वार चढ़ि बैठे, पढ़ि ले एक पहाड़ा ।[1]

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

चमत्कार प्रधान शैली (उलटबाँसी) का भी धरमदास ने प्रयोग किया है। एक स्थान पर भेड़ी, बाघ, मूस, मेढ़क, बिलारी आदि शब्दों को लेकर अद्भुत रस प्रधान उलटबाँसी द्रष्टव्य है—

बुढ़िया ने काता सूत, जोलहवा ने बीना हो ।
दरजी ने टुक टुक कीन्ह, दरद नहि जाना हो ।
भेड़ी चरावत बाघ । मूस रखवारा हो ।
मेंगुची ने बांधा ताल, सिंह के ठाटा हो ।
गोडिया पसारा जाल, ऊँट एक बाझा हो ।
दुलहिन के सिर मौर, बिलारी साजा हो ।
भांडा गढ़त कोंहार, मास दस लागा है ।
छिनहिं में जात बिलाय, बिलँब नहि लागा हो ।
यह मंगल सत लोक, हंस जन गावहिं हो ।
कहैं कबीर धर्मदास, अमर पद पावहिं हो ।[2]

निष्कर्ष—धरमदास जी की वाणी का प्रतीकात्मक दृष्टि से विवेचन करने के बाद हम कह सकते हैं कि भक्ति के स्वर्गिक प्रदेश में प्रवेश कर जिस आनन्द का पान किया है उसमें सारा ही जगत् पीछे छूट गया है, अन्य सब रस व्यर्थ हो गए हैं, हृदय का भ्रम मिट गया, हृदय में हरि विराजमान हो गए हैं और

झरि लागै महलिया गगन घहराय ।
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहर उठै सोभा बरनि न जाय ।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनँद होइ साध नहाय ।।
खुली किवरिया मिटि अँधियरिया, धन सतगुरू जिन दिया है लखाय ।।[3]

आप एक उच्च कोटि के भक्त हैं। रचना थोड़ी होने पर भी उसमें सरल भावों की अभिव्यंजना की गई है, कबीर के समान कठोरता या कर्कशता आपकी वाणी में नहीं है, इसका सबसे बड़ा कारण है खण्डन-मण्डनात्मक प्रवृत्ति का अभाव। हृदय की अनुभूत भावनाओं को सहजता से व्यक्त कर आपने सन्तों में आदरणीय स्थान बना लिया है। ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते हुए उसे पिय, प्रीतम, बलम, दुलहा,

१. वही, पहाड़ा, पृ० ७१-७२, एवं पृ० ३४, ३५, ३८, ५३, ५४ पर भी अन्य हठयोगपरक पद हैं।
२. वही, भेद का अंग १२, पृ० ३३-३४
३. वही, भेद का अंग ५, पृ० ३०-३१

साहेब आदि विविध नामों से अभिहित किया है। आत्मा को ब्रह्मांश मानते हुए भी उसे माया से ग्रस्त माना है, सतगुरु के प्रभाव से ही माया का बन्धन छूट पाता है।

यौगिक शब्दावली का प्रयोग स्थान-स्थान पर करते हुए भी उसका सिद्धान्त वर्णन क्रमबद्ध रीति से कहीं भी नहीं हुआ है। जितना भी हठयोग कथन हुआ है वह या तो परम्परा निर्वाह के लिए है या प्रसंगवश। शैली में चमत्कार उत्पन्न करना आपकी प्रकृति में सम्भवतः नहीं है, तभी तो उलटबाँसी के केवल कुछेक ही उदाहरण शब्दावली में देखने को मिलते हैं। वास्तव में धनी धरमदास जी भक्त कवि हैं, भक्ति का उन्माद बाल्यावस्था से ही इन पर चढ़ा हुआ था, कबीर दर्शन से वह सहस्र धाराओं में प्रस्फुटित हो बहने लगा, जीवन को सर्वशः भगवदर्पण कर जो कुछ इन्होंने कमाया था वह 'राम-नाम' ही था जिसका मुक्त हस्त और मुक्त कण्ठ से सर्व हित में दान किया है।

४. गुरु नानक देव

(जन्म—वैशाख शुक्ल-३ सं० १५२६; मृत्यु—आश्विन शुक्ल १०, १५९५)

गुरुनानक देव अपूर्व धर्म सुधारक, महान् देशभक्त, प्रचण्ड रूढ़ि विरोधी और अद्भुत युग पुरुष थे। इसके साथ ही उनके हृदय में वैराग्य और भक्ति की मन्दाकिनी सदैव प्रवाहित होती रहती थी तथा मस्तिष्क में विवेक और ज्ञान का मार्तण्ड अहर्निश प्रकाशित रहता था।[1]

परम्परागत प्रतीक

प्रतीकात्मक दृष्टि से नानक-काव्य भरा पूरा है। एक से एक सुन्दर चित्र उनकी वाणी में देखने को मिलते हैं। वैदिक परम्परा से प्राप्त जिस वृक्ष-प्रतीक का सन्तों ने वर्णन किया है उसके सम्बन्ध में गुरु नानक देव कहते हैं—

तरवरु काइआ पंखि मनु तरवरि पंखी पंच।
ततु चुगहि मिलि एक से तिन कउ फास न रंच।
उडहि न बेगुल बेगुले ताकहि चोग घणी।
पंख तुटे फाही पड़ी अवगुणि भीड़ वाणी॥
बिनु साचे किउ छूटीऐ हरि गुण करमि मणी।
आदि छडाए छूटीऐ बडा आपि धणी॥
गुर परसादी छूटीऐ किरपा आप करेइ।
अपणै हाथि बडाईआ जै भावै तै देइ॥[2]

अर्थात् शरीर रूपी वृक्ष पर मन रूपी पक्षी निवास करता है, शरीर मन का अधिष्ठान है। मन का स्वरूप संकल्प विकल्प करना और सुख दुख भोगना है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के समूह को अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं, गुरुवाणी में मन का

१. **नानक बानी**, भूमिका, पृ० १५
२. वही, रामकली, महला १/३३ पृ० ५२०-२१

अर्थ जीवात्मा है। उस काया रूपी वृक्ष पर एक और पक्षी है जो श्रेष्ठ पंच है, यह है परमात्मा। इस प्रकार मन रूपी पक्षी और परमात्मा रूपी पक्षी एक ही काया रूपी वृक्ष पर निवास करते हैं। एक परमात्मा से मिलकर, जब वे पक्षी=मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, परमात्म तत्व चुगते हैं, तो उन्हें रंच मात्र भी फाँस में पड़ने का भय नहीं रहता—वे सांसारिक बन्धनों में नहीं आते। किन्तु यदि वे पक्षी परमात्मा से पृथक् पृथक् होकर उड़ते हैं और विषय रूपी सुन्दर चारे को देखते हैं तो उनके पंख टूट जाते हैं, अर्थात् साधन-सम्पत्ति विहीन हो जाते हैं और किए पापों की भीड़ आकर इकट्ठी हो जाती है। बन्धन में पड़ जाने से सत्य-परमात्मा के बिना किस प्रकार छूटा जाय? हरि ही जब इस बन्धन को छुटायें तभी छूट सकता है क्योंकि वह स्वामी बहुत बड़ा है। उसी प्रभु के हाथ बड़ाई है, जिसे चाहता है, कृपा करता है, इच्छित फल प्रदान करता है। वैदिक साहित्य में जिस ऊर्ध्वमूल अव: शाख का वर्णन मिलता है उसको नानकदेव ने इस प्रकार कहा है—

उरध मूल जिसु साख तलाहा चारि वेदु जितु लागे।
सहज भाइ जाइ ते नानक पारब्रह्म लिव जागे॥[१]

सिद्ध परम्परा से गृहीत सहज का प्रयोग गुरु नानक ने स्वाभाविक तथा निर्वाण पद के अर्थ में किया है—

सहजि संतोखि सीगारिआ मिठा बोलणी।[२]
सहजि सुभाइ मिलै साबासि॥[३]
सहजि सुभाइ मेरा सहु मिलै दरसनि रूपि अपारू।[४]

सहज='तुरीय' या निर्वाण पद के अर्थ में—

पूरा सतिगुरु सहजि समावै।[५]
सहजै सहजु मिलै सुखु पाईऐ दरगह पैधा जाए॥[६]
सहजे मिलि रहै अमरा पद पावै॥[७]

'सहज समाधि' का भी प्रयोग आपने किया है—

सहज समाधि सदा लिव हरि सिउ जीवाँ हरि गुन गाई॥[८]

---

१. वही, रागु गूजरी, असटपदीआँ १, पृ० ३५८
२. वही, रागु सिरी १०, पृ० १०९
३. वही, रागु गउडी ११, पृ० २०८
४. वही, रागु गउडी १९, पृ० २१९
५. वही, प्रभात विभासी, असटपदीआँ ५, पृ० ७९७
६. वही, ७/४ पृ० ८००
७. वही, रागु तिलग, घरु २ सबद ६, पृ० ४३३
८. वही, रागु सारंग, असट०, महला १, घरु १, सबद १, पृ० ७२३

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

नानक देव ने परमात्मा के साथ वैसे तो दास्य[1], वात्सल्य,[2] सख्यादि भाव से सम्बन्ध स्थापित किए हैं पर दाम्पत्य भाव के प्रतीकों में माधुर्यपरक अनन्यता और तन्मयता का सर्वभावेन उत्कर्ष मिलता है। गुरुनानक ने आत्मा-परमात्मा मिलन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। पहली अवस्था में जीवात्मा रूपी स्त्री परमात्मा रूपी पति से अनभिज्ञ रहती है, उसे यह ज्ञात भी नहीं होता कि परमात्मा रूपी पति का क्या ठिकाना है ? दूसरी अवस्था में उसे बोध होता है कि मेरा प्रियतम है और वह एक है जिससे वह गुरु की कृपा से मिल सकती है। तीसरी अवस्था में, ससुराल में पहुँचकर उसे अपने प्रियतम का पूर्ण ज्ञान होता है कि यही मेरा पति है, प्रियतम है, गुरु की कृपा से कामिनी पति की प्यारी हो पाती है। चौथी अवस्था में जीवात्मा भय और भाव का शृंगार कर प्रियतम के पास जाती है, वह प्रियतम भी उसके भाव-शृंगार पर रीझ कर सदैव के लिए अपनाकर चिर रमण का आयोजन करता है—

पेवकडै धन खरी इआणी । तिसु सह की मैं सार न जाणी ।
सहु मेरा एकु दूजा नहीं कोई । नदरि करे मेलावा होई ।।
साहुरडै धन साचु पछाणिआ । सहजि सुभाइ अपणा पिउ जाणिआ ।।
गुर परसादी ऐसी मति आवै । तां कामणि कंतै मनि भावै ।।
कहतु नानकु भै भाव का करे सीगारू । सद ही सेजे रवै भतारु ।।[3]

विरह का भाव नानक की वाणी में सर्वत्र व्याप्त है। विरहिन के लिए सावन की ऋतु बड़ी दुखदाई होती है, दामिनी चमक चमक कर डराती हैं, घनघोर घटाएँ मन को कँपा कँपा जाती हैं, सूनी सेज डसने को दौड़ती है, मरण की कामना करती विरहिन को बिना प्रियतम के भूख, प्यास, नींद आदि कुछ भी नहीं लगती —

सावणि सरस मना घण बरसहि रुति आए ।

× × ×

नानक सा सोहागणि कंती पिर कै अंकि समावए ।।[4]

विरह इतना तीव्र हो उठा है कि एक घड़ी भी छः छः महीने लम्बी लगती है, हे प्रभु, सब कपाट खोलकर मिलो—

नानक मिलहु कपट दर खोलहु एक घड़ी खटु मासा ।[5]

पति परदेस चले गए हैं, किस प्रकार संदेश भेजूँ ? प्रभु किस प्रकार मिलें, मैं विरहिन तो उस कठिन मार्ग को जानती भी नहीं—

---

१. वही, रागु आसा, सबद २१, पृ० २६३
२. वही, रागु आसा, सबद २२/३ पृ० २६४
३. वही, रागु आसा, सबद २७, पृ० २६८
४. वही, रागु तुखारी, बारहमासा ६, पृ० ६७४
५. वही, १२, पृ० ६७५

साजन देसि विदेसीअडे सानेहडे देदी।

× × ×

मरगु पंथु न जाणउ विखडा किउ पाईए पिरु पारे।[1]

यह 'दरद' कोई साधारण नहीं है, हाथ पकड़ कर भला वैद्य क्या बताएगा ? 'करक' तो कलेजे में है—

वैद बुलाइया वैदगी, पकडि ढढ़ोले बाँह

भोला वैदु न जाणई, करक कलेजे माँह ।।[2]

भला वियोग रोग में 'दारू' क्या करेगी—प्रिय-दर्शन ही सबसे बड़ी दवा है। हे वैद्य, यदि वह हो तो ले आओ। चकवी को नींद नहीं आती, भला प्रियतम के बिना नींद कैसी ! बिना उनके तो एक पल भी अच्छा नहीं लगता।[3] विरह की घड़ियाँ समाप्त होने पर आत्मा-वधू को प्रिय मिलन के लिए शृंगार भी करना आवश्यक है, नानक कहते हैं—

मनु मोती जे गहणा होवै पउणु होवै सूतधारी।

खिमा सीगारु कामणि तनि पहिरै रावै लाल पिआरी ।।

× × ×

मन मंदिर जे दीपकु जाले काइआ सेज करेई।

गिआन राउ जब सेजै आवै त नानक भोगु करेई ।।[4]

सहज भाव से मिले प्रियतम को विरहिन अन्तःकरण में धारण कर लेती है उसके गुणों को अंक में समा लेती है।[5]

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म – नानक देव ने ब्रह्म को एक ही माना है—

साहिब मेरा एको है। एको है भाई एको है।[6]

साहिबु मेरा एक है अवरू नहीं भाई।[7]

गुरु नानक ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की समान रूप से उपासना की है। निर्गुण रूप में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर जो उसके वर्णन करने का प्रयत्न करता है वह बाद में पछताता है—

ता कीआं गला कथीआ ना जाहि।

× × ×

---

१. वही, बारहमासा, सबद ४, पृ० ६८४-८५
२. वही, मलार की बार, सलोकु ४, पृ० ७६१
३. वही, रागु मलार, असटपदीआँ १, पृ० ७५२
४. वही, रागु आसा, सबद ३५, पृ० २७३
५. वही, रागु तुखारी, बारहमासा १५, पृ० ६७५
६. वही, रागु आसा ५, पृ० २५०
७. वही, रागु आसा १८, पृ० ३०२

जे को कहै पिछै पछुताइ ।[1]

उस निर्गुण ब्रह्म में जल, थल, पृथ्वी, आकाश आदि कुछ भी नहीं, वह स्वयंभू अपने आप में प्रतिष्ठित हैं—

जल थलु धरणि गगन तहँ नाही आपे आपु कीआ करतार ।
ना तदि माइआ मगनु न छाइआ न सूरज चन्द न जोति अपार ।[2]

सगुण रूप का वर्णन करते हुए ब्रह्म के विराट रूप की कल्पना का चित्रण गुरु नानक ने स्थान-स्थान पर किया है ।

गगन मै रवि चन्दु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती ।
धूपु मलआनलो पवणु चवरो करै । सगल बनराइ फूलत जोति ।।[3]

सर्व व्यापक उस ब्रह्म की ज्योति सबमें विद्यमान है, उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं—

सभ महि जोति जोति है सोइ तिस कै चानणि सभ महि चानणि होइ ।[4]

वही ब्रह्म स्वयं ही पवन, जल, वैश्वानर, शशि, सूर्य है, वही अमर है, वही वृक्ष है, और वही उस वृक्ष का फल और फूल है ।[5] उस ब्रह्म का कोई अंत नहीं, उसका विराट स्वरूप भी कथन की सीमा से परे है ।[6]

जीवात्मा—वेदान्तवाद के अनुसार ही नानक ने आत्मा और परमात्मा को अभिन्न माना है । आत्मा में परमात्मा और परमात्मा में आत्मा नित्य रूप से निवास करती है—

आतम महि रामु, राम महि आतमु ।[7]

× × ×

आतमु रामु, रामु है आतम ।[8]

जीव परमात्मा के 'हुकुम' से ही अस्तित्व में आता है और पुनः उसी में समा जाता है, जीव परमात्मा में नित्य रूप से निवास करने के कारण अजर, अमर और अनन्त है—

देही अंदरि नामु निवासी । आपे करता है अविनासी ।

× × ×

१. वही, जपुजी पउडी ३६, पृ० ६७
२. वही, रागु गूजरी ८, पृ० ३५६-६०
३. वही, रागु धनासरी ६, पृ० ४१६
४. वही, रागु धनासरी, ६
५. वही, रागु मारू सोलहे १, पृ० ६०६–७
६. वही, जपुजी, पउडी २४, पृ० ६०
७. वही, रागु भैरउ, असटपदिआँ १, पृ० ६६८
८. वही, रागु मारू सोलहे १० पृ० ६३२

ना पीउ मरै न मारिआ जाई करि देखै सबदि रजाई है ॥[1]
न जीउ मरै, न डूबै, तरै ।
तिनकै नाम अनेक अनंत ।[2]

किन्तु अहंकार वश जब जीव अपनी सत्ता पृथक् समझने लगता है तब उसकी बड़ी दुर्दशा होती है,[3] वह अनेक योनियों में भटकता फिरता है—

जह जह देखा तह तह तू है तुझते निकसी फूटि मरा ।[4]

साधन सम्पन्न होने पर, ज्ञान उत्पन्न होने पर जीव में व्याप्त माया और अहंकार नष्ट हो जाते हैं और आत्मा परमात्मा (निरंकार) में लीन हो जाती है।[5]

जीवात्मा को कवि ने काला हिरन, भंवरा, मछली, नहर आदि के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है।[6]

माया—गुरु नानक देव ने माया की पृथक् सत्ता स्वीकार न करते हुए उसे परमात्मा की ही उत्पन्न की हुई शक्ति माना है जिसके द्वारा वह समस्त जगत् को नाच नचा रहा है। त्रिगुणात्मक माया की रचना भी उसी ने की है—

त्रै गुण आपि सिरजिअनु माइआ मोहु वधाइआ ।[7]

माया की मोहिनी शक्ति नाना रूपों में संसार में व्याप्त है,[8] स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी इसके त्रिगुणात्मक पाश में बंधे हैं।[9]

सभी सन्तों ने अविद्या माया का वर्णन कर उसका भरपूर तिरस्कार किया है। माया ही आत्मा-परमात्मा के बीच द्वैत बुद्धि उत्पन्न करती है, यही उसके मिलन में बाधा भी उपस्थित करती है, नानक देव ने इस माया को उस बुरी सास के रूप में चित्रित किया है जो वधू रूपी जीवात्मा को परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलने नहीं देती—

सासु बुरी घरि वासु न देवै, पिर सिउ मिलण न देइ बुरी ।[10]

माया को सर्पिणी, धरकटी (धिक्कृत व्यभिचारिणी), बदसूरत स्त्री, कामणिआरि, जादू टोना देने वाली स्त्री आदि विभिन्न प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त किया है—

इउ सरपनि कै वसि जीअड़ा ॥[11]

---

१. वही, रागु मारू, ६, १३, पृ० ६२७
२. वही, जपुजी, पउडी ३४, पृ० ६६
३. वही, आसा, सलोकु १३, पृ० ३३४
४. वही, सिरी ३१, पृ० १२६
५. **आतमु चीन्हि भए निरंकारी** । वही, आसा, असटपदिआँ ८, पृ० २८८
६. वही, आसा छंत, ५, घरु ३, पृ० ३२१-२२
७. वही, सारंग की बार, पउडी १, पृ० ७२६
८. वही, प्रभाती विभास. पृ० ७६२
९. वही, जपुजी, पउडी ३०, पृ० ६४
१०. वही, आसा २२, पृ० २६४
११. वही, सिरि, असट० १५, पृ० १५६

माइआ मोहु धरकटी नारी । भुंडी कामणि कामणिआरि ।।[1]

ज्ञान ज्योति अन्तर में जब प्रकाशित हो जाती है तब धीरे-धीरे माया के बन्धन शिथिल पड़ने लगते हैं, भगवत् भजन से माया के बन्धन सर्वथा कट जाते हैं और पुनः आत्मा परमात्मा का मेल हो जाता है ।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

गुणग्राही नानक देव ने भक्ति को प्रधानता देते हुए भी हठयोगपरक शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है । दस दुआरि, उलटिओ कमल, अमृत धारि, गगनि, अमृत रस, अलिपत गुफा, अनहद सबद, सुंन समाधि, सुनमंडल, सहज गुफा, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, चन्द्र, सूर्य, बंक नाडी (कुण्डलिनी) आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है—

अरचे के घरि परचे जाय । त्रिकुटी फूटी सुन्नि समाय ।
ससी अरु फूटा कवल विगासु । त्रिकुटी फूटी निज घरि वासु ।
बंक नाडि रस, भेंदु न पाय । भणति नानक जे निज घरि जाय ।
इडा पिंगुला सुष्मना तन बुधि । तीन तपे सहंसा की सुधि ।
त्रिगुण त्यागि चउथा पदु जाणे । नउं घरि ढूंढ़ि दशवें घरि आणे ।।[2]

प्राणसंगली हठयोग परक रचना है, हठयोग की शब्दावली का उसमें स्थान-स्थान पर प्रयोग किया गया है । "जोग मारग सिद्ध गोष्ट" शीर्षक के अन्तर्गत गुरुनानक देव ने योग की विभिन्न प्रक्रियाओं और प्रतीकात्मक रूपों का चित्रण किया है । एक बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है, गुरु नानक देव सच्चे अर्थों में भक्त हैं, हठयोग परक साधनाओं का वर्णन करते हुए भी भक्ति के अभाव में उन्हें व्यर्थ माना है—

हठु निग्रहु करि काइआ छीजै । वरतु तपनु करि मनु नहि भीजै ।
राम नाम सरि अवरू न पूजै ।[3]

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

चमत्कार प्रधान उक्ति—उलटबाँसी के अनेक उदाहरण भी नानक देव का रचनाओं में देखने को मिल जाते हैं—

निरभउ मिलै भउ सगला जाय । उलटा मनु मनसा कउ खाय ।
धरती उलटि चढ़ी असमानि । नानक गुरुमिलि सभु सचु जानि ।।
कुंचर चीटी कै पग बांधा ।। गहि गंडीर उलटि सरु सांधा ।।
मूसै मिंजारी बशि कीनी । नानक गुरु मिलि उलटी चीनी ।।[4]

---

१. वही, बिलावल ६, पृ० ४७५
२. **प्राणसंगली**, राग रामकली, महला १, पृ० १३०—३१
३. **नानक वाणी**, रागु रामकली, असट० ५, पृ० ५०७
४. **प्राण संगली**, रागु गउडी, महला १/३०, पृ० १८०

गुरु नानक उच्चकोटि के भक्त साधक होने के साथ-साथ कवि भी थे। भावों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने प्रतीकों और रूपकों का खुलकर प्रयोग किया है। उनका सारा काव्य प्रतीकों और रूपकों से सुवासित है, परम्परागत, भावात्मक, दार्शनिक, यौगिक और विपर्यय प्रधान प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतीक-रूपक भी द्रष्टव्य हैं।

दादुर को विषयासक्त पुरुष के रूप में चित्रित करते हुए नानक कहते हैं कि वह सिवार रूपी सांसारिक विषयों में ही आसक्त रहता है, कमल—ब्रह्मवृत्ति की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता—

दादर तू कबहि न जानसि रे।
भखसि सिवालु बससि निरमल जल अमृतु न लखसि रे।[1]

इसी प्रकार--

कछु नानन प्राणी चउथै पहरै लावी लुणिआ खेतु।[2]

यहां खेतु=शरीर का, चउथै पहरे=जीवन की अन्तिम दशा—वृद्धावस्था का और लावी (खेत काटने वाला)=यमराज का प्रतीक है।
'वणजरिआ' सन्तों का प्रतीक है जो लाभ के रूप में भक्ति प्राप्त करता है—

वणजरिआ सिउ वणजु करिले लाहा मन हसु॥[3]

एक अन्य पद में जीवन की चार अवस्थाओं को रात्री के चार प्रहर के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हुए नानक 'वणजरिआ' को उस परमात्मा को भजते रहने का उपदेश देते हैं।[4]

नानक ने दही मथने को परमात्मा की भक्ति करने और पानी बिलौने को सांसारिक विषयों में लिप्त रहने का प्रतीक माना है—

पंडित दही बिलोईऐ भाई बिचहु निकले तथु।
जलु मथीऐ जलु देखीऐ भाई इहु जगु एहा वथु॥[5]

अन्त में हम कह सकते हैं कि गुरुनानक देव उच्च कोटि के सुधारक तो थे ही, सन्त, भक्त, कवि या एक शब्द में बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। प्रतीकों का आपने व्यापक प्रयोग किया है। परम्परागत प्रतीकों के साथ-साथ भावात्मक, दार्शनिक, यौगिक और विपर्यय प्रधान प्रतीकों की विस्तृत योजना आपके काव्य में उपलब्ध होती है। भक्ति के क्षेत्र में नाम को आपने विशेष महत्व दिया है; जीवात्मा को परमात्मा तक पहुँचाने में गुरु ही सहायक होता है। वही हउमै (अहंकार) ग्रस्त जीव की आसुरी वृत्तियों का नाश करता है।

---

१. **नानक बानी**, मारू ४, पृ० ५७६
२. वही, सिरी, पहरे १, पृ० १६५
३. वही, सोरठि २, पृ० ३८८
४. वही, रागु सिरी, महला १, घरू १, पहरे १, पृ० १६४-६५
५. वही, सारगि, असट० २, पृ० ४०१

माइआ मोहु धरकटी नारी । भुंडी कामणि कामणिआरि ॥[1]

ज्ञान ज्योति अन्तर में जब प्रकाशित हो जाती है तब धीरे-धीरे माया के बन्धन शिथिल पड़ने लगते हैं, भगवत् भजन से माया के बन्धन सर्वथा कट जाते हैं और पुनः आत्मा परमात्मा का मेल हो जाता है ।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

गुणग्राही नानक देव ने भक्ति को प्रधानता देते हुए भी हठयोगपरक शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है । दस दुआरि, उलटिओ कमल, अमृत धारि, गगनि, अमृत रस, अलिपत गुफा, अनहद सबद, सुंन समाधि, सुनमंडल, सहज गुफा, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, चन्द्र, सूर्य, बंक नाडी (कुण्डलिनी) आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया है—

अरचे के घरि परचे जाय । त्रिकुटी फूटी सुन्नि समाय ।
ससी अरु फूटा कवल विगासु । त्रिकुटी फूटी निज घरि वासु ।
बंक नाडि रस, भेंदु न पाय । भणति नानक जे निज घरि जाय ।
इडा पिंगुला सुष्मना तन बुधि । तीन तपे सहंसा की सुधि ।
त्रिगुण त्यागि चउथा पदु जाणे । नउ घरि ढूंढ़ि दशवें घरि आणे ॥[2]

प्राणसंगली हठयोग परक रचना है, हठयोग की शब्दावली का उसमें स्थान-स्थान पर प्रयोग किया गया है । "जोग मारग सिद्ध गोष्ट" शीर्षक के अन्तर्गत गुरुनानक देव ने योग की विभिन्न प्रक्रियाओं और प्रतीकात्मक रूपों का चित्रण किया है । एक बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है, गुरु नानक देव सच्चे अर्थों में भक्त हैं, हठयोग परक साधनाओं का वर्णन करते हुए भी भक्ति के अभाव में उन्हें व्यर्थ माना है—

हठु निग्रहु करि काइआ छीजै । वरतु तपनु करि मनु नहि भीजै ।
राम नाम सरि अवरू न पूजै ।[3]

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

चमत्कार प्रधान उक्ति—उलटबाँसी के अनेक उदाहरण भी नानक देव का रचनाओं में देखने को मिल जाते हैं—

निरभउ मिलै भउ सगला जाय । उलटा मनु मनसा कउ खाय ।
धरती उलटि चढ़ी असमानि । नानक गुरुमिलि सभु सचु जानि ॥
कुंचर चीटी कै पग बांधा ॥ गहि गंडीर उलटि सरु सांधा ॥
मूसै मिजारी बशि कीनी । नानक गुरु मिलि उलटी चीनी ॥[4]

---

१. वही, बिलावल ६, पृ० ४७५
२. **प्राणसंगली**, राग रामकली, महला १, पृ० १३०—३१
३. **नानक वाणी**, रागु रामकली, असट० ५, पृ० ५०७
४. **प्राण संगली**, रागु गउडी, महला १/३०, पृ० १८०

गुरु नानक उच्चकोटि के भक्त साधक होने के साथ-साथ कवि भी थे। भावों को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने प्रतीकों और रूपकों का खुलकर प्रयोग किया है। उनका सारा काव्य प्रतीकों और रूपकों से सुवासित है, परम्परागत, भावात्मक, दार्शनिक, यौगिक और विपर्यय प्रधान प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रतीक-रूपक भी द्रष्टव्य हैं।

दादुर को विषयासक्त पुरुष के रूप में चित्रित करते हुए नानक कहते हैं कि वह सिवार रूपी सांसारिक विषयों में ही आसक्त रहता है, कमल—ब्रह्मवृत्ति की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता—

दादर तू कबहि न जानसि रे।
भखसि सिवालु बससि निरमल जल अमृतु न लखसि रे।[1]

इसी प्रकार --

कछु नानन प्राणी चउथै पहरै लावी लुणिआ खेतु।[2]

यहां खेतु=शरीर का, चउथै पहरे=जीवन की अन्तिम दशा—वृद्धावस्था का और लावी (खेत काटने वाला)=यमराज का प्रतीक है।

'वणजरिआ' सन्तों का प्रतीक है जो लाभ के रूप में भक्ति प्राप्त करता है—

वणजरिआ सिउ वणजु करिले लाहा मन हसु॥[3]

एक अन्य पद में जीवन की चार अवस्थाओं को रात्री के चार प्रहर के प्रतीक रूप में प्रस्तुत करते हुए नानक 'वणजरिआ' को उस परमात्मा को भजते रहने का उपदेश देते हैं।[4]

नानक ने दही मथने को परमात्मा की भक्ति करने और पानी बिलौने को सांसारिक विषयों में लिप्त रहने का प्रतीक माना है—

पंडित दही बिलोईऐ भाई बिचहु निकले तथु।
जलु मथीऐ जलु देखीऐ भाई इहु जगु एहा वथु॥[5]

अन्त में हम कह सकते हैं कि गुरुनानक देव उच्च कोटि के सुधारक तो थे ही, सन्त, भक्त, कवि या एक शब्द में बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। प्रतीकों का आपने व्यापक प्रयोग किया है। परम्परागत प्रतीकों के साथ-साथ भावात्मक, दार्शनिक, यौगिक और विपर्यय प्रधान प्रतीकों की विस्तृत योजना आपके काव्य में उपलब्ध होती है। भक्ति के क्षेत्र में नाम को आपने विशेष महत्व दिया है; जीवात्मा को परमात्मा तक पहुँचाने में गुरु ही सहायक होता है। वही हउमै (अहंकार) ग्रस्त जीव की आसुरी वृत्तियों का नाश करता है।

---

१. **नानक बानी**, मारू ४, पृ० ५७६
२. वही, सिरी, पहरे १, पृ० १६५
३. वही, सोरठि २, पृ० ३८८
४. वही, रागु सिरी, महला १, घरू १, पहरे १, पृ० १६४-६५
५. वही, सारंगि, असट० २, पृ० ४०१

५. दादूदयाल

(जन्म—सम्वत् १६०१ वि०, मृत्यु—१६६० वि०)

कबीर के ब्रह्मलीन होने के लगभग छब्बीस वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १५४४ में दादू का आविर्भाव हुआ। ये भी कबीर के समान अधिक पढ़े लिखे न थे पर घुमक्कड़ प्रकृति के होने के कारण इन्होंने प्रभूत ज्ञान अर्जित किया था। ये बहुश्रुत थे। अरबी, फारसी, गुजराती, मारवाड़ी आदि के शब्दों का प्रचुर प्रयोग इनकी वाणी में देखने को मिलता है। इनके चलाये दादू पंथ या गद्दियाँ या मठ यूं तो समस्त भारत में पाए जाते हैं पर अलवर, मारवाड़, मेवाड़, बीकानेर आदि में दादू पंथियों की बहुत अधिक संख्या है। परमात्मा की महिमा और उसके सच्चिदानन्द स्वरूप का ध्यान, निर्गुण आराधना, अजपाजाप, परमरूप का ध्यान, धारणा, समाधि, अनाहदनाद, अमृत बिन्दु का पान, परमानन्द की प्रीति और परमेश्वर से साक्षात्कार आदि इस सम्प्रदाय की प्रमुख साधन प्रणाली है। दार्शनिक विचारधारा में ये अद्वैतवाद के अधिक समीप हैं।

प्रतीकात्मक दृष्टि से जब हम दादूदयाल के साहित्य का विश्लेषण करते हैं तो कबीर की ही भांति उसमें भी विविधिता के दर्शन होते हैं। जिस प्रेम की पीर में कबीर का तनमन डूबा है उसी पीर की गहरी अनुभूति दादू में देखने को मिलती है।

परम्परागत प्रतीक—

वैदिक साहित्य में जिस वृक्ष का प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है, सन्त दादू ने उसका 'अक्षयवृक्ष' के रूप में चित्रण करते हुए कहा है—

तरवर साखा मूल बिन, धरती पर नाहीं।
अविचल अमर अनंत फल, सो दादू खाहीं॥
तरवर साखा मूल बिन, घर अंबर न्यारा।
अबिनासी आनंद फल, दादू का प्यारा॥
तरवर साखा मूलबिन, रज बीरज रहिता।
अजरा अमर अतीत फल, सो दादू गहिता॥
तरवर साखा मूलबिन, उतपति परलय नांहि।
रहिता रमिता राम फल, दादू नैनहुं मांहि॥
प्राण सरोवर सुरति जड़, ब्रह्म भोमि ता मांहि।
रस पीबै फूलै फलै, दादू सूकै नांहि॥[1]

सिद्ध साहित्य में प्रयुक्त 'सहज' का प्रयोग दादू ने प्रज्ञोपायात्मक (युगनद्ध) रूप में प्रयुक्त न कर कबीर के समान परम तत्व,[2] सहज स्वभाव,[3] सहजसमाधि[4] आदि रूपों में प्रयुक्त किया है।

---

१. **दादू बानी**, भाग १, परचा को अंग, अक्षयवृक्ष, पृ० ५२-५३

२. **दादू सहजैं सुरती समाइ लै,···सहज रूप सुमिरन करै...।**
वही, १, लय को अंग, पृ० २८-२९

३. **दादू, सहजैं सुमिरन होत है, रोम रोम रमि रांम।** वही, परचा को अंग १७२

४. **सहज समाधी तजि विकार, अविनासी रस पिवहिं सार।** वही, भाग २, पृ० ३७३

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

दादू ने परब्रह्म के साथ अनेक प्रकार से सम्बन्ध स्थापित किये हैं। कबीर के समान वे भी अपने आपको राम का सुनहा[१] (कुत्ता) कहते हैं। उन्होंने ब्रह्म से कहीं दास्य भाव[२] का तो कहीं सख्य[३] भाव का, कहीं वात्सल्य भाव[४] का और कहीं दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध स्थापित किया है। दादू ने आत्मा परमात्मा में सम्बन्ध स्थापित कराने में गुरु के महत्व को स्वीकार किया है। वही शब्द की चोट से आत्मा का समस्त भ्रम ध्वस्त कर उसके मन में प्रेम की लौ जागृत कर देता है। गुरु के शब्द स्पर्श से आत्मा कीट भृंग के समान तद्रूप हो जाती है।[५]भ्रम मण्डित कपाट को नाम की कूंची से खोल देता है।[६] कपाट खुलते ही आत्मा उस राम नाम का सोल्लास स्मरण कर उठती है[७]—यही 'नाम' तन मन में समा जाता है,[८] पिय से परिचय हो जाता है, कुछ 'पूरबले संयोग' से आदि पुरुष अंतरि में मिल जाता है,[९] आत्मा निरन्तर पिउ को प्राप्त कर लेती है। वह रोम रोम में रम जाता है।[१०] साक्षात्कार होने पर प्राणों में एक नशा सा छा जाता है; प्राण उस स्पर्श सुख से बेसुध हो जाते हैं,[११] और पानी में नमक के समान आत्मा का परमात्मा में विलय हो जाता है।[१२] इस परिचय और साक्षात्कार के बाद सुहाग बेला आती है, दादू उस बेला में सइयां के चरण चाँपने लगते हैं, सारा परदा समाप्त हो जाता है।[१३] पर विरहानुभूति के बिना दाम्पत्य भाव पूर्णता को प्राप्त नहीं होता, विरह की ज्वाला में आत्मा का सारा कालुष्य जल जाता है,[१४]प्रिय का विरह ही वियोगी आत्मा का सर्वस्व होता है,

---

१. वही, १, पृ० ६१
२. वही, १, विनती को अंग १३, ५५, विरह को अंग १२, परचा का अंग १८५, २२३, २५१-५२, ७०,७२, ७३, चितावणी को अंग १३, दादूबानी भाग २, पद ४०१, ४०८, ४०६
३. **सन्त सुधा सार,** दादू, सबद २, ३२, ३४ विचार को अंग १, पृ० ४८७
४. वही, पद ५०, दादू बानी १, बिनती को अंग ५, ७, ८, दादू बानी २, पद ४२६
५. **दादू भृंगी कीट ज्यों, देखत ही ह्वै जाइ।** वही १, गुरुदेव को अंग १४२
६. **दादू जड़े कपाट सब, दे कूंची खोलै।** वही, गुरुदेव को अंग १४६
७. **नांउ रे नांउ रे, सकल सिरोमनि नांउ रे।** वही, २, पद २७१
८. **दादू बानी** १, सुमिरन का अंग ६१
६. वही, परचा को अंग ८
१०. वही, ७८
११. वही १४६, ५०, ५१
१२. **पर आतम सौं आतमा ज्यों पाणी में लूंण।** वही, १, परचा को अंग, १६६
१३. **दादू पावै सेज सुख, पड़दा नाहीं कोइ।**
सइयां सोवै सेज पर दादू चंपै पांव। वही, २६६, २७६
१४. **विरह अगिनि में जलि गये, मन के मैल विकार।** वही, विरह को अंग १४१

ो तो उसका जीवनधन है। दादू की विरहिन आत्मा 'दरसन' को पुकार उठती है, रह की राह में उसे मरने का डर नहीं, पर यह कैसी तड़प है? आत्मा सिसक ती है,[१] तलफि कर पंथ निहारती है, इस विरह ने कैसे अनौखे दर्द को जगा दिया ? इस बेकली का भला कोई अन्त है? किंकर्तव्यविमूढ़ आत्मा आखिर पुकार ती है—

पीव हौं कहा करौं रे, पांइ परौं कै प्राण हरौं रे।

× × ×

टेरि कह्या मैं मरण गह्या रे, दादू दुखिया दीन भया रे ॥[२]

रह की इस तालाबेली में सारा यौवन पिय का पंथ निहारते निहारते बीत गया। वन की सब साध मिट गई। विरही दादू की दवा तो वही है जिसने उसे घायल या है। विरह पारस दादू की आत्मा को कुन्दन बना देता है, इश्क की राह में शिक माशूक हो गया है—

आसिक मासुक ह्वै गया, इसक कहावै सोइ।
दादू उस मासूक का अल्लहि आसिक होइ ॥
राम विरहिनी ह्वै गया, बिरहिन ह्वै गई राम।[३]

रह की इस तालाबेली में दादू ने जितने आंसू बहाए हैं उनसे उनका सारा काव्य ा है। एक से एक सुन्दर उक्तियाँ[४] उनकी वाणी से निर्झर की भाँति फूट पड़ी हैं। सहजता में बनावट नाम मात्र को भी देखने को नहीं मिलती। दादू विरहानुभूति कबीर की अपेक्षा अधिक सहज, सरल और व्यापक दिखाई पड़ते हैं।

विरह की ज्वाला में तन मन झुलस जाने के बाद प्रिय दर्शन देते हैं, विरही ्मा निहाल हो जाती है, फागुन की ऋतु आजाती है, पिय से फाग खेल आत्मा धन्य हो उठती है—

तहँ खेलौं नित हीं पिव सूं फाग। देखि सखी री मेरे भाग।[५]

दादू तलफै पीड सों……तलफि तलफि बिरहिन मरै…पीव न पूछे बात।
वही, विरह को अंग

वही, २, पद १२८
वही, भाग १, विरह को अंग १४७, ४८
द्रष्टव्य है—दादू बानी १, विरह को अंग पृ० २७ से ४१ तक; भाग २ पद संख्या ४, ५, ६, ७, ८, १०, ११, १८, १९, २२, ३१, ३८, ७६, ८३, ८४, ८५, ८७, ९९, १००, १०१, १०२, ११८, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३८, १४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५६, ५७, ७०, ७२, ७३, ७५, २१७, २६, ३७, ५६, ५८, ७५, ९३, ९४, ३००, १३, १४, १५, १६, १७, १८, ५१, ६६, ८३, ४१७, १८, १९
दादू बानी २, पद ३७०

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार ही दादू ने ब्रह्म को एक, तत्वरूप, निराकार और घट घट में व्याप्त माना है—

जला व्यंब सब भरि रह्या, ऐसा ब्रह्म बिचार ।।
दादू देखै एक कौं दूजा नाहीं और ।[1]

वही ब्रह्म पुष्प में सुगन्ध रूप होकर दूध में घृत के समान व्याप्त है—

पुहुप बास घृत दूध में, अब कासौं कहिये ।[2]

उपनिषद् सम्मत शैली में दादू ने उन विश्वव्यापक निरंजन प्रभु के निराकार रूप का बड़े सरल शब्दों में इस प्रकार वर्णन किया है—

बिन स्रवणहुं सब कुछ सुणै, बिन नैनहुं सब देखै ।
बिन रसना मुख सब कुछ बोलै, यहु दादू अचरज पेखै ।।[3]

उस ब्रह्म को दादू ने राम,[4] हरि,[5] गोविन्द,[6] साहब,[7] निरंजन,[8] औंकार,[9] सैंया,[10] पिव, पीव,[11] बाजीगर,[12] कंत,[13] बाला-वाल्हा,[14] अल्ला,[15] मोहन,[16] खसम,[17] आदि विभिन्न प्रतीकात्मक शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए भी उसे एक माना है ।

---

१. वही, १, परचा को अंग ८४
२. वही, ३०३
३. वही, १, परचा को अंग २१६
४. वही, भाग १, सुमिरन को अंग १०, ५०, भाग २, पद २५६
५. वही, सुमिरन को अंग, ५६, ६६, १००, १०४, भाग २, पृ० ६६, ७३, ७६, ८७, ८६, १०१, १०८, १३६
६. वही, भाग २, पृ० ३३, ७०, ११६, १७१, १७३
७, वही, भाग १, सुमिरन को अंग १२८, २६, ३०, ३१, भाग २, पृ० २०, ३५
८. वही, भाग २, पृ० ६४, ८०, ६२, १२५, २६, २७, ५५
६. वही, भाग १, सबद को अंग ६, ७, ८, १२
१०. वही, भाग २, पृ० ३५
११. वही, भाग २, पृ० ३४, ४२, ४८, ५0, ८७, ६५, १२४, १४७
१२. वही, भाग २, पृ० १८, १२१, पद ४५
१३. वही, भाग १, विरह को अंग ४७
१४. वही, भाग २, पृ० ३४, ४६, ५०, ६३, १०३, १०५, १६१
१५. वही, भाग १, विरह को अंग १४७, भाग २, पृ० १५७, ६६, ६७
१६. वही, भाग २, पृ० १४५, ४६, ४७, ६५
१७. वही, भाग २, पद ८६, पृ० ३५

अपनी अविद्या माया के द्वारा जीव को मर्कट के समान नचाता रहता है।[1] लेकिन जिसके घट में राम का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है वहाँ अविद्या माया का अन्धकार नष्ट हो जाता है[2] माया रूपी सांपिण से ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं बचे हैं,[3] पर यही सन्त की चेरी होकर सेवा करती है।[4] आश्चर्य है कि जो माया सारे संसार को पीड़ित कर रही है उसी के पीछे संसार दौड़ लगा रहा है फलतः नाना कष्टों को भोगता है।[5] सांपिण रूपी माया जीव को आगे पीछे से खा रही है,[6] घुन लगी लकड़ी के समान, जंग लगे लोहे और पुराने मिट्टी के घड़े के समान यह जीव को जर्जर बना देती है—

ज्यौं धुन लागै काठ कौं, लौहे लागै काट।
काम किया घट जा जरा, दादू बारह बाट ॥[7]

दादू ने माया को डाकिनी,[8] हस्तिनी,[9] सांपिण,[10] भुवंगम,[11] भांडणी,[12] वैरिणि,[13] नागणि,[14] नटणी,[15] कामणि,[16] नारी,[17] बाघणि[18] आदि विविध प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

दादू की बानियों में ब्रह्मोन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति ही प्रमुखतः हुई है। योग की अगम बीथिकाओं से बचकर प्रेम और भक्ति के विशाल प्रांगण में ही इनकी

---

१. **बाजीगर की पूतरी, ज्यूँ मरकट मोह्या।**
   दादू माया राम की सब जगत बिगोया। वही, ११२, ११३
२. **(दादू) जिस घट दीपक राम का तिस घट तिमर न होइ ॥** वही, ११४-१५
३. वही, १२६, १२९
४. वही, ९७
५. वही, ७१
६. वही, १, माया को अंग ६९
७. वही, ५५
८. वही, २५
९. वही, ५२
१०. वही, ६९, १६३, ६५
११. वही, ८१
१२. वही, ९८
१३. वही, १०२, १७२
१४. वही, १६०, ६१
१५. वही, १६९
१६. वही, १७१
१७. वही, १७२, ७३, ७५
१८. वही, १६१

जीवात्मा—अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार ही दादू जीवात्मा और परमात्मा की एकता स्वीकार करते हैं। आत्मा-परमात्मा जल में गगन और गगन में जल के समान हैं, पानी के प्रतिबिम्ब के समान ही आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध है।

(दादू) जल में गगन गगन में जल है, फुनि वैं गगन निरालं।
जीव ब्रह्म इहिं विधि रहे, ऐसा भेद बिचारं ॥
ज्यूं दरपन में मुख देखिये, पानी में प्रतिव्यंब।
ऐसा आतम राम है, दादू सबही संग।[1]

आत्मा-परमात्मा एक हैं, शरीर बद्ध होने के कारण आत्मा विश्वात्मा से भिन्न दिखाई पड़ने लगती है। मायाबद्ध आत्मा जीव कहलाने लगती है। माया के कारण ही वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है, पर मायावरण हटते ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। जिस प्रकार मैले दर्पण पर रूप स्पष्ट नहीं उभरता, पर दर्पण के उज्ज्वल होते ही आत्मा स्वरूप को पहचान लेती है—

(दादू) जिसका दर्पण ऊजला, सो दर्सन देखै माहिं।
जिसकी मैली आरसी, सो मुख देखै नाहिं ॥[2]

दादू ने जीवात्मा को सुन्दरी,[3] सजनी,[4] सुहागिन,[5] विरहिन,[6] पतिव्रता,[7] विभिचारिणी,[8] हंस,[9] चातक,[10] मीन[11] आदि विभिन्न प्रतीकात्मक शब्दों में चित्रित किया है।

माया—दादू ने विद्या और अविद्या दोनों प्रकार की माया का वर्णन किया है। विद्या माया ब्रह्म की शक्ति है और जीव-ब्रह्म के मिलन में सहायक होती है इसके विपरीत अविद्या माया दोनों में भेद उत्पन्न कर एक ऐसा आवरण जीव के चारों ओर खड़ा कर देती है कि उसका वास्तविक रूप भी तिरोहित हो जाता है, ज्ञान रूपी सच्चे सूर्य के प्रकट होते ही अविद्यागत मायांधकार नष्ट हो जाता है।[12] ब्रह्म ही

---

१. वही, भाग १, पृ० १७०
२. वही, पृ० १०३
३. वही, सुन्दरी को अंग, पृ० २२५-२८
४. वही, भाग २, पृ० ५४, १६६
५. वही, भाग २, पृ० २६, ३१ भाग १ पृ० ८८,
६. वही, भाग २, पृ० ५, ११८; भाग १, विरह को अंग पृ० २७,२८,३४,३५,४०
७. वही, भाग १, निहकर्मी पतिव्रता को अंग ३७, ५७, ५८
८. वही, ५६, ५८, पृ० ६०
९. वही, भाग २, पृ० ६८
१०. वही, भाग १, सुमिरन को अंग १०१, पृ० २४, विरह को अंग ४, २१
११. वही, भाग १, विरह को अंग १८, पृ० २८
१२. **साचा सूरिज परगटै, दादू तिमिर नसाइ।** वही, १, माया को अंग १५१

अपनी अविद्या माया के द्वारा जीव को मर्कट के समान नचाता रहता है।[१] लेकिन जिसके घट में राम का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है वहाँ अविद्या माया का अन्धकार नष्ट हो जाता है[२] माया रूपी सांपिरण से ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं बचे हैं,[३] पर यही सन्त की चेरी होकर सेवा करती है।[४] आश्चर्य है कि जो माया सारे संसार को पीड़ित कर रही है उसी के पीछे संसार दौड़ लगा रहा है फलतः नाना कष्टों को भोगता है।[५] सांपिरण रूपी माया जीव को आगे पीछे से खा रही है,[६] घुन लगी लकड़ी के समान, जंग लगे लोहे और पुराने मिट्टी के घड़े के समान यह जीव को जर्जर बना देती है—

ज्यौं घुन लागै काठ कौं, लौहे लागे काट।
काम किया घट जा जरा, दादू बारह बाट॥[७]

दादू ने माया को डाकिनी,[८] हस्तिनी,[९] सांपिरण,[१०] भुवंगम,[११] भांडरणी,[१२] वैरिरिण,[१३] नागरिण,[१४] नटरणी,[१५] कामरिण,[१६] नारी,[१७] बाघरिण[१८]आदि विविध प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

दादू की बानियों में ब्रह्मोन्मुख प्रेम की अभिव्यक्ति ही प्रमुखतः हुई है। योग की अगम बीथिकाओं से बचकर प्रेम और भक्ति के विशाल प्रांगरण में ही इनकी

१. **बाजीगर की पूतरी, ज्यूं मरकट मोह्या।**
दादू माया राम की सब जगत बिगोया। वही, ११२, ११३
२. **(दादू) जिस घट दीपक राम का तिस घट तिमर न होइ॥** वही, ११४-१५
३. वही, १२६, १२९
४. वही, ९७
५. वही, ७१
६. वही, १, माया को अंग ६६
७. वही, ५५
८. वही, २५
९. वही, ५२
१०. वही, ६९, १६३, ६५
११. वही, ८१
१२. वही, ९८
१३. वही, १०२, १७२
१४. वही, १६०, ६१
१५. वही, १६९
१६. वही, १७१
१७. वही, १७२, ७३, ७५
१८. वही, १६१

विशेष गति है, फिर भी समय के प्रभाव से हठयोगपरक उक्तियों के यत्रतत्र दर्शन हो जाते हैं। दादू ने हठयोग का शास्त्रीय क्रमबद्ध विवेचन कभी भी नहीं किया है, हाँ, प्राणायाम, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, विभिन्न चक्रों का प्रतीकात्मक वर्णन देखने को मिल जाता है—

गंग जमुन तहँ तीर नहाइ, सुषमन नारी रंग लगाइ।
साई कूं मिलिबे के कारण, त्रिकुटी संगम नीर नहाइ।
अनहद बाजे बाजण लागे, जिभ्या हीणे कीरति गाई।[1]

यहाँ गंग, जमुन = इडा, पिंगला, सुषमन नारी = सुषुम्ना, त्रिकुटी, अनहद आदि हठयोगपरक शब्दों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई है।

अन्यत्र[2] भी हठयोगपरक साधना का चित्रण हुआ है जिसमें—पंचबाइ = पंच प्राण; बंकनाल = कुण्डलिनी; कँवल = सहस्रार, गुफा ज्ञान गुफा = त्रिकुटी; हंसा, पुरिष = आतमा; अखण्ड जोति = ब्रह्मप्रकाश; त्रिअस्थान = त्रिकुटी; गंग, जमुन, सुरसती = इडा पिंगला; सुषुम्ना; परसेद = प्रेम धारा; तूर = अनाहद नाद; चंद, सूर = इडा, पिंगला; तिरवेनी = इडा; पिंगला और सुषुम्ना का एक स्थान—त्रिकुटी आदि के प्रतीक हैं।

फिर भी हठयोग का वर्णन करते हुए दादू का मन सहज योग में ही अधिक रमा है। वे स्थान-स्थान पर सहज का प्रयोग एतदर्थ करते हैं।[3]

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

उलटबाँसियों का जितना व्यापक प्रयोग कबीर ने किया है, दादू ने उसकी अपेक्षा बहुत कम या नाम मात्र को ही किया है। चमत्कार उत्पन्न करने के लिए विपर्यय प्रधान कथन की प्रवृत्ति दादू में प्रायः नहीं मिलती। उलटबाँसी के नाम पर केवल एक उदाहरण देखने को मिलता है—

मूनें येह अचंम्भौ थाये।
कीडी ये हस्ती बिडारयो, तेन्हैं बैठी खाये॥
जाण हुतौ ते बैठो हारे, अजाण तेन्हैं ता वाहे।
पांगुलौ उजाबा लाग्यो, तेन्हैं कर को साहै।
नान्हौ हुतौ ते मोटो थयौ, गगन मंडल नहिं माये।
मोटेरै विस्तार भणीजें, ते तौ केन्है जाये।
ते जाणौ जे निरखी जोवै, खोजी ने बलि माहैं।
दादू तेन्हौं मरम न जाणै, जे जिभ्या बिहूणौ गाये॥[4]

१. वही, भाग २, पद ७१, ७२, पृ० २६
२. वही, २, पद २३१, ४०५, ४०६, ४०७, ४३८
३. वही, पद २०३, २४८, २६६, ७०, ७३, ८६, ३०६, ७३, ७७, ६०
४. वही, भाग २, पद २१३, पृ० ८५-८६

अर्थात् मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि कीड़ी हाथी को बिड़ार कर उसे बैठी-बैठी खा जाती है अर्थात् मानसिक वासनाएँ आत्मा के वास्तविक स्वरूप को क्षत-विक्षत कर उस पर अधिकार कर लेती हैं, चतुर मन ने भोली भाली सूरत अर्थात् आत्मा को बहकाकर अपने बस में कर लिया है। मन जो बिना वासनाओं के पंगुल है, वासना युक्त होकर इतना सशक्त हो जाता है कि ऊंचे चढ़ जाता है, उसकी इस प्रगति को भला कौन रोक सकता है? यह नन्हीं सी कीड़ी मोटी (सशक्त) हो गई है वह फिर चेतन मन या आत्मा को गगन मण्डल अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र (जीव की मुक्तावस्था) तक नहीं पहुँचने देती। इस मनसा के अप्रतिम विस्तार को रोकने में वही समर्थ हो सकता है जो निरख परख कर इसके प्रभाव से बचा रहता है। साधारणतः जीव उसके रहस्य को नहीं जानता जिसका बिना जीभ के ही अहर्निश उच्चारण होता रहता है। दादू कहते हैं कि सद्गुरु की कृपा से ही आत्मा वासनाओं से मुक्त होकर परमब्रह्म में लीन हो सकती है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि दादू स्वभाव से भक्त हैं, प्रेम की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यंजना उनके काव्य में हुई है। रहस्य प्रदर्शन या चमत्कार प्रदर्शन की भावना उनमें नहीं मिलती। कबीर के समान फक्कड़, मस्तमौला और तेज व्यक्तित्व इनका नहीं हैं, अधकचरे साधुओं या अवधू के प्रतिचु नौती की भावना भी उनमें नहीं है। वे तो सच्चे अर्थों में प्रेम की पीर से व्याकुल भगवान् के भक्त हैं, सहज उनकी भक्ति है। वियोग या संयोग परक उक्तियों में कबीर की सी मस्ती तो उनमें है पर सहजता और सरलता का रंग अधिक गहरा है। दादू सच्चे अर्थों में भक्त हैं, दुनिया भर के झंझटों से उन्हें कुछ वास्ता नहीं।

६. वषना जी

(जन्म—अनुमानतः १७वीं शती का प्रथम पाद)[1]

दादू के परमशिष्य वषना जी उच्च कोटि के गायक और भक्त थे। सन्त दादू ने ही इनको लौकिक शृंगार से आध्यात्मिक शृंगार की ओर प्रेरित किया था, इस कारण प्रेम और विरह की बड़ी ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति आपकी बानी में देखने को मिलती है। ढूँढ़ाहडी (राजस्थानी का एक भेद) भाषा में सत्य का ऊँचा निरूपण और विरह का बड़ा ही सजीव और मार्मिक चित्रण किया है, आपकी उक्तियाँ सीधे हृदय पर चोट करने वाली हैं।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक—परब्रह्म से वषना जी ने दाम्पत्य भाव का अनन्य सम्बन्ध स्थापित किया है। विरहिन आत्मा रात दिन उस जीवन प्राणाधार पिया की बारम्बार याद करती है, दिन के बाद रात रात के बाद दिन यूँ ही बीतता चला जा रहा है पर न जाने वे गोबिन्द कब मेरे आंगन में पदार्पण करेंगे? खड़ी-खड़ी राह देखते-देखते आखें लाल हो गई हैं, हे पंथी, अगर उधर से जाओ तो मेरा सन्देसा उनसे कह देना, उनके बिना मेरा हृदय पुरानी बाढ़ के समान बीच में से टूट गया है;

१. सन्त सुधा सार पृ० ५३३

सखी सहेली जले पर नमक छिड़कती हैं, ताना मारती हैं कि कैसा तेरा निर्गुणी राम है ? हे हरि, मेरे लिए नहीं तो कृपया अपनी शोभा बढ़ाने के लिए ही आजाओ, मैं आँचल पसारकर तुम्हारी बलैया लूंगी ।[1] सच मानना अरे ओ बेदर्दी बालमा, प्राण बस तुम्हारे दर्शन के लिए ही अटके हुए हैं, मेरे प्राण तो तुझमें बसे हुए हैं, एक क्षण के लिए भी तुम्हारा ध्यान उतरता नहीं है, रात को सोते समय तुम्हारी उपस्थिति का स्पष्ट आभास होता है पर उठकर सेज टटोलती हूँ तो तुम्हें न पाकर कलेजे में छेक पड़ जाता है। बहुत देर लगादी, देखो, तुम्हारी विरहिन रो रोकर मर रही है, न जाने कौन से पूर्वजन्म के पाप सामने आ रहे हैं ? हे हरि, आओ हृदय में धधकती ज्वाला शान्त हो जाएगी—

आसा रे अलूँधी रमइयौ कब मिले, मिलियाँ हूँ जाण न देस ।
अंचल गहि राखि स्यूं रे, नैणा नीर भरेस ।।

× × ×

सेज टटोलूं पीव ना लहूं, म्हारै पड्यौ कलेजै छेक ।।
बार लगाई बालमा रे, बिरहिन करै बिलाप ।
कहि वषना आवो हरी, म्हारा बलता बुझै अंगीठ ।।
हरि दरसन कारणि हे सीख, म्हारे नैंन रह्या जलपूरि ।

× × ×

पाती प्यारा जीव की, हूँ क्यूं बाँचों कर लेइ ।
यहों वषना झुरै राम कूं, ज्यूं उलगाणा की नारि ।।[2]
हरि आवै हो कब देखौं, आंगण म्हारै ।
बिन देखें तन तालाबेली, कामणी करै ।
मेरा मन मोहन बिना, धीरज ना धरै ।।[3]

विरहिन को तो बस पिय का दर्शन ही चाहिए । उससे बिना सदैव तालाबेली लगी रहती है, यह दर्द किसी वैद्य के इलाज से नहीं जा सकता, उसके मिलने पर ही दर्द जाएगा, उनके बिन वन वन उदासी होकर मैं फिर रही हूँ, मैं तो सभी अयाने-सयाने से पूछ चुकी हूँ । अरे, कोई तो उसका ठाँव बता दो, कोई इतना तो बता दो कि वे प्राण पियारे साहिब घर कब आवेंगे—

मेरे लालन हो, दरस द्यो क्यूँ नांहीं ।
जैसे जल बिन मीन तलपै, यूँ हूं तेरे ताईं ।।
दिन बिरहिन क्यूं बार तुम्हारी, सदा उड़ीकत जासी ।।

× × ×

---

१. वही, वषना जी, पद १, पृ० ५४०-४१
२. वही, पद १५, पृ० ५४७
३. वही, पद १६, पृ० ५४७-४८

वषना कहै कहो क्यू ं नाहीं, कब साहिब घर आसी ।।[1]

इस प्रकार दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते हुए वषनाजी ने आत्मा को विरहिन, और ब्रह्म को पीव, बालमा, साहिब, रमइयो, गोविन्द, लालन आदि प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है ।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—अन्य सन्तों के समान वषना जी ने भी ब्रह्म की एकता स्वीकार की है । वही एक ब्रह्म सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वह एक अटल, अविनाशी राजा है जिसकी अनन्त लोक में दुहाई है—

अटल एक राजा अविनासी, जाकी अनन्त लोक दुहाई ।।[2]

वही ब्रह्म पतितपावन, दीनदयाल, अनाथों का नाथ है ।[3] समस्त संसार उसी से उत्पन्न हुआ है ।

जीवात्मा—ब्रह्मांश है, दूध में घी के समान वह ब्रह्म आत्मा में व्याप्त है । सभी जीवों में वह ब्रह्म समान रूप से व्याप्त है ।[4] जिस प्रकार दूध में पानी मिलकर एकमेव हो जाता है, जल में मिश्री तदाकार हो जाती है उसी प्रकार सेवक (आत्मा) और स्वामी (ब्रह्म) नाम और स्वरूप भेद से एक ही हैं—

दूध मिल्यौ ज्यू ं नीर में, जल मिसरी इकरूप ।
सेवग स्वामी नांव द्वै, वषना एक सरूप ।।[5]

माया—परन्तु आत्मा-परमात्मा के इस अद्वैत में माया द्वैत उत्पन्न कर देती है, माया जनित गर्व[6] के कारण वह प्रभु की कृपा का पात्र नहीं बन पाता, हरि जल सर्वत्र बरसता है, अनेक नद नाले भर जाते हैं, पर माया प्रेरित कठोर भाग्य वाली जीवात्मा उस रस से भीग भी नहीं पाती—

वषना हरि जल बरषिया, जलधर भरे अनेक ।
करम कठौरां माणसां, रोम न भीगो एक ।।[7]

माया के प्रभाव के कारण ही जीव संसारी कामों में गिरते पड़ते ही सारा जीवन बिता देता है, हृदय से हरि नाम भुला देता है, माया मोहित जीव इतना सुन्दर मनुष्य शरीर पाकर भी व्यर्थ के कामों में समय नष्ट कर देता है, हरि की ओर उसका चित्त भी नहीं जाता—

---

१. वही, पद २१, पृ० ५४६
२. वही, पद ४, पृ० ५४२
३. वही, पद २३, पृ० ५५०
४. वही, पद ८, पृ० ५४३
५. वही, साखी १४, पृ० ५३७
६. वही, साखी २५, पृ० ५३६
७. वही, साखी ३२, पृ० ५४०

माया मोह्यो रे, क्यूं चित न आयो। मनिष जन्म तैं अहलो गमायो ।।[1]

वैसे तो सभी जीव माया के चक्र में पड़ते हैं पर सद्गुरु की कृपा से जीव माया के इस कठिन पाश को नष्ट भ्रष्ट कर डालता है। प्रभु की ज्ञान ज्योति उसके हृदय को प्रकाशित कर देती है और वह स्वरूप को पहचान पुनः सारे संसार से नाता तोड़, सारे मायिक बन्धनों को छोड़ कह उठता है—

जोडौंगा रे जोडौंगा, हरि से प्रीति न तोड़ौंगा।
जोति पतंगा जैसे जोड़ै, जीव जलै पै अंग न मोड़ैं ।।
यों करि वषना जोड़ा जोड़ी, हरि स्यूं जोड़ि आन स तोड़ी ।।[2]

इस प्रकार वषना जी में प्रेम की तीव्र अनुभूति सरल शब्दों में व्यक्त हुई है। प्रेम के आवेश में प्रेमी सर्वत्र ही प्रिय का पसारा देखता है, वह किसी सीमा में आबद्ध कर उसे देखना नहीं चाहता। लौकिक और अलौकिक दृष्टि में यही विशेष अन्तर है। दाम्पत्य भाव के लौकिक सम्बन्ध में पत्नी अपने तक ही पिया को सीमित रखना चाहती है पर आध्यात्मिक पत्नी सर्वत्र उसी का पसारा देख देखकर जीती है। उसका और आत्मा का तो अटूट—अनन्त सम्बन्ध है फिर दूरी कैसी ? माया के प्रभाव से ही दूरी लगती है, पर हृदय में झाँककर देखने पर वह पिया वहीं विराजमान पाता है। वषना जी ने उस पिया का हृदय में ही दर्शन किया है।

७. मलूकदास जी

(जन्म—१६३१ वि० सं०; मृत्यु—१७३९ वि०)

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए सबके दाता राम ।।

इस प्रसिद्ध दोहे, जिसे भ्रमवश आलसियों का मूल मन्त्र भी कहा जाता है, के रचयिता बाबा मलूकदास सुन्दरदास खत्री के घराने में संवत् १६३१ में पैदा हुए। भक्ति के बीज बचपन में ही अंकुरित हो गए थे जो कालान्तर में पल्लवित, पुष्पित और फलित होते गए। मलूकदास सच्चे अर्थों में भक्त और साधक थे। सर्वधर्मान् परित्यज्य' का पूरा भाव आप में स्थान-स्थान पर दीख पड़ता है। जो अपनी जीवन नौका को प्रभु के सहारे छोड़ देते हैं, वे मस्ती में इसी प्रकार गा उठते—

नैया मेरी नीकै चलन लागी।
आँधी मेंह तनिक नहिं डोलै साहु चढ़े बड़भागी।
× ×
या नैया के अजब कथा कोइ बिरला केवट जानै ।।[3]

१. वही, पद १३, पृ० ५४५-४६
१. वही, पद ३, पृ० ५४१
३. **मलूकदास जी की बानी**, सदगुरु महिमा, शब्द ६, पृ० ३

भक्त मलूकदास में भक्ति का उद्दाम वेग है, जन सामान्य को सांसारिक माया जाल से बचाकर अमर लोक में ले जाने की तीव्र लालसा है, अतः प्रतीकात्मक चित्रण के प्रति उतना आग्रह नहीं दीख पड़ता, फिर भी प्रतीकात्मक दृष्टि से यदि हम आपकी बानी का विश्लेषण करें तो निराशा हाथ नहीं लगेगी।

परम्परागत प्रतीक–परम्परागत वैदिक वृक्ष प्रतीक का सूक्ष्म संकेत इस प्रकार मिलता है—

बिन तरवर फल फूल लगावै, सो तो बाका चेला।[1]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

अन्य सन्तों के समान मलूकदास ने भी आत्मा को वधू रूप में और ब्रह्म को पति रूप में चित्रित किया है। सर्वात्मभाव से पत्यर्पण होकर भी विरहाग्नि द्वारा मानस का कालुष्य दग्ध करना परमावश्यक है। विरह की अग्नि परीक्षा से गुजर कर ही वधू सदा सोहागिन हो सकती है, मन चाहा सुख प्राप्त कर वैधव्य के ताप से बची रह सकती है—

सदा सोहागिन नारि सो जाके राम भतारा।[2]

उस 'साहेब रहमाना' से एक बार प्रीति जुड़ जाने पर व्याकुल आत्मा उसके 'दीदार' को व्याकुल हो उठती है, सारा धर्म, कर्म, पूजा, पाठ, ध्यान धारणा उस एक के 'दीदार' में डूब गयी है, बस आत्मा हर घड़ी उसी को देखना चाहती है—

तेरा मैं दीदार दिवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहेब रहमाना।[3]

एक बार दीदार होने पर जोगिया (ब्रह्म) बिछुड़ जाए तो फिर भला प्यासी आत्मा कैसे धैर्य धारण करे? वह तो निशदिन पीव पीव ही रटती रहती है, अब तो उस 'जोगिया बिन रह्यो न जाय'।[4] वह 'जालिम पीव' न जाने क्या करेगा? हृदय थर-थर काँप रहा है—

रात न आवै नींदड़ी, थर थर कांपे जीव।
ना जानूँ क्या करैगा जालिम मेरा पीव॥[5]

हे दीन दयाल, अब तो मैं तेरा ही कहला चुका हूँ, तेरे ही नाम की फेंट कस ली है, तुम्हारे न मिलने पर यदि लोग मेरी हँसी उड़ाते हैं तो सोचलो, यह मेरी नहीं तुम्हारी ही हँसी उड़ाते हैं।[6] कैसी अनन्यता है? मेरा तो कुछ भी नहीं है, जो कुछ है तेरा है, तेरी इच्छा हैं चाहे कैसा ही रख, पतिव्रता नंगी रहती है तो पिव को दोष लगता है।

१. वही, शब्द २, पृ० २
२. वही, शब्द ५, पृ० ३
३. वही, प्रेम २, पृ० ६
४. वही, प्रेम, शब्द १, पृ० ६
५. वही, प्रेम, साखी ३०, पृ० ३५
६. वही, कवित्त १४, पृ० ३२

माया मोह्यो रे, क्यूं चित न आयो। मनिष जन्म तैं अहलो गमायो ।।[1]

वैसे तो सभी जीव माया के चक्र में पड़ते हैं पर सद्गुरु की कृपा से जीव माया के इस कठिन पाश को नष्ट भ्रष्ट कर डालता है। प्रभु की ज्ञान ज्योति उसके हृदय को प्रकाशित कर देती है और वह स्वरूप को पहचान पुनः सारे संसार से नाता तोड़, सारे मायिक बन्धनों को छोड़ कह उठता है—

जोडौंगा रे जोडौंगा, हरि से प्रीति न तोड़ौंगा।
जोति पतंगा जैसे जोड़ै, जीव जलै पै अंग न मोड़ैं ।।
यों करि वषना जोड़ा जोड़ी, हरि स्यूं जोड़ि आन स तोड़ी ।।[2]

इस प्रकार वषना जी में प्रेम की तीव्र अनुभूति सरल शब्दों में व्यक्त हुई है। प्रेम के आवेश में प्रेमी सर्वत्र ही प्रिय का पसारा देखता है, वह किसी सीमा में आबद्ध कर उसे देखना नहीं चाहता। लौकिक और अलौकिक दृष्टि में यही विशेष अन्तर है। दाम्पत्य भाव के लौकिक सम्बन्ध में पत्नी अपने तक ही पिया को सीमित रखना चाहती है पर आध्यात्मिक पत्नी सर्वत्र उसी का पसारा देख देखकर जीती है। उसका और आत्मा का तो अटूट—अनन्त सम्बन्ध है फिर दूरी कैसी ? माया के प्रभाव से ही दूरी लगती है, पर हृदय में झाँककर देखने पर वह पिया वहीं विराजमान पाता है। वषना जी ने उस पिया का हृदय में ही दर्शन किया है।

७. मलूकदास जी

(जन्म—१६३१ वि० सं०; मृत्यु—१७३९ वि०)

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गए सबके दाता राम ।।

इस प्रसिद्ध दोहे, जिसे भ्रमवश आलसियों का मूल मन्त्र भी कहा जाता है, के रचयिता बाबा मलूकदास सुन्दरदास खत्री के घराने में संवत् १६३१ में पैदा हुए। भक्ति के बीज बचपन में ही अंकुरित हो गए थे जो कालान्तर में पल्लवित, पुष्पित और फलित होते गए। मलूकदास सच्चे अर्थों में भक्त और साधक थे। सर्वधर्मान् परित्यज्य' का पूरा भाव आप में स्थान-स्थान पर दीख पड़ता है। जो अपनी जीवन नौका को प्रभु के सहारे छोड़ देते हैं, वे मस्ती में इसी प्रकार गा उठते—

नैया मेरी नीकै चलन लागी।
आँधी मेंह तनिक नहिं डोलौ साहु चढ़े बड़भागी।
× ×
या नैया के अजब कथा कोइ बिरला केवट जानै ।।[3]

---

१. वही, पद १३, पृ० ५४५-४६
१. वही, पद ३, पृ० ५४१
३. **मलूकदास जी की बानी**, सदगुरु महिमा, शब्द ६, पृ० ३

भक्त मलूकदास में भक्ति का उद्दाम वेग है, जन सामान्य को सांसारिक माया जाल से बचाकर अमर लोक में ले जाने की तीव्र लालसा है, अतः प्रतीकात्मक चित्रण के प्रति उतना आग्रह नहीं दीख पड़ता, फिर भी प्रतीकात्मक दृष्टि से यदि हम आपकी बानी का विश्लेषण करें तो निराशा हाथ नहीं लगेगी।

परम्परागत प्रतीक–परम्परागत वैदिक वृक्ष प्रतीक का सूक्ष्म संकेत इस प्रकार मिलता है—

बिन तरवर फल फूल लगावै, सो तो बाका चेला।[1]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

अन्य सन्तों के समान मलूकदास ने भी आत्मा को वधू रूप में और ब्रह्म को पति रूप में चित्रित किया है। सर्वात्मभाव से पत्यर्पण होकर भी विरहाग्नि द्वारा मानस का कालुष्य दग्ध करना परमावश्यक है। विरह की अग्नि परीक्षा से गुजर कर ही वधू सदा सोहागिन हो सकती है, मन चाहा सुख प्राप्त कर वैधव्य के ताप से बची रह सकती है—

सदा सोहागिन नारि सो जाके राम भतारा।[2]

उस 'साहेब रहमाना' से एक बार प्रीति जुड़ जाने पर व्याकुल आत्मा उसके 'दीदार' को व्याकुल हो उठती है, सारा धर्म, कर्म, पूजा, पाठ, ध्यान धारणा उस एक के 'दीदार' में डूब गयी है, बस आत्मा हर घड़ी उसी को देखना चाहती है—

तेरा मैं दीदार दिवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहेब रहमाना।[3]

एक बार दीदार होने पर जोगिया (ब्रह्म) बिछुड़ जाए तो फिर भला प्यासी आत्मा कैसे धैर्य धारण करे? वह तो निशदिन पीव पीव ही रटती रहती है, अब तो उस 'जोगिया बिन रह्यो न जाय'।[4] वह 'जालिम पीव' न जाने क्या करेगा? हृदय थर-थर काँप रहा है—

रात न आवै नींदड़ी, थर थर कांपे जीव।
ना जानूँ क्या करैगा जालिम मेरा पीव॥[5]

हे दीन दयाल, अब तो मैं तेरा ही कहला चुका हूँ, तेरे ही नाम की फेंट कस ली है, तुम्हारे न मिलने पर यदि लोग मेरी हँसी उड़ाते हैं तो सोचलो, यह मेरी नहीं तुम्हारी ही हँसी उड़ाते हैं।[6] कैसी अनन्यता है? मेरा तो कुछ भी नहीं है, जो कुछ है तेरा है, तेरी इच्छा है चाहे कैसा ही रख, पतिव्रता नंगी रहती है तो पिव को दोष लगता है।

१. वही, शब्द २, पृ० २
२. वही, शब्द ५, पृ० ३
३. वही, प्रेम २, पृ० ६
४. वही, प्रेम, शब्द १, पृ० ६
५. वही, प्रेम, साखी ३०, पृ० ३५
६. वही, कवित्त १४, पृ० ३२

अनन्यता उस समय चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है जब प्रेमी प्रियतम और प्रियतम प्रेमी बन जाता है, दर्द दिवाने तो बावरे बन जाते हैं, अलमस्त फकीर हो जाते हैं--

साहेब मिल साहेब भये, कछु रही न तमाई ।[1]

मलूकदास ने आत्मा के स्वरूप को अधिक विस्तृत रूप में चित्रित किया है। ब्रह्म में सर्वात्मभाव से लीन हो जाने पर आत्मा समस्त जगत् में अपना ही पसार देखने लगती है, ब्रह्म के समान वह भी सब में अपने को व्याप्त अनुभव करती है—

हमहीं तरवर कीट पतंगा । हमहीं दुर्गा हमहीं गंगा ।
हमहीं सूरज हमहीं चन्दा । हमहीं भये नन्द के नन्दा ।

× × ×

हमहीं जियावें हमही मारैं । हमहीं बोरैं हमहीं तारैं ।
जहाँ तहाँ सब जोति हमारी । हमहिं पुरुष हमहीं हैं नारी ।।[2]

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—ब्रह्म के लिए राम, हरि, गोपाल, गोविन्द, निरंजन, जोगिया, साहेब, रहमाना, परमतत्व आदि अनेक प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग करते हुए भी मलूकदास ने उसे निर्गुण तथा अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार एक ही माना है। वह हजूर सारे जहान में भरपूर है—

है हजूर नहिं दूर, हमा-जा भरपूर ।
जाहिरा जहान, जा का जहूर पुर नूर ।।[3]

वह ब्रह्म—"निरंजन, निरंकार अविगति पुरुष अलेख" है,[4] वही सर्वान्तर्यामी है[5] पर जो उसे अन्तर में खोजने के स्थान पर अन्यत्र खोजता है वह झख मारने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता ।[6] इस संसार में 'केसबराय, के सिवाय और कोई दूसरा है नहीं। दुविधा रहित मन निरन्तर उसी के ध्यान में मग्न है—

बीर रघुबीर पैगम्बर खोदा मेरे,
कादिर करीम काजी माया मत खोई है ।
राम मेरे प्रान रहमान मेरे दीन इमान,
भूल गयो भैया सब लोक लाज धोई है ।।
कहत मलूक मैं तो दुविधा न जानौ दूजी,
जोई मेरे मन में नैनन में सोई है ।

---

१. वही, प्रेम ३, पृ० ७
२. वही, मिश्रित २, पृ० २३-२४
३. वही, उपदेश, शब्द ११ पृ० २०
४. वही, विनती, साखी २३, पृ० ३४
५. वही, गुप्त की महिमा, साखी ३६, पृ० ३५
६. वही, साखी ४८, ४६, ५०, पृ० ३६

हरि हजरत मोहि माधव मुकन्द की सौं,
छांड़ि केसवराय मेरो दूसरा न कोई है ।।[1]

केवल गोपाल का नाम ही साँचा है, वही माता, पिता, हितु भाई सभी कुछ है, उसके बिना सर्वत्र अँधेरा ही अँधेरा है ।[2]

जीवात्मा—आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध जल और बूंद के समान अंशी अंश भाव का है—

जोई मन सोई परमेसुर कोइ बिरला अवधू जानै ।।[3]
साहेब मिलि तब साहब होवै, ज्यों जल बूंद समावै ।।[4]

अंशी अंश भाव के कारण ही आत्मा अपनी हँसी को उसकी भी हँसी समझता है।[5]

माया—का मलूकदास ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है। माया ही ब्रह्म और जीव के बीच भ्रम की दीवार खड़ी करती है। राम नाम के द्वारा ही इसे नष्ट किया जा सकता है। हरि की इस माया के कठिन पाश से कौन बच सकता है,[6] कनक और कामिनी के मिस यह सारे जग को ठग रही है,[7] काली नागिन होकर सभी को डस रही है—

माया काली नागिनी जिन डसिया सब संसार हो ।[8]

अन्यत्र माया के सम्बन्ध में मलूक दास कहते हैं—

माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय ।
नारी घोंटी अमल की, अमली सब संसार ।।[9]

अज्ञानांधकार में ही माया और उसके सहायक प्रबल होते हैं पर ज्ञान के दीपक जलते ही प्रकाश हो जाता है—

जब लग थो अँधियार घर, मूस थके सब चोर ।
जब मंदिल दीपक बर्‌यो, वही चोर धन मोर ।।[10]

इस प्रकार माया के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए मलूकदास ने उसे नारि, नागिन, कामिनी, मिसरी की छुरी, ठगनी आदि विविध प्रतीकात्मक शब्दों से सम्बोधित किया है। जो माया विभिन्न रूप धारण कर संसार को ठगती है उसी को मलूकदास दूर

---

१. वही, कवित्त ५, पृ० २८
२. वही, विनती २, पृ० ५
३. वही, उपदेश ४, पृ० १७
४. वही, भेद बानी १, पृ० ४
५. वही, कवित्त १४, पृ० ३२
६. वही, उपदेश ३, पृ० १६
७. वही, शब्द ५/१७
८. वही, मन और माया के चरित्र १, पृ० ६
९. वही, माया, साखी ७१, ७३, ७४, पृ० ३८-३९
१०. वही, ज्ञान ३६, पृ० ३५

रहने की चेतावनी देते हैं क्योंकि वे और ब्रह्म कोई दो नहीं हैं—

हमसे जनि लागे तू माया ।
थोरे से फिर बहुत होयगी, सुनि पैहैं रघुराया ।।

× × ×

कहैं मलूका चुप करु ठगनी, औगुन राखु दुराई ।
जो जन उबरै राम नाम कहि, तातें कछु न बसाई ।।[1]

संसार—संसार को मलूकदास ने भ्रम, व्यर्थ और अस्थिर माना है, ब्रह्म के 'आसिक' के लिए तो दुनिया नाचीज ही है ।[2] यह संसार प्रलयंकारी भवसागर है, इसमें वही डूबने से बच सकता है जिस पर परमात्मा की कृपा हो—

यह संसार बड़ो भौसागर, प्रलय काल ते भारी ।
बूड़त तें या सोई बाचै, जेहि राखै करतारी ।।[3]

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

भक्ति की सुरसरिता में स्नान करते हुए, ब्रह्म, जीवात्मा, माया और संसार की गहन बीथिकाओं में निर्द्वन्द्व विचरण करते हुए मलूकदास ने हठयोगपरक साधना और शब्दावली का यत्र तत्र प्रयोग किया है । हठयोग की साधना पद्धति का वर्णन करते हुए आपने कबीर के समान अवधू आदि को सम्बोधित किया है—

अवधू का कहि तोहि बखानों ।
गगन मंडल में अनहद बोलै, जाति बरन नहि जानों ।
सुन्न महल की जुगती बतावै, केहि विधि कीजे पूजा ।।[4]

संसार की मोह माया से परे रहकर ही यह साधना की जा सकती है, सहज धुनि लगी रहने पर ही अनहद तूर का नाद सुनाई पड़ता है—

सहजै धुन लागी रहै, बाजै अनहद तूरा ।[5]
सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिठाई ।[6]

मलूकदास की बानी का विवेचन करने पर ऐसा लगता है कि इनकी वृत्ति हठयोगपरक साधनाओं में उतनी रम नहीं पाई है, प्रसंगवश या अवधू को उपदेश देते हुए ही अनहद, गगन मण्डल, गगन गुफा, आसन, सुन्न महल आदि शब्दों का प्रयोग किया है ।

---

१. वही, मन और माया के चरित्र, पृ० १०-११
२. **यह दुनियां नाचीज के जो आसिक होवै ।** वही, उपदेश २, पृ० १६
३. वही, शब्द ३, पृ० १७
४. वही, भेद बानी २, पृ० ४
५. वही, शब्द १३, पृ० २१
६. वही, मिश्रित १, पृ० २३

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

मलूकदास जी ने सतगुरु की सामर्थ्य का वर्णन करते हुए चमत्कार उत्पन्न करने तथा तथ्य को अधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से उलटबाँसी शैली का प्रयोग किया है। इनके गुरु की लीला अद्भुत है, न वह कुछ खाता है न पीता है, न सोता है न जागता है, न मरता है न जीता है, बिना तरवर के फल फूल लगा देता है, चींटी के पग कुंजर बाँध देता है। अद्भुत और विभावना प्रधान शैली में रची उलटबाँसी द्रष्टव्य है—

हमारा सतगुरु बिरले जानै।
सूई के नाक सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै॥
हमारे गुरु की अद्भुत लीला, ना कछु खायन पीवै।
ना वह सोवै ना वह जागै, ना वह मरै न जीवै॥
बिन तरवर फल फूल लगावै, सो तो वाका चेला॥
छिन में रूप अनेक धरत है, छिन में रहे अकेला॥
बिन दीपक उजियारा देखै, एंडी समुद्र थहावै।
चींटी के पग कुंजर बाँधै, जा को गुरू लखावै॥
बिन पंखन उड़ि जाय अकासे, बिन पंखन उड़ि आवै।
सोइ सिष्य गुरु का प्यारा, सूखे नाव चलावै॥
बिन पायन सब जग फिरि आवै, सो मेरा गुरु भाई।
कहै मलूक ताकी बलिहारी, जिन यह जुगत बताई॥[1]

अन्त में हम कह सकते हैं कि मलूकदास ने जहाँ एक ओर वैदिक परम्परा से प्राप्त वृक्ष प्रतीक का सूक्ष्म चित्रण किया है, सिद्ध परम्परा से प्राप्त 'सहज' का परमपद के रूप में प्रयोग किया है, वहां दूसरी ओर 'साहेब रहमाना' के विरह में उनकी आत्मा (वधू) व्याकुल हो उठती है, जीवन के सारे रसों को विरह की धधकती ज्वाला में जलाकर पिया का मारग जोहते जोहते नैन पथरा जाते है, पग काँप काँप जाते हैं। निर्गुण रूप में वह ब्रह्म संसार के कण कण में व्याप्त है, आत्मा परमात्मा का ही एक अंश है और अन्त में उसी में मिल जाता है, अद्वैतवाद की इस विचारधारा के मलूकदास में स्पष्ट दर्शन होते हैं। जिस माया को सन्तों ने पानी पी पीकर कोसा है, आत्मा परमात्मा के मिलन में बाधक माना है, मलूकदास की वाणी में भी माया के इस स्वरूप का खुलकर चित्रण हुआ है, उसे नागिण, नारी, कामिनि, ठगनि आदि रूपों में चित्रित करते हुए उसके अविद्यात्मक रूप को अग्राह्य माना है, ज्ञान, सतगुरु कृपा और भगवद् प्रेम से ही माया के पाश को काटा जा सकता है। मलूकदास ने संसार को सर्वग्रासी भवसागर के रूप में चित्रित किया है। माया ग्रसित जीव उसमें डूब जाते हैं, परन्तु ब्रह्म की ज्योति जिसने हृदय में जगा ली वह उसे सहज ही पार कर लेता है। अद्वैतवाद में जगत् को मिथ्या माना है, मलूकदास ने भी उसे 'नाचीज'

१. वही, सतगुरु महिमा २, पृ० १-२

कहा है। आप भगवद् भक्त थे, प्रेम ही उनका मंत्र था, और सहज ही साधना थी, इस कारण सम्भवतः हठयोग की कष्ट साधनाओं में उनकी वृत्ति कुछ कम रमी है। स्वभाव से सरल और ऋजु होने के कारण बात को घुमा फिराकर कहना भी आप पसन्द नहीं करते, इसी कारण विपर्यय शैली के प्रति स्पष्ट आग्रह नहीं है। मलूकदास जी भक्त हैं, भक्ति से उनको काम है, सब कुछ भगवदर्पण कर निश्चिन्त हो चुके हैं, आत्म समर्पण की यही तीव्र भावना उनके काव्य का प्राण है।

८. सुन्दरदास

(जन्म—चैत्र सुदी ६, संवत् १६५३ वि० तथा निर्वाण—संवत् १७४६ वि०)[1]

सन्त दादू दयाल जी के अनन्य शिष्य स्वामी सुन्दरदास सच्चे अर्थों में महा कवि हैं। शान्तरस के तो आप एकमात्र आचार्य माने जा सकते हैं। कवि के लौकिक अर्थ में, निर्गुण पन्थी सन्तों में कवि केवल आपको ही माना जा जकता है। भाषा, भाव, छन्द, अलंकार, ध्वनि आदि सभी दृष्टियों से आपका काव्य निःसन्देह उच्चकोटि का है। अठारह उन्नीस वर्षों तक काशी में रहकर आपने व्याकरण, काव्य, दर्शन आदि के साथ-साथ योग विद्या का भी अच्छा अभ्यास किया। गहन अध्ययन की छाप आपके काव्य में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

परम्परागत प्रतीक—प्रतीकात्मक दृष्टि से सुन्दरदास जी का काव्य अत्यन्त ही समृद्ध है। वैदिक साहित्य में सर्वमान्य प्रतीक वृक्ष का आपने बड़ी सुन्दरता से चित्रण किया है—

दृश्यते वृक्ष एक अति चित्रं।
ऊर्ध्वमूलमधोमुख शाखा जंगम द्रुम श्रणु मित्रं॥
चतुर्बिशं तत्वमिर्निर्मितं वाचः यस्य दलानि।
अन्योऽन्य वासनोद्भव तस्य तरोः कुसुमानि॥
सुख दुखानि फलानि अनेकं नानास्वादन पूतं।
तत्रात्मा विहंगम तिष्ठति सुन्दर साक्षीभूतं॥[2]

एक अन्य स्थान पर[3] वृक्ष को विश्व का प्रतीक बताया गया है। जिस प्रकार वृक्ष के पुराने पात झरते जाते हैं और उनके स्थान पर नये पत्ते लगते हैं; संसार में जीवन का क्रम भी अनादि काल से इसी प्रकार चला आ रहा है।

चित्रकाव्य के द्वारा भी सुन्दरदास ने वृक्ष का प्रतीकात्मक चित्रण किया है, यहां कवि ने वैदिक मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया···' को ही स्पष्ट किया है—

प्रगट विश्व यह वृक्ष है मूला माया मूल।
महातत्व अहंकार करि पीछे भया स्थूल।

---

१. **सन्त सुधा सार**, पृ० ५६८
२. **सुन्दर ग्रन्थावली**, भाग २, पृ० ६३६; गीता (१५/१-३) में भी विश्ववृक्ष का वर्णन इसी प्रकार आया है।
३. **सुन्दर विलास**, मन का अंग २३, पृ० ६३

इसके पश्चात् चौबीस तत्वों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

इन चौबीस हु तत्व कौ वृक्ष अनुपम एक।
सुख दुख ताके फल भये नाना भाँति अनेक ।।
तामें दो पक्षी बसहिं सदा समीप रहांहि।
एक भषै फल वृक्ष के एक कछू नहिं षाहि ।।
जीवातम परमातमा ये दो पक्षी जांन।
सुन्दर फल तरु के तजें दोऊ एक समांन ।।[1]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

काव्य के क्षेत्र में सुन्दरदास ने प्रमुखतः शान्त रस का प्रणयन किया है, पर ब्रह्म से आत्मा का अनन्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दाम्पत्य भाव के प्रतीकों की भी आयोजना की है। वधू, स्त्री, सोहागिन, विरहिन, दुलहिन आदि रूपों में आत्मा का और सैंया, पिया, पिय, बलम, पति आदि रूपों में परमात्मा का चित्रण किया है। साधक का मन 'परम पुरुष गोविन्द' से लग गया है,[2] नेह धीरे-धीरे गहरा होता जाता है, आत्मा को हमेशा हरि दरसन की आस लगी रहती है,[3] वह अपनी सखियों से बार-बार पूछती है कि 'किति विधि पीव रिझाइये,'[4] पिय का पंथ विरहिन देख चुकी है पर दर्शन का सौभाग्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, वह सोचती है कि न जाने पिया ने कहाँ देर लगा दी, न जाने वे कब आवेंगे, कब मैं अपने प्राणाधार को देखूंगी?[5] संसार की समस्त वस्तुओं से परे वे मुझे प्यारे हैं, पर वे पिया आते ही नहीं हैं, ऐसा लगता है वे परदेस में लुभा गए हैं।[6] आत्मा की विरहावस्था का कोई अन्त नहीं है। सुन्दर दास ने एक से एक सुन्दर पदों की रचना कर आत्मा की इस विरहावस्था का चित्रण किया है—

पिय कै विरह वियोग भई हूं बावरी।
अब मुहि दोष न कोइ परोंगी बावरी।

× × ×

(परिहां) सुन्दर पिय परदेश न आयौ आरसी।

× × ×

१. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, वृक्षबन्ध २, पृ० ७२४-२६
२. वही, राग टोडी, पृ० ८६६
३. वही, राग बिहागडो, पद २ पृ० ८३८
४. वही, राग बिलावल, पद ३, पृ० ८५८
५. वही, राग काफी, पद ६, पृ० ६२४
६. वही, राग सारंग १, पृ० ६०८

सुन्दर बिरहिन बिरहै बारी। प्रीति करत किनहूं नहिं बारी।
पिय कौं फिरी बाग अरु बारी। अब तौ आई पहुंची बारी।[1]

विरह काव्य की दृष्टि से सुन्दरदास ने बारहमासा लिखकर इस परम्परा का भली प्रकार निर्वाह किया है। कन्त के अभाव में प्रत्येक मास कष्ट दायक ही होता है। नया वर्ष का मास चैत्र प्रारम्भ हो गया है, विरहिनी का पति बहुत दिनों से परदेस में है, विरहाग्नि दिन रात जलाती है, पर वह किससे कहे? वैशाख मास में यौवन मदमस्त हाथी सा निरंकुश हो गया है। ज्येष्ठ मास आ गया है, पिया का न तो कोई संदेशा आया है, न कोई पाती ही आई है, चन्दन आदि पदार्थ तीर के समान लगते हैं, ऐसी अवस्था में भला विरहिन धैर्य धारण कैसे करे?[2] इस प्रकार प्रत्येक मास में विरह नए नए रूप धारण कर विरहिनी को सताता है। फागुन में और सोहागिनें तो कंत से फाग खेल रही हैं पर विरहिन के कंत घर पर नहीं हैं। विरह ने नखशिख में अग्नि जलादी है, विरहिन मृतक समान हो गई है, विरह में तड़पते तड़पते बारह महीने बीत गए पर वे नहीं आए। विरहिन की व्यथा तो देखो—

फागुन घर घर फाग सु षेलहिं कंत सौं।
× × ×
(परिहां) सुन्दर मृतक समान देषि बिरहनि भई ॥[3]

इस प्रकार ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध स्थापित करते हुए सुन्दर दास ने एक से एक सुन्दर उक्तियाँ कही हैं। आपके काव्य में विरह का रंग बड़ा गहरा है। आपका विरह रीतिकालीन विरह के समान लौकिक धरातल का न होकर आध्यात्मिकता के उच्चासन पर समासीन है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—सुन्दरदास ने ब्रह्म के निराकार रूप का स्थान-स्थान पर कथन किया है, वे ब्रह्म निरीह, निरामय, निर्गुण, नित्य और निरंजन हैं—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन, नित्य निरंजन और न मासै।
× × ×
सुन्दर और कछू मत जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै॥[4]

वही ब्रह्म सबमें व्याप्त है--

सुन्दर कहत एक, ब्रह्म बिना और नाहिं।
आपहि में आप व्यापि, रह्यौ सब ठौर है।[5]

---

१. वही, पृ० ३४१-३४२; ३४६
३. वही, बारह मासा, पृ० ३६३-६४
२. वही, बारह मासा १२, पृ० ३६६
४. **सुन्दर विलास, अद्वैत ज्ञान को अंग** २०, पृ० १२६
२. वही, पद २४, पृ० १३१

ब्रह्म को राम, कृष्ण, गोबिन्द, माधव आदि नामों से अभिहित करते हुए भी उनका उद्देश्य निराकार ब्रह्म ही है।

जीवात्मा – आत्मा ब्रह्म का ही अंश है। सुन्दरदास ने जीव और ब्रह्म के अद्वैत सम्बन्ध की ओर निर्देश किया है। 'ईसुर जीव जुदे कछु नाहीं'[1] इस तथ्य को आपने बड़े ही विस्तृत रूप में स्पष्ट किया है। ब्रह्म और आत्मा दो नहीं है, वे एक ही हैं। जैसे—

एक समुद्र तरंग अनेकहु, कैसे कै कीजिये भिन्न बिबेका।
द्वैत कहूँ नहिं देखिए सुन्दर, ब्रह्म अखंडित एक को एका ।।[2]
ज्यूँ मृतिका घट नीर तरंगहिं, तेज मसाल किये जू बहूता।
बृछ सु बीजहि बीज सु बृच्छहि, पूत सु बापहि बाप सू पूता।
वस्तु बिचारत एकहि सुन्दर, तान रु बान तु देखिये सूता ।।[3]

जीव और ब्रह्म की इस एकता का कारण वह चेतन तत्व है जो आत्मा और परमात्मा में समान रूप से विद्यमान है। जब आत्मा चेतन है और परमात्मा भी चेतन है तो द्वैत कैसा ?[4]

जल में तरंग, फेन, बुदबुद सभी होते हैं पर एक जल सभी में मूलरूप से विद्यमान है; एक ब्रह्म ही सबमें विद्यमान है वही रूप परिवर्तन से भिन्न नामधारी हो जाता है, जैसे जल जमकर पाषाणवत् हो जाता है पर पिघलने पर वह पुनः जल ही हो जाता है।[5] जैसे कंचन के विभिन्न आभूषण अंततः कंचन ही हैं, लोहे के नानाविध अस्त्र-शस्त्रों में लोहा मूलरूप से विद्यमान है,[6] उसी प्रकार ब्रह्म नाना रूपों में आत्मा में विद्यमान है, अतः आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं।

माया—अन्य सन्तों के समान सुन्दरदास ने भी माना है कि यह भ्रम या अज्ञान माया के कारण है। यह शक्तिशालिनी माया ही जीव और ब्रह्म में द्वैत बुद्धि उत्पन्न करती है। सुन्दरदास ने माया को हत्यारिनि, पापिनि, कोढ़िनि,[7] कामिनी, नारी, नांगिन, विषबेली,[8] बिभिचारिणी कामिनी[9] आदि प्रतीकों से चित्रित किया है। माया के इस प्रबल जंजाल से मनुष्य आत्म ज्ञान होने पर ही छूट सकता है।

---

१. **सुन्दर विलास**, ज्ञानी को अंग १०, पृ० १४७
२. वही, अद्वैत ज्ञान को अंग ५, पृ० १२५
३. वही अद्वैत ज्ञान को अंग ६, पृ० १२५
४. **भूमिहु चेतन आपहु चेतन···चेतन सुन्दर ब्रह्म अखंडा ।।** वही पद ७, पृ० १२५
५. वही पद, १५
६. वही, पद १६,१७
७. वही, तृष्णा को अंग १०, पृ० ४०
८. वही, नारी निन्दा को अंग १, २, पृ० ५१
९. वही पतिव्रता को अंग २, पृ० ८०

संसार—सुन्दरदास जी जगत् को भी ब्रह्ममय और ब्रह्म को जगत्मय मानते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

तोहि में जगत यह, तूँ ही है जगत माँहि।

× × ×

जैसी बिधि देखियत चूनरीहू चीर में,
जैसी विधि देखियत, बुदबुदा नीर में ।।[1]

जगत् को ब्रह्ममय और ब्रह्म को जगत्मय बताते हुए भी उसे मिथ्या कहना 'विवर्त-वाद' का बड़ा भारी चमत्कार है। जो कुछ भी संसार में हमें दीख पड़ता है वह अज्ञान-भ्रम वश है, ज्ञान के उदित होने पर भ्रम का पर्दा नष्ट हो जाता है और सत्य पदार्थ की स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। इस भ्रम को स्पष्ट करने के लिए रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, कनक-कुण्डल, बीज-वृक्ष, जल-मरीचिका आदि दृष्टान्तों का सहारा लिया गया है, आवरण से ही ब्रह्म (सत्य पदार्थ) पर जगत् (असत्य मिथ्या पदार्थ) सत्य भासता है। सुन्दर दास कहते हैं—

अनछतो जगत, अज्ञान तें प्रकट भयो।
जेवरी को साँप मानि, सीप बिषे रूपो जाति।

× × ×

सुन्दर कहत यह, एक ही अखंड ब्रह्म।
ताहि कूँ पलटि के, जगत नाम धरयो है ।।[2]

साधनात्मक रहस्य परक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

सुन्दरदास जी ने ध्यान योग, मन्त्र योग, लय योग आदि के साथ-साथ हठ-योग का सैद्धान्तिक विवेचन 'ज्ञान समुद्र'[3] तथा 'सर्वांग योग प्रदीपिका'[4] में विस्तार से किया है। 'ज्ञान-समुद्र' में योग के अष्टांग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का बड़े विस्तार से विवेचन किया गया है। रागवियोग प्रदीपिका में इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी आदि शब्दों से हठयोग साधना का कथन करते हुए एक अन्य स्थान पर उसका प्रतीकात्मक चित्रण किया है—

अहं निश ब्रह्म अग्नि परजारै, सापनि द्वार छाड़ि दे जौंना ।।
चन्द सूर दोउ उलटि अपूठा सुषमनि कै घर लीजै।
इडा पिंगला सम करि राषै, सुषमन करै गगन दिशि गौंना।
यह गंग जमुन बिचि बेला, तहाँ परम पुरुष का मेला।[5]

---

१. **सुन्दर विलास**, पद १४, १७ १८ पृ० १२७, २८, २९
२. वही, जगन्मिथ्या को अंग, पृ० १२३, २४
३. वही, पद, १५
४. वही पद, १६, १७
५. **सुन्दर ग्रन्थावली**, ज्ञान समुद्र पृ० २० से ५६ तक
६. वही, सर्वांग योग प्रदीपिका, पृ० १०२, १०६, १०८
७. वही, पृ० ८६२, ७१, ८७

यहां गंग, जमुन, चन्द्र सूर आदि शब्द इडा और पिंगला नाड़ियों के प्रतीक हैं, सापनि-कुण्डलिनी का प्रतीक है जो विभिन्न चक्रों को भेदती हुई सहस्रार में पहुँच कर अमर पद को प्राप्त करती है। हठयोग परक साधना का वर्णन करते हुए भी सुन्दरदास ने उसे मनुष्य के चरमलक्ष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। बिना हरिनाम और भक्ति के आसन मार कर बैठना, प्राणायाम तथा अन्य प्रक्रियाओं से शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है, 'आस' और तृष्णा का हनन करना तो श्रेष्ठ है पर इनके मारे बिना सभी साधनाएँ शरीर को कष्ट मात्र देना है—

डासन छाड़ि के कासन ऊपर, आसन मारि पै आस न मारी ॥[1]

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

'विपर्जय को अंग' लिखकर सुन्दरदास ने उलटबाँसियों की स्वस्थ परम्परा का निर्वाह किया है। प्रतीकात्मक दृष्टि से इन उलटबाँसियों का बहुत महत्व है, इसके माध्यम से आपने ईश्वर, जीव, प्रकृति, माया, संसार आदि की दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाया है। यथा —

कुंजर कूँ कीरी गिलि बैठी, सिंहहि खाय अघानो स्याल ।
मछरी अग्नि मांहि सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल ॥
पंगु चढ्यो पर्वत के ऊपर, मृतकहि देखि डरानो काल ।
जाको अनुभव होय सो जानै, सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल ॥[2]

इसका प्रतीकार्थ पंडितवर हरिनारायण पुरोहित ने अन्य टीकाओं के आधार पर भी दिया है। एक हस्तलिखित टीका के अनुसार—कुंजर=काम; कीरी=बुद्धि, सिंघ=संसे, स्याल=जीव, मछरी=मनसा, अग्नि=ब्रह्माग्नि, जल=काया, पंगु=कामनाहीन पूर्णातीत, मृतक=अंहकार पर विजय पाना, काल डरानो=जीवनमृतक सेती काल डसौ अर्थात् जीव-मुक्त से काल डर गया।

इस आधार पर इसका अर्थ हो सकता है, कि 'कुंजर' के समान शक्तिशाली वासनाओं पर 'कीरी' के समान सूक्ष्म अन्तर्मुखी बुद्धि ने विजय प्राप्त कर ली। सिंह के समान बलवान संशय पर स्याल रूपी ज्ञानवान् जीव ने अधिकार जमा लिया है। मछरी अर्थात् मन जो विकारों से दूर हो गया है, उसको ब्रह्माग्नि में आनन्द मिला तथा मायापूर्ण जल में उसको दुख की प्राप्ति होने लगी। कामनाहीन (पंगु) पर्वत पर अर्थात् सहस्रार में पहुँच गया और अंहकार पर विजय प्राप्त कर ली है। अनुभवी संत ही सुन्दर के इस उलटे ख्याल को समझ सकते हैं—

मछरी बगुला कौ गहि षायौ मूसै षायौ कारौ साँप ।
सूवै पकरि बिलइया षाइ, ताकें मुये गयौ संताप ॥
बेटी अपनी मा गहि षाई बेटे अपनौ षायौ बाप ।
सुन्दर कहैं सुनहु रे संतहु तिनकौ कोऊ न लागै पाप ॥[3]

१. सुन्दर ग्रन्थावली, चाणक को अंग ६/६७
२. वही, द्वितीय खण्ड, विपर्जय को अंग ३, पृ० ५१०
३. वही, सवैया, विपर्जय को अंग ५/५१५

यहाँ मछरी = मनसा, निष्काम उपासना युक्त बुद्धि, बगुला = विरोधी, दूषित चित्त-वृत्तियाँ, मूसा = चूहा = शुद्ध मन, कारौ सांप = चित्त के दोष, सूआ = अन्तकरण, बिलइया = बिल्ली = मन की इच्छा, बेटी = विद्या, माँ = अविद्या, बेटा = निविकल्प अभ्यास, बाप = मन का प्रतीक है।

इसी प्रकार जीव, ब्रह्म, मन, प्राण आदि से सम्बन्धित एक अन्य उलटबाँसी द्रष्टव्य है—

कपरा धोबी कौं गहि धोवै, माटी बपुरी धरै कुम्हार।
सुई बिचारी दरजहिं सीवै सोना तावै पकरि सुनार॥
लकरी बढ़ई कौं गहि छीलै, षाल सुबैठि धवै लुहार॥
सुन्दरदास कहै सो ज्ञानी, जो कोउ याकै करै विचार॥[1]

यहाँ कपरा = चिदाभास सहित मन, धोबी = पुण्य, माटी = अन्तर्मुखी बुद्धि, कुम्हार = बाह्य वृत्तिमय मन, सुई = सूक्ष्म आत्म विचार, दरजी = चिदाभास सहित अंहकार—जीव, सोना = शुद्ध आत्मा, सुनार = अज्ञान के वशीभूत जीव, लकरी, = शुद्ध चेतन बुद्धि, बढ़ई = जीव, खाल = श्वास या काया, लुहार = जीव, मन के प्रतीक हैं।

इस प्रकार इन विपर्यय प्रधान प्रतीकों में सुन्दरदास ने ज्ञान की महत्ता का सर्वत्र वर्णन किया है, अज्ञानान्धार माया-मोह में पड़ा अज्ञानी जीव नाना प्रकार के कष्टों को सहन करता है, पर ज्ञान का दीपक प्रज्ज्वलित होते ही समस्त अन्धकार तिरोहित हो जाता है, मन अज्ञानावस्था में भाग्य अथवा यत्किंचित पुण्य कर्मों का आधार लेकर आगे बढ़ना चाहना है, पर लक्ष्य प्राप्ति से पूर्व ही माया मार्ग अवरुद्ध कर देती है, गुरु ज्ञान देकर इस अवरोध को समाप्त कर देता है आत्मा समस्त पापों का त्याग कर, शुद्ध बुद्ध हो ब्रह्म में लीन हो जाती है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि काव्य शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन कर जो ज्ञान सन्त सुन्दरदास ने अर्जित किया था उसका प्रतीक शैली में प्रणयन कर स्वस्थ परम्परा का निर्वाह किया है। भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से आपका काव्य उच्चकोटि का है। प्रतीकात्मक चित्रण में जहाँ आप वैदिक परम्परा से सम्यक्रूपेण प्रभावित हैं वहाँ आपने तत्कालीन दार्शनिक, यौगिक विचारधारा का चित्रण भी किया है। हठयोगादि कष्टसाध्य साधनाओं में आपका मन उतना रम नहीं पाया है, उनकी दृष्टि में प्रभुभक्ति के बिना अन्य सभी साधनाएँ व्यर्थ हैं, यही कारण है कि हठयोग का प्रतीकात्मक चित्रण अपेक्षाकृत कम ही स्थानों पर देखने को मिलता है। चमत्कारपूर्ण शैली का आपके काव्य में बाहुल्य है, विभिन्न बन्ध (मणिबन्ध, सर्पबन्ध, कंकण बन्ध, छत्र बन्ध, वृक्ष बन्ध आदि) प्रथमाक्षर प्रधान, मध्य या अन्त्याक्षर प्रधान काव्य इस शैली के प्रतीक हैं। चमत्कार प्रधान शैली में विपर्यय अर्थात् उलटबाँसियों का अपना विशिष्ट महत्व है। सुन्दरदास ने एक से एक सुन्दर उलटबाँसियों की रचना कर इस प्रतीक शैली का अन्यतम रूप में निर्वाह किया है। इस प्रकार सुन्दरदास का काव्य प्रतीकात्मकता की दृष्टि से अत्यन्त ही गम्भीर और समृद्ध है।

---

१. सुन्दर ग्रन्थावली, सवैया, विपर्जय को अंग, ६/५२२

९. गरीबदास जी

(जन्म सं० १६६२ वि० : मृत्यु १६६३ वि०)

कबीर को अपना गुरु मानने वाले गरीबदास जी की बानी में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का सुन्दर पुट है जिसमें प्रतीकात्मक शैली के भी स्थान-स्थान पर दर्शन हो जाते हैं।

परम्परागत प्रतीक—वैदिक साहित्य में अनेकशः वर्णित अक्षयवृक्ष का आपने इस प्रकार किया है—

बिना मूल अस्थूल गगन में रम रहा।
कोई न जाने भेद सकल सब भ्रम रहा।
अछै वृच्छ विस्तार अपार अजोख है।
नहीं गाम नहीं धाम मुक्त नहिं मोख है॥

× × ×

नग सरवर पर तरवर साखा नहिं मूल रे।
अछै बृच्छ अस्थान जहाँ मन भूल रे॥
तत-बेता परम हंस बसैं निःकाम रे।
तहँ वहँ पदम अनन्त परेवा जाहिंगे।
अछै बृच्छ फल हँस तहाँ वहँ खाहिंगे॥[1]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

गरीबदास जी ने आत्मा और परमात्मा से दाम्पत्य भाव का भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हुए ब्रह्म को सजन, महबूब, सत्त पुरुष, दूलह, पिया आदि प्रतीकों से और आत्मा को दुलहिन, सुहागिन, विरहिन आदि प्रतीकों से अभिव्यक्त किया है। सतगुरु की कृपा से श्रेष्ठ और अटल वर आत्मा ने वरा है, उसके बड़-भाग, सखियाँ सेहरा गाती हैं, मोतियों का थाल भर कर चौक पूरती हैं, दुलहिन पर हल्दी आदि चढ़ाई जाती है, अनेक विवाह सम्बन्धी रीति रस्में पूरी की जा रही हैं। गरीबदास जी ने विवाह मण्डप का सुन्दर प्रतीकात्मक चित्र खींचा है—

धन सतगुरु बरियाम, अटल बर हम बरी।
दुलहिन के बड़ भाग, सुहागिन धन घरी॥
चलो सखी सत लोक, सेहरा गाइये।
मोतियन थाल भराय, सु चौक पुराइये॥

× × ×

चलो सखी उस धाम, सु कंत हमार है।
दूलह वर बरियाम, पिया निःकाम है।[2]

उस पिया के मारग पर चलना बहुत कठिन है, रास्ता बड़ा कठिन है, दूर-दूर तक भी पंथ नहीं सूझता, उस 'सुन्न मण्डल' में ही सतलोक है, दुलहिन उससे दूर खड़ी है,

१. गरीबदास जी की बानी, अरिल ३, १० पृ० ११३, १८
२. वही, राग मंगल ३, पृ० ११४

भला कैसे मिलन हो, उस पिया का 'नूर' सर्वत्र व्याप्त है—

सुन्न मंडल सतलोक दुलहिनी दूर है।
सब्द अतीत पिछान, नूर भरपूर है।
नूर रहा भरपूर, दिवाना देस है।
दुलहिन दास गरीब, तखत जिस पेस है ॥[1]

विरहिन के साजन हाथ में अमृत की सुराही और प्याला लेकर उपस्थित हैं, उसने विरह के लिए 'चोखा फूल चुवाया है,' उस प्रेम प्याले को पीकर आत्मा दीवानी हो गई है, उस छली पिया ने बरवै राग सुनाकर मोहित कर लिया है, गले फांसी डाल दी है, अब प्रेम की गांठ गहरी हो गई है, विरहिन को जिस साजन की आशा थी, आज उसने बुलाया है, रोम-रोम से एक मस्ती भरा तराना फूटा पड़ता है, वह लोक वेद सभी की मर्यादा को भुलाकर पिया मिलन को दौड़ पड़ती है, तन-मन सभी कुछ प्रेम के भीने रस में भीग जाता है—

सजन सुराही हाथ है, अमृत का प्याला।
हम बिरहिन बिरहै रंगी कोई पूछै हाला ॥
चोखा फूल चोवाइया, बिरहिन के तांई।
मतवाला महबूब है, मेरा अलख गुसांई ॥
× × ×
गांठ घुली खुलै नहीं, साजन अबिनासी ॥
× × ×
मुझ बिरहिन के लेन कूँ, मेरे सजन पठाया।
× × ×
अनहद नादू बाजहीं, अमरापुर मांई।
सुन्न मंडल सतलोक कूं, दुलहिन उठ धाई ॥
तन-मन छाकै प्रेम से, मन मंगल महली।
दुलहिन दास गरीब है, जहँ सेज सलहली ॥[2]

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—गरीबदास ने अद्वैतवाद का ही पोषण करते हुए ब्रह्म को एक, सर्व-व्यापक, सर्वशक्तिमान, घटघट में व्याप्त कहा है—

बाहर भीतर रमि रहा पूरन ब्रह्म अलेख ॥
बाहर भीतर एक है सब घट रहा समाय ।[3]
एकै नजर निरंजना, सबही घट देखे ।[4]

---

१. ग० बा० राग मंगल ३, पृ० १४४-४५
२. वही, राग बिलावल ८, पृ० १७५-७६
३. वही, सुमिरन का अंग १६, ७६, पृ० १६, २५
४. वही, राग बिलाबल १४, पृ० १७६

जैसे तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि और दूध में घी विद्यमान है उसी प्रकार ब्रह्म भी घट-घट में व्याप्त है—

जस तिल्ली में तेल है काठ में अगिन है,
दूध में घिर्त मथ काढ़ लीया ।[1]

जीवात्मा—पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही तत्व समानरूप से विद्यमान है इसको मानते हुए गरीबदास ने जल और बुदबुद के उदय और अस्त से जीव-ब्रह्म की स्थिति को स्पष्ट किया है।

जस पानी के बीच में बुदबुदा होत है,
फिर पानी के बीच पानी समाया ।
तस ब्रह्म दरियाव में अद्भुत ख्याल है ।
पिण्ड ब्रह्मण्ड में एक सूझा ।[2]

जैसे दरिया की लहर दरिया में ही विलीन हो जाती है, भ्रमवश ही उसे दरिया और लहर कह दिया जाता है, वास्तव में दरिया और लहर में तत्वतः कोई अन्तर नहीं है। जीव ब्रह्म से उत्पन्न होकर अन्त में ब्रह्म में ही समाहित हो जाता है।[3]

गरीबदास ने जीव और ब्रह्म में इस प्रकार अंश अंशी भाव को अभिव्यक्त किया है। जीव को आपने हंस, परेवा,[4] विहंगम,[5] के प्रतीकों से चित्रित किया है। जीव संसार की माया भ्रम में पड़कर वास्तविक स्थिति को नहीं पहचानता, जिस प्रकार मृग नाभि में कस्तूरी रहने पर भी भ्रमवश उसे नहीं पहचानता[6]।

माया - गरीबदास ने माया के अविद्यात्मक रूप को ही स्पष्ट किया है। माया के चक्र में पड़कर ही मनुष्य अपने वास्तविक रूप को भी भूल जाता है, माया सर्व-व्यापिनी और अनन्त शक्तिशालिनी है, माया का रस पीकर ही जीव के दोनों ज्ञान-नेत्र फूट जाते हैं, वह डाँवाडोल हो जाता है, भूत के समान हो जाता है,[7] वास्तव में माया ही सत्यानाश की जड़ है। बधनी ठगनी माया[8] जीव को भ्रम में डाल कर लूट लेती है, वह उसके 'तिरगुन रास' को पहचान नहीं पाता, दुख द्वन्द्व में फंसा जीव उस 'समरथ' की उपासना भी नहीं करता। सतगुरु ही इस कठिन बन्धन से छुड़ा सकता है।

---

१. **ग० बा०**, रेखता ३, पृ० १२
२. वही, रेखता, ३, ५ पृ० १०१, १०३
३. **दरियाब की लहर दरियाब लौ लीन है।**
एक ही फूल फल डाल है रे । वही, रेखता ३ पृ० १०१
४. वही, रमैनी १, पृ० १२८, अरिल १०, पृ० ११८
५. वही, बैत ५, पृ० १२५
६. **मिरगा बाहर भरमही, नाभी कस्तूरी** । वही, राग बिलावल ७, पृ० १७४
७. वही, गुरुदेव का अंग, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७ पृ० १२-१३
८. **बधनी ठगनी कूँ लूट लिये, चीन्हा नहिं तिरगुन रासा है** । वही, सवैया ८, पृ० ९८

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

गरीबदास जी ने हठयोग परक साधना का प्रतीकात्मक चित्रण स्थान-स्थान पर किया है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना को गंगा, यमुना, सरस्वती के प्रतीक से, त्रिकुटी को संगम त्रिवेणी के प्रतीक से तथा कुण्डलिनी, विभिन्न चक्र या कमल, बंक नाल, भूचरी, खेचरी आदि मुद्राओं और प्राणायाम को भी अनेक प्रतीकात्मक रूपों द्वारा स्थान-स्थान पर वर्णित किया है—

इडा पिंगला सोधकर चढ़ गिरवर कैलास।
दो दल की घाटी जहाँ भगल बिदाहै दास ॥
ब्रह्म रंध्र के द्वार को खोलता है कोई एक।
द्वारे से फिर जात हैं ऐसे बहुत अनेक ॥[1]

यहाँ गिरवर कैलास=ब्रह्मरन्ध्र का और दो दल की घाटी=आज्ञा चक्र की प्रतीक है, आज्ञा चक्र के पश्चात् साधक ब्रह्मरन्ध्र के मुख्य द्वार को खोलता है।

ब्रह्मरन्ध्र का घाट जहाँ है उलट खेचरी लावै ॥
सहस कमल दल झिलमिल रंगा, चोखा फूल चुवावै ॥
गंगा जमुना मद्ध सरसुती, चरण कमल से आवै।[2]

अष्ट दल कमल मध जाप अजपा चलै
मूल कूँ बंध बैराट छाया।
तिरकुटी तीर बहु तीर नदियाँ बहैं,
सिंध सरवर भरे हंस न्हाया ॥
खेचरी भूचरी चाचरी उनमुनी,
अकल अगोचरी नाद हेरा।
सुन सतलोक कूँ गमन हंसा किया,
अगमपुर धाम महबूब मेरा ॥[3]

राग बंगला में आपने शरीर को बंगला प्रतीक से अभिव्यक्त करते हुए उसमें ही गंगा, जमुना, सरस्वती की कल्पना की है। हठयोग की समस्त प्रक्रियाओं का सम्बन्ध शरीर से ही है—

बंगला खूब बना है जोर, जामें सूरज चंद कडोर।

× × ×

तिरबेनी असनान कीजिये, मल मुत्तर सब धोई।
गंगा, जमुना मद्ध सुरसती, पट्टन घाट फुहारा ॥

× × ×

---

१. ग० बा०, संगत का अंग ४७, ४८ पृ० ४८
२. वही, राग कल्याण १, पृ० १३७
३. वही, रेखता १, पृ० १००

दहिने गंगा बायें जमुना, मद्ध सुरसती धारा।
उलटा मीन चढ़ै सरवर में, ऐसा खेल हमारा।[1]
नाभि कमल में नाद समोवो, नागिन निद्रा मारो।[2]

इस प्रकार आपकी बानी में योग, वैराग्य, प्रेम और भक्ति की बहुमुखी धारा के साथ-साथ प्रतीकात्मकता का अजस्र स्रोत भी प्रवहमान है। प्रतीकात्मक शैली का समस्त वर्णन सहज-स्वाभाविक ही है, कहीं भी इस शैली को प्रयास या यत्नपूर्वक लादा नहीं गया है। शैली गत चमत्कार से दूर भक्ति के भावावेश में जो कुछ भी आपके मुख से निसृत हुआ है, वह सन्त के लिए जितना सहज है लौकिक जनों के लिए उतना ही प्रतीकात्मक है।

१०. बुल्ला साहिब

(१६८९-१७६६ वि० सं०)[3]

यारी साहेब के शिष्य, गुलाल साहेब के हरवाहे (बाद में गुरु) बुल्ला साहिब बाह्य रूप से निरक्षर थे, पर मानसी साधना करते-करते हरि से परिचय प्राप्त कर लिया था। हृदय गुहा में अखण्ड रूप में उच्चरित होते रहने वाले नाम के बिना प्रभु का दर्शन, स्पर्श और मिलन असम्भव है, इस असार संसार में रामनाम का ही सहारा है, उससे सम्बन्ध हो जाने पर संसार भर से नाता टूट जाता है, बिना एक नाम रूपी ठाँव के मन कुत्ता बिल्ली के समान घर-घर भटकता फिरता है, साधक साधना के द्वारा ही इस गर्हित स्थिति से उबर सकता है उसे निश्चित ठाँव प्राप्त हो सकता है—

साँई के नाम की बलि जाँव।
नाम बिना मन स्वान मँजारी, घर-घर चित्त लै जाँव॥
पवन मथानी हिरदे ढूँढ़ों, तब पावै मन ठाँव॥[4]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

उच्चकोटि के संत बुल्ला साहिब ने परमात्मा से दाम्पत्य भाव का अटूट सम्बन्ध स्थापित किया है। आत्मा रूपी कुलवन्ती नारी का जब प्रियतम से स्नेह हो जाता है तो उसके दर्शन के लिए रात दिन 'लौ' लगी रहती है, हृदय बाट जोहता रहता है, पर जिसके लिए सारा जग छोड़ दिया वह 'नाह' न जाने कैसा होगा? वे धन्य हैं जिन्होंने अपना पति पा लिया है—

धन कुलवन्ती जिन जानल अपना नाह।[5]

---

१. ग० बा०, राग बंगला १, ३, ५ पृ० १४६-५०
२. वही, राग असावरी ४/३ पृ० १६१
३. धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, लेख—संत साहित्य–लेखक भुवनेश्वर 'माधव बुल्ला साहिब, पृ० ९६ के आधार पर
४. बुल्ला साहिब का शब्द सागर, शब्द ३ पृ० २
५. वही, चेतावनी, शब्द २, पृ० ५

विरहानुभूति के बिना प्रेम अधूरा ही रहता है, विरह की धधकती ज्वाला में मन का कलुष जल जाता है, आत्मा का उज्ज्वल रूप उभर आता है। बुल्ला साहिब की अबला आत्मा दर्शन की प्रार्थना करती है, वह घड़ी, दिन, पल छिन कितना शुभ था जब तुमसे 'लौ' लगी थी, अब तो हे प्रियतम, मनसा-वाचा कर्मणा तुम ही मेरे प्राणाधार हो,[1] आठौ पहर मुझे तुम्हारा ही ध्यान रहता है, तुम्हारे बिना जीवन व्यर्थ लगता है, तुम्हारे रहते मैं अबला रहूँ, प्यासी रहूँ, मैं भला कैसे कहूँ, मुझे लाज आती है।[2] हे पिया, मेरा मन आश्रय पाने के लिए बार-बार तुम तक दौड़-दौड़ पड़ता है, सासु-ननद बैरिन हो गई हैं, सिर पर काली-काली घटा घिर आई हैं, तुम्हारे बिना सूनी सेज भयावह लगती है, विरहाग्नि दिन रात जला रही है, तुम्हारी प्रीति क्षण-भर को भी बिसारी नहीं जाती, पंथ को देखते-देखते मैं व्याकुल हो उठी हूँ, पर पन्थ का कोई अन्त ही नहीं है—

मोर मनुवाँ मनावै धावै पिया नहिं आवै हो ।।
सासु मोरी दारुनी ससुर मोर भोला हो ।।
ननद बैरिन भैली काढ़ि दइ डोला हो ।।
देखो पिया काली घटा भो पै भारी ।
बिन जोगी समुझे कल न परतु है क्यों जीवै जन रोगिया ।।
सुरत सुहागिन चरन मनावहि, खसम आपनो पैवों ।
जन बुल्ला ह्वै खसम की प्यारी, रहसि-रहसि गुन गैवों ।।[3]

आखिर 'बिरहा की रैनि' कट जाती है, मिलन की घड़ियाँ आ जाती हैं, आत्मा उल्लसित हो उठती है, हँसकर गा बजाकर समस्त रसों को मना लेती है, उसका सौभाग्य है कि पिया आज सेज पर 'सूतल' हैं—

जिवन हमार सुफल भो हो, सइयाँ सुतल समीप ।
मन पवना सेजासन हो, तिरबेनी तीर ।
हम धन तहवाँ बिराजल हो, लिहले रघुबीर ।।[4]

मिलन के बाद पिय से होली खेलकर आत्मा प्रीति के अमर रंग में रंग जाती है, आज मन भावन हरि फाग खेलने आए हैं, फागुन के हास विलास में आत्मा भाव-विभोर हो जाती है।[5] इस प्रकार बुल्ला साहिब ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध

---

१. बु० श० सा०, प्रेम, शब्द ५, पृ० ८
२. वही, प्रेम, शब्द ७, पृ० ६
३. वही, प्रेम शब्द ६, १० १३, १४, पृ० ६, १०, ११
४. वही, मिश्रित शब्द १५, पृ० ३०
५. **होरी खेलो रंग भरी, सब सखियन संग लगाई ।**
फागुन आयो मास अनन्द भो, खेलि लहु नर-नारी ।
हौं खेलत फाग सुहावन, हरि आये मन भावन ।
वही, बसंत और होली ४, ६ पृ० १६

जोड़ते हुए उसके लिए पिय, पिया, साँई, जोगी, सइयाँ, खसम तथा आत्मा के लिए अबला; सुहागिन, धन, कुलवन्ती, गोरिया आदि प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—बुल्ला साहिब ने ब्रह्म के लिए निरंकार, राम, साँई, प्रभु, गुपाल, गोबिन्द आदि विविध नामों का प्रयोग तो किया है पर इन सबसे उनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से है जो घट-घट में व्याप्त है, अनन्त रूपों से जग में अभिव्यक्त हो रहा है, उसका वर्णन प्रायः कठिन ही है—

प्रभु निराधार उज्ज्ल, बिन्दु सकल बिराजई।
अनन्त रूप सुरूप तेरो, मो पै बरनि न जावई।[१]
आदि ब्रह्म सदा अविनासी, बासी अगम अपार।
आवै न जाय मरै नहिं जीवै, सदा रहै इक तार।[२]
रूप रेख तहँ बरनि न जासी, निरंकार आपुहिं अबिनासी।[३]

जीवात्मा—उसी ब्रह्म का एक अंश है, उस ब्रह्म का प्रतिबिम्ब आत्मा में उसी प्रकार प्रतिभासित होता है जैसे जल में तारा।[४] अन्तर्दर्शन करने पर वह ब्रह्म वहीं विराजमान मिलता है।[५]

माया—ही समस्त झगड़ों की जड़ है, यही ब्रह्म और आत्मा में द्वैतभाव उत्पन्न करती है, इसलिए बुल्ला साहिब इससे बचने का सर्वत्र उपदेश देते हैं, मिथ्या कह कर उसका तिरस्कार करते है।[६] डाइन[७] के समान यह माया क्षण भर में प्राण हर लेती है, यमदूत के समान 'पलपल छिन-छिन' व्याप्त होती रहती है। हे प्रभु, माया जनित इस बेड़ी को काटकर मेरा उद्धार करो, मैं तुम्हारी शरण हूँ।[८] माया जनित भ्रम के कारण जीव ब्रह्म के एकत्व और सर्वव्यापकत्व को न समझकर बार-बार मरकर चौरासी लाख योनियों में भटकता रहता है।[९] पर ज्ञान का प्रकाश होने पर माया गत अन्धकार नष्ट हो जाता है, ब्रह्म रंग लगने से गोरिया (आत्मा) का अंग-अंग उसी के रंग में रंग जाता है, एक विचित्र आभा अन्तर में भर जाती है, भ्रम न

१. **बु० श० सा०**, गुरु और नाम महिमा, शब्द ४, पृ० २
२. वही, शब्द ८, पृ० ४
३. वही, ब्रह्मज्ञान, शब्द ५, पृ० १२
४. **सो मुझमें मैं वाही माहीं, ज्यों जल मद्धे तारा है।** वही, मिश्रित १८ पृ० ३१
५. **निकटहिं राम नाम अभिअन्तर**···। वही, मिश्रित, शब्द १०, पृ० २९
६. वही, चेतावनी शब्द ५ पृ० ६
७. **यह माया जस डायनी, हरहि लेति है प्रान।** वही, मिश्रित १४, पृ० २९-३०
८. वही, मिश्रित, शब्द १४, पृ० २९-३०
९. वही, ब्रह्म ज्ञान, शब्द ६, पृ० १२

जाने कहाँ भाग जाता हैं, ब्रह्म का रूप नैनन आगे नाचने लगता है—

रंग लागो गोरिया आजु रंग लागो, आपा सोधि भ्रम भागो।
झिलमिल-झिलमिल तिरबेनी संगम, अविगत गति ब्रह्म जागो।

× × ×

छूटी माया तन पाया छाया, ब्रह्म की जोती रे।[१]

संसार—को बुल्ला साहिब ने स्वप्न के प्रतीक से स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार जागने पर स्वप्न का मिथ्यात्व स्पष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान होने पर संसार का मिथ्यात्व एवं असारता स्पष्ट हो जाती है।[२]

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

अपने गुरु यारी साहब के समान बुल्ला साहिब ने हठयोगपरक साधना पर बहुत जोर दिया है। गंगा, जमुना, सरस्वती, बंकनाल, अनहद, शिखर, त्रिकुटी, संगम, गगन मण्डल, पवन, त्रिवेनी, षटचक्र, दशम द्वार, सूर, चन्द, चाचरि, भूचरि, अगोचरि, खेचरि आदि मुद्राएँ, तीन, पाँच, पच्चीस आदि विभिन्न प्रतीकात्मक शब्दों के द्वारा हठयोगपरक साधना का वर्णन किया हैं। यथा—

निसुदिन गगन निरेखो जाय।
तिरकुटी जहँ बसत संगम, गंग जमुन बहाय।[3]
ले कुंभक पूरक घर रखना, रेचक संजम देई।
त्राटक ताड़ी लगलि केवारी, राम नाम जपि लेई।
आगे सुन्न अगम गति लीला, निरखि ध्यान धरि देख।[४]
बूझहु पंडित अचरज एक। सेत बरन तहँ सदा अलेख।
साधि पवने षट चक्र छुडावो। तिरबेनी के घाटे आवो॥
उनमनी मुद्रा लगी समाधि। रवि ससि पवनहिं राखो बाँधी।
चाचरि मुद्रा से प्रीति लगावो। भूचरि मुद्रा से प्रेम बढ़ावो।
अगोचरि मुद्रा से आन भुगावो। खेचरि मुद्रा से दरस दिखावो।
अगम जोति का धारै ध्यान। बुल्ला बोलहि सब्द निदान॥[५]

इसके अतिरिक्त अन्यत्र[६] भी हठयोग परक साधना का वर्णन विस्तार से किया गया है। इन सभी को देखकर बुल्ला साहिब का हठयोग विषयक प्रेम स्पष्ट हो जाता है, योग साधना द्वारा ही उन्होंने परमतत्व की प्राप्त की है।

---

१. बु० श० सा०, प्रेम, शब्द १२, पृ० १०
२. 'यह जग जैसे सुपन है'''। वही, मिश्रित १४, पृ० २६
३. वही, पृ० २-३
४. वही, शब्द ८, पृ० ३
५. वही, भेद, शब्द २, पृ० १४
६. वही, गुरु और नाम महिमा, शब्द २, ४, ६, ७, १०, ११, चेतावनी ३, प्रेम ४, ६, १४, १५, ब्रह्म ज्ञान ३, ४, ९, भेद ८, ९, १०, आरती १, बंसत और होली ४, रेखता १, ३, ४, ६, ७, अरिल २, ३, ४, ७, मिश्रित २, ३, ८, १५

इस प्रकार आपकी बानी में प्रेम की मदमस्त खुमारी दाम्पत्य भाव के प्रतीकात्मक वर्णन में अधिक उभरकर आई है, आत्मा-रूपी वधू हँसते खेलते, बोलते, उसी पिया के ध्यान में मग्न हो सारे संसार से नाता तोड़ लेती है, उसका पिया निर्गुण रूप में सर्वत्र व्याप्त है, ब्रह्मांश आत्मा उससे एकमेव होकर रहना चाहती है पर माया एक अवरण सा बुन देती है, कुछ क्षण के लिए तो आत्मा पर आवरण छा जाता है पर सतगुरु की कृपा से आत्मा स्वरूप को पहचान लेती है, प्रकाश की ज्योति से अन्धकार-माया भाग जाती है, और ज्योति में ज्योति मिल जाती है, बुल्ला साहिब ने इसका बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया है। आप परमभक्त तो हैं ही, उच्चकोटि के साधक भी हैं, हठयोगपरक साधना का विशद वर्णन आपकी बानी में मिलता है, इस साधना का वर्णन करते हुए आपने गंगा, जमुना, सरस्वती, संगम, गगनादि विविध प्रतीकात्मक शब्दों का चयन किया है। आप साधक हैं—बैल हाँकते हुए भी साधना की मधुवंशी निरन्तर आपके अन्तर को झंकृत करती रहती थी, बस उस पिय का ध्यान ही सदैव बना रहता था, पर उस अनिर्वचनीय आनन्द को 'बैनो' से कौन कैसे कहे ?

११. बाबा धरनीदास

(जन्म संवत् १७१३ वि० मृत्यु अज्ञात[१])

'लिखनी नाहिं करौं रे भाई, मोहि राम नाम सुधि आई' कहकर सब कुछ यूँ ही छोड़कर चल देने वाले कायस्थ कुलोद्भव बाबा धरनीदास ऊँची रहनी के सन्त थे जिनमें विरह, वैराग्य, प्रेम, मिलन की लालसा और उल्लास कूट-कूट कर भरा था।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

आपकी विरहिन आत्मा ने उस ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का जो अनन्य नाता जोड़ा है; उसके रस में सराबोर वधू को पिय दरस ही अच्छा लगता है, वह परम रस कुछ है ही ऐसा कि बार-बार पीने पर भी प्यास बुझती नहीं।[२] लेकिन वह पिया ऊँचे पर्वत पर रहता है, चढ़ते समय भय बना रहता है कि कहीं पाँव न फिसल जाय, क्योंकि गहराई इतनी अधिक है कि गिरने पर कुछ पता नहीं लगेगा,[३] पिया के ध्यान में मग्न दुलहिन को आभास होता है कि प्रिय सेज पर ही हैं, पर देखने पर जब उसे नहीं पाती तो कलेजा कसकने लगता है, आँखों में जल बिन्दु ढुलक पड़ते हैं।[४] प्रेम की पूर्णता संयोग में नहीं है वियोग की अग्नि में तपकर ही वह कुन्दन समान निर्मल बनता है, धरनीदास में विरह की भावना का चरमोत्कर्ष दीख पड़ता है। उनकी आत्मा रूपी वधू कन्त दरस बिन बावरी हो गई है, पर माया मोह के झूठे बन्धन में

१. संत सुधा सार, बाबा धरनीदास, पृ० ४०
२. धरनीदास जी की बानी, साखी, विरह और प्रेम, १६, पृ० ५४
३. वही, साखी ११
४. 'ढ़रकत लोचन भरि भरी, पीया नाहिन सेज।' वही, साखी १२

पड़ी मूर्ख दुनियाँ क्या जाने ? प्रेम का जो बिरवा बड़े चाव से लगाया था अब उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ नस-नस में फैल गई हैं, अब न तो दिन को चैन है न रात को निंदिया, अब तो वही मिले तो आनन्द हो सकता है—

भई कंत दरस बिनु बावरी ।
मो तन व्यापै पीर प्रीतम की, मूरख जानै आव री ।।
परसि गयो तरु प्रेम साखा सखि, बिसरि गयो चित चाव री ।

× × ×

देह दसा कछु कहत न आवै, जस जल ओछे नाव री ।
धरनी धनी अजहुँ पिय पाओं, तो सहजै अनंद बधाव री ।।[1]

ओ अल्लाह, मेरे दिलजानी, मैं तुझपर दिलोजान से कुर्बान हूँ, तू तो मेरी हर 'हवस' को पहचानता है फिर दिल दूर क्यों है ? देखो न, तेरे बिना सारा जहान जहर-सा लगता है, मुझे दीदार दो मेरे महबूब, नहीं तो तेरा आशिक दुनियाँ से ही उठ जाएगा—

एक अलाह के मैं कुरबानी । दिल ओझल मेरा दिलजानी ।
तू मेरा साहिब मैं तेरा बन्दा । तू मेरि सभी हवस पहिचन्दा ।।
मैं आसिक महबूब तू दरसा । बैगर तोहि जहान जहर-सा ।।[2]

पिया 'गउर गढ़' रहते हैं और में 'प्राग', मेरा उन पर अनुराग है, मैं उनकी 'लौंडी' बन कर रहूँगी, हे 'समरथ पुरुष' तुम्हारे बिना मेरी कोई गति नहीं है, मेरी आरजू पर ध्यान दो, अन्तर पट खोलकर मुझसे मिलो, मेरे भ्रम की हर ग्रन्थि को खोल दो।[3]

धरनीदास जी ने जहाँ विरहावस्था का मार्मिक चित्रण किया है, वहाँ संयोगावस्था का भी अतिरंजित वर्णन किया है एक लम्बे विरह के बाद जब व्याकुलात्मा प्रिय से मिलती है तो मानों जीवन-भर की निधि मिल जाती है, वह नख शिख लौं सहज सिंगार करती है, आज सुहागिन स्त्री के पिया आ रहे हैं, जिसके बिना सारा जीवन अकारथ जा रहा था—

बहुत दिनन पिय बसल बिदेसा । आजु सुनल निज श्रवन सन्देशा ।
चित चितसरिया मैं लिहलौं लिखाई । हृदय कमल धइलौं दियना लेसाई ।
धरनीं धनि पलपल अकुलाई । बिनु पिया जिवन अकारथ जाई ।।[4]
जब मेरौ यार मिलै दिलजानी । होई लवलीन करौं मेहमानी ।।[5]

---

१. ध० बा, शब्द १, पृ० १४
२. वही, शब्द ३, पृ० १८-१६
३. वही, फुटकर शब्द ३, पृ० २
४. वही, फुटकर शब्द २, पृ० १-२
५. वही, शब्द, राग टोडी, पृ० २२

इस प्रकार धनी धरमदास जी ने प्रभु से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते हुए ब्रह्म को पिया, साजन, महबूब, अलाह, दिलजानी आदि प्रेमपरक प्रतीकों से और आत्मा को धनि, नारी, आसिक, लौंडिया (चेरी) त्रिया आदि प्रतीकों से चित्रित किया है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—अद्वैतवादी विचारधारा से प्रभावित अन्य सन्तों के समान बाबा धरनीदास ने भी ब्रह्म की एक सत्ता में विश्वास प्रकट किया है, वही ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है, वही सत्य है, स्थिर और शाश्वत है, अन्तर्यामी होकर घट-घट में व्याप्त है—

रहत निरंतर अन्तरजामी, सब घट सहज समाया।[1]
'ठाकुर एक सिरजन हारा'[2]**···दिलहि में दोस्त है···।'**[3]

जीवात्मा—वही एक ब्रह्म सब घट-घट में विद्यमान है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है जिस प्रकार एक बीज के वृक्ष के फलों में वही बीज मूल में विद्यमान है या सागर की अनेक लहरें मूलरूप से एक ही तत्व का रूप हैं, इस प्रकार अंशी अंश के भाव से वह ब्रह्म समस्त पशु पंछी, नर, कीट पतंगों में विद्यमान है। बाबा धरनीदास कहते हैं—

एकै बीज बृच्छ होए आया। खोजत काहु अंत नहिं पाया।
देखो निरखि परखि सब कोई। सब फल माहिं बीज एक होई।
एकै ब्रह्म सकल घट बासा। सागर एक अनेक हिलोरा।
तत्तु निरंजन सबके संगा, पसु पंछी नर कीट पतंगा।।[4]

माया—आत्मा परमात्मा का अंश अंशी भाव का सम्बन्ध है पर माया के आवरण से कारण आत्मा स्वरूप को नहीं पहचान पाती, ब्रह्म की ही यही माया (अविद्या माया) सारे संसार को अपने वश में किए रहती है, माया का प्रसार सर्वत्र है, काम क्रोधादि की फौज के साथ उसके आक्रमण को कोई रोक नहीं पाता,[5] माया के कारण ही जीव भ्रम की कीचड़ में लिपटा रहता है,[6] वह तीर्थ, व्रतादि बाह्याडम्बरों में पड़ा जीवन व्यतीत कर देता है[7] वह माया मोह के जाल[8] में फंसकर इन्द्रियों के स्वाद[9] को ही जीवन समझ लेता है, लेकिन ज्ञान का बान लगते ही मानो

१. ध० बा०, शब्द ३, पृ० २६
२. वही, ३/२३ पृ० ४१
३. वही, **अलिफनामा**, पृ० ४६
४. वही, बोध लीला, पृ० ५२
५. वही, चितावनी, गर्भ लीला, पृ० ८
६. वही, शब्द ७, पृ० २०
७. वही, शब्द ४, पृ० २३
८. वही, ककहरा २/२५ पृ० ३८
९. वही, ककहरा ३/१६ पृ० ४१

वह सोते से जाग जाता है, समस्त विषय विष बन्धन को छोड़ प्रभु भक्ति का प्रेम सुधारस पान करने लगता है।[१] माया के बन्धन से छूटने के लिए तत्व ज्ञान का होना परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना कुमति और भ्रम के मजबूत किवाड़ टूटते ही नहीं और उसकी दया भी नहीं होती।[२] धरनीदास कहते हैं कि परम ज्ञान होने पर जब आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेती है तो ब्रह्म से मिलकर कह उठती है 'एक धनी धन मोरा हो,'[३] उसे वह खसम जिसे वह अभी तक अपने से दूर समझे बैठा था मन मन्दिर में ही बैठा हुआ मिल जाता है,[४] उस मिलन का जो अमल चढ़ता है वह फिर कभी उतरता नहीं।[५]

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

धरनीदास प्रमुख रूप से भक्त हैं, प्रभु विरह में उनकी आत्मा निशदिन मीन के समान तड़पती रहती है पर भक्ति के साथ-साथ साधना के महत्व को भी वे स्वीकार करते हैं। यौगिक प्रक्रिया से मन की वासनाओं को समाप्त कर वायु को साध कर प्रभु की निकटता प्राप्त की जा सकती है। इसी उद्देश्य से आपकी बानी में हठयोगपरक शब्दों (इडा, पिंगला, सुषुम्ना, अनाहद, सुन्नसिखर, गगन गुफा, श्वास की उर्ध्व-अध: गति, त्रिकुटी, दस द्वार, विभिन्न चक्रादि) का प्रतीकात्मक प्रयोग मिलता है। यथा—

नव नारिन को द्वारा निरखो, सहज सुखमना नारी।
तिरबेनी एक संगहिं संगम, सुन्न सिखर कहँ धाव रे ॥
इक पिंगल बिच्च अंतरे, तहँ प्रेम धुनि ओंकार।
ज्ञान अंकुस देइ के गज राखु त्रिकुटी पास।[६]
तीया तीन त्रिवेनी संगम, सो बिरले जन जाना।
इंगला पिंगला सुखमन सोधै, गगन मंडल मठ छावै।
छठवें छवो चक्र को बेंधे, सुन्न भवन मन लावै ॥
बिगसत कमल काया करि परिचै तब चन्दा दरसावै।
नवें नवो दुवारहिं निरखै, जगमग-जगमग जोती।
दामिनि दमकै अमृत बरसै, निझर झरै मनि मोती।[७]

---

१. **ज्ञान को बान लगो धरनी, जन सौंवन चौंकि अचानक जागे।**
छूटि गयो विषया विष बंधन, पूरन प्रेम सुधा रस पागे ॥ ध०बा०, पृ० ३३
२. **जौं लौं मन तत्तुहिं नहिं पकरै।**
तौ लौं कुमति किवार न टूटै, दया नाहिं उघरै ॥ वही, पृ० २३
३. वही शब्द ९, पृ० २१
४. वही, शब्द ५, पृ० १९
५. वही, शब्द ३, पृ० १५
६. वही, ककहरा १, २, पृ० ३४, ३५, ३६, ३७
७. वही, पहाड़ा पृ० ४७

अन्त में हम कह सकते हैं बाबा धरनीदास ने लिखत पढ़त छोड़कर जिस राम नाम से प्रीति लगाई है उसके रस में वे आकण्ठ निमग्न हैं। विरह की भावना में सूफियों की सी मस्ती मिली हुई है, आत्मा परमात्मा के विवेचन में परम्परा से प्राप्त जनजीवन में घुली मिली दार्शनिकता मुखर हो उठी है। माया को आपने अन्य सन्तों के समान घृणित रूप में ही चित्रित किया है, वही आत्मा परमात्मा में द्वैत पैदा करती है, वह वास्तविकता से दूर भ्रमवश जेवड़ी को सर्प, सीप को चाँदी समझ बैठता है, स्वान के समान कांच मन्दिर में अपने स्वरूप को ही भूल कर भूँस-भूँसकर मर जाता है, मृग तृष्णा में पड़कर पश्चाताप करता रहता है,[1] पर ज्ञान के उदय होने पर इन भ्रमों का नाश हो जाता है, माया के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं। संतों का उद्देश्य असत् से सत् की ओर, अविद्या से विद्या और मृत्यु से अमृत की ओर रहता है, धरनीदास जी ने इसी हेतु पग-पग पर ईश्वराधन का उपदेश दिया है। आपने हठयोग साधना के द्वारा मन को संयमित किया है। भक्ति के साथ योग का भी तिल तन्दुल मिश्रण आपकी वाणी में हुआ है पर हठयोग की शुष्क और नीरस साधना में भी आपकी प्रेम रस धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही है।

१२. दूलनदास जी

(जन्म संवत् १७१७ वि०, चोला त्याग सं० १८३५)

जगजीवन साहब के अनन्य शिष्य दूलनदास उच्चकोटि के सन्त थे। 'नाम' के बहुत बड़े प्रेमी थे, दो अक्षर का नाम ही सब कुछ है बाकी सभी झमेला है। नाम के महत्व को स्पष्ट करते हुए आपने सगुण भक्त कवियों के समान बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में गाया है कि नाम के प्रताप से ही गज, गीध, शबरी, अजामिल आदि का ही उद्धार हुआ है। आप मीरा की विषपान कथा, द्रोपदी की चीरहरण आदि लीलाओं को गाते नहीं थकते, राम नाम ही अमृत है, पर आश्चर्य है संसार न जाने क्यों अमृत को छोड़ मोह रूपी विषपान कर रहा है।[2]

राम ही सब कुछ हैं, उन्होंने जन्म दिया है, वे ही पालनहार हैं, उसी राम के नाम की ओर नर तू 'लव' लगाए रख।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

दूलनदास भक्त हैं, ब्रह्म से आपने दास्य एवं दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध स्थापित किए हैं। रामभक्त हनुमान सेवकों के आदर्श हैं। दास्य के आदर्श प्रतीक हनुमान जी का आपने इन शब्दों में गुणगान किया है।

सुमिरों मैं रामदूत हनुमान।

× × ×

दूलनदास के परम हितु तुम पवन तनय बलवान।[3]

---

१. ध० बा०, बोध लीला, पृ० ५२

२. **अछत नाम पियूष परसहिं, मोह माहुर पीया।** संत सुधा सार, पृ० ७७

३. **दूलनदास जी की बानी**, फुटकल ५, पृ० २५

भाव से भक्ति करते हुए आप में सगुण भक्तों जैसी दीनता और निरीहता व्याप्त ई है, उन्हें गरीब निवास साईं के ही चरणों की आशा है, भक्त को और कुछ हीं चाहिए।'[1] हे दयाल मुझ 'दास' को अपना लो,[2] मैं तो हर प्रकार से ायक' हूँ, 'कूकुर' और 'नीच' हूँ जो अपनी प्रकृति नहीं बदल सकता।[3]

दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते हुए दूलनदास की आत्मा रूपी वधू 'साई की ाया' देख आई है।[4] मन में एक अटूट विश्वास संजोए राम नाम की जो निरन्तर ान में समा गई है उसने प्रेम का दीपक प्रज्ज्वलित कर समस्त अज्ञानान्धकार र कर दिया हैं,[5] पर विरह की भीषण ज्वाला धधका दी, साईं के दर्शन के लिए वैरागी हो गए हैं, आँसुओं की झड़ी लग गई है, न जाने कौन सा सौभाग्यशाली होगा जिस दिन प्रभु मिलेंगे—

साईं तेरे कारन नैना भये बैरागी।
तेरा सत दरसन चहों कछु और न मांगी।
निस बासर तेरे नाम की अन्तर धुनि जागी।
× × ×
मदमाते राते मनौं, राधे बिरह आगी।
मिलु प्रभु दूलनदास के करु परम सुभागी।[6]

म की जंजीर से कुछ इस प्रकार बंध गया है कि बार-बार रोकने पर भी नैना के पास चले जाना चाहते हैं ये बावरे मानते ही नहीं, बार-बार नीर भर लाते । मतवाले इन नैनों का 'इश्क' कुछ इस प्रकार है, लगन इतनी गम्भीर है कि ा-भर की दौलत छोड़कर उनके दिवाने हो गए हैं, प्रेम की यह पीर भी बड़ी ो है,[7] विरह का यह रंग बड़ा मतवाला है, इसकी तपती भट्टी में आज मैं कुमति ड़ा करकट जला दूँगी, प्रेम रस का अमृत चुवाकर 'पिउ' से एकमेव हो जाऊँगी।[8] न में निरन्तर एक 'अंदेसवा' बना रहा है, न जाने पिया से मिलन कब होगा ? ऐसा न हो कि दीपक का तेल ही चुक जाए, सब लोग 'लै चलु लै चलु' न लगें, अरे ओ सन्तो, उस पिया के देश चलो, उस पिया के मिलने पर ही जीवन

दू० बा०, विनय को अंग १, पृ० १२
वही, शब्द ४, पृ० १३-१४
तुम कृपाल मैं कृपा अलायक, समुझि निव जतेहु साई
कुकुर धोये होइ न बाछा, तजै न नीच निचाई। वही, शब्द ८, पृ० १५
वही, भेद का अंग, शब्द २, पृ० ६
वही, उपदेश का अंग, दोहा पृ० ७
वही, विनय को अंग ३, पृ० १३
वही, प्रेम का अंग ३, पृ० १७
वही, शब्द ८, पृ० १९

स्थिर रह सकता है अन्यथा मुश्किल पड़ेगी—

पिया मिलन कब होइ, अंदेसवा लागि रही।
जब लग तेल दिया में बाती, सूझ पड़ै सब कोइ।
जरिगा तेल निपटि गइ बाती, लै चलु लै चलु होइ ॥
सब संतन मिलि इक मत कीजै, चलिये पिय के देस।
पिया मिलैं तो बड़े भाग से, नहिं तो कठिन कलेस ॥[१]

इस प्रकार ब्रह्म से दास्य एवं दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध स्थापित करते हुए दूलनदास ने साईं, पिया, पिउ, खाविन्द आदि प्रतीकों से ब्रह्म का और दुलहिन, बिरहिन, सुहागिन आदि प्रतीकों से आत्मा का चित्रण किया है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—दूलनदास ने ब्रह्म का निर्गुणात्मक तथा सगुणात्मक दोनों ही रूपों में चित्रण किया है। उन्होंने राम, कृष्ण, जगदीश, दशरथनन्द,[३] हनुमान, शिव आदि के द्वारा जहाँ ब्रह्म के सगुण[४] रूप के प्रति निष्ठा व्यक्त की है वहाँ रामादि का निर्गुण अर्थ में भी प्रयोग किया है। अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार ब्रह्म को एक, सर्व-व्यापक, घट-घट वासी के रूप में चित्रित किया है, वही ब्रह्म आत्मा में अभिन्न रूप से निवास करता है।[५]

जीवात्मा—साईं रूपी सरोवर में आत्मा रूपी सखियाँ निवास करती हैं, पर आत्मा स्वरूप को न पहिचान कर उस ब्रह्मानन्द (जल) का अनुभव नहीं कर पाती, इसी कारण 'पियास' का अनुभव करती है, पर बोध हो जाने पर उसके हुलास को नैनन से पी जाती है।[६]

माया—दूलनदास ने माया को ब्रह्म की ही एक शक्ति माना है जो संसार को अनेक विधि नाच नचाती है, उसी के प्रभाव से आत्मा ब्रह्म का स्मरण नहीं कर पाती, अनेक जन्म जन्मान्तर यह माया भरमाती रहती है। हे प्रभु कृपा करो, इस माया के जंजाल से मेरी रक्षा करो—

राम तोरी माया नाच नचावै।
दूलनदास के गुरु दयाल तुम, किरपहिं तें बनि आवै।[७]

---

१. दू० बा०, प्रेम का अंग ५, पृ० १८
२. वही, झूलना १, पृ० २२
३. वही, झूलना ३, पृ० २३
४. वही, नाम महिमा ६, पृ० ३
५. **साहिब जलथल घट-घट व्यापत, धरती पवन अकास हो।** वही, शब्द १, पृ० २४
६. **सखिया इक पैठी जल भीतर, रटत पियास-पियास हो।**
मुख नहिं पियैं चिरुआ नहिं पीयै, नैनन पियत हुलास हो ॥
साईं सरवर साईं जगजीवन चरनन दूलनदास हो ॥ वही, पृ० २४
७. वही, विनय का अंग १०, पृ० १६

संसार—संसार को दूलनदास ने 'अन्धकूप'[1] कहा है ।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (हठयोग)

दूलनदास जी प्रमुख रूप से भक्त हैं, राम नाम का स्थान-स्थान पर प्रेम से वर्णन किया है, पर मन को स्थिर करने के लिए हठयोग के महत्व को भी स्वीकार किया है । अतः राम नाम के साथ-साथ आपने हठयोग परक शब्दों का भी यत्र-तत्र प्रतीकात्मक प्रयोग किया है—

त्रिकुटी तिरथ प्रेम जल पूरन, तहाँ सुरत अन्हवाउ रे ।
दूलनदास सनेह डोरि गहि, सुरति चरन लपटाऊँ रे ।[2]

दुर्मति का मैल दूर करने के लिए जिसने त्रिकुटी के तीर्थ में प्रेम जल से निर्मल होकर सुरत को नहीं अन्हवाया'[3] उसका जग में आना ही व्यर्थ है । साधना द्वारा ही साधक अपने महल में सुखमन पलंग पर सहज बिछौना बिछाकर सुखपूर्वक सो सकता है ।[4]

प्रमुख रूप से दूलनदास भक्त कवि हैं, नाम ही उनका एकमात्र आधार है, फिर भी प्रतीकात्मक दृष्टि से आपने ब्रह्म, आत्मा का निरूपण किया है । शरीर के चरखे पर प्रेम की 'पिउनी' से उन्होंने जो निर्मल सूत काता है उसे जुलाहा ने अपने हाथ से मल मलकर धोया है जिससे सारे मैल छूट हैं—

सुरत बौरी कातै निरमल ताग ।
तन का चरखा नाम का टेकुआ, प्रेम की पिउनी करि अनुराग ।
सतगुरु धोबी अलख जुलाहा, मलि-मलि धौवैं करम के दाग ।।[5]

ब्रह्म का निरुपण करते समय आपने उसके निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों को स्वीकार किया है, वास्तव में भक्त को तो नाम से काम है, चाहे वह सगुण हो या निर्गुण । इसीलिए उन्होंने राम को निर्गणवादियों के समान प्रयोग करते हुए भी उसे दशरथ-नन्द कहा है ; हनुमान, शिव, कृष्ण आदि इसी सगुण परम्परा के विभिन्न रूप हैं । आत्मा ब्रह्मांश ही है, वही ब्रह्म उसके पास है, पर जब तक उसे पहचानने की सूक्ष्म दृष्टि न हो, आत्मा प्यासी ही बनी रहती है । दूलनदास ने माया को ईश्वर की ही एक शक्ति माना है, वही जीवात्मा को नाना विध नाच नचाती है । पर यह अविद्या माया ब्रह्म ज्ञान से समूल नष्ट हो जाती है, एतदर्थ आपने राम से सविनय

---

१. **अन्ध कूप संसार तें, सूरत आनहु फेरि ।** दू० बा०, साखी २० पृ० २६

२. वही, नाम महिमा २, पृ० १

३. वही, चितावनी २ पृ० ७

४. **चलो चढ़ो मन यार महल अपने ।**
सुखमन पलंगा सहज बिछौना, सुख सोवो को करै मने ।
वही, उपदेश को अंग ४, पृ० ८

५. वही, फुटकल ३, पृ० २४

प्रार्थना भी की है। हठयोग परक साधना को दुर्मति दूर करने का साधन माना है। जब तक मन मलिन है, प्रभु का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्ट नहीं उभरता। साधक प्रभु के प्रेम जल से मन की समस्त मैल धो देता है। आपने हठयोग को साधन मात्र ही माना है साध्य तो राम नाम ही है। इसीलिए हठयोग का यत्र-तत्र ही वर्णन है। आप भक्त हैं, आवेश और स्वानुभूति की अभिव्यंजना में प्रतीकात्मकता स्थान-स्थान पर सहज रूप से उभर कर आई है।

१३. यारी साहब
(जन्म सं० १७२५ वि० मृत्यु : १७८० वि०)

बीरू साहब के प्रमुख शिष्य यारी साहब का जन्म अनुमानतः सं० १७२५ वि० और मृत्यु सं० १७८० वि० माना जाता है। आप दिल्ली निवासी थे, वैसे आपके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष पता नहीं चलता। जाति के मुसलमान थे, पर भला सन्तों की क्या जाति? प्रभु के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देने के बाद अपना कुछ भी शेष नहीं रह जाता। यारी साहब ने अनन्य भाव से ब्रह्म से ही सम्बन्ध स्थापित किया है। हरि चरणों की प्रीति ही कुछ ऐसी है, ज्यों-ज्यों प्रीति बढ़ती जाती है, काम क्रोधादि विकार दूर होते जाते हैं, मायावरण हटता जाता है, विरहाग्नि में सब कुछ अवाच्छनीय भस्म हो जाता है और प्रियतम की आभा झिलमिल-झिलमिल करती झलक उठती है।[1]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

यारी साहब ने आत्मा को वधू और ब्रह्म को पति का प्रतीक मानकर बड़ी ही सरस उक्तियों से अपने काव्य का शृंगार किया है। आत्मा का अपने प्रिय से परिचय हो गया है, परिचय घनिष्ठ प्रेम में परिणत होता जाता है, प्रिय की प्यारी वह 'पतिबरता' चन्द का तिलक करती है, शब्द सेंदुर से अपनी मांग संवारती है, आत्म स्वरूप को निहारती हुई पिया के तेज पुंज से स्वयं को भी प्रकाशित कर लेती है—

चंद तिलक दिये सुन्दरि नारी। सोइ पतिबरता पियहिं पियारी।
शब्द सेंदुर दै माँग सँवारी। बेंदी अचल टरत नहिं टारी।
अपन रूप जब आपु निहारी। यारी तेज पुंज उजियारा।।[2]

आत्मा जिस रूप का अन्तर में दर्शन करती है, सृष्टि के कण-कण में भी उसी का 'पसारा' देखती है, उसी ज्योति के झलमल नूर को व्याप्त देखती है—

हमारे एक अलह पिय प्यारा है।
घट-घट नूर मुहम्मद साहब, जाका सकल पसारा है।
झिलमिल-झिलमिल बरखै नूरा नूर जहूर सदा भरपूरा।[3]

---

१. यारी साहब की रत्नावली, शब्द ३, पृ० १
२. वही, शब्द १४, पृ० ४

मुग्धा 'पतिबरता' ने जब से पिय की छवि देखी है 'बौरी' सी हो गई है, रूप की 'ठगौरी' पड़ गई है, रसना रात-दिन बस एक ही नाम रट रही है, नैन एक ही 'ठौर' पर स्थिर हो गए हैं,[१] विरहिन आत्मा पल-पल उसके आने की बाट जोहती है, मन-मन्दिर में प्राण ज्योति जगाकर जिस पिया की राह देखते-देखते नैन व्याकुल हो गए हैं, बहुत दिनों बाद वे ही निष्ठुर पिया आज आए हैं, सुहागिन दिव्य शृंगार करती है, 'चौमुख दियना बारि' पिय मिलबो को उठि चली,[२] उत्साहित हो वह सखी सहेलियों को मंगल गान का आग्रह करती है, उसका चिर प्रतीक्षित 'यार' आया है—

बिरहिन मन्दिर दियना बार।
बिन बारी बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उजियार ॥
प्रान पिया मेरे गृह आयो, रचि पचि सेज सँवार ॥
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निर्गुण निरकार।
गावहु री मिलि आनन्द मंगल, यारी मिलि के यार ॥[३]

ऐसे मधुर क्षणों में आत्मा पिय के साथ होली[४] खेलकर अपने जीवन को सार्थक करती हुई उसी के प्रेम रंग में रंग कर तदाकार हो जाती है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—यारी साहब ने अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म को एक माना है, वही ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अविनाशी और अविगत है।[५] पिण्ड और ब्रह्माण्ड में वही अकेला सत पुरुष है, उसका न आदि है न मध्य है और न अन्त है। वही एक अनेक में प्रतिभाषित है।[६] जीवात्मा का यारी साहब ने ब्रह्मांश के रूप में वर्णन किया है, ब्रह्माण्ड में जो परमतत्व व्याप्त है पिण्डाण्ड में भी वही समानरूप से विद्यमान है।[७]

जीवात्मा—आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध यारी साहब के अनुसार जल और तरंग, स्वर्ण-आभूषण का है। जैसे जल से उत्पन्न तरंग पुनः जल में ही समा जाती है, तरंग और जल एक ही तत्व के दो रूप हैं; स्वर्ण निर्मित आभूषण में जिस प्रकार बाहर भीतर स्वर्ण ही स्वर्ण रहता है, पिण्डाण्ड में स्थित होने से स्वर्ण

---

१. या० र०, शब्द २, पृ० १
२. वही, साखी ८, पृ० १७
३. वही, शब्द १, पृ० १
४. 'हौं तो खेलौं पिया संग होरी।' वही, शब्द २, पृ० १
५. एक अविनासी देव···सो सब ठोर रहा भरपूर। वही, अलिफनामा २, ५
६. ···पिण्ड ब्रह्मांड के बाहर मेला···आदि न अन्त मध्य नहिं तीरा। वही, पृ० ६
जोति सरूपी आतमा, घट-घट रहो समाय। वही, साखी १, पृ० १७
एक कहो सो अनेक हैं दीसत, एक अनेक हैं धरे है सरीरा। वही, पृ० १३
७. 'जामें हम सोई हम माहीं।' वही, शब्द १८, पृ० ५

आभूषरा है, गलाने पर पुनः वह स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा है, ब्रह्म ही अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है—

जैसे कुम्भ नीर बिच भरिया। बाहर भीतर खालिक दरिया।[1]
भूषन ताहि गंवाइ के देखू, कंचन अैन को अैन धरो है॥[2]
गहने के गढ़े तैं कहीं सोनो भी जातु है,
सोनो बीच गहनो और गहनो बीच सोन है॥[3]

शरीर बद्ध होने पर ही आत्मा जीव कहलाता है, मरणशील शरीर में आत्मा अमर है, शरीर का बन्धन टूटते ही आभूषण रूपी आत्मा पुनः स्वर्ण रूपी ब्रह्म में समाहित हो जाती है।

माया—ब्रह्म और आत्मा में अंशी अंश भाव का सम्बन्ध होते हुए भी उसमें पार्थक्य की भावना यारी साहब के अनुसार माया जनित भ्रम के कारण उत्पन्न हो जाती है। माया शवलित जीव ब्रह्म के सम्पूर्ण रूप को नहीं देख पाता, भ्रम और अहंकार वश वह अधूरे ज्ञान को ही सब कुछ मान बैठता है, आत्मा माया के प्रभाव से अपने वास्तविक स्वरूप को भी पहचानना भूल जाती है, इस स्थिति को यारी साहब ने अन्धे के हाथी (प्रतीक) द्वारा स्पष्ट किया है—

आँधरे को हाथी हरि हाथ जाको जैसो आयो,
बूझो जिन जैसो तिन तैसोई बतायो है॥

× × ×

आपनो सरूप रूप आपु माँहि देखै नाँहि।[4]

अन्य सन्तों के समान यारी साहब ने भी माया (अविद्या माया) को अवाच्छनीय माना है, ब्रह्म-आत्मा मिलन में बाधा उपस्थित करने वाली इस माया का नाश ज्ञान के प्रकाश से ही किया जा सकता है, ज्ञान उत्पन्न होने पर मायावरण हट जाने पर पुनः अनेकत्व में एकत्व स्थापित हो जाता है; पर इसके लिए गुरु चरणों की रज को दोनों नैनों में अंजन रूप में लगाना आवश्यक है—

गुरु के चरन की रज लै के, दोउ नैन के बीच अंजन दीया।
तिमिर मेटि उजियार हुआ, निरंकार पिया को देखि लीया॥[5]

संसार की उत्पत्ति और स्थिति ब्रह्म (ओंकार) से मानते हुए यारी साहब कहते हैं—

यारी आदि ओंकार जासों यह भयो संसार।[6]

---

१. या० र० शब्द १८, पृ० ६
२. वही, कवित्त ८, पृ० १३
३. वही, कवित्त ९
४. वही, कवित्त ३, पृ० १२
५. वही, झूलना ७, पृ० १५
६. वही, कवित्त १, पृ० ११

ाधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (हठयोग)

भक्त होने के साथ-साथ यारी साहब उच्चकोटि के साधक भी थे। हठयोग-त्क साधना का जितना विस्तृत प्रतीकात्मक वर्णन आपने किया है उतना कबीर के ातिरिक्त कम ही सन्तों में देखने को मिलता है। आपका अलिफनामा[1] तो साधना र्ग की कठिनाइयों और उन पर विजय प्राप्ति के उपायों पर बड़े विस्तार से प्रकाश लता, है हठयोगपरक शब्दों—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, विभिन्न चक्र, प्राण, ान, व्यान, समान, उदान-पंच प्राण, त्रिकुटी, अनाहद, सुन्न महल, भंवर गुफा, न, भूचरी, खेचरी मुद्रा आदि का प्रतीकात्मक वर्णन सविस्तार किया गया है—

आंखि कान नाक मुँह मूँदि के निहार देखु,
सुन्न में जोति याही परगट गुरु ज्ञान है।
त्रिकुटी में चित्त देई ध्यान धरि देखु तहाँ,
दामिनि दमकै चाचरी मुद्रा को अस्थान है।।
भूचरी मुद्रा सोहाग जागै मस्तक,
भाग पायो सकल निरंतर की खान है।
गगन गुफा में पैठि अधर आसन बैठि,
खेचरी मुद्रा अकास फूलै निर्बान है।।[2]
गगन गुफा में बैठि के रे, अजपा जपै बिन जीभि सेती।
त्रिकुटी संगम जोति है रे, तहँ देख लैवै गुरु ज्ञान सेती।
सुन्न गुफा में ध्यान धरै, अनहद सुनै बिन कान सेती।[3]
बाजत अनहद बांसुरी, तिरबेनी के तीर।[4]

अतिरिक्त अन्यत्र[5] भी हठयोगपरक शब्दों का प्रतीकात्मक चित्रण देखने को ा है।

य प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

बाँबी उलटि सर्प को खाई। ससि में मीन नहाई।[6]
बामी उलटि सर्प को खाय। मंत्री दीखै सहज समाय।[7]

ा० र०, पृ० ७-११
वही, कवित्त ५, पृ० १२
ही, झूलना १४, पृ० १६
हीं, साखी ४, ६, पृ० १७
ही, शब्द १, ७, ६, १०, ११, १२, १५, १७, १८, २१; अलिफनामा सम्पूर्ण,
कहरा फारसी का झूलना ५, ६, १५
ही, शब्द १०, पृ० ३
ही, अलिफनामा १७, पृ० ८

बिनु करताल पखावज बाजै, अगम पंथ चढ़ि गाजी।
रूप बिहीन सीस बिनु गावै, बिन चरनन गति साजी।।[1]
जमीं बरखै आसमान भीजै, बिन बातिहिं तेल जलाइये जी।
फूल बिना जदि फल होवै, तदि हीर की लज्जत पाइये जी।।
चाँद बिना जहँ चाँदनी रे दीपक बिना जगमग जोती।
गगन बिना दामिनी देखो, सीप बिना सागर मोती।
अनगउवा का दूध यारी बद, बांझ के पूत कै जाति गोती।।[2]

निष्कर्ष--प्रतीकात्मक दृष्टि से विवेचन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि आप अत्यन्त उच्चकोटि के सन्त, भक्त और साधक हैं। वैदिक साहित्य में जिस वृक्ष प्रतीक का व्यापक प्रयोग मिलता है यारी साहब ने उस अद्भुत वृक्ष को लगाते समय अनुभव किया कि उस लोक में डार, पात, मूलादि से रहित ऐसा बाग है जो बिना सींचे ही सहज रूप में फूल रहा है, बिना 'डाडी' के खिले फूल की मादक सुगन्ध में भँवरा (जीव) भूल बैठा है।[3] अद्वैतवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव आपकी बानी में देखने को मिलता है। ब्रह्म एक है, आत्मा ब्रह्मांश है, जल में तरंग और आभूषण में कंचन के समान वह सब में व्याप्त है। माया आत्मा-परमात्मा के बीच भेद उत्पन्न करती है, पर ज्ञान उत्पन्न होने पर दोनों का पुनः मिलन हो जाता है। आत्मा और परमात्मा के चित्रण में आपने अद्वैतवाद के विवर्तवाद सिद्धान्त को अपनाया है। साधक के रूप में आपने हठयोग का विशद प्रतीकात्मक चित्रण किया है, इस साधना में आपकी वृत्ति पूरी तरह रमी हुई प्रतीत होती है। उलटबाँसियों का चित्रण आपने किया है पर अपेक्षाकृत कम। ये उलटबाँसियाँ भी हठयोगपरक साधना को ही व्यक्त करती हैं।

एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि यारी साहब की व्याकुल आत्मा अपने पिय समागम को आतुर है, कण-कण में व्याप्त पिय की आभा को मन-मन्दिर में धारण कर प्रकाशित करती है, तथा साधना के दुर्गमपथ से चलकर एकमेव 'राम' में रमण करती हुई अचल और अमर हो जाती है।

१४. जगजीवन साहेब

(जन्म १७२७ वि०, मृत्यु १८१८ वि०)

बुल्ला साहब के अनन्य शिष्य 'जगजीवन साहेब पूरे सन्त थे। जिनकी ऊँची गति उनकी बानी पुकारती है। सम्पूर्ण बानी रत्न जड़ित है जिसके अंग-अंग से भेद, दीनता, और प्रेम टपकता है और पाठ करने से चित्त गद्गद् होकर प्रेम के घाट पर

१. या० र०, शब्द १२, पृ० ४
२. वही, झूलना ११, १३, पृ० १५-१६
३. वही, झूलना ९, पृ० १५

साधनात्मक रहस्यपरक पानि ेम के अजस्र प्रवाह में प्रतीकात्मकता की अन्त:

जगजीवन साहेब प्र
को आपने बिना हरि भक्ति द्वारा प्रयुक्त 'सहज' का आपने विभिन्न अर्थों में
हठयोगपरक शब्दावली का

> **अष्ट कमल दल** ज रीति तें, हर्ष सोक नहिं होई ।
> **त्रिकुटी मध्य** अपने, भक्ति मारग सोई ।
> **मणि समान दीपक** भजि रहिये ।
> **मन तुम करहु ग** पूरा ते सर बाँधेऊँ ।
> **मार आसन बैं** मन माँहि···
> **मन का मैल लेइ** सब भानु ।[2]
> **अनहद ताल पखा**

यहाँ अष्ट कमल, राजा = जीव
गंगा, यमुना, सरस्वती, इडा, पि ात्य सम्बन्ध है, इस अनन्यता को स्पष्ट करने के
आदि सभी हठयोग परक शब्द र योजना आपकी बानी में बन पड़ी है। जगजीवन

निष्कर्ष—इस प्रकार ी, जोगिया, प्यारे, हरि, धनी, साईं, निर्गुन नाह,
प्रवाह के साथ-साथ प्रतीकात्म रहिन, जोगिनि, अहिबाती = सोहागिन आदि
प्रतीक सप्रयास नहीं हैं वरन् स हिन आत्मा पिय के ध्यान में ही डूबी रहती है,
मिलते चले हैं, सन्त कवि चि -दिन नींद नहीं आती, पागल-सी इधर-उधर
होकर नहीं चला है। प्रतीक च ारण कर लेती है पर इस विरह का कोई अन्त
रूप में ही पाई जाती है। जगजीवन साहेब की बानी में खूब उभर कर

१५. दरि

(जन्म संवत् १७३१ वि

> **जारयों, उनहिं दरद नहिं लागी ।**
> **ो है, रहत एक टक लागी ।**[3]

ऊँची रहनी की सन्त क **त है, अस मैं तलफि सुखानि रे ।**
अथाह सागर हैं, जिसमें एक से **बौरानी फिरौं दिवानी ।**
परम्परागत प्रतीक— **, सुधि बिसरी मोरी सुरति हरी ।**

वैदिक साहित्य में बहुच **, जहँ ससुरवा परि है जानि ।।**
कहा है जिसके नीचे बैठने से सां **इ, बिनु पिया भैंट रहा नहिं जाइ ।**
लगे अमृत फल को चखने से जीव **बिनु, घर आंगन न सुहाई ।**
सुगन्ध से अपनी जीवन रूपी सेज **या, सूतहि हियरा जुड़ाई ।**[4]

> **अछै ब्रीच्छ तर**
> **अम्रित फल मुख**

---

१. ज० बा०, चेतावनी ६५/७४ १, जीवन चरित्र, पृ० २
निषेध २९/११८ ८, ५०, ५८, मंगल २, बसंत ३
२. सन्त सुधा सार द्वितीय खण्ड, अंग ५/२
द ७, १० १५, २४, २९

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—जगजीवन साहेब ने अद्वैतवादी सिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्म में निराकार रूप की उपासना करते हुए उसे एक ही माना है,[1] वही घट-घट में व्याप्त है ।[2]

जीवात्मा—आत्मा का उससे बूँद-समुद्र,[3] और पय-घृत[4] का सम्बन्ध है । उसी कुम्हार (ब्रह्म) एक बासन (शरीर) बनाया है—

साधो इक बासन गढ़ै कुम्हार ।
तेहि कुम्हार का अन्त न पावौ, कैसे सिरजनहार ।[5]

माया—माया को आपने बहुत ही शक्तिशाली रूप में चित्रित किया है, सभी देवगण प्रयत्न करने पर भी उसका पार पाने में असमर्थ हैं, कामिनी के रूप में वह सारे संसार को अपने वश में किए है । माया विरचित हिंडोलना पर सभी आकर झूलते हैं, पेंग मार कर उसी के घर पहुँच जाते हैं, माया में लिप्त हो जाते हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, मुनिजन, इन्द्र, गौरी, गणेश सभी इस हिंडोलने पर झूलकर माया ग्रस्त हो चुके हैं पर साधु सतगुरु इड़ा पिंगला के खम्भों पर सुरत की डोर लगाकर झूलते हैं, जी भर कर पेंग बढ़ाते हैं ।[6]

वैश्या रूपिणी यह माया ही समस्त 'बिगार' की जड़ है, समझाने पर भी यह कुछ समझती नहीं है—

तिन्ह की नारि रमहिं पचीस संग, अचलनि बहुत करहिं री ।
समझाये समुझत कछु नाहीं, सबै बिगार करहिं री ।[7]

संसार–जीव की अन्तिम गति ब्रह्म है, माया इसमें बाधक है, संसार माया का विलास स्थल है इसलिए जगजीवन साहेब ने दोनों को ही झूठा और व्यर्थ कहा है ।[8] संसार तो सेमर का फूल है—

सेमर पर बैठा सुवना, लाल फर देख भुलाना हो ।
मारत टोंट भुआ उधिराना, फिरि पाछे पछिताना हो ।।[9]

यहाँ सेमर=संसार, सुवना=जीव, लाल फर=सांसारिक आकर्षण, भुआ=आकर्षण की व्यर्थता के प्रतीक हैं ।

---

१. **साँई एक एक करि जानु रे,**
दुविधा नहिं मन कबहु लै आउ रे । ज० बा०, पृ० ४७
२. **साधो एक जोति सब माहीं···और दूसरो नाहीं** । वही, पृ० १०५
३. **जस जल बुंद हिम जलहि माहिं** । वही, पृ० ७१
४. **पय महँ घृत-घृत महँ ज्यों बासा···**। वही, पृ० ४६
५. वही, भेदबानी ८, पृ० ४२
६. वही, सावन व हिंडोला ३, पृ० ६४
७. वही, होली २२, पृ० ८०
८. **झूँठी दुनियाँ, झूठी माया, परि झूठे धन धाम** । वही, पृ० ९७
९. वही, भाग १, चेतावनी ७६/८१-८२

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

जगजीवन साहेब प्रमुख रूप से भक्त साधक हैं, हठयोगपरक कठिन साधनाओं को आपने बिना हरि भक्ति के व्यर्थ ही माना है। फिर भी यत्र-तत्र आपनी बानी में हठयोगपरक शब्दावली का प्रतीकात्मक प्रयोग देखने को मिल जाता है—

अष्ट कमल दल भीतर राजा, पांच तत्व को रूप।
त्रिकुटी मध्य दृष्टि करु नैनन, ताड़ी तहाँ लगाव॥
मणि समान दीपक करु मनसा, जोति में जोति मिलाय।
मन तुम करहु गगन मडाँन।
मार आसन बैठु दृढ़ ह्वै, अनत करु न पयान।
मन का मैल लेइ मिसाय, तब तिरबेनी घाट अन्हाय।
अनहद ताल पखावज बाजै, तहाँ सुरति चलि जाय।[1]

यहाँ अष्ट कमल, राजा=जीव, पंच तत्व, त्रिकुटी, गगन मंडान, आसन, तिरबेनी=गंगा, यमुना, सरस्वती, इडा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम स्थल=त्रिकुटी, अनहद, आदि सभी हठयोग परक शब्द प्रतीक हैं।

निष्कर्ष—इस प्रकार जगजीवन साहेब की बानी में हम भक्ति के सुमधुर प्रवाह के साथ-साथ प्रतीकात्मक चित्रण की झलक भी पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। ये प्रतीक सप्रयास नहीं हैं वरन् सहज भावाभिव्यक्ति में तिल तन्दुल भाव से अनायास ही मिलते चले हैं, सन्त कवि चित्रात्मकता अथवा कलात्मकता के आवरण में आबद्ध होकर नहीं चला है। प्रतीक चमत्कारिक शैली है, पर जगजीवन साहेब में वह सहज रूप में ही पाई जाती है।

१५. दरिया साहिब (बिहार वाले)

(जन्म संवत् १७३१ वि०, मृत्यु भादों बदी ४ संवत् १८३७ वि०[2])

ऊँची रहनी की सन्त कवि दरिया साहिब का साहित्य प्रतीकात्मक दृष्टि से अथाह सागर हैं, जिसमें एक से एक उत्तम रत्नों का अक्षय भण्डार छिपा पड़ा है।

परम्परागत प्रतीक—

वैदिक साहित्य में बहुचर्चित वृक्ष को दरिया साहिब ने एक ऐसा 'अक्षय वृक्ष' कहा है जिसके नीचे बैठने से सांसारिक दुख-सुख (धूप, छांह) व्याप्त नहीं होते, उसमें लगे अमृत फल को चखने से जीव ब्रह्म से एकाकर हो जाता है, वह ब्रह्मानुभूति रूपी सुगन्ध से अपनी जीवन रूपी सेज को सजा लेता है—

अछै ओच्छ तर लेइ बइठ इहहु जहवां धूप न छाँह है।
अंम्रित फल मुख चाखन दिहहू सेज सुगन्ध सोहाइ है॥

---

१. जo बाo, चेतावनी ६५/७४, गुरु और शब्द महिमा २३/६४ कर्म धर्म निषेध २६/११८

२. सन्त सुधा सार द्वितीय खण्ड, पृ० ८७

कहें दरिया एह मंगल मूला अनुप फुलेला ताहाँ फूल है ।।[1]

यही वह वृक्ष है जिसकी मूल तो ऊपर है पर शाखाएँ नीचे हैं ।[2]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

दरिया साहिब अद्वैतवाद के एकेश्वरवाद से पूर्ण सहमत हैं, वे आत्मा को ब्रह्म का अंश ही समझते हैं, आत्मा पंचभूतों से निर्मित शरीर (पिण्डाण्ड) में व्यक्त होने के कारण जीवात्मा कहलाती है, और संसार की माया उसे व्यापने लगती है, पर आत्मा का अन्तिम लक्ष्य अंशी ब्रह्म को प्राप्त करना है, एतदर्थ दरिया साहिब ने ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध स्थापित किया है। इन प्रतीकात्मक चित्रणों में आपने साधकात्मा की अनन्यता का परिचय दिया है। परिचय हो जाने पर प्रेमिका 'यार' के चरणों में सर्वस्व अर्पण कर देती है,[3] वह सर्वभावेन उसी में समा जाना चाहती है, पर इस प्रेम मार्ग में बाधाएँ भी बहुत हैं, संसार में अनेक चोर डाकू उसके पीछे लग जाते हैं, मार्ग भी कण्टकाकीर्ण है, पिय का पंथ अगम है, प्रेम का यह रिश्ता मकड़ी के जाले के तारों के समान क्षीण है,[4] पर प्रिय के पंथ पर हठभाव से चलने वाली सुहागिन धीरे-धीरे अपने प्रिय का विश्वास प्राप्त करती जाती है, उसके प्रेम में मधुरिमा घुलती जाती है, वह धन्य हो उठती है, और वास्तव में वही सती साध्वी धन्य है जिसने अपने खसम को पहचान लिया है।[5]

उस पिया से परिचय हो जाने पर, परिचय घनिष्टता में परिवर्तित हो जाने पर सुहागिन को नैहर (संसार) अच्छा नहीं लगता, वह हर क्षण पिया के पास रहकर ही व्यतीत करना चाहती है, नैहरवा के लोग 'अरियार' (विकृत प्रवृत्तियों का प्रतीक) हैं, पिया की बात सुनकर विकार ग्रस्त हो उठते हैं, पीहर में न जाने कितने सुख-दुख मैंने पाए हैं अब ससुराल जाकर पिया के साथ सेज पर मिलूँगी—मेरा भाग्य धन्य-धन्य हो उठेगा—

मोहि ना भाव नैहर ससुरवा जैबों हों ।
नैहर के लोगवा बड़ अरियार । पिया के बचन सुनि लागेला विकार ।।
पिया एक डोलिया दिहल भिजाए । पाँच पचीस तेहि लागेला कँहार ।।
नैहरा में दुख-सुख सहलों बहूत । सासुर में सुनलों खसम मजगूत ।।
नैहरा में बाली भोली ससुरा दुलार । सत के सेनुरा अमर भतार ।।
कहें दरिया धन्य भाग सोहाग । पिया करि सेजिया मिलल बड़ि भाग ।।[6]

---

१. **दरिया ग्रन्थावली (संत कवि दरिया, एक अनुशीलन)** शब्द, ५५/१, पृ० १७७
२. **विपरित लागी बीच मह, मुल ऊपर हेठ ठाँव ।** वही, सहस्रानी ७२४, पृ० १८४
३. वही, पंचम खण्ड, ज्ञान स्वरोदय ३४६, पृ० ३२
४. वही, ज्ञा० स्व० ३८२, पृ० ३४
५. **'धन्य सोई जिहि खसमहि जाना'''**। वही, प्रेममूला २३/४, पृ० ४६
६. वही, शब्द ३६/६ पृ० १६८-६६

पिया मिलन की तालाबेली में भला 'नैहर' में रहना किस सुहागिन को अच्छा लगेगा, कबीर भी कहते हैं—

नैहरवा हमकों नहिं भावै ।[1]

दाम्पत्य भाव की यह पूर्णता विरह भाव के बिना नहीं होती, आत्मा पिया के विरह को जीवन धन समझकर उसकी धधकती ज्वाला में जलती रहती है; यह ज्वाला समस्त कालुष्य को जलाकर जो उज्ज्वलता और निर्मलता प्रदान करती है उसमें आत्मा अपने प्रिय का कण-कण में दर्शन करने में समर्थ हो जाती है, विरह भाव के चरमोत्कर्ष पर आत्मा परमात्मा और परमात्मा आत्मा हो जाते हैं, सन्त दरिया ने इस विरह भाव को इस प्रकार प्रकट किया है—

अमर पति प्रीतम काहे न आवो ।
तुम सत वर्ग हो सदा सुहावन, किमि नहिं उर गहि लावौं ।

× × ×

थाके पंथ पथिक नहिं आवत नैनन में झरि लावौं ।
केहि पूछौं पछितावत दिल में जो पर होइ उडि धावौं ।
जो पिया मिलै तो मिलौं प्रेमभरि, अमि भाजन भरि लावौं ।।
कहैं दरिया धन भाग सोहागिनी, चरन कँवल लपटावौं ।।[2]

युग-युग से पलती आशा भी एक दिन पूरी होती है तो सोहागिन आनन्दोल्लास में चिहुँक उठती है—

तुहु पिया तुहु पिया तुहु पिया मेरो ।
कहैं पतनी पति नैननि हेरो ।।[3]

इस प्रकार दरिया साहब ने उस यार, पिया, पति, प्रीतम, स्वामी, खसम से सुहागिन, पतिव्रता का जो प्रतीकात्मक दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित किया है वह अपने आप में अतुलनीय है ।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—सन्त दरिया ने ब्रह्म के लिए सत्पुरुष, राम, आत्मा, परब्रह्म, कर्ता, अल्लाह, बेबहा, जिन्दा, सद्गुरु, सुक्रित[4] आदि निर्गुण और सगुण नामों का प्रयोग तो किया है, पर इन सबसे उनका तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म से ही है । वे सगुण ब्रह्म के स्थान पर निर्गुण की ही स्थापना करते हैं क्योंकि सगुण (स-गुण = तीन गुण — सत्व, रज, तम) होने के कारण ब्रह्म भी माया-युक्त हो जायेगा और गुणों के आधीन होकर जन्म-मरण, उत्पत्ति और विनाश के चक्र से परे नहीं हो सकता, इसलिए निर्गुण

१. **कबीर शब्दा०**, भाग १, भेदबानी ११, पृ० ६३
२. **दरिया साहेब के चुने हुए शब्द**, मलार ३, पृ० ३२
३. **दरिया ग्रन्थावली**, शब्द, ५०/९ पृ० १७२
४. वही, अनुशीलन, पृ० ७०

(गुण रहित) ब्रह्म ही उनकी साधना का लक्ष्य है। इस निर्गुण को मानते हुए भी आपने 'नाम' को अधिक महत्व दिया है। 'नाम' को स्वयं 'सत्पुरुष' के समान शक्तिशाली बताते हुए आपने उसे पारस के समान बताया है जिसके स्पर्श मात्र से लोहा भी स्वर्ण हो जाता है।[१]

अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार दरिया साहब ने ब्रह्म को एक माना है। वही सत्पुरुष मानव-अमानव में समान भाव से व्याप्त है, विश्व के अनन्त रूपों में वह समाया हुआ है, वह एक होकर भी अनेकता में विभक्त है, जैसे विभिन्न रंगों की गाय एक ही प्रकार का (श्वेत) दूध देती है, एक ही स्वांतीबूंद विभिन्न प्रसंगों में अनेक रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार एक ब्रह्म सभी रूपों में व्याप्त रहता है, उसी एक से अनन्त रूपों की सृष्टि हुई है तथा अन्त में उसी में समा जाएंगे।[२] वही ब्रह्म बिना पगों के चलता है, बिना कान के सुनता है, बिना हाथों के सारे कार्य सम्पन्न करता है—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु निरति वेद करि जाना।।
बिनु चछु देखै सप्त पताला। बिनु पूरन परगट है काला।।[3]

जीवात्मा—संत दरिया ने ईश्वर के अद्वैतवादी रूप की स्थापना करते हुए आत्मा को ब्रह्मांश रूप में चित्रित किया है, प्राणिमात्र को जीवन और उसकी चेतना उसी परम पुरुष से प्राप्त होती है, इसलिए आत्मा भी उससे भिन्न नहीं है। "यदि कोई जल से भरे बर्तन में झांके तो उसका प्रतिबिम्ब उसमें दीख पड़ेगा, पर बर्तन टूटते ही प्रतिबिम्ब लुप्त हो जाएगा, उसी प्रकार हम अपने आप में सत्पुरुष की झलक पा सकते हैं, जो हमारे जन्म के साथ प्रादुर्भूत होती है और मृत्यु के साथ विलीन हो जाती है। किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब वस्तु से पृथक् सत्ता नहीं रखता, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा दो नहीं हैं। अन्ततः वह एक ही है। हम आत्म ज्ञान प्राप्त करके ही उस सत्पुरुष की एकता पा सकते हैं,[४] दरिया साहब कहते हैं—

प्रतीबिम्बु घट परगट अहई। पुरुष तेज जग इमि कर लहई।
आतम दरस ज्ञान जब होई। व्यापक ब्रह्म देखै सत सोई।[५]

दरिया साहब ने आत्मा को पक्षी के प्रतीक रूप में चित्रित किया है, उसे 'बिहंगम' हंस, पखेरू कहकर उस देश में उड़ जाने का उपदेश दिया है जहाँ सांसारिक बंधन न हों और उस सत्पुरुष के दर्शन हो सकें।[६]

---

१. द० ग्र०, ज्ञानरत्न १, ४ पृ० १४
२. **जल में तुमहीं थल में तुमहीं जीव जहान सभे बरता।** वही, पृ० ६४
   (ओइ) ब्रह्म संपूरन सर्व बिराजै। दरिया सागर, पृ० ५४
३. **दरिया ग्रन्थावली,** पृ० ५४
४. वही, आलोचना भाग, पृ० ७४
५. **दरिया सागर,** पृ० ४८, ५२
६. **बिहंगम कौन दिसा उडि जैहौ।**
   ···हंसा कोइ सतगुरु गमि पावै। दरिया साहेब के चुने हुए शब्द, पृ० ३३
   तैं तेहि बन का अहसि पखेरू···। दरिया ग्रन्थावली, ज्ञान स्वरोदय पृ० २१

आत्मा अजर, अमर है, ब्रह्मांश है पर संसार में जाकर अपने लक्ष्य से भटक जाती है, सतगुरु के ज्ञान से ही वह सच्चा रास्ता पहचान पाती है।

माया—ब्रह्म और आत्मा में द्वैत भाव पैदा करना ही माया का प्रमुख कार्य है। वह आत्मा को धोखे में डालकर इतनी दूर ले जाती है कि उसे वास्तविक स्वरूप का भी ज्ञान नहीं रहता। वह शरीर को ही सब कुछ समझकर इसके (इन्द्रियों के) क्षणिक सुखों को सुख समझ लेता है। माया का प्रभाव बड़ा व्यापक है, उसने सारे संसार को अपने दृढ़ पाश में बाँध रखा है। दरिया साहब ने इस प्रबल और बहुरूपा माया को अनेक प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट किया है। वह एक ऐसी भयंकर 'काली नागिन'[१] है, विष की विषम बेल[२] है जो द्रुम (मानव काया) से लिपटी हुई है, एक वैश्या[३] है जो सन्तों से दूर भागती है पर विषयी-कामी नरों को भरमाए रहती है, एक 'चूहड़ी'[४] है जो आत्मा-परमात्मा के बीच झगड़ा खड़ा कर स्वयं दूर खड़ी तमाशा देखती रहती है, एक कलवारिन[५] है जो वासना की मदिरा पिलाकर सारे जगत् को लोलुपता, कामुकता और अज्ञान के आवरण में ढाँपे रखती है, एक ऐसी चंचल और विश्वासघातिनी दासी[६] है जो न कभी किसी की हुई है और न कभी किसी की होगी, एक ऐसी कामिनी है, जिसकी पाँच-पच्चीस सखियाँ हैं, आँखों में मतवाला काजल लगाए है, नखशिख आभूषणों से लदी झमझम करती है तथा अपने खसम से नित प्रति झगड़ा रचाए रहती[७] है, वह समधिन है, ऐसी दीप शिखा है जो जीव रूपी पतंगों को प्रथमतः अपनी ओर आकर्षित करती है फिर उन्हें सम्पूर्णतः निगल जाती है—भस्म कर देती है,[८] यह वह मीना बाजार है[९] जिसकी चकाचौंध में आदमी सब कुछ भूल जाता है।

माया शवलित जीव की दशा विचित्र हो जाती है, वह अपने आपको भूल जाता है ठीक उस कुत्ते के समान जो कांच मन्दिर में अपनी छाया देखकर भूँस-भूँसकर मर जाता है,[१०] उस सिंह के समान हो जाता है जो कुए में अपना प्रतिबिम्ब मात्र देखकर उसमें कूदकर अपने प्राण गवाँ देता है,[११] उस गज के समान जो स्फटिक

---

१. **माया काली नागिनी···।** दरिया ग्रन्थावली, सहस्रानी २२२, पृ० १८१
२. **काया द्रुम माया लता, लपटि रहा बहु भाँति।** वही, २४८, पृ० १८१
३. **यह माया है बेसवा।** वही, २१९, पृ० १८१-८२
४. **यह माया है चूहड़ी औ चुहड़े की जोए।** वही २२१, पृ० १८१-८२
५. **यह माया जैसे कलवारिन···।** वही, पृ० १५८
६. **एह माया कहु का कर दासी···।** वही, ज्ञानस्वरोदय, पृ० २०
७. वही, शब्द २२/२२ पृ० १५६
८. वही, ज्ञान रत्न, ३६/५ पृ० १५
९. वही, शब्द, ७/७ पृ० १०४-१०५
१०. वही, शब्द, २२/१३ पृ० १५३
११. वही, शब्द, २२/१३ पृ० १५३

शिला में अपनी परछाई देखकर उसमें अपने दन्त अड़ा देता है, और घायल हो जाता है।[1] या उस मृग के समान जो मरीचिका के पीछे दौड़-दौड़ कर प्राण गवाँ देता है, माया के इस अज्ञान आवरण से सतगुरु ही बचा सकता है, वही उसमें ज्ञान की ज्योति जगाकर इस भ्रम का नाश कर जीव को ब्रह्म से मिलाता है।

इस प्रकार दरिया साहब ने दार्शनिक प्रतीकों द्वारा ब्रह्म, जीवात्मा, माया का यथार्थ और सूक्ष्म चित्रण किया है।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

दरिया साहब ने हठयोगपरक साधना का जमकर उल्लेख किया है। हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली—कुण्डलिनी, त्रिनाडी-इडा, पिंगला, सुषुम्ना, विभिन्न आसन, प्राणायाम, मुद्रा, षट्चक्र सहस्रदल कमल आदि का प्रतीकात्मक वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

इंगला पिंगला सुखमनि नारी। सार पवन तहँ करै पुकारी।
ओही पवन षट चक्रहिं छेदा। होय गुरु ज्ञान बुझे यह भेदा॥
अपजा जपै सूर चाँद ज्ञानी। दरिया गगन बरीसै पानी॥
अमृत बुंद तहाँ झरि आवै। पीयत हंस अमर पद पावै॥[2]
इंगला पिंगला सुखमनि धारा। तहँ बंकनाल रस पीवै बारा॥
खोडस दल कँवल बिगसाना। लपटि लगै मधुकर ललचाना॥
सलिता तीनि संगम तहँ भयऊ। बारि बयारि अमृत रस पयऊ॥
चंद सूर दुइ करहिं बिलासा। उदय अस्त फिरि होय प्रगासा॥[3]
गंगा जमुना स्रोसती, तीनिउ परिगौ रेत।
मुख से स्वाँसा चलत है, काया बिनासन हेत॥[4]

दरिया साहब ने 'पिपीलिका' तथा 'विहंगम' योग की चर्चा करते हुए विहंगम योग की श्रेष्ठता स्वीकार की है। हठयोग में कुण्डलिनी का आसन, प्राणायाम और मुद्राओं के माध्यम से षटचक्र का भेदन कर ऊपर सहस्रदल कमल तक पहुँचने की क्रिया की तुलना चीटीं के वृक्ष पर चढ़ने की क्रिया से की है, इस योग—पिपीलक (चींटी) का अर्थ है कुण्डलिनी के पिण्ड से ब्रह्मांड तक की यात्रा। पिपीलक योग को दरिया साहब ने उत्तम नहीं माना, क्योंकि फलादि खाने के लिए चींटी वृक्ष के ऊपर धीमी-धीमी गति से चढ़ जाती है, पर फलादि खाकर पुनः पृथ्वी पर लौट आती है और रस से वंचित हो जाती है, इसी प्रकार केवल शारीरिक हठयोग के अभ्यासी साधक के बार-बार योग विरहित अवस्था में लौट आने की आशंका रहती है। इसके विपरीत विहंगम योग में योगी के पूर्वावस्था में लौट आने की सम्भावना नहीं रहती।

---

१. द० ग्र० शब्द, १८/५५ पृ० १४२
२. **दरिया सागर**, पृ० ३
३. वही, पृ० ५५-५६
४. **दरिया ग्रन्थावली, ज्ञानस्वरोदय** २६०, पृ० २६

चींटी के समान पक्षी अपने आवास के लिए पृथ्वी पर नहीं लौटता, वह शून्य में ही उड़ता हुआ रसास्वादन करता है—

करम जोग जम जीतैं चहई। चढ़ि पिपीलका फिरि भव रहई।
बीहंगम चढ़ि गयउ अकासा। बइठि गगन चढ़ि देखु तमासा ॥[1]

इसीलिए दरिया साहब ने पिपीलका के स्थान पर विहंगम योग को श्रेष्ठ माना है—

दै छोड़ु पपीलक गहै विहंगम तरिवर तम मन सो पिव प्रीतं।[2]

पिपीलक द्वारा शरीर पर तो अधिकार प्राप्त किया जा सकता है पर आत्मा पर पूर्णतया नियन्त्रण नहीं हो पाता। विहंगम का आत्मा पर अधिकार होता है इसीलिए श्रेष्ठ है।

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

दरिया साहब ने चमत्कार पूर्ण शैली-उलटबाँसी में मन, माया, जीवात्मा आदि की सुन्दर अभिव्यंजना की हैं। आप कहते हैं—

हरि तुम ऐसो रंग मचिन्दा।
देखि नेउरिया नाचना लागी सिंघ बजाउ सरिन्दा ॥
झींगुर झाल मिरदंग बजावै मेढ़ुक ताल मरिन्दा ॥
बीली कूदि सिंहासन बैठी सुगना चंवर ढरिन्दा ॥
हरिनि पदुमनि पाँव परत है पदुम झलके बिन्दा ॥
ज्ञान गिता पढ़ि ऊँट कबेस्वर गदहा बेद मनिन्दा ॥
एह मति जानहु अहे बनौरी एह पद झूठा ना किन्दा।
कहें दरिया दरपन बिच दागा बिनु पर काग परिन्दा ॥[3]

यहाँ—नेउरिया = माया का प्रतीक है, सिंघ = आत्मा; झीगुर, मेंढुक = मन की दुष्प्रवृत्तियों, बीली-बिल्ली = माया, सुगना = आत्मा; ऊँट तथा गदहा = मन की दुरागामी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं जो ज्ञानोदय होने पर सद्वृत्तियों में परिवर्तित हो गई हैं, दरिया साहब कहते हैं कि माया के प्रभाव से आत्मा रूपी दर्पण पर आवरण = दाग पड़ जाता है और वह ब्रह्मांश होते हुए भी आत्मा ब्रह्म से मिल नहीं पाती, ज्ञान के प्रभाव से जब दर्पण का दाग हट जाता है (काग पक्ष-सहित परिन्दा हो जाता है) तभी मिलन सम्भव है।

एक अन्य स्थान[4] पर सन्त कबीर की शैली में दरिया साहब कहते हैं—

साधो एक बन आकर झउआ।
लवा तितिर तेहि माँह भुलाने सान बुझावत कौआ।
बीली नाचे मुस मिरदंगी खरहा ताल बजावै।

---

१. **दरिया सागर** पृ० ५५
२. **दरिया ग्रन्थावली**, शब्द, ४/३५ पृ० ९०
३. वही, शब्द, २४/१० पृ० १६१
४. वही, पृ० १२६

गदहा वेद उचारन लागे रोरन तान सुनाया ।
भंइस पदुमनी सूनन लागी भैंसा जुगल बँधाया ।।

× × ×

मोटरी फाटी टाटी उडि गइ टंडा गाया बिलाई ।
कहैं दरिया एह जग का कौतुक, जल देखि मीन पराई ।।
बन में सिंघ चरावै गाई ।
ईधर ऊधर लीए फीरै साँझहि देत ढुकाई ।
साधौ गल चमरा है गाधू ।
उलटा कुंभ भरै जल नाहीं बगुला खोजै झौरी ।।
मूस मँजारहि भँइस गाई मिलि जुलि मंगल गाई ।
सरपा आगे नेउरी नाचे चील्हि सो नेवते आई ।
कहैं दरिया कोइ सब्द बिचारे होए पंडित भाइ काजी ।।

इस प्रकार स्थान-स्थान[1] पर दरिया साहब ने उलटबाँसियों के माध्यम से माया, आत्मा, इन्द्रियाँ, मन की दुष्वृत्तियाँ, सद्वृत्तियाँ आदि विविध विषयों का चमत्कारिक वर्णन किया है ।

अन्त में हम कह सकते हैं कि दरिया साहब के साहित्य में प्रतीकात्मक वर्णन की एक विशाल योजना उपलब्ध होती है । परम्परागत प्रतीक के रूप में 'अक्षयवृक्ष', भावात्मक प्रतीक के रूप में ब्रह्म और आत्मा का दाम्पत्य वर्णन, दार्शनिक प्रतीक के रूप में हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली का वर्णन और चमत्कार प्रधान शैली में उलटबाँसियों की योजना आपकी प्रतीक योजना के अक्षय स्तम्भ हैं ।

१६. दरिया साहब (मारवाड़ वाले)

(जन्म सं० १७३३ वि० चोला त्याग सं० १८१५ वि०)[2]

धुनियाँ जाति में पैदा होने वाले दरिया साहब के हृदय में बाल्यकाल से ही वैराग्य जागृत हो गया था, गुरु की खोज में दर-दर भटकने के पश्चात् प्रेम जी महाराज के चरणों में बैठकर चिर अभिलिषित भक्ति रस का छककर पान किया ।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

परमतत्व, जिसके विरह में आत्मा युगों से तड़फ रही थी, जिससे सहज ही परिचय हो गया । जिस 'नाम' का गुरु ने उपदेश दिया उससे जन्म-जन्म का अज्ञानान्धकार मिट गया, हृदय में एक दिव्य ज्योति प्रज्ज्वलित हो उठी जिसके प्रकाश में हृदय का हर कोना जगमग हो गया । उसे अपने सच्चे स्वरूप का तत्काल ही भान हो गया । अब तक माया मोह के जिस आवरण में ब्रह्म का रूप छिपा हुआ था, वह

१. द० ग्र०, शब्द १७/१९, १७/२०, १७/२१ पृ० १२५, २६, २७
२. सन्त सुधा सार, द्वितीय खण्ड, पृ० १०१

उभर कर सामने आया तो आत्मा एक बारगी मिलनेच्छा में तड़फ उठी। अज्ञानावस्था में न जाने कितने युग यूँही बीत गए पर अब धैर्य कैसा? रग-रग में विरह समाने लगा, सुप्ततन्त्री के तार प्रिय के एक ही स्पर्श से झनझनाने लगे। गुरु शब्द की एक ही चोट से जागृत विरह की तीव्र अनुभूति से प्रेममयी साधना की नदिया में तरंगें उठकर किनारों का बंधन तोड़ने को आकुल हो उठीं।

अभी आत्मा रूपी कन्या क्वारी ही है, सारी साध मन के अज्ञात कोने में पड़ी सो रही है, पर सतगुरु ने उस अनजान से सगाई का नाता जोड़ दिया है, विरह की एक फूंक मार कर कण-कण में एक विचित्र हलचल पैदा कर दी है, परिचय अभी है नहीं, पर एक ललक, एक उत्कण्ठा, एक लालसा चैन नहीं लेने देती, मन बार-बार उस प्रियतम की अनबूझ नगरी में उड़कर जाने लगता है, उस 'पिव' ने विरह तो जगा दिया पर—

पिव सेती परचो नहीं, विरह सतावै माँहि ॥[1]

विरह की आग एक बार जो लगी, वह सिसकी और श्वासोच्छ्वास से भड़क उठी, तन मन में व्याप्त हो गई। विरहिन की दशा बड़ी विचित्र हो गई, एक तड़पन, कसक उठ पड़ती है—

बिरह बियापी देह में, किया निरन्तर बास।
तालाबेली जीव में, सिसके साँस उसाँस॥
दरिया बिरही साध का, तन पीला मन सूख।
रैन न आवै नींदडी, दिवस न लागै भूख॥
बिरहन पिउ के कारने, ढूंढ़न बन खँड जाय।
निस बीती पिउ ना मिला दरद रहा लिपटाय॥
बिरहन का घर बिरह में ना घट लोहु न माँस।
अपने साहब कारने, सिसके साँसों साँस।[2]

पहले परिचय हुआ, फिर सगाई हुई, ब्याह हुआ हथलेवा दे संग बैठी, उन्होंने मुझे बाएँ अंग बैठाया और अन्त में सर्वात्मभावेन आत्मसमर्पण—पर वह कैसे इस सबको कहे—

कहा कहूँ मेरे पिउ की बात, जो रे कहुँ सोई अंग सुहात।
जब मैं रही थी कन्या क्वारी, तब मेरे करम हता सिर भारी।
तब मैं पिउ का मंगल गाया, जब मेरा स्वामी ब्याहन आया।
जन दरिया कहै मिट गई दूती, आपो अरप पीव संग सूती॥[3]

इस परिचय, ग्रन्थि बन्धन, पाणिग्रहण और आत्मसमर्पण के पश्चात् आत्मा का ऐसा अटूट-अनन्य सम्बन्ध पिय से जुड़ जाता है कि पिय की एक क्षण की विस्मृति भी उसे

---

१. **दरिया साहब की बानी**, विरह का अंग, १, ३, पृ० ६
२. वही, विरह का अंग २, ४, ५, ६, पृ० ६
३. वही, मिश्रित अंग, राग भैरो, पृ० ४६

असह्य हो उठती है, सतगुरु ने जो उत्तम वर खोजा है, वह सर्वोत्तम है, भला मैं ऐसे पूरे पति को कैसे बिसरा सकती हूँ ? कैसा अटूट सम्बन्ध है। दरिया साहब गा उठते हैं—

बाबल कैसे बिसरा जाई।
जदि मैं पति संग रल खेलूँगी, आपा धरम समाई ॥
सतगुरु मेरे किरपा कीनी, उत्तम बर परनाई।
अब मेरे सांई को सरम पड़ैगी, लेगा चरन लगाई ॥
थैं जानराय मैं बाली भोली, थैं निर्मल मैं मैली।

× × ×

थैं ब्रह्म भाव मैं आतम कन्या, समझ न जानूँ बानी।
दरिया कहै पति पूरा पाया, यह निश्चय कर जानी।[1]

इस प्रकार दरिया साहब ने परमात्मा को पति, पिउ, पीव, साँई, स्वामी, बावल, साहब आदि से और आत्मा को कन्या तथा विरहिन आदि प्रतीकों से चित्रित कर दाम्पत्य भाव की जो सूक्ष्म अभिव्यंजना की है उसमें सच्चे साधक के हृदय की कोमल भावनाओं का मार्मिक प्रस्फुटन हुआ है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—दरिया साहब ने निर्गुण ब्रह्म की स्थापना अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार ही किया है, सगुण रूप को आपने अपेक्षाकृत अमान्य ही ठहराया है। निर्गुण और सगुण को मीठे और कड़वे के प्रतीक से कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है—

मीठै राचै लोग सब, मीठै उपजै रोग।
निरगुन कड़ुवा नीम सा, दरिया दुर्लभ जोग ॥[2]

वह ब्रह्म घट घट में समाया हुआ है, वही राम अनित्य है, सत्य है।[3]

जीवात्मा—आत्मा उसी ब्रह्म का अंश है पर माया के कारण वह अपने पिय को पहचान नहीं पाती, सतगुरु की कृपा से ब्रह्म ज्ञान होने पर जब माया का पर्दा हट जाता है तो वह उज्ज्वल रूप प्रकट हो जाता है और आत्मा परमात्मा से मिल एकाकर हो जाती है।[4] पाँच तत्व के बने शरीर में आबद्ध जीव (आत्मा) अपनी जात (वास्तविकता या ब्रह्म) को भूल जाता है, शरीर की इन्द्रियों में माया समा जाती है, पर ज्ञान होने पर आत्मा घर लौट जाती है और अपने अंशी अलेख ब्रह्म को प्राप्त कर लेती है—

---

१. **दरिया साहब की बानी,** मिश्रित अंग, पृ० ४३-४४
२. वही, नाद परचे का अंग ३२ पृ० १५
३. **अनहद मेरा साइयां घट में रहा समाय।**
आदि अनादी मेरा सांई।...अजर अमर अच्छय अबिनासी।
दरिया बानी० पृ० १८, २५, ३२, ३५, ४६
४. वही, पृ० ४०

जीव जात से बीछुड़ा, धर पंच तत्व का भेख।
दरिया निज घर आइया, पाया ब्रह्म अलेख ॥
संसय मोह भरम निस नास, आतम राम सहज परकास।[१]

माया—माया के अविद्यात्मक रूप की दरिया साहब ने निन्दा की है, यह माया घट-घट में निवास कर मनुष्य को अनेक प्रकार से नाच नचाती है, आत्मा को ब्रह्म से पृथक् करती है, यही माया, मोह, तृष्णा, अहंकार आदि साथियों के साथ जीवन में कलह उत्पन्न कहती है—

जेहि देखूँ तेहि बाहर भीतर, घट-घट माया लागी।
मन भयो पिता मनसा भइ माइ, दुख सुख दोनों भाई।
आसा तृस्ना बहिनें मिलकर गृह की सौंज बनाई।
× × ×
मोह भयो पुरुष कुबुध भइ घरनी पाँचों लड़का जाया
राग द्वैस का बंधन लागा, गिरह बना उत्पाती ॥[२]

यह अनन्त रूपा माया की गति उस स्थान पर नहीं होती जहाँ ब्रह्म-ज्ञान का अखण्ड दीपक प्रज्ज्वलित है, माया रूपी रजनी का भला रवि से क्या मेल ?[३]

इस प्रकार ज्ञान दीपक के प्रकाश में भ्रम निशा नष्ट हो जाती है, भीतर का 'नेतर' खुलने पर ही राम के 'दरस हो पाते हैं।[४]

साधनात्मक रहस्य परक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

दरिया साहब प्रमुख रूप से राम भक्त हैं फिर भी हठयोगपरक साधना का उनमें अभाव नहीं है। साधनात्मक प्रयोग स्थान-स्थान पर देखा जा सकता—

बंकनाल की सुध गहै, मेरू डंड की बाट।
अमी झिरै बिगसै कँवल, अनहद धुन गाजै ॥
अवस चलत है सुषमना, चलत प्रेम की सीर ॥
चलै सुरसरी अगम की, हिरदे मंझ समाय।
अमी झरत विगसत कँवल, उपजत अनुभव ज्ञान।
गंग बहै जहँ अगम की, जाय किया असनान।
इडा पिंगला सुषमना, त्रिकुटी सन्धि मंझार।[५]

---

१. द०बा०, ब्रह्म परचे का अंग, साखी, ४७, ४८ पृ० १९; सुपने का अंग पृ० २२
२. वही, मिश्रित का अंग, पृ० ४९,५०
३. माया तहां न संचरै, जहां ब्रह्म का खेल।
जन दरिया कैसे बनै, रवि रजनि का मैल ॥
वही, ब्रह्म परचे का अंग, ४६, पृ० १९
४. वही, मिश्रित साखी, १, ५, ६, पृ० २९
५. वही, नाद परचे का अंग, पृ० १३, १४, १५, १७

मुरली कौन बजावै हो, गगन मंडल के बीच ।
त्रिकुटी संगम होय कर, गंग जमुन के धार ।।
गंग जमुन बिच मुरली बाजे, उत्तर दिस धुन होय ।
उन मुरली की टेरहि सुनि सुनि, रहीं गोपिका मोहि ।।
जहं अधर डाली हंसा बैठा, चूगत मुक्ता हीर ।
आनन्द चकवा केल करत है, मानसरोवर तीर ।।[1]

यहाँ बंकनाल=कुण्डलिनी; गंग जमुन, सरस्वती=इडा, पिंगला, सुषुम्ना; कँवल=सहस्रार या शतदल कमल; अमी रस=अमृत; गोपिका, हंसा=आत्मा आदि के प्रतीक हैं तथा त्रिकुटी, विभिन्न चक्र, अनहद नाद आदि शब्द अन्य हठयोग परक साधना को स्पष्ट करते हैं ।

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

दरिया साहब में चमत्कारपूर्ण शैली में विरचित विपर्यय प्रधान प्रतीक—उलटबाँसी भी देखने को मिलती हैं, इन रूपों में चुनौती का स्वर स्पष्टतः उभर कर आया है—

साधो एक अचंभा दीठा ।
कड़ुवा नींम कहै सब कोई, पीवै जाको मीठा ।।
बूँद के माही समुँद समाना, राई में पर्वत डोलै ।
चींटी के माहीं हस्ती बैठा, घट में अघटा ओलै ।।
हिरन जाय सिंघ पर रोका, डरप सिंघनी हारी ।
सोता साह होय कर निर्भय, वस्तु करै रखवारी ।।
अजगर उड़ा सिखर को डाँका, गरुड़ थकित होय बैठा ।
भौम उलटकर चढ़ी अकासा, गगन भौम में पैठा ।
सिंघ भया जाय स्याल अधीना, मच्छा चढ़ै अकासा ।
कुरम जाय अंगना में सोता, देखै खलक तमासा ।।
राजा रंक महल में पौढ़ा, रानी तहाँ सिधारी ।
जन दरिया वा पद को परसै, ता जन की बलिहारी ।।[2]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आपकी बानी में एक सच्चे भक्त का हृदय बोलता है । प्रतीकात्मक दृष्टि से आपने सिद्ध साहित्य में प्रयुक्त सहज का परम तत्व तथा सहज-स्वाभाविकता के अर्थ में प्रयोग किया है । दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध स्थापित करते हुए ब्रह्म के लिए पिउ, पीव, सईंया, बावल आदि तथा आत्मा के लिए गोपिका, हंसा, बिरहिनी, क्वारी कन्या आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है । अद्वैतवादी परम्परा के अनुसार ही आपने ब्रह्म को एक माना है, वही सर्वगुण सम्पन्न, अजन्मा और अनन्त है, आत्मा ब्रह्मांश है, माया के प्रभाव से आत्मा और परमात्मा के मिलन में उत्पन्न बाधा (तम) ब्रह्मज्ञान रूपी रवि से क्षत विक्षत हो जाती है ।

---

२. द० बा० मिश्रित का अंग, पृ० ४५-४६
१. वही, मिश्रित अंग, पृ० ४४-४५

हठयोगपरक साधन प्रणाली के वर्णन में आपने गंगा, जमुना, सरस्वती, बंकनाल, गगन, कमल आदि विविध प्रतीकों का प्रयोग किया है। उलटबाँसियों में सिंघ, स्यार, अजगर, गरुड़ मच्छा आदि शब्द भी प्रतीकात्मक अर्थों को स्पष्ट करते हैं। इस प्रकार दरिया साहब की बानी में संतोचित भक्ति के सहज प्रवाह में प्रतीकों के नदी, नद अनायास ही मिल कर तद्रूप होते चले हैं।

१७. गुलाल साहब

(जन्म संवत् १७५० वि० अनुमानतः, चोला त्याग सं० १८५० अनुमानतः)[१]

अपने ही हलवाहे बुल्ला साहब के परम शिष्य गुलाल साहब की बानी भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के गहरे रंग में रंगी हुई है जिसमें प्रतीकात्मकता की अन्तः सलिला समान रूप से प्रवहमान है।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

आत्मा-परमात्मा का अंश-अंशी भाव का सम्बन्ध है उद्बुद्ध आत्मा सदैव ब्रह्माभिमुख रहती है और उसका परम लक्ष्य उसी में जल लहर के समान समाहित हो जाना है, इस भावात्मक रहस्य को सभी संतों ने दाम्पत्य प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है। गुलाल साहब ने भी आत्मा का परमात्मा से पति-पत्नी का अनन्य सम्बन्ध स्थापित किया है।

गुलाल साहेब की अक्षय पूँजी और धन वे राम ही हैं, निसबासर उन्हीं में मन लगा रहता है,[२] पिया से नेह हो गया है, सुहागिन कलियाँ चुन-चुनकर सेज बिछाकर मंगलचार करती है, अब तो आठों पहर उसी का ध्यान रहता है उसी की बाट रहती है, वे 'नैंक' भी हृदय से बिसरते नहीं हैं—

लागलि नेह हमारी पिया मोर।
एकौ घरी पिया नहिं अइलें, होइला मोहि धिरकार॥
लोक कै साहब अपने, फरलहिं मोर लिलार॥[३]

पिया से नेह जोड़कर सुहागिन धन्य धन्य हो गई है—

जनम सुफल भैलो हो हम धन पिया की पियारी।
जन गुलाल सोहागिग पिय संग मिलली भुजा पसारी॥[४]

पिय मिलन का आनन्द ही कुछ अद्भुत होता है, सुहागिन आनन्द मनाती है, पुलक मन अमृत वर्षा में रस मग्न है फिर पिया के संग बूंद भी अधिक सुहावन लगती हैं।[५]

---

१. **संत सुधा सार**, द्वितीय खण्ड, पृ० ११९
२. **गुलाल बानी**, उपदेश १०, पृ० ५
३. वही, प्रेम, शब्द २, पृ० २९
४. वही, प्रेम, शब्द ९, पृ० ३३-३४
५. **हरि संग लागल बुंद सोहावन।**
रीझै रीझ पिया के संग राते, पलकन चँवर डोलावन।
मंडौ प्रेम मगन भई कामिनि, उमँगी उमँगि रति भावन॥ वही, पृ० ३२

'सुरत सोहागिन' के घर राम पाहुन आए हैं, प्रसन्नता का पारावार नहीं है, उनकी सेवा किस प्रकार की जाए ?

आजु हरि हमारे पाहुन आये, करौं मैं अनन्द बधाव।
मन पवना कै सैज बिछावल, बहु बिधि रचल बनाव।
ताहि पलंग पर स्वामी पवढ़लहिं, हम धन बेनियां डोलाय।
सुरति सोहागिन करहि रसोई, नाना भाँति बनाय।

× × × × ×

कहत गुलाल साहब घर आये, सेवा करत चित लाय।
अधर महल पर बैठक पायों, अन्ते जाय बलाय ॥[1]

पिया से अनन्य भाव से मिलने में कुछ बाधाएं भी उपस्थित होती हैं, गुलाल साहेब ने उन बाधाओं को सास, ननद आदि के प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है—

सासु सोहागिन बलसहि हो, ननद बिपरीती।
गाँव के लोग नहि आपन हो सवति करै चीती ॥
सुनहु सखियाँ सहेलरि हो जो करै कहल हमार।
भवजल नदिया भयावनि हो कैसे उतरब पार ॥[2]

पर पिया के रंग में रंगी सोहागिन पिय मिलन की समस्त बाधाओं को पार कर अनन्त मिलन में लीन हो जाती है, मिलन का आनन्द उस समय और भी अधिक तीव्र हो उठता है जब सोहागिन पिया से होली फाग का आह्लादक आयोजन करती है—

अपने पिय संग होरी खेलौं, लोग देत सब गारी।
कहत गुलाल पिय होरी खेलौ, हम कुलवन्ती नारी ॥[3]
मैं तो खेलौंगी प्रभुजी से होरी।
लागौ रंग सोहंग गुन गावहिं, निरतत बाहाँ जोरी ॥[4]

इस प्रकार गुलाल साहेब ने ब्रह्म से आत्मा का दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते हुए ब्रह्म को पिय, पिया, कंत, साहब, प्रभु, स्वामी, दुलहा, खसम[5] तथा आत्मा को, धन, सोहागिन, कुलवंती नार, कामिनि, दुलहिन आदि प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार ही गुलाल साहेब ने ब्रह्म को एक माना है। वही ब्रह्म अनादि, घटघट व्यापक, सर्वशक्तिमान हैं। आपने ब्रह्म को निर्गुण[6]

---

१. गु० बा०, प्रेम, शब्द १८, पृ० ३७-३८
२. वही, शब्द ४, पृ० ३१
३. वही, होली ४, पृ० ९६
४. वही, पद २८, पृ० १०५
५. वही, चेतावनी का अंग ४, पृ० १४
६. वही, प्रेम १९, पृ० ३८

मानते हुए उसे हरि, राम, प्रभु, दीनानाथ, सब्द आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया है। उस ब्रह्म का आदि, अन्त, मध्य कुछ भी नहीं है वह तो अनन्त है।[1]

जीवात्मा—वही आनन्दमय ब्रह्म आत्मा में विद्यमान है। तत्वतः जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्डाण्ड में है। गुलाल साहब ने आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध अंशी अंश भाव का बताते हुए उसे जल और तरंग प्रतीक से स्पष्ट किया है।[2] 'बूझत बिरला कोई' से गुलाल साहेब का तात्पर्य है कि ब्रह्म और आत्मा की इस अनन्यता को कोई विरला ही—जिसने अपनी आत्मा को सांसारिक प्रपंचों मुक्त कर लिया है, समझ बूझ सकता है, सामान्यतः तो पंचतत्व के पुतले में आवद्ध आत्मा जीवात्मा की उपाधि धारण पर अनेक मायिक भ्रमरावर्त में पड़ कर संसार सागर में गोते लगाती रहती है। वास्तव में माया है ही ऐसी ठगिनी, जीव को नाना प्रलोभनों में फाँस कर उसे उद्देश्य से भ्रष्ट कर देती है, आत्मा अपने स्वरूप को भी नहीं पहचान पाती, वह शरीर के सुख-दुख और संसार के क्रिया कलापों को सत्य समझकर उसी में रमी रहती है। पर सतगुरु के प्रभाव से आत्मा जागृत होकर मायिक बन्धन तोड़ डालती है, ज्ञान के प्रकाश से तम भाग जाता है और ब्रह्मानुभूति होने लगती है, आत्मा ब्रह्म से अनन्यता का सम्बन्ध (दाम्पत्य) स्थापित कर उसी में लीन हो जाती है।

माया--गुलाल साहेब ने (अविद्यात्मक) माया को ठगिन[3], नारी[4], क्वारी कन्या[5], जननी[6] आदि प्रतीकात्मक शब्दों से अभिव्यक्त करते हुए माना है कि अन्तःकरण में ब्रह्म-ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित होने पर ही पाप और पाप चूनरी[7] फट सकती है।

---

१. नहीं आदि नहिं अन्त मध्य नहिं······एकै ब्रह्म एक भयो साहब।

गु० बा०, पृ० ३७, ५६

रोम रोम में रमि रह्यो पूरन ब्रह्म रवि छाय। वही, पृ० १३७

२. जल तरंग जल ही तें उपजे, फिर जल माहिं समाय।

हरि में साध साध में हरि है···साध से अन्तर नाहिं। वही, पृ० १३९

जीव पीव महं पीव जीव महं···बूझत बिरला कोई। वही, पृ० ३३

३. निस्चै जानु ठगिनी है माया। वही, पृ० २४

४. संतो नारि सकल जग लूटा। संतो कठिन अपरबल नारी। वही, पृ० १७, १८

५. सबहीं बरलहिं भोग कियो है, अजहूं कन्या क्वारी। वही, पृ० १८-१९

६. जननी ह्वै के सब जग पाला···जोय होइ जग खाईं। वही, पृ० १८-१९

७. कहैं गुलाल हम प्रभुजी पावल, फरल लिलरवा पपवा भागल भागल हो सजनी।

वही, पृ० २९

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

गुलाल साहेब में भक्ति, वैराग्य और प्रेम का पूर्ण प्रवाह तो देखने को मिलता ही है, हठयोग परक साधना और शब्दों का प्रतीकात्मक चित्रण भी स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। यथा—

उलटि देखो, घट में जोति पसार।
बिनु बाजे तहँ धुनि सब होवै, बिगसि कमल कचनार।।
पैठि पताल सूर ससि बाँधौ, साधौ त्रिकुटी द्वार।
गंग जमुन के वार पार बिच, भरतु है अमिय करार।।
इँगला पिंगला सुखमन सोधो, बहत सिखर मुख धार।
सुरति निरति लै बैठु गगन पर, सहज उठै झनकार।।
सोहं डोरि मूल गहि बाँधो, मानिक बरत लिलार।
कह गुलाल सतगुरु बर पायो, भरो है मुक्ति भँडार।।[1]
तिरबेनी में लगी खुमारी, टरत नहीं मन टारी।
गंग जमुन के मध्य निरन्तर, तहवाँ देव मुरारी।।
तिरबेनी में तिलक बिराजै, बंकनाल चढ़ि जात।[2]

इसके अतिरिक्त अन्यत्र[3] भी हठयोगपरक कथन मिलते हैं, जो गुलाल साहेब की साधना के मुखरित प्रतीक हैं। इस सन्दर्भ में एक बात द्रष्टव्य है कि गुलाल साहेब ने केवल सिद्धान्त कथन के लिए ही हठयोग का उल्लेख नहीं किया, इस हठयोगपरक साधना का प्रमुख उद्देश्य भक्ति मार्ग में प्रवृत्त होना ही है। ब्रह्म से दाम्पत्य सम्बन्ध जोड़ने के प्रसंग में हठयोग कथन इसी प्रवृत्ति का प्रतीक है। आत्मा की ब्रह्म से सगाई हो गई है, ब्याह की तैयारियाँ हैं, माढ़ा बनाना है, दीवालों पर कुछ सतिया आदि धरने हैं, सखियों को मंगल गीत अवसरानुकूल गाने हैं, लोक प्रथानुसार वर-वधू पर कुछ न्यौछावर भी किया जाता है; तब अनेक रकमों को पूरा करने के पश्चात् विवाह सम्पन्न होता है। गुलाल साहब ने इस समस्त प्रक्रिया का चित्रण हठयोग की शब्दावली में इस प्रकार किया है—

अब मो सों हरि सों जुरलि सगाई।
सुन्न सिखर पर माड़ो छावो, सहज के रूप लगाई।।
सुरति निरति लै सखि सब गावहिं घर ही नवनिधि पाई।।

---

१. गु० बा०, भेद का अंग, शब्द २, पृ० ४७
२. वही, शब्द १०, ११, पृ० ५१
३. वही, उपदेश १६, २२, चेतावनी का अंग ४, करम धरम ९, १३, १५, १६, भेद का अंग १, १५, १७, २०, अरिल छंद २, ३, ४, ७, ८, १५, १७, १९, २१, ३७, ४०, ४८, ४९, ५०, ५२, ६२, हिंडोला १, २, ७, वसन्त १३, होली, ७, ८, ९, १२, १५, मंगल ३, ४, ५, आरती १, ५, ९, १३, पहाड़ा, दोहे ४, ५, ७, १९

लोक वेद नेवछावरि वारौं जुग जुग मैल बहाई।
कहँ गुलाल परमपद पावों, सत गुरु ब्याह कराई ।।[1]

इसी प्रकार बसन्त क्रीड़ा के समय भी गुलाल साहेब ने हठयोगपरक शब्दावली का प्रयोग किया है—

खेलत बसन्त आनन्द धमारि।
तनमन डारि कै रहो समाई। गंग जमुन मिलि सिखर पाई।[2]

आत्मा रूपी सोहागिन पिय से होली खेल रही है, अबीर गुलाल उड़कर आकाश की सीमाओं को छू रहा है, सखियाँ एक दूसरे से फाग में उलझ जाती हैं, फगुआ प्रदान किया जाता है, पिय के साथ भरपूर होली खेलकर आत्मा की प्यास और चिर अभिलिषित इच्छा पूर्ण हो जाती है। गुलाल साहेब ने इस होली के आध्यात्मिक रूप का भी हठयोग परक चित्रण किया है—

चांद सूर उलटे चले। उड़त अबीर अकास।
इँगल पिंगल खेलन लग्यो। सुखमन सहज निवास।।
तिरबेनी फगुवा बन्यो। मानिक झरि चहुं पास।
कह गुलाल आनँद भयो। पूजलि मन की आस।।[3]

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते हैं कि भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और प्रेमपरक अनुभूति में अन्तः सलिला सम प्रतीकात्मक चित्रण ने भावों को अधिक गहन, उत्कृष्ट और सम्प्रेषणीय बना दिया है। सिद्ध परम्परा से प्राप्त सहज का परमतत्व, सहज-समाधि और स्वाभाविकता के अर्थ में प्रयोग; ब्रह्म से माधुर्य परक सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसके लिए साँई, प्रिय, पिया, कंत, खसम, दुलहा तथा आत्मा के लिए सोहागिन, दुलहिन, विरहिन, कुलवन्ती, नारी, धन आदि का प्रयोग; दार्शनिक विवेचन में ब्रह्म के निगुणरूप के साथ-साथ हरि, राम, प्रभु, शिवादि का प्रयोग तथा आत्मा को ब्रह्मांश बताकर जल-लहर के दृष्टान्त का अद्वैत समर्थित रूप; माया को ब्रह्म की शक्ति स्वीकार करते हुए भी उसका ठगिन, नारी, क्वारी कन्या, जननी रूप में चित्रण तथा हठयोगपरक शब्दों को गंगा, जमुना, सरस्वती, संगम आदि कहना गुलाल साहेब के प्रतीकात्मक चित्रण के आधारभूत स्तम्भ हैं, पर यह प्रतीकात्मक शैली अपने सहज स्वाभाविक रूप में स्वतः ही प्रस्फटित होती चली है, सप्रयास या प्रदर्शन का उसमें सर्वथा अभाव है।

---

१. गु० बा०, प्रेम, शब्द १० पृ० ३४
२. वही, बसन्त, शब्द १३, १४ पृ० ९३
३. वही, होली, शब्द ८, पृ० ९८

१८. भीखा साहब

(जन्म संवत् १७७० वि०, चोला त्याग १८२० वि०)[1]

गुलाल साहेब के अनन्य शिष्य भीखा साहब में बाल्यकाल से ही वैराग्य जागृत हो गया था। आपकी बानी भक्ति, वैराग्य, ज्ञान, योग से ओतप्रोत है। शब्दों से मौज की लहरें उठती दिखाई पड़ती हैं, रस स्रोत के समान फूटा पड़ता है।

परम्परागत प्रतीक

प्रतीकात्मक दृष्टि से भीखा साहब की बानी काफी सुन्दर है। वैदिक साहित्य में जिस वृक्ष प्रतीक का वर्णन स्थान-स्थान पर किया गया है उस तीन डाल वाले आदि मूल वृक्ष का वर्णन आपकी बानी में द्रष्टव्य है—

आदि मूल इक रुखवा, तामें तीन डार।
ता बिच इक अस्थूल है साखा बहु बिस्तार।
अबरन बरन न आवही छाया अपरम्पार।

× × ×

डार पात फल पेड़ में, देख्यो सकल अकार।
पेड़ एक लगे तीन डार। ऊपर साखा बहु तुमार।
कली बैठि गुरु ज्ञान मूल। बिगसी बदन फूलो अजब फूल।।
फल प्रापत भयो रितु नसाय। परम ज्योति निज मन समाय।।
पक्व भयो रस अमी खानि। चाखत दृष्टि सरूप जानि।।[2]

सिद्धों ने जिस सहज का मिथुनपरक अर्थ ग्रहण किया है उसी को भीखा साहब ने परमतत्व के रूप में प्रयुक्त किया है—

सहजहिं दृष्टि लगी रहे, तेहि कहिए हरि दास।
सहजहिं कियो विचारि जाय रहि सतगुरु पाहीं।।[3]

'सहज समाधि' रूप में भी सहज का प्रयोग किया है—

खोजत सहज समाधि लगाये, प्रभु को नाम न नेर।[4]
समाधी सहज लावो तुम, परमपद को सिधारेगा।।[5]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

भीखा साहब ने ब्रह्म से दास्य, सख्य और दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध स्थापित किए हैं। वे प्रभु सर्व समर्थ हैं। हे प्रभु, मैं संसार के प्रपंच में पड़ा हुआ हूँ; अपने दास को अपनी शरण में ले लो—

१. सन्त सुधा सार, द्वितीय खण्ड, पृ० १३५
२. भीखा बानी, हिंडोलना ३, वसन्त २, पृ० ३७, ३८, ४०
३. वही, कुंडलिया १२, पृ० ७९
४. वही, विनती १, पृ० २३
५. वही, मिश्रित शब्द ३, पृ० ५६

प्रभुजी करहु अपनो चेर ।
मैं तो सदा जनम को रिनिया, लेहु लिखि मोहिं केर ।।[१]

सख्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते समय वे यार, मीत आदि प्रतीकों का प्रयोग करते हुए कहते हैं—

यार हो, हँसि बोलहु मोसों......ए हरि मीत बड़े तुम राजा ।[२]

आत्मा को विरहिन के रूप में प्रस्तुत करते हुए भीखा साहब ने ब्रह्म से अनन्य सम्बन्ध जोड़ा है, पर वह पिया इतने ऊँचे स्थान पर बैठा है कि बधू जा ही नहीं पाती, सखियाँ पिया का हाल पूछती हैं पर बिना देखे भला वह कैसे कहे ? न जाने कितना समय यूं ही बीत गया, मन, बुद्धि थक गये हैं, बिना दरस के हृदय में हमेशा शूल सा चुभता है—

पिया मोर बैसल माँझ अटारी, टरै नहिं टारी ।
बिना मिलन अनमिल साहब सों । कर मींजत धुनि भाल री ।
थकित भयो मन बुद्धि जहाँ लगु । कठिन पड्यो उर साल री ।।[३]

प्रीति की तो यही रीति है, प्रिय हेतु प्रेमी अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है, चातक के समान विरहिन आत्मा बिना प्रिय के प्राण ही समर्पित कर देगी—तभी प्रेम की रीति निभ पायेगी ।[४]

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—अद्वैतवादी विचारधारा के अनुसार ही भीखा साहब ने ब्रह्म का निरूपण किया है वह ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वान्तरयामी, अजर, अमर, अविनाशी, घट घट में व्याप्त है—

व्यापक ब्रह्म चहूं जुग पूरन, है सबमें सब तामें ।
रमता राम सकल घट व्यापक, नाम अनन्त एक ठहरौवे ।
रमिता राम तुम अन्तर जामी, सोहे अजपा जापे हो ।
अद्वै ब्रह्म निरन्तर बासी, प्रगट रूप निज ढ़ाँपे हो ।[५]

जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है उसी प्रकार ब्रह्म आदि, अन्त और मध्य में समान रूप से विद्यमान है ।

जीवात्मा—आत्मा का परमात्मा से अनन्य सम्बन्ध है । अंशी अंश भाव को स्पष्ट करने के लिए भीखा साहब ने जल-बुदबुद, लहर, मिट्टी और बासन आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

---

१. भी० बा०, विनती १, पृ० २३
२. वही, पृ० २४, ३१
३. वही, प्रेम और प्रीति ४; भेदबानी २, पृ० २९
४. वही, प्रेम और प्रीति १, पृ० २७
५. वही, उपदेश २, १३, विनती ८, ११

खुद एक भुम्मि आहि बासन अनेक ताहि।
रचना विचित्र रंग गढ़यो कुम्हार है।
नाम एक सोन आस गहना ह्वै द्वैत भास।
कहूं खरा खोट रूप हेमहिं अधार है॥
फेन बुदबुद अरु लहरि तरंग बहु,
एक जल जानि लीजै मीठा कहूं खार है॥
आत्मा त्यों एक जाते भीख कहे याहि मते,
ठग सरकार के बटोही सरकार कै॥[1]
जहाँ तक समुंद दरियाव जल कूप है,
लहरि अरु बुंद को एक पानी।
एक सुबर्न को भयो गहना बहुत,
देखु बीचार हेम खानी॥
पिरथवी आदि घट रच्यो रचना बहुत,
मिर्तिका एक खुद भूमि जानी।
भीखा इक आतमा रूप बहुतै भयो,
बोलता ब्रह्म चीन्है सो ज्ञानी॥[2]

जिस प्रकार जल और लहर में, स्वर्ण और आभूषण में अंश अंशी भाव का सम्बन्ध है उसी प्रकार आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध है; अन्त में लहर और जल, स्वर्ण और आभूषण मिलकर एक हो जाते हैं। शरीर स्थित आत्मा विघटित होकर अन्ततः परमात्मा में अपने अंशी में अंश भाव से विलीन हो जाती है क्योंकि जो कुछ जीव में है वही ब्रह्म में है।[3]

माया—आत्मा-परमात्मा का यह सम्बन्ध होते हुए भी उसमें माया के कारण द्वैत भावना समा जाती है, मोह, अहंकार क्रोधवश जीव अपने स्वरूप को, ब्रह्म को भूल जाता है—

भूलो हाट ब्रह्म द्वार काम क्रोध, अहंकार माहिं,
रहत अचेत नर मन माया पागो है।[4]

माया वश ही जीव को रज्जु में सर्प का भ्रम होता है।[5] यह माया नर को डसती रहती है, अनेक प्रपंचों में फंसाकर जीव को परमात्मा से विमुख कर देती है।[6]

---

१. भी० बा०, रेखता १२
२. वही, रेखता ८, पृ० ५४-५५
३. वही, रेखता ६, पृ० ५३
४. वही, कवित्त ८, पृ० ४८
५. भीखा एक दुइत का भयऊ, सर्प समाय रज्जु महँ गयऊ। वही, आरती ३, पृ० ३४
६. मोहि डाहतु है मन माया।
एकै सब्द ब्रह्म फिरि एकै, फिरि एकै जग छावा। वही, पृ० १७

ब्रह्म ज्ञान होने पर अविद्या माया नष्ट हो जाती है और आत्मा स्वरूप को पहचान कर उसमें लीन हो जाती है।[1] माया प्रपंच फाग खेलती है, उसके रंग को प्रभु के चेतन नीर से ही बहाया जा सकता है,[2] उसी की छाया में रहने पर ही माया नहीं लगती।[3]

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

भीखा साहब ने हठयोगपरक प्रतीकात्मक शब्दों का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। यथा—इँगला, पिंगला, सुखमन (सुषुम्ना), चाँद, सूरज, गगन, गगन मण्डल, सुन्न, अनहद, त्रिकुटी, संगम, प्राण, अपान, रेचक, कुम्भक, पूरक, विभिन्न मुद्राएँ, चक्रादि। यथा—

मध्य सरस्वति गंगा जमुना, सनसुख सीस नवावै।
कह भीखा वह जागर्त जोगी, सहज समाधि लगावै॥[4]
चाँद सूर एक सम सुरति मिलाय दम,
इँगल पिंगल रंग सुखमन माट है।
पूरब पवन जोग पच्छिम की राह होय,
गंग जमुन संगम तहँ त्रिकुटी को घाट है॥
प्रान औ अपान असमान ही में थिर होवै,
भीखा सब्द ब्रह्म को अकास सुन्न हाट है॥[5]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि भीखा साहब प्रमुख रूप से भक्त हैं। गुरु के श्री चरणों में बैठकर जिस अध्यात्म रस का स्वयं छककर पान किया था, उसे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय मुक्त हाथों से लुटाया है। ब्रह्म से दास्य, सख्य एवं दाम्पत्य भाव के सम्बन्धों में भक्ति का आवेश ही उभर कर आया है। आत्मा ब्रह्मांश ही है, उसके अनित्य स्वरूप का आपने स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। माया के प्रभाव से भीखा साहब कुछ परेशान से हैं, यही संसार को सत्य पथ से भटका कर ईश्वर से विमुख करती है, इसीलिए आपने उस दीनदयाल से प्रार्थना की है ताकि माया के फाँस से बच सकें, क्योंकि सतगुरु के उपदेश और प्रभु की कृपा से ही इस राक्षसिनी से बचा जा सकता है। मन ही इस ओर अधिक भागता है, इसे बाँधने के लिए हठ-योग प्रसाधन का आपने स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। इन यौगिक प्रक्रियाओं में आपका मन खूब रमा है पर इस शुष्क साधना में भक्ति का सरल प्रवाह मन्द नहीं पड़ा है। मन के अनुभूत भावों को व्यक्त करने में आपने प्रतीकों का स्थान-स्थान पर सफल प्रयोग किया है।

---

१. **कृपा कटाच्छ होई जेहि ते प्रभु, छूटि जाय मन माया। भी० बा०, पृ० २४**
२. वही, होली ६, पृ० ४३-४४
३. वहीं, मिश्रित २, पृ० ५५
४. वही, जोगी और जोगीश्वर महिमा २, पृ० २२
५. वही, कवित्त ७, पृ० ४८

१६. पलटू साहिब
(जन्म और मृत्यु संवत् अज्ञात)

गोबिन्द साहब के शिष्य पलटू साहिब की बानी बड़े ऊँचे घाट की है। एक-एक शब्द में अनुभव और साधना की गहरी छाप है। आपके कहने का ढंग कबीर के समान ही है, वैसे ही फक्कड़, अलमस्त और वैसी ही गहरी पैठ। आपकी बानियों का रंग ढंग देखकर संत साहित्य के मर्मज्ञ श्री वियोगी हरि[1] आपको दूसरा कबीर ही मानते हैं।

प्रतीकात्मक दृष्टि से भी पलटू साहिब की बानी बड़ी समृद्ध है। अपनी व्यापक अनुभूति को प्रतीकात्मक सांचे में ढालकर आपने सन्त साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

परम्परागत प्रतीक

वैदिक साहित्य में वर्णित वृक्ष का प्रतीकात्मक चित्रण प्रस्तुत करते हुए पलटू साहिब कहते हैं—

बिनु मूल कै झाड़ इक ठाढ़ि रहा,
तिस पर आ बैठे दुई पच्छी।
इक तौ गगन में उड़ि गया,
इक लाय रहा बकु ध्यान मच्छी॥
गगन में जाइ के अमर भया,
वह मरि गया चारा जिन मच्छी।
पलटू दोऊ के बीच खेलै,
तिहि बात है आदि अनादि अच्छी।[2]

मूल बिन अस्थूल सूच्छम अछै वृच्छ फरावनं।
उड़ै पंछी खाय फल को अमर पुरुष कहावनं॥[3]

वैदिक मंत्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...' के समान यहाँ भी बिन मूल का झाड=संसार का प्रतीक है, दुई पच्छी=परमात्मा और आत्मा के प्रतीक हैं, ब्रह्म अनासक्त भाव से रहता है अर्थात् गगन में उड़ जाता है, परन्तु जीव संसार की माया=मच्छी (फल) को खा जाता है अर्थात् माया मोह में फंस जाता है, परिणामतः विनाश को प्राप्त होता है। इसके विपरीत अनासक्त भाव रखने वाला दूसरा पक्षी=ब्रह्म अमर हो जाता है।

---

१. सन्त सुधा सार, द्वितीय खण्ड, पृ० २१६
२. पलटू बानी २, झूलना ३१ पृ० ४७-४८
३. वही, भाग ३, शब्द ३९, पृ० ५३

सिद्ध साहित्य में प्रयुक्त 'सहज' का पलटू साहिब ने अनेक अर्थों में प्रयोग किया है—

सहज कूप में परै सहज रन जूझना।
सहजै सिंह सिकार अगिन में कूदना॥[1]
लागी सहज समाधि सब्द ब्रह्मांड में फूटा।[2]
फूटि गया असमान सबद की धमक में,
× × × ×
अरे हां, पलटू सहज समाधि दसा खबर नहिं आपने।[3]

पलटू साहिब ने 'खसम' शब्द का विशेष प्रयोग ब्रह्म,[4] निखट्टू पति या उपपति,[5] माया ग्रस्त जीवादि[6] के प्रतीक रूप में किया है, सिद्धों ने खसम (ख=आकाश, सम=समान) का प्रयोग शून्य के समान या आकाश के समान किया है, नाथों ने इसे गगनोपमावस्था कहा है।

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

पलटू साहिब ने ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ते हुए उसे सैंया, पिया, पिय, खसम, सजन, पीतम, साहिब, कंत, आसिक, महबूब आदि प्रतीकों से तथा आत्मा को सजनी, दुलहिन, सोहागिन, विरहिन, वैरागिनि, सुन्दरी, जोगिन आदि प्रतीकों से अभिव्यक्त किया है।

पिय से परिचय हो जाने पर विरह की जो तीव्र वेदना सोहागिन के मन में जागृत हो गई है उसको भला वह शब्दों में कैसे कहे? यह प्रेम परिचय तो पुराना है, जन्म जन्मान्तर का है, पिय का रूप देखते ही भूली स्मृति जागृत हो उठी है, सुरत सोहागिन ने घूँघट (प्रतीकार्थ-सांसारिक भ्रमादि) खोल डाला,[7] पर यह कैसा आश्चर्य? पिय को खोजने क्या चली, वह स्वयं ही पियमय[8] हो गई, अब किससे संदेशा कहे? जैसे अग्नि में पड़कर वस्तु अग्निमय हो जाती है, भृंगी कीट को अपने रंग में रंग लेता है, सरिता सिंधु से मिलकर एकाकार हो जाती है उसी प्रकार सोहागिन (आत्मा) पिय के रूप में मिल गयी है।[9] सुन्दरी[10] अपने पिय से मिल गई

१. प० बा०, २, अरिल १२० पृ० ८१
२. वही, १, कुण्ड० ९० पृ० ३८
३. वही, २, अरिल ४, पृ० ६१
४. वही, १, कुण्ड० ३८, ४१ पृ० १७, १८, ८०
५. वही, १, कुण्ड० २१६, पृ० ९०
६. वही, १, कुण्ड० १८०, ८१ पृ० ७५, ७६
७. वही, १, कुण्ड० ५९ प्रेम, पृ० २५
८. कबीर ने भी कहा है 'लाली देखने मैं गई, मैं भी हो गई लाल।
९. वही, १, कुण्ड० ६० पृ० २५-२६
१०. वही, १, कुण्ड० ६८

हैं, पर विरह के बिना प्रेम कुन्दन सम नहीं बनता, फलत: सोहागिन विरहिन का रूप धारण कर लेती है। संसार पागल समझता है, पर उसे भला मर्म की बात क्या मालूम ? उसके विरह रोग की दवा तो बस प्रीतम के पास ही है,[1] यह विरह का रोग बड़ा ही असाध्य है, 'विरह गांसी' जिसे एक बार लग जाय, कोटि औषधि करने पर भी नहीं जाता, भूख, प्यास, नींद सब गायब हो जाती है, नैन निर्झर बन जाते हैं, गले में फांसी लग जाती है,[2] विरहिन बिना चिता के ही जीवित सती हो जाती है।[3]

पिय दूर परदेश चले गए हैं, भला पिया बिन सेज किसे भावेगी ? रैन होते ही पपीहा बोल उठते हैं, विरहिन को एक तो वैसे ही नींद नहीं आती, पीउ पीउ की आवाज हृदय में बान सालती है। इच्छा होती है कि आँखों से काजल, माथे से सिन्दूर पोंछ डाला जाए, बिना पिया के सिंगार किसे दिखावे, किसे रिझावे—

जेकर पिय परदेस, नींद नहिं आवै हो।
विरहिनि रहै अकेल सो कैसे कै जीवै हो।
पिय बिन कौन सिंगार सीस दै मारौ हो ॥
ककहैं करै सिंगार, सो काहि दिखावै हो।
जेकर पिय परदेस सो काहे रिझावै हो ॥[4]
अरे दैया हमरे पिया परदेसी।
इक तो मैं पिय की विरह वियोगिनि, मो कहँ कछु न सुहाई।
दुसरे सासु ननद मारै बोली, छतिया मोर फटि जाई ॥
× × × ×
पलटू दास पिया नहिं आये, तब हम गइनि विदेसा ॥[5]

पिया की पाती आई है, विरहिन प्रसन्नता से भर उठती है पर दूसरे ही क्षण—

पीतम हमरे पाती पठाई, देखि-देखि मुसुकानी।
बाँचत पाती जुड़ानी छाती आपु में उलटि समानी ॥[6]

बारह मासा लिखने की परम्परा प्राचीन है; पलटू साहिब ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया है। पिया के अभाव में हर मास कठिनाई में बीतता है। हर मास में विरह एक नए रूप में उभर कर आता है। पलटू साहिब ने विरहिन की अवस्था का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

---

१. प० बा०, १, कुण्ड० ६३
२. वही, २, रेखता, प्रेम २७, पृ० १०
३. वही, २, रेखता २६, पृ ११
४. वही, ३, विरह, शब्द ३५ पृ० १५
५. वही, ३, शब्द ४५ पृ० २०
६. वही, शब्द ५१, पृ० २३

सखी मोरे पिय की खबर न आई हो ।
मास असाढ़ गगन घन गरजै, सब सखि छानि छवाई ।
सावन मेघ गरज मोरि सजनी, कोयल कुहुक सुनाई ।।

× × × ×

कातिग घर घर सब सखियाँ मिलि, रचि-रचि भवन बनाई ।
मैं पापिनि प्रीतम बिनु सजनी, रोइ रोइ दिवस गँवाई ।।[1]

विरह की भी अपनी एक सीमा है, विरहिन एक लम्बा विरह काटने के बाद पिया के दर्शन करती है, दिल खोल कर मिलती है, फागुन की मतवाली ऋतु निकट आ जाती है, सोहागिन पिया से फाग का आयोजन करती है, संसार की झूठी निन्दा की भला उसे अब क्या परवाह ? यह संसार (सासु, ननद आदि) तो उसका सुहाग देखकर जलती हैं—

होरी खेलौं मैं पिय के संग, मेरा कोइ क्या करै ।
सासु बुरी घर ननद तुफानी, देखि सुहाग हमार जरै ।
पलटू दास पिया घर आये, अस्तुति निन्दा भाड़ परै ।।[2]

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—पलटू साहिब का दार्शनिक दृष्टिकोण प्रमुखतः अद्वैतवादी है । उनके अनुसार ब्रह्म एक है, वही विभिन्न रूपों में घट घट में व्याप्त है; जड़ चेतन में उसका समान रूप से पसारा है, फूल में गन्ध, काठ में अग्नि, दूध में घृत, मेंहदी में लाली के समान ब्रह्म भी सूक्ष्म रूप से सबमें विद्यमान है—

फूल में है ज्यों बास, राम हैं हमहीं माही ।
फूल माँहि ज्यों बास काठ में अगिन छिपानी ।
जैसे दूध घृत छिपा छिपी मिहँदी में लाली ।।
ऐसे पूरन ब्रह्म कहुं तिल भरि नहिं खाली ।।[3]
सब घट तेरा नूर बिराजै, कहूं चमन कहुं गुल कहुं माली ।
पलटू साहिब जुदा नहीं है, मिहदी के पात छिपी ज्यों लाली ।[4]

वही ब्रह्म जगन्नाथ, जगदीश, कसवीर (बिरवा) भोगी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी में समान रूप से व्याप्त है, वह ब्रह्म स्वयं ही कारण और कार्य है आप ही विश्वरूप है ।[5]

---

१. प० बा०, बारह मासा, पृ० ६४-६५
२. वही, ३ होली, शब्द १११, पृ ६४
३. वही, १ कुण्ड० ७६, ७९, पृ० ३२, ३३
४. वही, भाग ३, शब्द ११ पृ० ५; भाग २, रेखता १७
५. वही ३, शब्द १०, पृ० ४-५

जीवात्मा—पलटू साहिब ने आत्मा को दाम्पत्य प्रतीकों (सुहागिन, विरहिन, सुन्दरी आदि) के माध्यम के साथ-साथ उसे हंस, धुबिया आदि प्रतीकों से भी चित्रित किया है। हंस प्रतीक प्राचीन है, नीर क्षीर विवेक उस की विशेषता है। इस संदर्भ में हंस उस आत्मा का प्रतीक है जो शुद्ध, बुद्ध और आनन्द स्वरूप है। धुबिया लोक व्यवहार तथा व्यवसाय गत प्रतीक है। धुबिया (आत्मा) दिन रात जल (ब्रह्म) में रहते हुए भी प्यासा रहता है, अर्थात् ब्रह्म के इतने निकट होते हुए भी आत्मा ब्रह्मानुभूति नहीं कर पाती, यह माया का प्रभाव है।

पलटू साहिब ने अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए आत्मा और परमात्मा को एक माना है। इनमें अंशी-अंश भाव का सम्बन्ध है। इस एकता को चित्रित करने के लिए आपने नदी और जल तरंग, फल और बीज, पुरुष और छाया, अक्षर और स्याही, कनक और गहना, मिट्टी और घड़ा आदि विभिन्न प्रतीकात्मक रूपक बाँधे हैं—

जोई जीव सोई ब्रह्म एक है, दृष्टि अपानी चर्मा।
फल में बीज बीज में फल है, अवर न दूजा कोई॥
नीर में लहर लहर में पानी, कैसे कै अलगावै॥
छाया में पुरुष पुरुष में छाया, दुइ कहवाँ से पावै॥
अच्छर में मसी मसी में अच्छर, दुइ कहवाँ से कहिये।
गहना कनक कनक में गहना, समझि चुप्प करि रहिये॥
जीव में ब्रह्म ब्रह्म में जीव है, ज्ञान समाधि में सूझै।
मटि में घड़ा, घड़ा में माटी, पलटू दास यों बूझै॥[1]

एक अनेक अनेक फिर एक है,
एक ही एक ना और कोई॥
संत को एक अनेक संसार को,
रहा भरिपूर सब माँहि सोई॥[2]

माया—जीव और ब्रह्म की इस एकता में माया भेद उत्पन्न कर देती है, प्रपंचों में फंसाकर वह जीव को इतनी दूर ले जाती है कि वह अपनी वास्तविकता ही भूल जाता है। 'मृग वासना'[3] में पड़कर वह बार-बार जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है, पलटू साहिब इस द्वैत भ्रम को दूर करने का उपदेश देते हैं।[4]

माया के इस व्यवहार के कारण पलटू साहिब ने उसे बिस्वा (वैश्या)[5],

---

१. प० बा ३, शब्द ९२, पृ० ४४
२. वही, २, रेखता १४, पृ० ५
३. वही, २, रेखता ११, पृ० ४
४. **भर्म को छोड़ि दे द्वैत माया।** वही, २, रेखता १३, पृ० ५
५. **बिस्वा किये सिंगार है बैठी बीच बजार।** वही, १, कुण्ड० ३८

ठगनी[1], बहादुरी[2], नागिनि[3], कलवारिनी[4], कुवारी[5], आदि प्रतीकों से चित्रित किया है। पलटू साहब ने इस द्वैत बुद्धि उत्पन्न करने वाली अविद्या माया का डटकर विरोध किया है। वे मानते हैं कि ज्ञान होने पर भ्रम नष्ट हो जाता है, परिणामत: द्वैत भाव के स्थान पर अद्वैत परक मिलन हो जाता है; छाछ जल जाती है और घी निर्मल हो जाता है।[6]

संसार—पलटू साहिब ने संसार को स्वप्न के समान अस्थिर और निस्सार माना है। जीव जब तक भ्रम में पड़ा रहता है—स्वप्न रूपी संसार को ही सत्य समझे रहता है पर जैसे ही ब्रह्म ज्ञान होता है, संसार की अस्थिरता उस पर प्रकट हो जाती है।[7]

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

हठयोगपरक साधना का पलटू साहिब ने प्रतीकात्मक चित्रण किया है। हटयोगपरक शब्दों–कुण्डलिनी, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, विभिन्न चक्र, प्राणायाम, त्रिकुटी-संगम, सहस्रार, अनाहद आदि का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

तिरबेनी के तीर सरसुती जमुना गंगा।[8]
गगन के बीच में ऐन मैदान है,
ऐन मैदान के बीच गल्ली।
सहसदल कंवल में भंवर गुंजार है,
कंवल के बीच में सेत कल्ली ।।
इडा और पिंगला सुखमना घाट है.
सुखमना घाट में लगी नल्ली।
अछै इक वृच्छ है तेहि के डारि में,
पड़ा हिंडोलना प्रेम झुल्ली ।।

---

१. **माया ठगिन जग ठगा······।** वही, कुण्ड० १८३
२. **माया बड़ी बहादुरी लूट लिहा संसार।** वही, कुण्ड० १८४
३. **नागिन पैदा करत है आपुइ नागिनि खाय।** वही, कुण्ड० १८६
४. **माया कलवारिनी देत विष घोरि कै।···माया कलवारिनी।**
वही, रेखता ८२ अरिल १२१
५. **तुम्हरे बहुत भतार रहिउ ना तुहीं कुआरी।** वही ३, शब्द १३४
६. **जरि गया छाछ भया घिव निरमल···।** वही ३, शब्द ८६
ज्ञान का चांदना भया अकास में···भया अद्वैत जब भर्म भागी।
वही २, रेखता ६५
परदा अन्दर का टरै देखि परै जब रूप। वही १, कुण्ड० १४८
७. **'यह संसार रैन को सुपना, कहाँ फिरै तू भूला है।** वही, ३, शब्द ७५ पृ० ३४
८. वही, १, कुण्ड० १२५ पृ० ५२

अमी रस चुवै सोइ पीयत इक नागिनी,
नागिनी मारि कै बुंद रल्ली ॥[1]
अष्ट दल कंवल के पात को तोरि कै,
कली पर भंवर तब गगन गाजा ।
चांद औ सूर दोउ उलटि पाताल गै,
उनमुनि ध्यान तहँ पवन साजा ।
सिंध परि कूप में गंग पच्छिम बहै,
सेत पहार पर भंवर भाजा ।
सहसदल कंवल में हंस मोती चुगै,
चंदन के गाछ पर कमठ लागा ।[2]

अन्यत्र भी पलटू साहिब ने हठयोगपरक साधना का विस्तृत प्रतीकात्मक चित्रण किया है जिसमें इडा, पिंगला, सुषुम्ना को गंगा, जमुना, सरस्वती, चाँद, सूर्य आदि के प्रतीक से, त्रिकुटी को संगम, तिरवेनी आदि से, कुण्डलिनी को नागिन से, मूलाधार, गगन, भंवर गुफा, गगन गुफा आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है ।

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

पलटू साहिब ने चमत्कार पूर्ण शैली में उलटबाँसियों (उलटावती) की रचना की है जिनके माध्यम से हठयोगपरक साधना, ब्रह्म, आत्मा, माया आदि का प्रतीकात्मक चित्रण किया है—

गंगा पीछे को बही मछरी चढ़ी पहार ।
मछली चढ़ी पहार चूल्ह में फन्दा लाया ।
पुखरा भीटे बांधि नीर में आग छिपाया ।
अहिरिनि फेंके जाल कुहारिन भैंसि चरावै ।
तेलि कै मरिगा बैल बैठि के धुबिइन गावै ।
मछुवा में लगा दाख मांग में भया लुबाना ।
सांप के बिल के बीच जाय के मूस लुकाना ।
पलटू संत विवेकी बुझिहैं सबद सम्हार ।
गंगा पीछे को बही मछली चढ़ी पहार ।
खसम बिचारा मरि गया जोरू गावै तान ।
हम पतिबरता नारि खसम को जीयते मारि ।[3]

यहाँ गंगा = इडा, मछरी = कुण्डलिनी, खसम = अज्ञानी जीव की अज्ञानता जोरू = पतिव्रता शुद्ध बुद्ध आत्मा आदि के प्रतीक हैं ।

---

१. प० बा०, २, रेखता ७०, ७१, पृ० २६, २७

२. वही, २, रेखता ७४, पृ० २८

३. वही, १, कुण्ड० १७ ९, १८० पृ० ७४-७५

अन्त में हम कह सकते हैं कि पलटू साहिब की बानी प्रतीकात्मक दृष्टि से अत्यन्त ही समृद्ध है। अन्य प्रतीकों के साथ-साथ कुछ व्यवसाय परक प्रतीकों (बनिये का तराजू बाट आदि से सौदा तौलने आदि का कार्य)[1] का रूपकात्मक शैली में सुन्दर निर्वाह किया है। बानी में भक्तोचित माधुर्य के साथ-साथ एक अद्भुत मस्ती, फक्कड़ता, अनुभव की गरिमा और निश्छलता सर्वत्र झलकती है, जिसे प्रतीकात्मक शैली ने अधिक प्रेषणीयता प्रदान कर दी है।

२०. तुलसी साहिब

(जन्म सम्वत् १८१७ वि० (मतान्तर से १८४५ वि०) मृत्यु १८९९ वि० (मतान्तर से जेठ सुदी २ से १९०० वि०)[2]

तुलसी साहिब सच्चे अर्थों में भक्त थे। भगवत् भक्ति के आवेश में आपकी वाणी निर्झरवत् फूट पड़ती थी। ऐसी अलमस्ती में गाए गीतों में प्रेम और वैराग्य उत्कट रूप में उभर कर सामने आया है। भावना के इस स्वाभाविक स्रोत में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की सुरसरि भी सहज प्रवहमान होकर जन-मानस को अतिरंजित करती चली है।

परम्परागत प्रतीक

वैदिक साहित्य में जिस वृक्ष का प्रतीकात्मक चित्रण किया गया है उसे 'बेली' के रूप में प्रस्तुत करते हुए तुलसी साहब कहते हैं कि यह बेली अद्भुत है सिंध छोड़कर उसने कंवल कूप में बास किया है, जड़, पेड़, पत्र, शाखा आदि कुछ भी नहीं हैं फिर भी तीन भवन में इसका फल पका है। इस बेल ने अपना विस्तार इतना कर लिया है कि तीनों लोकों को अपने में लिपटा लिया है, कोई भी इस बेल का मर्म नहीं जान पाता पर जो इसे सतगुरु की कृपा से देख पाता है वह सांसारिक बन्धनों और मृत्यु पाश से भी मुक्त हो जाता है। स्पष्टतः यह 'बेली' माया का प्रतीक है—

बेली एक सिंध तजि आई। कंवल कूप किया बासा जी॥
बेली बेल फैल घन छाई। तीन लोक लिपटाई जी॥
बेली फूल मूल नहिं पावै। खोजि खोजि पछताई जी॥
तुलसी दास बेलि लख पाइ। भव जम जाल नसाइ जी॥[3]
सखी री बिरछ पर ताला, जहँ करकँ न काल।
बिरछा के जड़ नहिं पाती, बाकी दुरि दुरि डाल।[4]

१. प० बा०, १ कुण्ड० २२३ पृ० ९२
२. सन्त सुधा सार, द्वितीय खण्ड, पृ० २७०
३. तुलसी साहिब की शब्दावली, भाग १, कहेरा १, पृ० १००
४. वही, चितावनी ४१ पृ १३४

प्रज्ञोपायात्मक अर्थ में प्रयुक्त सिद्ध साहित्य के 'सहज' को तुलसी साहिब ने स्वाभाविक तथा सहज समाधि के लिए प्रयुक्त किया है ।[1]

भावात्मक रहस्यपरक प्रतीक

अंशी-अंश भाव को स्पष्ट करने के लिए तुलसी साहिब ने ब्रह्म से दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध जोड़ा है । आत्मा वधू-स्त्री रूप में सदैव ब्रह्म-पीव से समागम को व्याकुल रहती है, प्रिय से परिचय हो जाने पर वधू के हृदय में विरह की चिनगारी सुलगने लगती है, धीरे-धीरे वह चिनगारी धधकती ज्वाला का रूप धारण कर लेती है, विरहिन तड़प उठती है, तालाबेली लग जाती है । तुलसी साहिब ने आत्मा को स्त्री का प्रतीक मानकर एक से एक मार्मिक उक्तियां कही हैं । व्याकुलात्मा अपनी विरह वेदना किससे कहे ? बिना उसके सुहागिन के शृंगार को 'तोबा' है, पिय बिन सूनी सेज बिछाने से तो विष खाकर मर जाना अच्छा है—

बिन स्वामी सिंगार सुहागिन, लानत तोबा ताइ ।
पिय बिन सेज बिछवै ऐसी, नारि मरै विष खाइ ।।[2]

विरहावस्था में औरों का दुख भी अपना बन जाता है । पपीहे की पिउ पिउ की पुकार, मोर की कुहुक, चातक की प्यास, मीन की तड़पन से उसका निकट का सम्बन्ध हो जाता है, विरहिन उनमें स्वरूप का दर्शन करती है—

मोर सोर पिउ पिउ करै, तड़फ तड़फ तन छीज ।
जल बिन मीन स्वाँत बिन पपिहा,
प्यास रहत जस पिया बिन जियर भटके ।[3]

सावन मास आनन्ददायक ही होता है, झरझर करती बूंद हृदय में उल्लास का भाव पैदा कर देती हैं पर पिय के अभाव में सावन की नन्हीं-नन्हीं फुहारें अगिन ही लगाती हैं, उमड़ती घुमड़ती घटाएँ, चमकती हुई दामिनी एक कसक सी पैदा कर देती है—

पिय बिन सावन सुख नहिं हिये बिच उठत हिलोर ।
पिय बिन बिरहिन बावरि, जिय जस कसकत हूल ।

× × × ×

बीज कड़क कस कस करूँ, सुधि बुधि रहत न हाथ ।
साथ मिलै पिया पंथ कौ, मारग चलौं दिन रात ।[4]

विरह का यह दुख उस समय और भी अधिक तीव्र हो उठता है जब पिया दूर परदेस में चले गए हों, पंथ अगम और अज्ञात हो । सन्देश देकर मन का बोझ

---

१. 'सेता जोगी सहज समाध लगाइया । तु०बा०, मंगल ४, पृ० ८८
२. वही, विरह और प्रेम १, पृ० १
३. वही १ सावन १/१२; भाग २, मलार इकताला ३
४. वही, १, सावन ३, पृ० ९२

कुछ तो कम किया जा सकता है पर अनजान देश में बसे पिया से सन्देश भी कहूँ तो कैसे—

प्यारे पिया परदेश हो गुइयाँ री ।
सइयाँ देस विदेस बिरानी कासे मैं कहों री सँदेसा ।।

× × ×

तुलसी निरखि जात नर देही, जोबन गये अली ऐसा ।।[1]

विरहिन की व्यथा को अधिक मधुर बनाने के लिए तुलसी साहब ने बारहमासा लिख कर परम्परा का समुचित निर्वाह किया है । विरहिन का हर मास कष्ट में ही कटता है । प्रायः सभी कवियों ने श्रावण, भादों में विरह को अधिक तीव्र दिखाया है, इस समय प्रकृति अति उग्र हो जाती है । सूर की गोपियों को पिया बिन काली रात साँपनि सी लगती है, जायसी की नागमती रानीत्व भूल जाती है, घनघोर घटाएँ सिर पर खड़ी हैं, पिया घर नहीं हैं, टूटी छान कौन बाँधेगा—वर्षा के भीषण थपेड़ों से कैसे अपनी रक्षा करेगी ? सावन में तो विरह साँप सा बनकर डसने को दौड़ता है, चमकती बिजलियाँ दिल ही बैठा देती हैं, हृदय में भयंकर अगिनि प्रज्ज्वलित है पर धूम्र बाहर प्रकट नहीं होता,[2] बावरी विरहिन 'दई' (भाग्य) की कठोरता को ही कोसती है, चकवा-चकवी तो सुबह आकर मिल जाते हैं, पर इस विरहिन का कभी प्रभात नहीं आता ।[3] हिंडोला झूलना आनन्द का विषय है पर पिया बिन वह भी जी को ही जलाता है, और सभी सुहागिनें सखियों से हिलमिलकर हिंडोला झूल रही हैं पर बावरी दुलहिन-विरहिन किसके साथ झूले ? पिया तो अपने साथ मानो सारे सुख चैन ही ले गए हैं । होली हर वर्ष आती है पर विरहिन के लिए यही सोच है कि फागुन नजदीक आ रहा है, पिया हैं नहीं, सब सखी पिया से फाग खेलेंगी, मैं 'झक झक' देखकर रोने के सिवाय क्या करूँगी ?[4] इस प्रकार दाम्पत्य भाव का सम्बन्ध स्थापित करते हुए तुलसी साहब ने ब्रह्म के लिए पिया, पिय, स्वामी, प्यारे, पुरुष, यार,सइयाँ आदि का और आत्मा के लिए विरहिन, सोहागिन, दुलहिन आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है ।

तात्विक या दार्शनिक प्रतीक

ब्रह्म—तुलसी साहब ने निर्गुण ब्रह्म का वर्णन किया है । उसे अल्ला,[5] यार, खसम,[6] खुदा,[7] पुरुष, राम, हरि आदि शब्दों से पुकारा है । वह निर्गुण रूप रेख,

१. तु० बा०, २, टप्पा २६, पृ० १५२
२. वही, १, सावन ५ पृ० ६३-६४
३. वही, सावन ६, पृ० ६४
४. वही, भाग २, होली दीपचन्दी १२, पृ० १६२.
५. वही, रेखता ६, पृ० ६
६. वही, रेखता १४, १५ पृ० ११
७. वही, रेखता १७, पृ १२

नाम, ठाम आदि सबसे परे है—

रूप रेख नहिं नाम ठाम नहिं कहत अनामी ।
निर्गुन कहिये ब्रह्म वेद परमातम गावा ।।[1]

वह ब्रह्म घट घट में व्याप्त है, आवश्यकता है उससे पट्ट, खोल कर सुरत लगाने की ।[2] अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म एक सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता और घट घट में व्याप्त है, विभिन्न रूपों में वह हर आत्मा में निवास करता है ।

जीवात्मा—आत्मा का चित्रण तुलसी साहब ने ब्रह्मांश के रूप में ही किया है, आत्मा ब्रह्म से अलग नहीं है, वह राम ही अनन्य भाव से आत्मा में व्याप्त है ।[3]

उपदेशात्मक शैली में तुलसी साहब ने उस महबूब,[4] आसिक[5] का निवास शरीर (आत्मा) में ही बताया है, अंश रूप में आत्मा उसी 'वैराट' से निसृत है, जैसे बूंद का आदि उद्‌भव समुद्र है, पर बूंद जैसे ही समुद्र (परब्रह्म) से पृथक् होती है माया आ घेरती है, पर इससे बूंद का पार्थक्य होते हुए भी समुद्र से उसका सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो जाता, अन्त में बूंद दरियाव में ही समा जाती है ।[6]

माया—ब्रह्म और जीवात्मा की इस एकता में माया (भ्रम) द्वैत पैदा कर देती है, पर ज्ञान होने पर भ्रम का नाश हो जाता है और आत्मा अपने में ही परमतत्व का साक्षात्कार कर लेती है,[7] पर माया के मद में डूबा जीव ज्ञान की बात को चित्त में धारण नहीं करता, वह माया को समझता है फिर भी कुछ ऐसा बेवस सा है कि जानकर भी ज्ञान उसे 'भाता' नहीं है ।[8] तुलसी साहब ने माया को 'बंझा गऊ'[9] गैया[10] आदि प्रतीकों से व्यक्त करते हुए कहा है कि यह गाय सारे संसार को चर रही है, कोई भी इसके मोहक प्रभाव से बच नहीं पाता है, यह 'बंझा गऊ' तीन लोक में 'बियाय' कर सारा माखन, दधि, दूध स्वयं ही चट कर जाती है ।

---

१. तु० बा०, अरियल ११, १२ पृ० ३१
२. वही, रेखता १५, पृ० ११
३. 'जो जो ब्रह्मांड तेरे पिंड पसारा... । वही, गजल २३, पृ० २१
पिंड माहिं ब्रह्मांड सकल विधि रहा समाइ । वही, ककहरा २५, पृ० २७
४. वही, रेखता ६, पृ० ६०
५. वही, रेखता ७, पृ० ६०
६. जबै दरियाब से छूटा । बूंद जल में रहाया है ।
बुंद की लहर बुंदों । उलट बुंद में समाती है ।
उसी बुंद को लहर माहीं । तरंगें जा समाती हैं । वही, रेखता ९ पृ० ६१-६२
७. वही, छन्द २/६ पृ० ५२
८. वही, कुण्डलिया ८, पृ० ३५
९. तीन लोक के बीच में बंझा गऊ बियाय ।
बंझा गऊ बियाय खाय दधि माखन सारा । वही, कुण्ड० २ पृ० ३४
१०. गुरु महरमी संत बिन जग गैया चरि जाय । वही, कुण्ड० ३, पृ० ३४

अन्य संतों के समान तुलसी साहिब ने भी अविद्या माया का बहुश: वर्णन किया है। माया के प्रभाव से बचने का एक मात्र उपाय 'यार' से 'यारी' (दोस्ती) बढ़ाना ही है, वही मन को मायामुक्त कर सकता है।[1] विवेक होने पर माया का फन्दा छूट जाता है, आत्मा निर्मल होकर उस 'एक' को घट में ही पहचानने लगती है।

जो कोइ करै विवेक एक सब घट पहिचानै।[2]

इस प्रकार दार्शनिक विचार धारा और परम्परा का निर्वाह करते हुए तुलसी साहिब ने आत्मा और परमात्मा को बूँद और समुद्र के प्रतीक द्वारा तथा माया को ठगिनि, बंझा गाय, गाय, डाइन नागिन[3] आदि प्रतीकों द्वारा चित्रित किया है।

साधनात्मक रहस्यपरक पारिभाषिक प्रतीक (यौगिक)

तुलसी साहिब सन्त, विरही भक्त होने के साथ-साथ यौगिक साधनाओं में भी समान गति रखने वाले साधक हैं, हठयोग प्रणाली का आपने स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी, विभिन्न चक्र, अनाहद नाद, त्रिकुटी, प्राण साधना आदि प्रक्रियाओं का प्रतीकात्मक चित्रण द्रष्टव्य है—

अआ अष्ट कँवल दलफूल मूल मारग तब पावै।
× × × ×
अरे हाँ, रे तुलसी तिरबेनी के पार सार सतलोक दिखावै॥[4]
गगन वृच्छ के बीच में पंछी पवन चुगाय।
पंछी पवन चुगाय जाय सोई भेद लखावै॥
चढ़ै कोइ गगन की घाटी। रवी ससि मद्धि में बाटी।
सुखमना बंक इंगला पिंगला। स्वास दहने बायें बदला॥
चाँद और सुरज स्वासा को। नाक जोगी निरासा को॥
रवि ससि रहत गगना में। सुरत घर घाट है जामें॥[5]

हठयोगपरक साधना को तुलसी साहिब ने सहज रूप में ही स्वीकार किया है। यह 'जोग जुगति' स्वत: चलती रहती है, यह साधना 'सुरति' के लिए है। आपने हर साधना का लक्ष्य सुरति (ब्रह्माभिमुख अनन्य परक प्रेम) माना है। सुरत सोहागिन मिलन के सुख को और भी अधिक गहरा करने के लिए पिय से 'होरी' खेलती है। तुलसी साहिब कहते हैं कि अरी सोहागिन नारी, पिय से हिरदे में होरी खेल, और बार-बार, पल-पल में सुरति को भी बहोरती चल। हठयोग परक शब्दावली में यह होली रूपक कितना सटीक बन पड़ा है—

खेलो री हिरदे हर होरी, पल में पल सुरति बहोरी।
उनमुनि संग पवन पिचकारी, सुखमनि मार मचो री।

---

१. तु० बा०, रेखता १४, पृ ११
२. वही, अरियल १, पृ० २६
३. वही, चितावनी १६, पृ० १२५
४. वही, ककहरा ३०, पृ० २८
५. वही, रेखता १४, पृ० ७६

बंकनाल रंग माट भरो है, पिया पै ले छिरको री।
चंद सुरज सुन संजम कीन्हा, इँगल पिंगल पट पोरी।
उठत अवाज विमल अनहद की, धधकी धुन संख बजो री।।
सखी चित चेत चलो री।[1]

विपर्यय प्रधान प्रतीक (उलटबाँसी)

चमत्कार पूर्ण शैली में 'उलटमासी' की रचना में तुलसी साहिब का उद्देश्य सिद्धान्त कथन के साथ-साथ ऐसे गुह्य रहस्य का उद्घाटन करना होता है जो अन्यथा सम्भव नहीं है।

'उलटमासी' में आपने ब्रह्म, आत्मा, माया आदि का प्रतीकात्मक चित्रण किया है—

देखा अचरज भाई रे, कहूं कहा न जाई।
चमरा लगन सोधि लिखि जाये, बम्हना चाम चढ़ाये।
नउवा नैन सैन सकुचाने, ब्याह बराती आई रे।।
दुलहा मुवा भई अहवाती, चौके रांड कहाई।
चली बरात ब्याह धन दुलहिन, अचल सुहाग सुहाई रे।।
धरती घुमर गरज जल बरषा, बादर भींज बहाई।
तुलसी चन्द्र चले पानी में, मछरी अकास अन्हाई रे।[2]

'तुलसी शब्दावली भाग १ में 'उलटमासी' शीर्षक से १३ पद दिए गए हैं,[3] अन्यत्र भी उलटमासी के उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।

प्रस्तुत उदाहरण में चमरा = असद् वृत्तियों का, बम्हना = सद्वृत्तियों का, जो माया के प्रभाव से असद्वृत्तियों का रूप धारण कर बैठा है, दुलहा = माया शवलित मन का, अहवाती = सुहागिन = ब्रह्मोन्मुख आत्मा का, बरात = सद्वृत्तियों का, दुलहिन = ब्रह्म को सम्पूर्ण रूपेण प्राप्त कर लेने वाली अचल सुहागवती आत्मा का, मछरी = प्रबुद्ध कुण्डलिनी का प्रतीक है। हठयोग के अनुसार सहस्रार स्थित चन्द्र से जो अमृत स्रवित होता है, मूलाधार स्थित सूर्य उसे ग्रस लेता है, योगी इस साधना को उलट देता है, वह विभिन्न यौगिक प्रक्रियाओं से मूलाधार (धरती) स्थित कुण्डलिनी (मछरी) को जागृत कर ऊर्ध्वमुखी कर देता है, परिणामतः सूर्य उस अमृत को पुनः ग्रस नहीं पाता, ऐसी अवस्था में योगी क्रमशः सांसारिक बन्धनों को तोड़ता हुआ अमर पद में लीन हो जाता है। धरती का जल बरसना, बादल का भीजना, मछरी का आकाश पर चढ़कर नहाना आदि इसी यौगिक प्रक्रिया का प्रतीकात्मक चित्रण है।

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते हैं कि आप एक उच्चकोटि के सन्त, साधक और भक्त हैं। भक्ति, वैराग्य एवं प्रेम के प्रवाह में आकण्ठ निमग्न होकर जिन अनमोल भाव-मोतियों का संचय किया है, प्रतीकात्मकता का रूपहला मुलम्मा चढ़ाकर उन्हें अद्वितीय आभामय, सम्प्रेषणीय और ग्राह्य बना दिया है।

---

१. तु० बा०, २, होली ३० पृ० १७६
२. वही, उलटमासी १, पृ० १३६
३. वही, कुण्डलिया २, पृ० ३४

८. सिद्ध-नाथ साहित्य की प्रतीक योजना का सन्त-साहित्य पर प्रभाव

जनक्रान्ति के उदघोषक सन्त संक्रान्ति काल के कवि हैं। उनके अधिकांश साहित्य का सृजन उस समय हुआ जब तंत्र और योग की अनेकानेक भ्रष्टाभ्रष्ट पद्धतियाँ लुप्त होती जा रही थीं और दक्षिण से आता हुआ भक्ति प्रवाह उत्तर भारत में भी प्रमुख होता जा रहा था। सन्तों ने बहुत कुछ देश काल की परिस्थितियों को देखते हुए निर्गुणोपासना को अपनी साधना का आधार बनाया था पर भक्ति (जिसमें सगुण तत्वों का बाहुल्य था) के प्रति भी वे अनासक्त भाव न अपना सके थे। इस प्रकार सन्तों में दो धाराएँ एक साथ ही प्रवहमान हो रहीं थी। भक्ति का स्वर प्रबल होते हुए भी सन्तों में परम्परागत प्रभाव के कारण विशिष्ट काव्य शैली तथा पारिभाषिक शब्दावली रूढ़ सी हो गई और वे उसी के द्वारा अपनी नवीन अन्तश्चेतना के स्वरों को रूप देने लगे थे। अत: सन्तों के काव्य में अर्थों के कई स्तर दिखाई पड़ते हैं। कहीं तो सन्तों के प्रतीक परम्परागत बौद्ध तांत्रिक या शैव साधनाओं के अर्थों को व्यंजित करते हैं; तो कहीं उन अर्थों का एक अंश ही उन्होंने ग्रहण किया है; कहीं-कहीं तो शब्द या प्रतीक वही परम्परागत हैं पर अर्थ भक्ति प्रवाह से प्रभावित होकर बदल गए हैं, और कहीं सन्तों ने अपनी प्रकृति, प्रवृत्ति और साधना के अनुसार उनमें अर्थ परिवर्तन कर लिए हैं। भक्ति के स्वर के साथ-साथ सन्तों ने राम के निर्गुण रूप तथा अपनी साधना के गुह्य रहस्यात्मक रूप और काव्यशैली के परम्परागत प्रतीकात्मक स्वरूप को भी अपनाए रखा है, इसी कारण वे भावसाधना में वैष्णवों के निकट होते हुए भी प्राय: शैली की दृष्टि से उनसे पृथक् ही दीख पड़ते हैं।

सन्त साहित्य में प्रतीक प्रमुखत: तीन स्रोतों से आए हैं :—

(क) वैदिक परम्परा से, जैसे-हंस, वृक्षादि

(ख) सिद्ध-नाथ परम्परा से तथा

(ग) पूर्ववर्ती एवं सामयिक लोक परम्परा से।

सिद्ध नाथ परम्परा से प्राप्त प्रतीकों का सन्त-साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव तीन धाराओं में द्रष्टव्य है :—

(१) भावात्मक प्रभाव,

(२) साधनात्मक प्रभाव और

(३) शैलीगत प्रभाव।

(१) **भावात्मक प्रभाव**—सिद्ध साहित्य का भावात्मक अंश प्रमुख रूप से शृंगारपरक है। महासुख की उपलब्धि उनका अन्तिम लक्ष्य है, एतदर्थ प्रज्ञोपायात्मक योग-प्रणाली को सिद्धों ने दाम्पत्य प्रणय के चित्रों में खुलकर वर्णित किया है। महा सुख की अनुभति को उन्होंने बाह्याभिव्यक्ति से परे माना है, जिस प्रकार 'सुरंग में उठने वाली धूल सुरंग में ही विलीन हो जाती है, वैसी ही यह अनुभूति है, इसे कौन कह सकता है और कौन समझ सकता है,[१] कबीर ने भी इस अनुभूति को (प्रेम की कहानी को) अकथ तथा गूंगे का गुड़ कहा है।[२]

सिद्धों में शृंगार के संयोग पक्ष का ही वर्णन विशेष रूप से हुआ है, इसका कारण उनकी महासुख (प्रज्ञोपायात्मक मिलन) की कल्पना या धारणा है। आलम्बन रूप में तथागत और भगवती नैरात्मा ही नायक नायिका रूप में हैं जो विश्व व्याप्त प्रणय केलि को अपने चित्त में ही आयोजित करते हैं। सिद्धों में स्वकीया कीभावना ही प्रमुखरूप से मिलती है, इसीलिए उन्होंने नायिका को गृहणी, वधू आदि रूपों में देखा है। यह गृहणी या वधू ही उनकी साधना का केन्द्र बिन्दु है। काण्हपा उसी वधू के लिए वरयात्रा का पूरा सामान सजा कर प्रयाण करते हैं, जिसमें पटह, मादल, पालकी दुन्दुभिनाद सभी कुछ हैं।[३] सन्तों में यह भाव कुछ अधिक विस्तृत रूप में आया है, कबीर ने कहा है—

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आए हो राजा राम भतार।[४]

दादू,[५] गुलाल[६] आदि सन्तों ने भी इसी प्रकार की भाव योजना से अपने काव्य का अलौकिक शृंगार किया है। सिद्धों के समान सन्तों ने भी स्वकीया (पतिव्रता) रूप को ही श्रेष्ठ-माना है परन्तु परवर्ती साहित्य (रीतिकालीन साहित्य) में परकीया का रूप ही अधिक प्रिय हो चला था। सन्तों और सिद्धों की शृंगार भावना में एक अन्तर स्पष्ट देखने को मिलता है। सिद्धों में प्रेमी साधक अपने को पुरुष (उपाय) रूप में परिकल्पित कर नारी (प्रज्ञा) से प्रणय निवेदन करता है जबकि सन्तों में साधक स्वयं नारी रूप है और उनके राम ब्रह्म पतिरूप हैं। हाँ एक समानता फिर भी दर्शनीय है। सन्तों में साधक (आत्मा-वधू) परमात्मा के विरह में कातर है, सिद्धों में भी नायक (साधक) नायिका के प्रति प्रणय निवेदन में अग्रसर होता है। वैसे कई स्थानों पर नारीरूप प्रज्ञा को भी पुरुष की (युगनद्ध रूप में) अभ्यर्थना करते हुए चित्रित किया गया है।

---

१. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य पृ० २४५
२. **अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाय।**
गूंगे केरी सरकरा, खाये औ मुसकाय॥ क० ग्र०
३. **हिन्दी काव्य धारा**, पृ० १५२.
४. **क० ग्र०**, पद १
५. **दादू बानी**, २, पद १६६-६७
६. **गुलाल बानी**, शब्द २६-३०

शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों ही पक्षों का सिद्धों में वर्णन मिलता है, पर जितना सम्भोग का वर्णन मिलता है उतना विप्रलम्भ का नहीं। सम्भोग वर्णन में नायक ही प्राय: प्रणयार्थी के रूप में चित्रित किया गया है, वही योगिनी से आलिंगन, चुम्बन की भिक्षा मांगता है,[1] कपाली के रूप में डोम्बी से समागम करने की कामना प्रकट करता है,[2] शबर रूप में पर्वतवासिनी शबरी से मिलने को पर्वतारोहण कर नैरात्मा बालिका को कण्ठ लगाकर सुहाग शयन का आनन्द लेना चाहता है।[3] सिद्धों के सम्भोग शृंगारपरक चित्रण में लौकिक नायक उपाय का प्रतीक है। सन्तों ने शृंगार का वर्णन किया तो है पर इतने स्पष्ट शब्दों में नहीं; उनके वर्णन में एक धार्मिक भावना सदैव विद्यमान रहती है। उनका वर्णन भक्तिपरक ही अधिक है जिसमें नायिका या सुहागन आत्मा का और प्रियतम ब्रह्म का प्रतीक है। जोबन मदमाती कबीर की आत्मा अपने पाहुने राम का भरपूर स्वागत करती है,[4] पिय से होली खेलती है, एक साथ मिलकर रमण करती है, अंग से अंग मिलाकर एकान्त मिलन की कामना करती है। पिया के साथ एक ही सेज पर रमण करने वाली रमणी ही सुहागन है। पिया से मिलन के लिए ही वह 'स्यंगार करती है।[5] इस प्रकार के भाव सम्भोग शृंगार परक ही हैं।

सिद्ध साहित्य में विप्रलम्भ का अधिक वर्णन उपलब्ध नहीं होता। डा० धर्मवीर भारती ने केवल दो ही उदाहरण एतदर्थ प्रस्तुत किए हैं जिसमें कामार्त नायिकाएँ प्रियतम से अपना कार्य (उपायपक्ष) सम्पन्न करने की कामना प्रकट करती है जिसके बिना उनमें विरह भाव जागृत हो रहा है। एक अन्य वज्रगीति में नैरात्मा (नायिका) हेवज्र (नायक) को शून्य स्वभाव त्याग कर सक्रिय करुणा अथवा उपाय का आश्रय लेकर महासुख (युगनद्ध) पूर्ण करने का आग्रह करती है। बिना मिलन-संगम के चाण्डाली (नायिका) मरणासन्न हो रही है[6]। सन्तो में इस मरणासन्न अवस्था का अनेकशः वर्णन हुआ है। प्रिय के बिना जीवन सूना है, वह मरणासन्न है, एक बार प्रिय दर्शन की इच्छा है। विरह भाव तो सन्तों की अपनी विशेषता है। विरह का यह भाव तो भक्ति का वरदान है जिसे सन्तों ने सम्पूर्णत: सिद्धों से तो प्राप्त नहीं किया, यत्किंचित प्रभावित होना अलग बात है।

शृंगार के अतिरिक्त सन्तों पर सबसे अधिक प्रभाव सिद्धों के विस्मय भाव का पड़ा है। विस्मयोत्पादक भाव उन स्थानों पर अधिक उभर कर आये है जहाँ भौतिक दृष्टि से कार्य और कारण में विपरीत सम्बन्ध है, ऐसे स्थलों पर विशेषण

---

१. गुण्डरीपा, हिन्दी काव्य-धारा; चर्यागीति, पृ० १४२
२. काण्हपा, वही, पृ० १५०
३. शबरपा, वही, पृ० २०
४. क० ग्र०, पद १
५. वही, पद ११७
६. सिद्ध साहित्य, पृ० २५०-५१

और विशेष्य, वस्तु और धर्म बाह्य भौतिक रूप में असंगत से प्रतीत होते हैं, घड़ियाल का इमली खाना, कच्छपी के दूध से पूरा बर्तन भर जाना,[1] मेंढ़क से सर्प का भयभीत होना, गायका बन्ध्या और बैल का प्रसव होना, शृंगाल से सिंह का नित्य युद्ध[2] होना आदि विस्मयोत्पादक भाव हैं जिनका सन्तों पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। कबीर कहते हैं—

सौवै दादुल सरप पहरिया।
बैल बियाय गाय बंझा
× × ×
नित उठि सिंघ सियार सों जूझै[3]

सुन्दर दास भी कहते हैं—

सिंहहि खाय अघानो स्याल।[4]

उद्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन सिद्ध-नाथ साहित्य में लगभग नहीं हुआ है। उन्होंने बाह्य प्रकृति को अज्ञानमय कहकर तिरस्कृत कर दिया है, यही बाह्य प्रकृति बन्धन का कारण है, वही भ्रम है। सिद्धों ने प्रकृति को अन्तस्थ मानते हुए उसे ही सत्य कहा है क्योंकि वही प्रज्ञोपायात्मक है; बाह्य गंगा, जमुना असत्य हैं, शरीरस्थ गंगा जमुना (इडा, पिंगला नाडियां) ही सत्य हैं जिनके बीच अवधूती (सुषुम्ना) मार्ग से सहज नौका प्रवाहित है। यही सूर्य-चन्द्र (ललना और रसना) है, जो बोधिचित्त है वही चन्द्रमा है, रीढ़ की हड्डी ही सुमेरु पर्वत है,[5] इस प्रकार उद्दीपन के रूप में बाह्य प्रकृति तो असत्य है, माया है, भ्रम है। सन्तों के प्रकृति वर्णन और संसार के प्रति धारणा पर सिद्धों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। सन्तों ने भी अन्तस्थ प्रकृति को मानकर शरीर में ही सुमेरु, गंगा, जमुना, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, सागर, वृक्ष आदि की कल्पना की है; उनके लिए भी संसार असत्य और भ्रमपूर्ण है। सन्तों ने स्थान स्थान पर संसार को भ्रमपूर्ण और मिथ्या कहा है, यही माया और संसार आत्मा और ब्रह्म के बीच व्यवधान उत्पन्न कर मिलन में बाधा उपस्थित कर देता है, अतः हेय है। सन्तों ने संसार की अस्थिरता को सेमल का फूल,[6] टेसू का फूल,[7] दस दिन की नौबत,[8] दुख का सागर,[9] दुख का भाँड़ा[10] आदि कहकर सम्बोधित किया है। यहाँ अद्वैतवाद का 'जगन्मिथ्या' का सिद्धान्त स्पष्ट व्यंजित होता है।

---

१. **कुक्कुरीपा,** हिन्दी काव्य धारा पृ० १४२-४४
२. **ढेण्ढणपा, वही,** पृ० १६४
३. **कबीर बीजक,** शब्द ६५
४. **सुन्दर विलास,** विपर्जय को अंग ३, पृ० ८७
५. **डा० धर्मवीर भारती,** सिद्ध साहित्य, पृ० २५३-५४
६. **क० ग्र०,** चितावणी कौ अंग १३/२१
७. वही, ८/२१
८. वही, १/२०
९. **दादू बानी** १ चितावणी को अंग १६/६५
१०. **क० ग्र०,** चितावणी कौ अंग, ४७/२५

सिद्धों के नीतिपरक उपदेशों का भी सन्त साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सिद्धों को लौकिक व्यवहार का उपदेश देने का कभी भी अवकाश नहीं था। व्यक्ति संसार में किस प्रकार सफल होता है, कैसे जीवन यापन करता है, इस ओर उनका ध्यान ही नहीं है, उनका लक्ष्य तो व्यक्तिगत साधना है। संसार को वे मिथ्या और त्याज्य मानते हैं। उनकी प्रमुख चिन्ता यह थी कि कैसे व्यक्ति इस सांसारिक मोहजाल को तोड़कर सहज प्रज्ञोपाय पथ पर चले और नैरात्म ज्ञान उपलब्ध करे। उनका नीतिपरक उपदेश साधक को धर्म साधना में प्रवृत्त करने के लिए धर्म प्रमुख था, और लौकिक व्यवहार गौण। नीति धर्म साधना की सहायिका रूप में थी। सरहपा ने योगी को उपदेश देते हुए निज चित्त को बांधने और निज मन हनन करने का उपदेश दिया है —

णिअ मण मणहु रे णेहुएं जोइ। जिम जल जलेहि मिलन्ते सोई।
चित्ते बद्ध बज्झई मुक्के मुक्कइ णत्थि सन्देहो।[1]

परम्परागत संस्कृत नीति ग्रन्थों के आधार पर सन्तों ने समाज और संसार आदि को लौकिक व्यवहार का उपदेश तो दिया ही है, लेकिन जहाँ साधक को सब कुछ छोड़ कर साधना करने तथा राम नाम से हेत लगाने का भी उपदेश दिया है, उसे हम सिद्धों का प्रभाव स्वीकार कर सकते हैं। कबीर ने सब कुछ छोड़कर राम नाम जपने का उपदेश दिया है—

कबीर राम ध्याइलै, जिभ्या सौं करि मंत।
हरि सागर जिनि बीसरे, छीलर देखि अनंत।[2]

जो राम नाम को छोड़कर अन्य का जाप करते हैं वे तो—

राम पियारा छांड़ि कर, करै आन का जाप।
बेस्वां कैरा पूत ज्यूं, कहैं कौन सूं बाप॥[3]

इस प्रकार सिद्धों के भावात्मक प्रतीकों का सन्तों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव को ग्रहण करते समय सन्तों ने सिद्धों के प्रज्ञोपायात्मक रूप को छोड़ दिया है। सन्त समाज सुधारक थे, उन्होंने मैथुनपरक रूप को किसी भी अवस्था में स्वीकार नहीं किया, इसलिए सिद्धों से ज्ञाताज्ञात अवस्था में भावात्मक प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उसमें भक्ति का मधुर रस मिश्रित कर दिया है।

(२) **साधनात्मक प्रभाव**—सिद्ध और नाथ साहित्य के साधनात्मक प्रतीकों का सन्तों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। सिद्ध, नाथ और सन्तों में हठयोगपरक साधना का अद्भुत साम्य दीख पड़ता है।

गुरु का महत्व बहुत प्राचीन काल से है, साधना मार्ग में प्रवृत्त साधक को गुरु ही मार्ग दिखाता है। सन्तों में गुरु का विशेष महत्व हैं, सभी सन्तों ने गुरुदेव

---

१. सरहपा, दोहा कोश ८६, ६१ पृ० २०
२. क० ग्र०, सुमिरण कौ अंग ३०
३. वही, सुमिरण कौ अंग, २२

के अंग को प्रथम स्थान दिया है, पर गुरु के इस व्यापक महत्व को सिद्ध और नाथ साहित्य से ही प्रभावित मानना समुचित नहीं है। हां, गुरु वचनों को वाण या वज्र कुठार कहते समय सिद्ध और सन्त एक हैं। काण्हपा कहते हैं कि गुरु वचन रूपी कुठार से भवरूपी वृक्ष का समूल उन्मूलन इस प्रकार कर देते है कि वह पुनः उत्पन्न नहीं होता—

वर गुरु बअणें कुठारें छिज्जअ।
काण्ह भणइ तरु पुण ण उइजअ॥[1]

'शबरपा अपनी रूपक शैली में गुरु के वचनों को धनुष मानते हैं जिस पर उन्होंने बोधिचित रूपी वाण का सन्धान कर एक बार में भव और निर्वाण दोनों को वेध दिया है।[2]

सन्तों ने भी गुरु के वचनों को वाण सम माना है। कबीर कहते हैं—

सतगुरु लई कमाँण करि, बांहण लागा तीर।
एक जू बाह्या प्रीति सूं, भीतरी रह्या सरीर॥
सतगुरु मारयां बाणि भरि, धरि करि सूधी मूठी।
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि॥[3]

अनाड़ी गुरु स्वयं तो डूबता ही है, शिष्य को भी ले डूबता है। जो स्वयं अन्धा है वह किसका उद्धार करेगा ? सिद्धों और सन्तों में यह भाव समानरूप से मिलता है—

सरहपा— **जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ।**
अन्धे अन्ध कढ़ावइ तिम वेण्ण वि कूप पड़ेइ॥[4]
जाका गुरु भी अन्धला चेला खरा निरन्ध।
अन्धै अन्धा ठेलिया दून्यूं कूप पड़न्त॥[5]
अन्धे अन्धा मिलि चले दादू बांधि कतार।
कूप पड़े हम देखताँ अन्धै अन्धा लार॥[6]

सन्तों की हठयोगपरक साधना पर सिद्ध-नाथ साहित्य का तो स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का सन्त साहित्य में खुलकर प्रयोग हुआ है। सिद्ध साहित्य में इडा को ललना, गंगा, चन्द्र, प्रज्ञा, शक्ति आदि प्रतीकों से अभिव्यक्त किया है, इसी प्रकार पिंगला को रसना, यमुना, सूर्य, उपाय, शिव आदि प्रतीकों से और सुषुम्ना को अवधूती तथा सरस्वती आदि नामों से भी अभिहित किया है। अवधूती (सुषुम्ना) का स्थान इडा और पिंगला के मध्य का है, इसी से इसे संगम, औघटघाट भी कहा है। यही अवधूती ब्रह्माग्नि या चण्डाग्नि वाहिनी है। अवधूती

---

१. काण्हपा, हिन्दी काव्य धारा, पृ० १५४
२. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० १६६, बा० चर्यापद, पृ० १३३
३. कबीर ग्रन्थावली, गुरुदेव कौ अंग ६/८
४. डा० भारती, सिद्ध साहित्य पृ० ३८८
५. कबीर ग्रन्थावली, गुरुदेव कौ अंग १५
६. दादू बानी १, गुरुदेव को अंग ११७ पृ० ११

को ब्रह्मरन्ध्र से शंखिनी नामक एक अन्य नाड़ी जोड़ती है जिसे बंकनाल भी कहते हैं, इसी से अमृत झरता है, जिस रन्ध्र से अमृत झरकर आता है वही दशमद्वार है। सिद्ध, नाथ और सन्त साहित्य में इन नाड़ियों (इडा, पिंगला और सुषुम्ना) का समान रूप से प्रयोग मिलता है। इडा, पिंगला त्रिकुटी स्थान में आकर मिलती हैं, इस स्थान को त्रिवेणी एवं संगमस्थल भी कहा है। बाह्य प्रकृति में यमुना गंगा में आकर मिल जाती है, पर हठयोग साधना में गंगा (इडा या शक्ति) यमुना (पिंगला, शिव) से मिलती है, इसी कारण इसे उलटी साधना भी कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका में मूलस्थान को उड्डियान बंध द्वारा गंगा जमुना का स्तम्भन कर प्राण को पश्चिम मार्ग सुषुम्ना में प्रवाहित करने का विधान है।[1] इसी गंगा जमुना को त्रिवेणी का घाट तथा मूलाधार चक्र को घाट भी कहा है। गुरु गोरखनाथ कहते हैं—

जोगी अजपा जपै त्रिवेणी के घाटी।
चंदा गोटा टीका करिलै सूरा करिलै बाटी।
मूनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी ॥[2]

सिद्ध साहित्य में गंगा जमुना के मध्यवर्ती मार्ग से सहजयान नौका द्वारा मातंगी (प्रज्ञा) का लीला भाव से पार करने का वर्णन आया है, उसमें वाम और दक्षिण पथ को त्याग मध्यमार्ग से चलना ही श्रेयकर है।[3] सन्तों ने भी इस त्रिवेणी धार का वर्णन किया है। कबीर कहते हैं—

अरध उरध की गंगा जमुना मूल कँवल को घाट।
षट चक्र की गागरी त्रिवेणी संगम बाट ॥[4]
(कबीर) गंग जमुन के अंतरे सहज सुंन के घाट।[5]

पलटू साहब भी कहते हैं—

इडा औ पिंगला सुखमना घाट है,
सुखमना घाट में लगी नल्ली।[6]

---

१. मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत्।
इडां च पिंगला बद्धा बाह्यत्पश्चिमे पथि। हठ० प्रदी० ३/७४

२. गोरख बानी, पृ० ११६

३. गंगा जउँना माँझे बहइ नाई।
तहं बुडिली मातंगी पोइआ लीलें पार करेइ।
बाम दुहिन द्रुह माग न चेवइ वाहतु चण्डा।
डोम्बीपा, हिन्दी काव्य धारा, पृ० १४०

४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ९०

५. संत कबीर, सलोकु १५२, पृ० २७०

६. पलटू बानी, २, रेखता ७१

बुल्ला साहब भी इसी प्रकार कहते हैं—

तिरकुटी जहं बसत संगम, गंग जमुन बहाय।
गंग जमुन मिलि सरस्वति, उमंगी सिखर बहाव।[1]

चर्यापदों में इडा पिंगला को ललना, रसना, चन्द्र, सूर्य[2] आदि प्रतीकों से भी अभिहित किया गया है। चन्द्र तथा सूर्य के मिलन को सिद्धों ने वीणा और कुण्डल के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया है—

चांद सुज्ज बेणि पखा फाल। —गुंडुरीपा
रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे॥ —काण्हपा[3]

नाथ तथा सन्त साहित्य पर इसका प्रभाव द्रष्टव्य है, गोरखनाथ ने कुण्डल का रूपक इस प्रकार बाँधा है।

चंद सूर नी मुंद्रा कीन्ही, धरणि भस्म जल मेला।
नादी व्यंदी सींगी आकासी, अलख गुरु नां चेला॥[4]

कबीर ने वीणा का रूपक इस प्रकार बाँधा है—

चंद सूर दोउ तूंबा करिहूं चितचेतन की डांडी।
सुषमन तन्ती बाजण लागी इह विधि तृष्णा खांडी।[5]

इडा तथा पिंगला को चन्द्र और सूर्य कहते समय तत्सम्बन्धी कलाओं का भी वर्णन किया गया है। चन्द्र सोलह कला, सूर्य बारह कला और सुषुम्ना को असंख्य कलाओं वाला कहा गया है। गोरखनाथ के इस प्रतीक रूपक[6] का सुन्दर दास ने इस प्रकार वर्णन किया है—

बहुदल षटदल दशदल षौजे, द्वादश दल तहाँ अनहद मौना।
षोडशदल अमृत रस पीवै, उपरि द्वै दल करै चितौना॥[7]

कबीर ने चन्द्र और सूर्य के संगम का एक स्थान पर उलटबाँसी की शैली में चित्रण किया है—

जहँ धरनि बरसै गगन भीजै चन्द सूरज मेल।
दोउ मिलि तहं जुरन लागे करै हंसा केलि॥[8]

---

१. बुल्ला शब्द सागर, शब्द १, ५
२. चन्द सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ॥
अध उद्ध माग्गवरें पइसरेइ। चन्द-सुज्ज वेइ पडिहरेइ॥
सरहपा, दोहाकोश, ३५, ५७, पृ० १०, १४
३. डा० धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृ० ४१६
४. गोरखबानी, पृ० ११०
५. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १५४
६. गोरखबानी पृ० ३३
७. डा० प्रेम नारायण शुक्ल, सन्त साहित्य पृ० १७५ से उद्धृत
८. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८३

चन्द्र सूर्य संगम के पश्चात् की अवस्था को सिद्धों ने सहजावस्था, शून्य समाधि अथवा निर्वाण पद कहा है जहाँ सूर्य, चन्द्र, रात, दिन, पवन आदि का पूर्णतया निषेध है। सरहपा कहते हैं—

जहि मण पवण ण संचरई, रवि-ससि णाहि पवेस।
तहि बढ़ चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस॥[1]

गोरखनाथ ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

कहा बुझै अवधू राइ गगन न धरनी, चंद न सूर दिवस नहिं रैनी॥[2]

इसका ज्यों का त्यों प्रभाव सन्तों में देखा जा सकता है। कबीर कहते हैं—

जिहि बन सीह न संचरै पंषि उडै नहि जाइ।
रैनि दिवस का गम नहीं, तहं कबीर रहा ल्यौं लाइ॥[3]

दादू भी इस भाव को शब्दान्तर से इस प्रकार कहते हैं

चलु दादू तहँ जाइये जहँ चन्द सूर नहिं जाइ।
राति दिवस का गम नहीं, सहजैं रह्या समाइ॥[4]

हठयोग साधना में कुण्डलिनी और उसके उत्थापन का विशेष महत्व है। नाथ पंथ में इसका अनेकशः वर्णन हुआ है। गोरखनाथ कहते हैं—

गगन मण्डल में ऊंधा कूवा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा॥[5]

यह भाव कबीर में किंचित शब्दान्तर से इसी प्रकार आया है—

आकासे मुखि औंधा कूआ पाताले पणिहारि
ताका पाणीं को हंसा पीवे बिरला आदि विचारि॥[6]

कुण्डलिनी का गोरखनाथ ने सर्पिणी के रूप में चित्रण करते हुए कहा है कि वह समस्त संसार को डस रही है, यह मतवाली सर्पिणी दसों दिशाओं में दौड़ रही है, इसे प्राणायाम द्वारा वश में करके साधक मृत्यु को भी वश में कर सकता है।[7] नाथ साहित्य में कुण्डलिनी को देवी, धरती, गगरी, भुजंगम[8] बालरण्डा[9] आदि प्रतीकों से भी अभिहित किया है। सन्तों पर नाथ पंथ के इस प्रतीकात्मक चित्रण का व्यापक

---

१. सरहपा, दोहाकोश, ४६, पृ० १२
२. गोरखबानी, पृ० १२६
३. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८
४. दादू बानी १, मधि को अंग २४, पृ० १६२
५. गोरखबानी २३, पृ० ६
६. क० ग्र०, पृ० १६
७. गोरख बानी, पृ० १३६-४०
८. वही, पृ० ५३, ८१, १४२, १४७
९. हठयोगी प्रदीपिका ३/१०६, ११०

प्रभाव पड़ा है। उन्होंने भी कुण्डलिनी को सांपिनी,[१] नागिन,[२] गोरी[३], मछली[४] आदि प्रतीकों से अभिव्यक्त किया है।

साधनात्मक प्रतीकों में मुद्रा का भी विशेष महत्व है। सिद्धों ने 'मुद्रा को उस नारी का प्रतीक माना है जो तांत्रिक अनुष्ठानों (मैथुन तथा बिन्दु रक्षा) के लिए सहसाधिका रहती है।'[५] साधक डोम्बी, चाण्डाली, शवरी आदि को मुद्रा रूप में धारण कर अपनी (प्रज्ञोपायात्मक) सहज साधना का अनुष्ठान करते हैं। नाथ सम्प्रदाय में मुद्रा के इस मैथुनपरक रूप का तिरस्कार किया गया था पर बाद में तांत्रिक प्रभाव से ब्रजोली, सहजोली आदि मुद्राओं का विकास हुआ जिसमें साधक मैथुन के समय बिन्दु रक्षा अथवा क्षरित बिन्दु को पुनः श्वास-प्रक्रिया द्वारा अन्दर खींचने की गुह्य प्रणाली अपनाता है, नारी भी अपने रज की रक्षा करती हुई योगिनी की उपाधि धारण करती है।[६] नाथ पंथी अधिकांशतः ब्रह्मचारी थे, उन्होंने नारी की किसी भी रूप में, निन्दा ही की है। ब्रजोली आदि की कल्पना तांत्रिक प्रभाव के कारण है। गोरखनाथ ने नारी की निन्दा करते हुए कहा है कि 'भग' राक्षसी को मारो, यह बिना दांतों के ही सारे संसार को खा रही है,[७] अतः नारी का त्याग ही श्रेयस्कर है, गोरखनाथ ने स्थान-स्थान पर नारी की निन्दा ही की है।[८] सन्तों ने भी साधना के लिए नारी की सर्वथा ही उपेक्षा की है। सिद्धों का मैथुनपरक रूप यहाँ आकर पूर्णतः तिरस्कृत हो गया है, नाथ पन्थियों के समान सन्तों ने नारी को नागिन, नरक, माया, डाइन[९] आदि प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है।

सिद्धों और नाथों के प्रभाव स्वरूप सन्तों ने नारी के साथ-साथ सास ससुर का भी प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। सिद्धों ने परिशुद्धावधूती को वधू रूप में ग्रहण कर सास ससुर तथा साली को सुलाने[१०] तथा मारने[११] का वर्णन किया है, यह सास = श्वास ससुर, साली = इन्द्रियादि के प्रतीक रूप में आई हैं। नाथों ने भी सास, ससुर का प्रतीकात्मक वर्णन प्राण अपान तथा सुरति और शब्द के रूप में किया है। सन्तों पर भी इस प्रतीकात्मक चित्रण का प्रभाव द्रष्टव्य है। पलटू साहिब कहते हैं—

१. **पलटू बानी**, २, रेखता ७०
२. वही, रेखता ७१; **क० ग्र०** पद ७४; बुल्ला शब्द सागर, शब्द ९
३. **बीजक**, शब्द ८२
४. **क० ग्र०** पद ११
५. **डा० भारती**, सिद्ध साहित्य, पृ० १४१
६. **हठयोग प्रदीपिका** ३/८३, १०३
७. **गोरख बानी**, पृ० १४३
८. वही, पृ० ३५. ७७, ७८
९. **क० ग्र०**, पृ० ३९-४० १३८, **दादू बानी १**, पृ० ११५, ११६, १२४
१०. **कुक्कुरीपा**, हिन्दी काव्य धारा, पृ० १४२,४४, **गुण्डुरीपा**, पृ० १४२
११. **काण्हपा**, वही, पृ० १५०

देखा पिय का रूप फिरा अहिबात हमारा
बहुत दिनन की रांड माँग पर सेंदुर धारा
सासु ननद को मार मैं अदल दिहा चलाई ।
उनके चलै न जोर पिया को मैं हि सुझाई ।।[१]

यहाँ पिया = ब्रह्म, राँड = आत्मा, सासु ननद = माया और वासना के प्रतीक हैं। स्पष्ट ही यह सिद्ध नाथों का प्रभाव है। इस प्रकार सिद्ध-नाथों के साधनात्मक प्रतीकों का सन्त साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

(३) **शैली गत प्रभाव**—भावात्मक और साधनात्मक प्रतीकों का तो सन्तों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा ही है पर शैलीगत प्रभाव सबसे अधिक द्रष्टव्य है। जो रूपक, प्रतीक छन्द, और सन्धा भाषा शैली सिद्ध-नाथों में है, वही, उसी रूप में या यत्किंचित परिवर्तन के साथ सन्तों में भी प्रयुक्त हुई है। सिद्ध-नाथ साहित्य के कुछ प्रसिद्ध उपमानों को तो संतों ने ज्यों का त्यों अपना लिया है। यथा—

तरुवर— काया, चित्त, सृष्टि विस्तार, सहज या शून्य के रूप में—

काया— 'काआ तरुवर पंच बिडाल ।[२]
तरुवर एक डार शाखा पुहुप पत्र रस भरीआ ।'[३]

चित्त— अद्दअ चित्त तरुअरह गउ तिहुवणें वित्थार ।[४]
भौमि बिनां अरु बीज बिन तरुवर एक भाई ।
अनन्त फल प्रकासिया गुरु दिया बताई ।[५]

सृष्टि विस्तार—नाना तरुवर मोउलिल रे गअणत लागेति डाली ।[६]
अछै पुरुष इक पेड़ हैं निरंजन बाकी डार ।
तिरदेवा साखा भये पात भया संसार ।[७]

सहज या शून्य—सुण्णा तरुवर फुल्लिअउ
सुण्णा तरुवर णिक्करुण, जिहि पुणु मूल ण साह ।[८]
सहज सुंनि इकु बिरवा उपजा धरती जलहरु सोखिया ।[९]
बीज बिन अंकुर पेडबिन तरुवर, बिन साषा तरुवर फलिया ।[१०]

---

१. पलटू बानी, १, कुण्डलिया। पृ० १
२. लुइपा, हिन्दी काव्य धारा, पृ० १३६-३८
३. संत कबीर, पृ० १८१
४. सिद्ध साहित्य, पृ० ४४९, दोहाकोश, पृ० ३८
५. क० ग्र०, पृ० १३९
६. सिद्ध साहित्य, चर्यापद २८, पृ० ४५०
७. कबीर, संतबानी संग्रह, पृ० २३
८. सरहपा, हिन्दी काव्य धारा, पृ० १६
९. संत कबीर, पृ० १८१
१०. क० ग्र०, पद १५८

सिद्ध साहित्य के अन्य उपमानों का सन्तकाव्य में प्रयोग संक्षेप में द्रष्टव्य है—

करभ=मन,[१] गाय=इन्द्रियां,[२] गज=मन,[३] मूषक=मन[४] मृग=आसक्त मन,[५] हरिणी=माया,[६] जलधि=भव,[७] नौका=काया[८] ईश्वर,[९] नगरी=काया,[१०] काग=अज्ञानी चित्त।[११]

सिद्धों ने सन्धा भाषा शैली में जो अप्रस्तुत और प्रतीक विधान प्रस्तुत किया है उसमें दो प्रकार के प्रतीक प्रमुख हैं=औपम्यमूलक और विरोधमूलक। सन्तों पर इस प्रतीक योजना का भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। काण्हपा के एक विवाह रूपक[१२] का प्रभाव कबीर पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है—

फीलु रवाबी बलदु पखावज कउआ ताल बजावै ॥

× × × ×

कहत कबीर सुनहु रे संतहु कीडी परवत खाइआ।[१३]

डा० रामकुमार वर्मा ने इसे विवाह रूपक माना है जिसमें हाथी, बैल, कौवा, गधा, भैंसा, सिंह, मूषक, शशक आदि को कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेद्रियों का; कुलीनवर= जीवात्मा; मंडप=शरीर, वधू=आत्मा, होम की अग्नि=ब्रह्माग्नि, पुरोहित= कछुआ रूपी गुरु का प्रतीक है। इसी प्रकार 'दुलहिन गावौ मंगलचार'[१४] भी विवाह रूपक है जिस पर सिद्धों का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है।

तन्तिपा ने करघे के रूपक से प्रज्ञोपायात्मक साधना का वर्णन किया है। जुलाहे का रूपक कबीर का प्रिय रूपक है, स्थान-स्थान पर इसके सुन्दर चित्र देखने को मिल जाते हैं। व्यवसाय की दृष्टि से कबीर स्वयं जुलाहे थे, करघे पर बैठकर लौकिक ताने बाने से उन्होंने झीनी झीनी (आध्यात्मिक) चदरिया बुनी है,[१५] उस

---

१. क० ग्र०, पृ० ११२
२. वही, पृ० १४७
३. वही पृ० ६१
४. वही, पृ० १४१
५. वही, पृ० २०६
६. वही, पृ० १४७
७. दादू बानी २, पृ० ६
८. संत कबीर, पृ० २५४
९. गुलालबानी पृ १२८
१०. कबीर शब्दावली १, पृ० २०
११. क० ग्र०, पृ० १४१
१२. हिन्दी काव्य धारा पृ० १५२
१३. संत कबीर, पृ० ६६
१४. क० ग्र०, पृ० ८७
१५. कबीर शब्दावली, १, शब्द, १५ पृ० ६४

कोरी[1] (ईश्वर) ने इंगला पिंगला के ताने बाने से सुन्दर शरीर रूपी वस्त्र का निर्माण किया है। उस कोरी का मर्म किसी ने नहीं जाना जिसने सारे-संसार में अपना ताना तान दिया है, उसने पृथ्वी और आकाश को करघा, चन्द्र-सूर्य को ढ़रकी बनाकर एक साथ चलाया। कबीर ने करघा (शरीर का बन्धन) तोड़कर अपना सूत (सम्बन्ध उस परमात्मा रूपी जुलाहे के सूत से मिला लिया है।[2] जुलाहे के रूपक द्वारा आध्यात्मिक अभिव्यक्ति कबीर के लिए नई नहीं है इसे यत्किंचित सिद्ध प्रभाव स्वीकार कर सकते हैं, पर इतना विस्तृत रूपक कबीर की अपनी विशेषता है जिसे अन्य सन्तों ने भी व्यापक रूप से अपनाया है। जुलाहे से मिलता जुलता रूपक धुनिया का है। रूई धुनने के रूपक से ब्रह्मज्ञान की अभिव्यक्ति में सन्त सिद्धों से आश्चर्यजनक रूप से प्रभावित हैं। सिद्ध शान्तिपा कहते हैं—

तुला धुणि धुणि अंशूहि अंशू। अंशू धुणि धुणि णिखर सेसू।
तउसे हेतु अण पाविअइ। सान्ति भणइ किं स भाविअइ॥
तुला धुणि धुणि सुण्णे आहारिउ। पुण लअअ अप्पण चटारिउँ।[3]

इसी रूपक को सन्त शिवदयाल इस प्रकार कहते हैं—

धुन धुन धुन अब डालूं मन को,
मैं धुनियां सतगुरु चरनन को।
मन कपास सुरत कर रूई,
काम बिनौला डालै खोई।
हुई साफ धुनकी सुधि पाई,
नाम धुना ले गगन चढ़ाई॥[4]

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य रूपक भी सन्त साहित्य में ग्रहण किए गए हैं जिनके उपमान और अर्थ परिस्थिति भेद से कुछ बदल गए हैं। सिद्ध परम्परा से चले आये ये रूपक नाथ साहित्य परम्परा से चलते हुए सन्तों तक आये हैं पर वैष्णव भक्ति के प्रभाव से सन्तों ने उनमें कुछ परिवर्तन कर लिए हैं। ऐसा लगता है कि सन्तों ने परम्परा से प्रभाव ग्रहण कर अनजाने ही उनका प्रयोग अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कर लिया है। उदाहरणार्थ—

सिद्धों ने सुमेरु पर्वत का रूपक ग्रहण किया है। यह सुमेरु पर्वत मेरुदण्ड का प्रतीक है। एक 'ऊचा ऊचा पावत' है जहाँ साधक की 'शबरी बाली' निवास करती है, जिसे पाने के लिए शबर उन्मत्त हो रहा है।[5] सन्तों ने इस प्रभाव को ग्रहण करते

---

१. **दादू बानी**, २, शब्द २९९, पृ० ११८
२. **संत कबीर**, रागु आसा ३६, पृ० १२६
३. **शान्तिपा**—हिन्दी काव्य धारा, पृ० २४०
४. **संत काव्य**, पृ० ५४९, सम्पा० परशुराम चतुर्वेदी
५. **शबरपा**—हिन्दी काव्य धारा, पृ० २०

हुए मेरुपर्वत पर सहज और शून्य की स्थिति मानी है। दरिया साहब, गुलाल साहब इस मेरुपर्वत का कोना कोना झाँक आये हैं। दरिया साहब इस मेरु को उलंघ कर उस त्रिकुटी सन्धि पर जा पहुँचते हैं जहाँ पहुँचते ही दुख भाग जाते हैं और सुख प्राप्त होने लगता है।[1] गुलाल साहब उस शिखर पर चढ़कर अनाहद तार की झंकार का आनन्द लेते हैं, सभी सखि 'उमंगि उमंगि कर गाती हैं,[2] पर दादू ने इस मेरुपर्वत को कुछ दूसरे ही रंग में देखा है, उनके मेरु शिखर पर राम भक्ति के जल की वर्षा हो रही है जिसमें अंग अंग भीग रहा है।[3] मेरु के अचलत्व भाव को ग्रहण कर कबीर ने मेरु को ही राम के रूप में देखा है।[4] इस प्रकार सुमेरु का रूपक ग्रहण कर सन्तों ने उसमें अपनी प्रकृति, प्रवृत्ति और भावना के अनुसार कुछ अर्थ परिवर्तन कर लिया है।

घोड़ा तथा सवार का रूपक—भी इसी प्रकार का रूपक है। सिद्धों[5] ने पवन निरोध के लिए पवन को घोड़ा मानकर उसे वश में करने का रूपक बाँधा है। नाथ-साहित्य[6] में भी उसका व्यवहार हुआ है। सन्तों ने भी पवन निरोध के लिए यह रूपक अपनाया है। कबीर[7] सहज के पांवड़े से युक्त मन रूपी अश्व पर सवारी करते हैं तो पलटू साहब[8] ने पवन के घोड़ों पर सुरत को सवार बनाकर सुन्दर प्रतीक योजना की है। दरिया[9] साहब ने इसी घोड़े को ज्ञान का प्रतीक माना है। इस प्रकार पवन निरोध का यह रूपक केवल प्राणायाम साधना का ही बोधक नहीं रह गया है। सन्तों ने इस रूपक में ज्ञान, सत्य, सन्तोष, विवेक और विश्वास आदि गुणों का समन्वय कर दिया है।

ताला कुंजी और चोर का रूपक—भी सन्तों में सिद्ध-नाथ प्रभाव से आया है। पर यहाँ भी सन्तों ने इसमें अपने अनुसार कुछ परिवर्तन कर लिए हैं। सिद्धों ने प्राणायाम द्वारा पवन के बन्ध को अध और उर्ध्व मार्ग में ताला लगाने के प्रतीक से व्यक्त किया है,[10] नाथ साहित्य में भी इस रूपक को इसी रूप में ग्रहण किया गया है।[11] सन्तों[12] ने त्रिकुटी में ध्यान को कुम्भक द्वारा केन्द्रित करने के प्रसंग में ताला

१. **दरिया** (मारवाड़ वाले) बानी, पृ० १४
२. **गुलालबानी, पृ०** ४१
३. **दादूबानी**, २, शब्द ३२८, पृ० १२६
४. **सन्त कबीर**, पृ० १७८
५. **सरहपा, बा०** दोहा कोष पृ० २५, (सिद्ध साहित्य, **पृ०** ४६२ से उद्धृत)
६. **गोरखबानी** पृ० १०३
७. **सन्त कबीर**, पृ० ३३
८. **पलटूबानी**, २, रेखता ३७ पृ० १३
९. **दरिया** (बिहार वाले) **साहब के चुने हुए शब्द**, पृ० ११
१०. **काण्हपा**, हिन्दी काव्य धारा पृ० १४८, गुण्डरीपा, वही, पृ० १४२
११. **गोरखबानी** पृ० ८, ४६, १६६
१२. **सन्त कबीर**, पृ० ७६, दरिया सागर पृ० १४, भीखा बानी, पृ० ७८-७९

कुंजी के रूपक को ग्रहण करते हुए भी उसमें कुछ परिवर्तन कर लिया लिया है। ताले में बंद होने पर ज्ञान रूपी हीरे को चोर भी नहीं चुरा सकते। दादू ने गुरु के शब्दों को कुंजी माना है जिससे ज्ञान के कपाट खुल जाते हैं और साधक को तत्व ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।[1]

चोर (वासनाभिभूत मन) के रूपक को भी सिद्ध-नाथ परम्परा से ग्रहण कर सन्तों ने उसमें कुछ परिवर्तन कर लिया है। यही चोर साधनापथ का सबसे बड़ा बाधक है जो तत्व रूपी धन को चुरा लेता है, पर सन्तों[2] का राम धन तो ऐसा अद्‌भुत है कि जिसे चोर चुरा ही नहीं सकते।

सिद्धों के उपमानों का विरोधात्मक रूप सन्तों में उलटबाँसी के रूप में प्रचलित हुआ। इसे उलटी चरचा, विपर्यय, उलटबाँसी आदि नामों से भी अभिहित किया गया है। सिद्धों के इस विरोधात्मक रूप का सन्तों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। नाथ साहित्य में भी उलटबाँसी अपने पूर्ण उत्कर्ष पर है, सन्तों पर इन दोनों ही धाराओं का प्रभाव है।

ढेण्ढ़णपा का एक चर्यागीत तो कबीर में बहुत ही थोड़े शब्दान्तर से पाया जाता है। सिद्ध ढेण्ढ़णपा कहते हैं—

टालत मोर घर नाहि पडिवेशी, हाँडीत भात नाहि नित आवेशी।
बेंगस साप बडहिल जाअ, दुहिले दुधु कि बेन्टे समाअ॥
बलद बिआअल गविआ बांझे, पिटहु दुहिअइ ए तिनो सांझे॥
जो सो बुधी सोध नि-बुधी, जो सो चोर सोइ साधी॥
नित सिआल सिंहे सम जूझअ, टेण्टण पाएर गीत बिरले बूझअ॥[3]

कबीर कहते हैं—

कैसे नगरि करौं कुटवारी, चंचल पुरिष विचषन नारी।
बैल बियाइ गाय भइ बांझ, बछरा दूहै तीयूं सांझ।
मकड़ी घरि मांषी छछिहारी, मांस पसारि चील्ह रखवारी।
मूसा खेवट नाव बिलइया, मींडक सौंवै सांप पहरइया॥
नित उठि स्याल स्वयं सूं झूझै, कहे कबीर कोई बिरला बूझै॥[4]

नाथ साहित्य की उलटबाँसियों का भी संत साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। गोरखनाथ ने विभिन्न कार्य व्यापारों से युक्त एक उलटबाँसी में कहा है—

नाथ बोलै अमृत वांणी, बरिषैगी कँवली भीजैगा पाँणी।
गाडि पडरवा बांधिलै खूंटा, चलै दमांमां बाजिले ऊँटा॥
कउवा की डाली पीपल बासै, मूसा कै सबद बिलइया नासै॥

× × ×

१. दादू बानी १, पृ० १
२. सन्त कबीर, पृ० २०६, दादू बानी २, पद ५१, पृ० २०
३. हिन्दी काव्य धारा, पृ० १६४
४. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८०

नगरी को पांणी कूई आवै, उलटि चरचा गोरख गावै ।।[1]

सन्तों ने भी इसी प्रकार के अद्भुत कार्य व्यापारों से सम्बन्धित अनेक उलटबाँसियाँ कही हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मूसा हसती सौं लड़ै, कोइ बिरला पेषै।
मूसा बैठा बांबि में, लरै सापणि धाई।
चींटी परबत ऊषण्यां, लै राख्यौ चौड़े ।।

× × × ×

कहै कबीर ताहि गुरु करौं, जो यदहि या विचारै ।।[2]

सुन्दरदास भी कहते हैं—

कुंजर कूं गीरी गिलि बैठी, सिंहहि खाय अघानों स्याल।
मछरी अग्नि माँहि सुख पायो, जल में बहुत हुती बेहाल ।।
पंगु चढ़यो पर्वत के ऊपर, मृतकहि देखि डरानो काल।
जाको अनुभव होय सो जानै, सुन्दर ऐसा उलटा ख्याल ।।
सुन्दर एक अचम्भा हूवा, पानी माहीं जरै अंगीठ।
पर्वत उडै रूई थिर बैठी, ऐसो कोइक बाज्यौ पौन ।।[3]

इस प्रकार विरोधात्मक रूपकों से भरपूर सिद्ध-नाथ साहित्य का सन्त साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

अन्त में हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भाव, साधना और शैली गत प्रतीकों की दृष्टि से सिद्ध-नाथ साहित्य का सन्त साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। सिद्ध-नाथ प्रतीकों का प्रभाव सन्तों पर कई रूपों में दीख पड़ता है। कुछ प्रतीक सन्तों ने स्वीकार किए हैं पर सिद्ध या नाथ सम्मत अर्थों में नहीं, स्वयं की प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार उन्हें नया अर्थ प्रदान कर दिया है। कई स्थानों पर उपमान वैष्णव परम्परा से सम्बद्ध होकर बिल्कुल ही भिन्न अर्थ के द्योतक हो गए हैं। कई स्थानों पर सिद्ध-नाथ साहित्यके परम्परागत अर्थों को उसी रूप में स्वीकार करते हुए भी उसमें अपने अनुसार कुछ अर्थ विस्तार कर दिया है। कहीं-कहीं भाषा के विकास के साथ-साथ शब्दों की शक्ति का भी विकास हो गया है। सन्तों ने श्लेष के आधार पर उनको नया प्रतीकात्मक अर्थ प्रदान किया है। उदाहरणार्थ 'बिनानी' शब्द विज्ञान का अपभ्रंश रूप है जिसे तत्वज्ञानी के रूप में सिद्धों ने प्रयुक्त किया है पर कबीर[4] ने 'बिनानी' को जुलाहे का पर्याय बना दिया।

---

१. गोरख बानी, पृ० १४२
२. कबीर ग्रन्थावली, पद १६१
३. सुन्दर विलास, विपर्जय को अंग, पृ० ८७, ८८, ८९
४. 'करगहि एक बिनानी, ता भीतर पंच परानी।'—कबीर ग्रन्थावली, पृ० १८६

सन्तों पर भावात्मक प्रतीकों का प्रभाव अपेक्षाकृत कम, साधनात्मक तथा शैलीगत प्रभाव अधिक है। क्योंकि सिद्धों की प्रज्ञोपायात्मक श्रृंगार भावना को नाथों और सन्तों ने तिरस्कृत कर दिया था, हां साधनात्मक और शैली गत प्रभाव व्यापक रूप में सन्तों ने ज्ञाताज्ञात अवस्था में स्वीकार किया है । डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय के अनुसार भी नाथों और सन्तों में (उलटबाँसी की दृष्टि से) पर्याप्त समानता है।[1] एक बात सन्त साहित्य में विशेष द्रष्टव्य है कि सिद्ध-नाथ प्रभाव ग्रहण करते हुए भी अपनी व्यक्तिगत साधना, विचार, दर्शन और व्यक्तित्व की छाप सर्वत्र विद्यमान है।

---

१. डा० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य पृ० ५६०

६. सन्त काव्य के प्रतीकों का इतर साहित्य पर प्रभाव

वैदिक और सिद्ध-नाथ परम्परा से प्राप्त प्रतीकों से अपने साहित्य का अनुपम श्रृंगार करते हुए स्वसंवेद्य प्रतीकों की जो सहस्रधारा सन्तों ने प्रवाहित की है उससे न केवल उनका साहित्य ही रससिक्त है वरन् समवर्ती एवं परवर्ती साहित्य भी यथेष्ट रूप से प्रभावित हुआ है।

इस समग्र प्रभाव का अध्ययन हम काल क्रमानुसार करेंगे—

भक्तिकाल

भक्तिकाल की अन्य धाराओं (प्रेमाश्रयी, कृष्णभक्ति तथा राम भक्ति धारा) पर सन्तकाव्य के प्रतीकों का बहुमुखी प्रभाव पड़ा है। सन्तों के योगपरक प्रतीक— इड़ा, पिंगला, चक्र, दसवं दुआर, अमृत, अनाहद, वज्र, सहज, सहज-समाधि, शून्य सुरति, मुद्रादि, दार्शनिक (मायिक) प्रतीक-माया आदि, और प्रेम मूलक—चातक, पपीहादि प्रतीकों का पर्याप्त प्रभाव भक्तिकाल पर देखने को मिलता है।

जायसी ने गढ़ छेका और रत्नसेन पद्मावती विवाह प्रसंग में इडा, पिंगला और 'सुषमन' नाड़ी का वर्णन किया है, उनके मिलन की स्थिति को 'सुन्न समाधि'[1] की दशा कहा है; इसे चाँद और सूर्य के प्रतीक द्वारा भी व्यक्त किया है—

आजु चांद घरु आवा सूरू। आज सिंगार होई सब चूरू।
होय मंडल ससि के चहुं पासा। ससि सूरहि लेइ चढ़ी अकासा।[2]

सन्तों में 'दसवं दुआर' गगन का वाचक शब्द माना गया है,[3] जिस प्रकार गगन में पहुँचे बिना शून्य की अनुभूति नहीं होती उसी प्रकार 'दसवं दुआर' उघारे बिना प्रियतम के अलौकिक रूप की झलक प्राप्त नहीं हो सकती। पर वह दसवं द्वार गुप्त है, चढ़ाव अगम है। जायसी कहते हैं—

दसवं दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥
दसवं दुआर गुपुत इक नाका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांका॥[4]

---

१. जायसी ग्रन्थावली, गढ़ छेका खण्ड, पृ० १००/१६
२. वही, रत्नसेन पद्मावती विवाह खंड, पृ० १२३, १२७
३. कबीर ग्रन्थावली, पद ४, ७०
४. जायसी ग्रन्थावली, पार्वती महेश खंड, पृ० ९३

'वज्र' शब्द का अर्थ वेदों से लेकर सन्तों तक अनेक रूपों में परिवर्तित हुआ है। वेदों का वज्रदेव[1] सिद्धों तक आते-आते प्रज्ञा से जुड़कर बोधिचित्त का प्रतीक बन गया। इस प्रज्ञा की भावना में शिव रूप का भी समाहार माना गया है। यही शिव रूप शक्ति के साथ आगे चलकर 'युगनद्ध' रूप में अवतरित हुआ। सिद्धों के यहाँ शिव और शक्ति का युगनद्ध रूप वज्र की धारणा से सम्बन्धित है।[2] सिद्ध समर्थित वज्र का मैथुनपरक रूप सन्तों में आकर परिवर्तित हो गया। उन्होंने इसे कुलिस, परशु एवं कठोर के अर्थ में प्रयुक्त किया है। सन्तों के इसी रूप का प्रभाव सूफी, राम और कृष्ण काव्य धारा पर पड़ा है। उन्होंने भी वज्र को कठोरता आदि के अर्थ में प्रयुक्त किया है। जायसी ने योगक्रिया के अन्तर्गत वज्र का प्रयोग इस प्रकार किया है—

नवौ खंड, नव पौरी, औ तहं वज्र-कंेवार।[3]

विरहाग्नि के रूप में—

बिरह बजागि बीच का कोई। आगि जो छुवै जाइ जरि सोई।
बिरह बजागि बीच को ठेआ। धूम सो उठा साम भये मेघा॥[4]

वज्र का यह प्रेमपरक रूप सूफियों की निजी विशेषता है।

सूर ने भी सन्तों के समान ही वज्र का प्रयोग कठोरता, अस्त्र विशेष तथा वज्रागी के रूप में दिया है—

सुनि भयभीत बज्र के पिंजर सूर सुरति रनधीर।[5]

एक अन्य स्थान पर वज्र को बलवान एवं भयंकरता के प्रतीकार्थ रूप में चित्रित किया है—

चितयै मल्ल नन्द सुत कोधा। काल रूप वज्रांगी जोधा॥[6]

राम काव्य में भी वज्र का कठोरता के प्रतीक रूप में प्रयोग हुआ है। तुलसी कहते हैं—

वचन वज्र जेहि सदा पियारा।[7]

केशव ने भी वज्र का इसी अर्थ में प्रयोग किया है, इसके साथ-साथ अस्त्र तथा वेगवान (वायु) के अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है।[8] इस प्रकार परम्परा से प्राप्त वज्र का प्रतीकार्थ सन्तों ने परिवर्तित रूप में ग्रहण किया और सूफी, कृष्ण और राम भक्ति साहित्य पर इस सन्ताभिमत प्रतीकार्थ का ही प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

१. **देवदत्त शास्त्री**, उपनिषद् चिन्तन, पृ० ८४,८६
२, **परशुराम चतुर्वेदी**, उत्तर भारत का सन्त परम्परा, पृ० ४०
३. **जायसी ग्रन्थावली**, पृ० १६
४. वही, पृ० ७८, १६१
५. **सूरसागर सार, भ्रमर गीत**, पृ० १०६
६. **सूर सागर, खंड दो, पद** ३६८८ पृ० १३०६
७. **मानस बालकाण्ड**, पृ० २५
८. **रामचन्द्रिका**, चौथा प्रकास, पद ६; १२वां प्रकाश, पद ४२

वज्र के समान 'सहज' शब्द का भी भक्तिकाव्य में प्रयोग सन्तों से प्रभावित है। वैसे तो सहज भी सिद्ध परम्परा से गृहीत शब्द है पर वहां इसका प्रतीकार्थ मैथुनपरक है जिसका सन्तों ने पूर्णतया बहिष्कार किया था। उन्होंने सहज का प्रयोग परमज्ञान, परमतत्व आदि के रूप में तो किया ही है, सहज-स्वाभाविक अर्थ में भी इसका प्रयोग द्रष्टव्य है। इसी स्वाभाविकता के कारण सन्तों का योग सहजयोग है। सन्तों के समान ही तुलसी और सूर ने सहज का प्रयोग किया है। तुलसी कहते हैं—

संकर सहज सुरूप सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा।
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहं पुनि विग्यान विहाना ॥[1]

एक अन्य स्थान पर 'सहज' का सहज स्वभाव के रूप में प्रयोग द्रष्टव्य है—

राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाब रे ॥[2]

सूर ने भी सहज का प्रतीकार्थ सहज स्वभाव, स्वाभाविकता और सहज समाधि के रूप में किया है—

देह दशा कुल कानि लाज तजि सहज सुभाउ रह्यो सु धर्‌यौ।
सहज रूप की रास राधिका, भूषन अधिक विराजै।
सहज समाधि सारि वपु बानक, निरखि निमेषन लागत।[3]

यहाँ 'सहज' का प्रतीकार्थ सन्तों से प्रभावित है। इसी प्रकार अन्य योगपरक शब्द (शून्य, सुरति, मुद्रा, चक्रादि) भी सन्त साहित्य से प्रभावित होकर भक्ति साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। इन योगपरक प्रतीकों को सन्तों ने सिद्ध-नाथ परम्परा से गृहीत तो अवश्य किया है पर अपने काव्य में उनका प्रयोग यथावत् न कर कुछ परिवर्तित अर्थ में ही किया है। परवर्ती या समवर्ती साहित्य में इन प्रतीक शब्दों का प्रयोग सन्त मत से प्रभावित होकर ही हुआ है।

संतों के दार्शनिक प्रतीकों का भी भक्तिकाल की अन्य धाराओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वैसे तो शंकराद्वैत का मायावाद सम्बन्धी विश्लेषण सन्तों की मौलिक उद्भावना नहीं है, पर माया को गाय आदि के प्रतीक द्वारा चित्रित करना उनकी अपनी विशेषता है। सन्तों से प्रभावित होकर ही सूर ने माया को गाय रूप में चित्रित करते हुए एक सम्पूर्ण रूपक की योजना की है—

माधौ जू, यह मेरी इक गाइ।
अब आज तें आप आगै दई, लै आइये चराइ ॥

तथा—

माधौ, नेंकु हटकौ गाइ।
भ्रमत निसि-बासर अपथ पथ, अगह गहि नहिं जाइ ॥[4]

---

१. मानस, बालकाण्ड, पृ० ८७, १३३
२. विनयपत्रिका, पद ७३ पृ० १४६, सम्पा० वियोगीहरि
३. सूरसागर, पद २०७२, ३०६३, ४१४८
४. वही, विनय, पद ५१, ५६

प्रेमपरक प्रतीकों में सन्तों ने दीपक और पतंग, चातक, पपीहा आदि का खुलकर चित्रण किया है। इनके माध्यम से इन्होंने प्रेम और बलिदान की भावना को रूप प्रदान किया है। सन्तों के हाथों में पक्षी पक्षी न रहकर प्रेम और बलिदान के जीते जागते प्रतीक बन गए हैं। सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने भी इन प्रेम प्रतीकों का आदर्शमय चित्रण किया है। तुलसी तो राम के हित स्वयं चातक वृत्ति धारण किए हुए हैं। चातक, दीपक और पतंग का काव्य में प्रयोग अपने आप में चाहे कितना ही प्राचीन क्यों न हो पर इनको निस्वार्थ, शुद्ध और पावन प्रेम का प्रतीक बनाने का श्रेय एक प्रकार से सन्तों को ही है, जिसका व्यापक प्रभाव हम सूर और तुलसी आदि भक्त कवियों पर स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार सन्तों के योगपरक, दार्शनिक और प्रेमपरक प्रतीकों का भक्ति काल पर प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है।

रीतिकाल

रीतिकाल प्रमुख से श्रृंगार काल है। प्रायः सभी कवियों ने राज्याश्रय में रहकर श्रृंगार परक रचनाएँ की हैं। ऐसी अवस्था में सन्तों की योग साधना तथा साधनापरक प्रतीकों का सिद्धान्त या व्यवहार की दृष्टि से प्रयोग का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। सन्त जिस सांसारिकता से दूर भागते थे, रीतिकालीन कवि उसके उतने ही निकट थे। वैसे ये कवि भी भक्त थे, पर भक्त होने से प्रथम वे संसारी थे। राधाकृष्ण के बहाने से जिस श्रृंगार का इन कवियों ने वर्णन किया है वह कहीं-कहीं तो औचित्य की सीमा भी लांघता दृष्टिगोचर होता है; परन्तु सर्वत्र ये कवि घोर श्रृंगारी ही बने रहे हैं ऐसा नहीं हैं, शुद्ध भक्ति भावना भी इनमें दीख पड़ती है।

रीतिकालीन कविवों में सन्त साहित्य से प्रभावित प्रतीक विधान साहित्य के अन्योक्ति परक रूप में ही कुछ दीख पड़ता है। अन्योक्ति के माध्यम से एक से एक चुटीली उक्तियां इन कवियों ने कही हैं। सन्त साहित्य में माली को काल का, कलियों तथा पुष्पों को जीवन का प्रतीक माना गया है। जिस प्रकार माली खिले हुए पुष्पों को चुन लेता है और कलियों को कल के लिए छोड़ देता है, उसी प्रकार काल पुष्प रूपी पुरुष को ग्रस लेता है; एक न एक दिन सभी कलियों को काल रूपी माली चुन लेता है। कबीर कहते हैं—

मालन आवति देख कै, कलियां करी पुकारि।
फूली फूली चुन लई, कालिह हमारी बारि ॥[1]

कबीर की इस प्रतीक योजना से प्रभावित दीनदयाल गिरि की एक अन्योक्ति द्रष्टव्य है जिसमें वे अलि रूपी व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए उपदेश देते हैं कि जितना शीघ्र हो सके तू इस वासना पूर्ण संसार से विलग हो जा, न जाने कब वह काल रूपी माली आ जाए और फूलों तथा कलियों को तोड़कर ले जाए—

---

१. **कबीर ग्रन्थावली**, पृ० ७२

ले पल एक सुगन्ध अलि, अपनो जानि न भूल ।।
लै है साँझ सबेर मैं, वह माली यह फूल।
वह माली यह फूल, कितै दिन लोढ़त आयो।
फूले फूले लेत, कली सब सोर मचायो ।।
बरनै दीनदयाल, लाल लखि फंसे न है छल।
लगी बाग में आग, भाग रे गंधहिं ले पल ।।[1]

सन्तों ने सांसारिक विषय वासनाओं और कुत्सित वृत्तियों को उस चोर प्रतीक से अभिव्यक्त किया है जो साधक के ज्ञान रूपी अमूल्य धन को चुरा ले जाता है; ऐसे चोर से रक्षा करने का उपदेश सभी सन्तों ने दिया है। इस प्रतीक रूपक का भी प्रभाव गिरि की एक अन्योक्ति में द्रष्टव्य है जिसमें उन्होंने कुत्सित वृत्तियों तथा विषय वासनादि को बटमार के रूप में चित्रित किया है—

मारे जैहो पथिक हे, या पथ हैं बटमार।
पार होन पैहो नहीं, मारि डारिहैं वारि ।।[2]

सन्तों ने माया के अविद्यात्मक रूप को विविध प्रतीकों से चित्रित किया है, उसे नागिनी, मोहिनी, ठगिनी, डाइन आदि नामों से अभिहित किया है। गिरि ने इस संसार को वन-प्रतीक से व्यक्त करते हुए नारी को माया, नागिन और बटमार के रूप में चित्रित किया है। सन्तों ने साधना मार्ग में नारी को सबसे बड़ा व्यवधान माना है, यही नारी माया है जो पुरुष को विविध प्रकार से संसार जाल में फंसाती है। गिरि की एक अन्योक्ति में यही भाव द्रष्टव्य है—

या वन में करि केहरी, कूप गंभीर अपार।
द्वै पहार की ओट में, बसत एक बटमार।
बसत एक बटमार, उभै धनु सर संधाने।
ता पीछे इक स्याह, नागिनी चाहति खाने ।।
बरनै दीनदयाल, इने लखि डरिए मन में।
पथी सुपंथ बिहाय, भूलि जनि जायो मन में ।।[3]

नारी को विष की बेल तथा विषफल प्रतीक से सन्तों ने अभिहित किया है, यह विषफल बड़ा ही जहरीला है, इसे देखते ही इसका घातक विष चढ़ जाता है और चखते ही व्यक्ति मर जाता है। यह विष बेल खेल खेल में ही व्यक्ति को मार देती है।[4] नारी सम्बन्धी इस प्रतीक का प्रभाव रीतिकाल पर सामान्य रूप से पड़ा है। गिरि ने भी नारी को 'विषबल्ली' के रूप में चित्रित करते हुए उसके विभिन्न अंगों (पल्लव, गुच्छे आदि) को नारी के अंगों का प्रतीक माना है—

१. अन्योक्ति कल्पद्रुम, पृ० ४१-४२
२. वही, पृ० १०७-१०८
३. वही, कुण्ड० २०९, पृ० ११५
४. कबीर साखी संग्रह, पृ० १६८

फूली है सुखमामई, नई लहलही जोति ।
छई ललित पल्लवनि तें, लखि दुति दूनी होति ।।
लखि दुति दूनी होति, चपल अलि या पै दो हैं ।
लगे गुच्छ द्वै बीच, वहै जन को मन मोहैं ।।
बरनै दीनदयाल, पथिक है कित मति भूली ।
ये तो मारक महा, छली विषबल्ली फूली ।।[1]

यहाँ पल्लवादि नारी के हाथ, पांव, दो चपल अलि = दो चंचल नेत्र और दो गुच्छ = युगल कुचों के प्रतीक हैं जिसके देखते ही मनुष्य मोहित हो जाता है; विषबल्ली और विषफल का मद, नशा और विष सम्पूर्णतः चढ़ जाता है ।

सन्तों ने कुरंग को विषयासक्त जीव का प्रतीक माना है । वह संसार की विषय-वासनाओं के जाल में आबद्ध होकर जितना उससे मुक्त होना चाहता है उतना ही उसमें उलझता जाता है । इसी भाव की एक सुन्दर प्रतीक योजना बिहारी के शब्दों में द्रष्टव्य है =

को छूट्यो इहिं जाल परि, कत कुरंग, अकुलात ।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात ।।[2]

सन्तों के समान ही बिहारी की इस अन्योक्ति परक प्रतीक योजना में जाल = संसार की माया, कुरंग = विषयासक्त जीव का प्रतीक है ।

सन्तों के समान दीनदयाल गिरि[3] ने चातक को भी दृढ़ प्रेम का प्रतीक माना है । चातक का घनश्याम से एक निष्ठ प्रेम है वह चाहे उपलवृष्टि ही क्यों न करें, उसकी साधना में अन्तर नहीं आता; तुलसी ने तो इस चातक वृत्ति को अपना सर्वस्व की माना है ।

इस प्रकार रीतिकालीन अन्योक्ति परक काव्य में जो प्रतीक योजना मिलती है उस पर सन्त साहित्य के प्रतीकों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।

आधुनिक काल

वैसे तो आधुनिक साहित्य का प्रतीक विधान पाश्चात्य प्रतीक शैली से प्रभावित है फिर भी उस पर सन्तों के प्रतीकात्मक चित्रण का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है । सन्तों के यौगिक प्रतीकों का प्रभाव तो अपेक्षाकृत कम है, हाँ प्रेमपरक भावनामूलक प्रतीकों का पर्याप्त प्रभाव दीख पड़ता है ।

सन्तों के दाम्पत्य प्रतीकों के अन्तर्गत प्रेम का जो अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है भारतेन्दु पर उसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । चारों ओर सुनसान है; विरहिन (जीवात्मा) पिया की बाट जोह रही है, रिमझिम में हबरस रहा है, वह पिया के कारण भीग रही है, मिलन की आकांक्षा मन में लगाए विरहिन

१. अन्योक्ति कल्पद्रुम, कुड० २१० पृ० ११५
२. बिहारी रत्नाकर, दोहा ६७१, पृ० २७५
३. अन्योक्ति कल्पद्रुम, कुण्ड० १२९ पृ० ७७

कामाग्नि से तप रही है, पिया बिन सब कुछ सूना सूना सा लगता है, मेरी याचना है कि हे पिया एक बार तो आओ—

रिमझिम बरसत मेंह भींजत मैं तेरे कारन।
खरी अकेली राह देखि रही सूनों लागत गेह।
आप मिलौ गर लगौ पियारे तपत काम सो देह।
हरीचन्द तुम बिनु अति व्याकुल लाग्यौ कठिन सनेह ॥[1]

सन्तों ने पिय मिलन में सास, ननद (इन्द्रिय जनित विकार, सांसारिकता) को बाधक रूप में चित्रित किया है, यही भाव भारतेन्दु के एक पद में द्रष्टव्य है जिसमें आत्मा रूपी सुहागिन ननद से प्रार्थना करती है कि वह पिय से 'होरी' खेलना चाहती है, उसे 'बरज' मत, न जाने ये दिन फिर आवें या न आवें; कहीं स्वप्नवत् ये दिन बीत न जाएँ—

मोहि मत बरजे री चतुर ननदिया होरी खेलन जाऊं।
फिर ये दिन सपने से ह्वै हैं पाऊं कै ना पाऊं।
'हरिचन्द्र' जनमन की प्यासी कछु तो प्यास बुझाऊं ॥[2]

यह जीवन चार दिन का है, इतने कम समय को भी यदि जीवात्मा अज्ञानान्धकार में व्यतीत कर देगी तो उसका सारा श्रम, साधना, जीवन ही व्यर्थ हो जाएगा, इसलिए समय रहते सन्तों ने उस परमप्रिय से मिलने का उपदेश दिया है। भारतेन्दु ने भी इसी भावना को इस प्रकार व्यक्त किया है—

यह दिन चार बहार के, पिय सों मिलु गोरी।
फिर कित तू, कित पिय, कित फागुन यह जिय मांझ बिचार।[3]

नैहर को संसार का प्रतीक मानते हुए सन्तों ने इसे त्याज्य ही माना है। 'नैहरवा हमका नहि भावै' की भावना सर्वत्र विद्यमान है। भारतेन्दु ने भी इसी भाव को अपने पद में व्यक्त किया है। आत्मा समस्त बन्धनों को छोड़ कर परमात्मा की ओर अग्रसर होती है, उसे अकेले ही इस ओर प्रयाण करना है, अर्थात् समस्त बन्धनों और प्रपंचों से रहित होकर ही आत्मा प्रिय समागम के योग्य हो पाती है—

द्वारहि पै लुटि जाएगी बाग औ
आतिसबाजी छिनै मै जरैगी।
ह्वै है बिदा टका लै हय हाथिहु
खाय पकाय बरात फिरैगी।
दान दे मातु पिता छुटिहैं,
हरिचन्द सखिहुँ न साथ करैगी।
गाय बजाय जुदा सब ह्वै हैं,
अकेली पिया के तू पाले परैगी ॥[4]

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, स्फुट कविता, पृ० ८४१/४६
२. वही, होली, पृ० ३८२/५१
३. वही, मधुमुकुल, २५, पृ० ४००
४. वही, विनय प्रेम पचासा, २२, पृ० ५४५

इसी भाव को ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने अपनी एक अन्योक्ति में व्यक्त किया है जिसमें पति, पत्नी, नैहर और ससुराल क्रमशः परमात्मा, आत्मा, संसार और परमधाम के प्रतीक हैं—

आज चली साजन घर सजनी छोड़ विकल परिवार री ।
असमय आज छोड़ पीहर को,
चली जा रही अपने घर को ।
लाय पालकी पर बिठलाई,
ऊपर चादर लाल उढ़ाई,
'ईश्वर' सब लग पाय बिदाकर मांगन लगी सुहाग री ।[1]

जयशंकर प्रसाद ने भी इस दाम्पत्य प्रतीक को अपनी रहस्यमयी वाणी में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

इन्द्रियां दासी सदृश अपनी जगह पर स्तब्ध हैं ।
मिल रहा गृहपति सदृश यह प्राण प्राणाधार से ।।[2]

वास्तव में जब प्राण (आत्मा) प्राणाधार (परमात्मा) से मिलते हैं तो सभी सांसारिक बन्धन छूट जाते हैं, उसकी समस्त मानसिक वृत्तियां उस परमाराध्य में विलीन हो जाती हैं । सन्तों में तो यह भाव अपने चरमोत्कर्ष पर है । विरह भाव तो सन्तों का धन है, वे चिर सुहागिनी चिर विरहिन है, जन्म जन्मान्तर के लिए रोना-तड़पना ही उसके भाग्य में लिख दिया है । सारा संसार खा पीकर मोद मनाता है, सुख की नींद सोता है पर 'दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै', सन्तों की इस चिर विरह की तीव्र भावना का महादेवी पर पर्याप्त प्रभाव दीख पड़ता है । वे भी विरह को प्रिय के वरदान रूप स्वीकार कर निशदिन उसी में लीन रहना चाहती हैं । पीड़ा उनके मानस से भीगे पट सी लिपटी रहती है, इस विरह का न आदि है और न अन्त, बस एक सुनसान पथ दूर-दूर तक फैला है जिस पर उसे किसी की यादों के सहारे एकाकी ही बढ़ना है । उनका घायल मन उस असीम से मिलकर सो जाना चाहता है । कण-कण में एक अनन्त प्यास व्याप्त हो गई है—

घायल मन लेकर सो जाती मेघों में तारों की प्यास ।
× × × ×
इस असीम तन में मिलकर मुझको पलभर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव, आज मेरा दीपक बुझ जाने दो ।
कन कन में बिखरी सोती है अब उनके जीवन की प्यास ।
जगा न दे हे दीप, कहीं उसको तेरा यह क्षीण प्रकाश ।।[3]

विरहिन प्रकृति के समस्त उपादानों में अपना रूप निहारती है, चातक और कोकिल

---

१. अन्योक्ति तरंगिणी, सप्तम तरंग, पृ० ६२
२. कानन कुसुम, पृ० ६३
३. महादेवी वर्मा, यामा, पृ० १४-१५

उसी के विरह में झुलसते हैं, विरहिन उन्हें चुप करा कर कुछ विश्राम पा लेना चाहती है।[1] सन्देश भेज भेज कर वह थक गई है, कोई भी पथिक उसका सन्देशा लेकर नहीं आया, एक अपार सूना विरह पन्थ उसके सम्मुख खुला पड़ा है—

दिन रात पथिक थक गए लौट,
फिर गए मनाकर निमिष हार,
पाथेय मुझे सुधि मधुर एक,
है विरह पन्थ सूना अपार ।।[2]

महादेवी की विरहभावना निश्चित ही सन्तों से प्रभावित है। इसका प्रमुख कारण है—प्रिय के प्रति निराकार भावना। दोनों के प्रिय निराकार हैं, दोनों ही अपनी अभिव्यक्ति में रहस्यवादी हैं; दोनों ही विरह की चिरभावना के पोषक हैं। महादेवी तृप्ति का एक कण भी नहीं चाहतीं, वे तो आखों को प्यासा ही रखना चाहती हैं।

सन्तों ने पावन प्रेम के प्रतीक रूप में चातक का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। मीरा ने अपनी समस्त प्रेम-विरह भावना को चातक के माध्यम से व्यक्त किया है। मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला भी चातकी के उर की व्यथा में स्वयं को प्रतिबिम्बित देखती है। चातकी के द्वारा उर्मिला की समस्त विरह भावना साकार हो उठती है, स्वयं विरहिन होने पर ही वह चातकी की पुकार को समझ पाती है—

चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का मान।
हाँ ! वह तेरा रुदन था, मैं समझी थी गान ।।[3]

चातक एकनिष्ठ भाव से जलधर की ओर ताकता रहता है, उसे छोड़ वह अन्य किसी को अपना नहीं बनाता, पर उसका दुर्भाग्य, प्रतिदान में उसे उपल समूह और सौदामिनी की भयंकर कड़क ही मिलती है, पर इससे क्या पपीहा अपना नेह छोड़ देता है। नहीं, वह तो बस एक ही प्रिय का हो चुका है, चाहे वह खुशी दे या गम—

पपीहा तज वसुधा का वारि।
ताकता है जलधर की ओर।
बरस कर बहुधा उपल समूह।
डराता है घन कर रव घोर।[4]

चातक का स्नेह तो देखिए, अंगार को चन्द्र मयूख समझ कर निगल जाता है—

है चन्द्र हृदय में बैठा, उस शीतल किरण सहारे।
सौन्दर्य सुधा बलिहारी, चुकता चकोर अंगारे ।।[5]

---

१. **यामा**, पृ० २१०
२. वही, पृ० २१०
३. **मैथिलीशरण गुप्त, साकेत, नवमसर्ग**, पृ० २६०-६१
४. **हरिऔध, पारिजात**, पृ० ३१६
५. **प्रसाद**, आंसू, पृ० ४३

कबीर साहित्य में सृष्टि के रचयिता ब्रह्म को कुम्हार[1] रूप में चित्रित किया है। जिस प्रकार कुम्हार अनेक प्रकार के बर्तन-भांडे बनाता है, उसी प्रकार उस ब्रह्म ने मनुष्यों को बनाया है। भारतेन्दु काल में 'ब्राह्मण' में प्रकाशित एक कविता में ब्रह्म को प्रतीक रूप में 'कुभरवा' कहा है—

मृदा से रचत कुभरवा वस्तु अनेक।
सबकौ अन्त जो देखौ एक है रूप ।।[2]

सन्तों ने माली को काल और कुसुम को प्राणी रूप में चित्रित किया है। रीतिकालीन साहित्य में भी इस प्रतीक रूपक का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस प्रतीकात्मक चित्रण का आधुनिक कवि निराला के हाथों अभिनव शृंगार हुआ है। वे कहते हैं—

पहचाना—अब पहचाना
हाँ उस कानन में खिले हुए तुम
चूम रहे थे झूम झूम—
तुम्हारा इतना हृदय उदार, वह क्या समझेगा माली
निष्ठुर निरा गंवार स्वार्थ का मारा यहां भटकता
फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा पटकता
तोड़ लिया लचकाई ज्यों ही डाली
पत्थर से भी कठिन कलेजे का है
चला गया जो वह हत्यारा माली।[3]

पंत ने भी कहा है कि 'काल' की निष्ठुरता से ही मानव जीवन की कली झर कर संसार रूपी नदी की लहरों में खो जाती है—

झर गई कली झर गई कली।
आती ही जाती नित लहरी, कब कौन पास किसके ठहरी;
कितनी ही तो कलियां फहरीं, सब खेली, हिलीं, रहीं संभली।
खो आत्मा का अक्षय धन, लहरों में भ्रमित गई निगली।[4]

निराला हिन्दी के प्रमुख दार्शनिक कवि हैं। कबीर के पश्चात् पुष्ट दार्शनिकता के दर्शन निराला जी के काव्य में ही होते हैं। कवि ने प्रकृति के कण-कण में, उसकी अद्‌भुत रमणीयता में दर्शन को बिखेर कर उसका अध्ययन किया है। विश्व में जहाँ कहीं भी सौन्दर्य और सौख्य है, उसके निकट ही कवि ने दर्शन को खड़ा कर उस विराट सत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। सन्तों के समान निराला ने भी स्वीकार

१. **सन्त कबीर,** रागु आसा १६, पृ० १०६
२. **ब्राह्मण,** फरवरी, संख्या ७ पृ० २७ पर 'वेदान्तशतक' कविता,
हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास, पृ० ५०१ से उद्धृत
३. **निराला,** परिमल, पहचाना, पृ० १२९-३९
४. **गुंजन,** पृ० ३८

किया है कि इस विराट विश्व के पीछे कोई अदृश्य सूक्ष्म सत्ता अवश्य विद्यमान है जो सारे संसार चक्र को गतिशील बनाये हुए है। दार्शनिक विचारधारा से प्रभावित निराला पर सन्तों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सन्तों के प्रेमपरक प्रतीकों का सुन्दर चित्रण इन्होंने किया है। 'जुही की कली' नामक कविता में कबीर के 'हमरे घर आए राजा राम भरतार' की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। कबीर का भाग्य ! उनके 'प्रीतम' घर बैठे आ जाते हैं, अन्तर में अलौकिक प्रकाश जगमगा उठता है, आत्मा चरणों से लिपट जाती है। वह युगों तक उसे अपने प्रेम में उलझाए रखना चाहती है। कबीर अपना तन-मन-धन सम्पूर्ण जीवन ही 'प्रीतम' के चरणों में समर्पित कर देते हैं, उनका घर आँगन सुहावना लगने लगता है। पर निराला की 'कली' का भाग्य कुछ इसके विपरीत है। वह (आत्मा) अपने वृंत (माया-मोह) पर अचेत सोई पड़ी है, पवन (परब्रह्म) को उस नन्हीं सी कली के प्रति अनुराग जागृत हो उठता है, वे चुपके से आते हैं, कोमल मृदु स्पर्श से जगाते हैं, पर आत्मा (कली) कुछ इस प्रकार बेसुध सोई है कि प्रियतम का आना नहीं जान पाती, यौवन के मदभार (सांसारिक विषय-वासनादि) में वह सब कुछ भूली है, पर नायक तो अपनी उपस्थिति का भान करा देना चाहता है, वह कुछ कठोर होकर उसकी सारी देह झकझोर देता है, संसार के क्षुद्र प्रवाह में बहती अनजान कलिका चौंक उठती है, अपनी स्थिति का वास्तविक भान होते ही वह 'झर' जाती हैं और उस विराट सत्ता में विलीन हो जाती है—

नायक ने चूमें कपोल
इस पर भी जागी नहीं।
निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोकों की झाड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
चौंक पड़ी युवती
हेर प्यारे को सेज पास, नम्रमुखी हंसी, खिली
खेल रंग प्यारे संग।[1]

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' कहकर कबीर ने जो प्रतीक योजना की है उसका भी प्रभाव आधुनिक कवि मैथिलीशरण गुप्त पर दीख पड़ता है। वे सौ सौ ज्ञान तन्तुओं से जिस जाल (शरीर) को बुनने में व्यस्त हैं, उसमें प्रयत्न करने पर भी विहंगम (आत्मा) फंस नहीं पाता, वह जाल के बन्धन को तोड़कर उड़ जाता है—

सौ सौ ज्ञान तन्तुओं के मैं जाल निरन्तर बुनता हूं।
परन्तु फंसता नहीं विहंगम लाख सिर धुनता हूं ॥[2]

---

१. निराला, परिमल, जुही की कली, पृ० १९२-९३
२. झंकार, विहंगम, पृ० ८६-८७

'चोर' सन्तों का प्रिय प्रतीक है, वह चुपके से घर में प्रवेश कर तत्वज्ञान रूपी धन को चुराकर भाग जाता है, इस प्रकार यह चोर (विषय-वासना) अन्तर्जगत को खोखला कर देता है। भारतेन्दु ने भी इस प्रतीक को ग्रहण कर अज्ञानी गोरी (जीव) को सावधान करते हुए कहा है—

तेरी अंगिया में चोर बसैं गोरी।
इन चोरन मेरो सरबस लूट्यो मन लीनों जोरा जोरी।।[1]

निष्कर्ष–आधुनिक काव्य में प्रयुक्त विभिन्न प्रतीकों पर प्रमुख रूप से पाश्चात्य प्रतीकवाद का प्रभाव है फिर भी सन्त परम्परा के प्रतीकों का भी आधुनिक काव्य पर पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह प्रभाव भावात्मक (दाम्पत्य प्रतीकादि), दार्शनिक (कालादि) और लोक व्यवहार (चोर, बुनने का रूपक आदि) सम्मत है।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, स्फुट कविताएँ, पृ० ८४६/६६

उपसंहार

साधना के पवित्रतम क्षणों में अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति सामान्य भाषा में नहीं हो पाती, इसलिए प्रतीक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं का ऐसा मूर्त विधान है जो एकबारगी समस्त वातावरण को मुखरित कर देता है चाहे उन भावनाओं का सम्बन्ध अतीन्द्रिय और अलौकिक से हो अथवा भौतिक ऐन्द्रिक लोक से। प्रतीक सत्य और ज्ञान के गतिशील आयामों को मुखरित करता हुआ समस्त ज्ञान-राशि को एक सूत्र में बाँधकर उसे स्थायित्व प्रदान कर देता है। काव्य सौन्दर्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से विविध अलंकारों का (यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति आदि) प्रयोग साहित्य में होता आया है पर सूक्ष्माभिव्यक्ति के क्षेत्र में प्रतीक इन सबसे आगे है। प्रतीक अपने में रहस्य, धर्म, दर्शन, पुराण, इतिहास और सौन्दर्य तत्व की सामुहिक व्यंजना समाहित किये हुए है, इसलिए प्रतीक न केवल काव्य की दृष्टि से वरन् अन्य दृष्टियों से भी महत्वपूर्ण है।

अभिव्यक्ति के आदिस्रोत के रूप में प्रतीकों का वैदिक वाङ्मय में पर्याप्त प्रयोग हुआ है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया......।' कहकर जिस परम्परा का वपन वेदों में हुआ है परवर्ती साहित्य उससे दूर तक प्रभावित हुआ है। सूत्ररूप में प्राप्त वैदिक कथाओं के प्रतीकार्थ का पुराणों में उपबृहण हुआ है। वहाँ अनेकानेक कथाओं द्वारा एक विराट सत्य का दिग्दर्शन कराया गया है। रामायण और महाभारत में ये प्रतीकात्मक कथाएँ परम्परागत तथा विकसित रूप में पल्लवित होती रही हैं। संस्कृत काव्य ग्रन्थों ने भी इस परम्परा को अक्षुण्ण तो रखा है पर उसमें स्वतन्त्र प्रतीक विधान की अपेक्षा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्त्याश्रित विश्लेषण की प्रधानता ही रही है। प्राकृत काव्य में भी अन्योक्तिपरक प्रतीक योजना पर्याप्त रूप में प्रतिफलित हुई है।

उपनिषद्कालीन भाषा में जिस रहस्यात्मकता, लाक्षणिकता और गूढ़ता के दर्शन होते हैं, बौद्धधर्म के प्रचार, प्रसार के साथ-साथ उसमें भी अभिवृद्धि होती गई। स्वयं भगवान बुद्ध ने इस प्रकार की संकेतात्मक शैली को प्रश्रय दिया था। बाद में मन्त्रयान के उद्भव से यह गुह्यता और भी बढ़ गयी। महायान और हीनयान से होता हुआ बौद्ध धर्म वज्रयान तथा सहजयान में विकसित हुआ। सिद्धों तक आते-आते साधना का मिथुनपरक रूप प्रचलित हो गया था जिसमें प्रज्ञा-उपाय, युगनद्ध, शबर, चाण्डाली, डोम्बी आदि विभिन्न प्रतीकात्मक शब्दों का प्रणयन हुआ। यहाँ आकर पंचमकार को नग्न भौतिक रूप में ही स्वीकार किया गया; पर भारतीय चेतना अधिक समय तक इस विकृत रूप को स्वीकार नहीं कर सकी, इसलिए गोरखनाथ

ने सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाकर सभी मिथुनपरक अर्थ तिरस्कृत कर दिये । पंचमकार को नई परिभाषा में बाँधा गया । यहाँ नाथ पंथ भारतीय चिन्तन धारा को ऊर्ध्वगामी आयामों की ओर अग्रसर करता हुआ एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है । नाथ पंथ ने ब्रह्मचर्य और कठिन योग साधना (हठयोग) पर विशेष बल दिया । पर अनधिकारी का प्रवेश यहाँ भी वर्जित था, इसलिए धर्म साधना को प्रतीकों के घेरे में ही रखा गया । यहीं चमत्कारिक शैली (उलटबाँसी) को नया रूप तथा गति प्रदान की गई । नाथ साहित्य पर बौद्ध तथा शैव दोनों परम्पराओं का प्रभाव सम्यक् रूप से पड़ा है अतः दोनों ही परम्पराओं के प्रतीकों का यहाँ प्रयोग देखा जा सकता है ।

सन्तों का आगमन भारतीय साहित्य और चिन्तनधारा में नई क्रान्ति के द्वार उन्मुक्त करता है । समाज के तथाकथित निम्नवर्ग के होते हुए भी इन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को नया क्रान्तिकारी मोड़ दिया । राम के निर्गुण रूप को अपनाकर समाज के गिरते मनोबल को तो सहारा दिया ही पर साथ-साथ उनकी कुरीतियों और आडम्बरों पर तीव्र कुठाराघात कर उन्हें ध्वस्त भी किया है । प्रतीकात्मक दृष्टि से सन्तों ने जहाँ वैदिक परम्परा से 'अक्षयवृक्ष' लिया है वहाँ सिद्ध और नाथ परम्परा से सहज, शून्य, खसम, शब्द एवं अनेकानेक यौगिक शब्द-कुण्डलिनि, इडा, पिंगला, सुषुम्ना, षटचक्रादि को ग्रहण किया है । तत्कालीन समाज तथा व्यवसाय से चरखा, बढ़ैया, ताना, बाना, सूत, रंगरेज, कुम्हार, बाजीगर, कायस्थ आदि शब्द प्रतीकों को लेकर सूक्ष्म आत्मव्यंजना की है । माधुर्य भाव से उपासना करते हुए ब्रह्म को पति, कन्त, पिया, बलम, साजन, परदेसिया, प्रीतम तथा आत्मा को वधू, सुहागिन, पतिव्रता, विरहिन आदि प्रतीकों से चित्रित किया है । सन्त सन्त हैं, संसार के माया मोह से बहुत ऊपर, पर समय के प्राबल्य के समक्ष प्रबल होते हुए भी वे उससे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हैं । समय की गति और अनजान भोली भाली जनता पर अपनी विद्वता या श्रेष्ठता की छाप डालने की इच्छा से इन्होंने चामत्कारिक शैली (उलटबांसी) में काव्य रचना कर अधकचरे या मूढ़ 'अवधू' को खुली चुनौती भी दी है । सन्तों में इस प्रकार प्रतीकों का बहुमुखी विकास हुआ है । वास्तव में सन्त साहित्य तो ऐसा अगाध सागर है जिसमें असंख्य मोती तट पर तथा गहराई में बिखरे पड़े हैं ।

काव्य में प्रतीक एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण लेकर चले हैं । वैदिक काल से लेकर आज तक यह समन्वय अक्षुण बना हुआ है । सत्य और ज्ञान के विविध क्षेत्रों की अनुभूति एवं भावजन्य स्वरूप ही प्रतीकों की विभूति है, इसी का सहारा लेकर प्रतीक ऊर्ध्वगामी बनते हैं । यहाँ द्रष्टव्य है कि वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा सिद्ध-नाथ साहित्य से प्राप्त प्रतीकों का सन्त साहित्य में पर्याप्त विकास हुआ है । सन्त विचारधारा में मिलकर ये प्रतीक अपना वास्तविक अर्थ रखते हुए भी सन्तपरक अर्थ की व्यंजना ही अधिक करते हैं । निरंजन, सहज, सुरति, मुद्रा, खसम, योगिनी, शून्य, अक्षय वृक्षादि इसी प्रकार के शब्द प्रतीक हैं । इन शब्दों का सन्तों में पर्याप्त अर्थ

विकास हुआ है। सूफीकाव्य, रामभक्ति काव्य और कृष्ण भक्ति काव्य में इन प्रतीकात्मक शब्दों की परम्परा अपने परिवर्तित रूप में दृष्टिगोचर होती है। सहज मुद्रा, यौगिनी, सुरति आदि शब्दों का मैथुनपरक अर्थ तो सन्तकाव्य में ही तिरस्कृत हो चुका था, अतः सूफी, राम और कृष्ण भक्त कवियों में भी यही अमैथुनपरक अर्थ ही विशेष रूप में ग्रहण हुआ है। सूफी काव्य में प्रेमपरक प्रतीक लौकिक धरातल से ऊपर उठकर आध्यात्मिक जगत् की सृष्टि करते हैं। राम और कृष्ण काव्य में विभिन्न कथाएँ अपने प्रतीकार्थ में अधिक भावव्यंजक हो उठी हैं। जनक का कृषिकर्म और सीता की उत्पत्ति, अहल्या का भगवान राम द्वारा उद्धार जहाँ लौकिक दृष्टि से भगवान के अवतारतत्व की व्यंजना करते हैं वहाँ प्रतीकात्मक दृष्टि से एक पृथक ही भावभूमि प्रस्तुत करते हैं। वास्तव में राजा का कृषिकर्म, सीता की उत्पत्ति तथा राम का अहल्या उद्धार भारत के कृषि विस्तार की ही प्रतीकात्मक कहानी है। इसी प्रकार रामकथा के विभिन्न पात्र भी ऐतिहासिक दृष्टि से 'सत्य' होते हुए भी विशेष भावनाओं के द्योतक प्रतीक हैं। राम रावण युद्ध वैदिक परम्परा का देव-दानव युद्ध का ही दूसरा रूप है। आनन्दवाद पर आधारित संस्कृति में तम, अज्ञान और दानवत्व को प्रकाश, ज्ञान और देवत्व के समक्ष परास्त ही होना पड़ता है। राम इसी तात्विक सन्दर्भ में रावणादि राक्षसों का नाश कर देवत्व की स्थापना करते हैं। कृष्ण काव्य की विभिन्न कथाएं भी अपने प्रतीकात्मक सन्दर्भ में गहन तात्विक अर्थ की व्यंजना करती हैं। कृष्ण की माखनचोरी, गोचारण, चीरहरण, रास तथा दान आदि विभिन्न लीलाएँ आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक रहस्यों का ही प्रतीकात्मक उद्घाटन करती हैं। परब्रह्म कृष्ण अपने आनन्द का प्रसार अपने ही अंश गोपियों में करना चाहते हैं, राधा तो साक्षात् उनकी शक्ति ही है। माखन के मिस वे गोपियों के सुकृतों को कृपापूर्वक ग्रहण करते हैं, चीरहरण में वे तमावरण एवं द्वैतजनित भ्रम को दूर कर पूर्ण मिलन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। शरच्चन्द्रिका में यमुना पुलिन पर महारास ब्रह्म और जीव का महामिलन ही है। दानलीला में अंगों का दान मांग कर वे इस मिलन यज्ञ को पूरा करते हैं। आह्लादक लीलाओं के साथ-साथ कृष्ण (ब्रह्म) का संहारक धर्मोद्धारक रूप कालीदमन, दावानल पान आदि लीलाओं में उभर कर सामने आता है। आनन्दधाम श्रीकृष्ण तम और अहं का नाश करते हैं। मन की दूषित वृत्तियाँ मर कर भी सजीव हो उठती हैं पर ऊर्ध्वचेता मन उन्हें हर बार निष्फल और क्रियाहीन बना देता है। प्रतीकार्थ में यह तात्विक रूप सभी कथाओं में मूलरूप से निहित है।

रीतिकालीन काव्य में भगवान श्रीकृष्ण का लौकिक शृंगारपरक रूप ही अधिक मुखरित है। यहाँ आनन्द की अधिष्ठात्री राधा को प्रथमतः स्मरण करते हुए भी परब्रह्म कृष्ण का तात्विक अर्थ स्थान-स्थान पर ग्रहण किया गया है। इस काव्य में परम्परागत यौगिक अर्थों का प्रायः अभाव-सा ही मिलता है। सामान्यतः रीतिकाव्य में अन्योक्तिपरक प्रतीकों का ही बाहुल्य है।

सन्तों पर सिद्ध-नाथों का भाव, भाषा और शैलीगत प्रभाव पड़ा है। सन्तों ने इन प्रभावों को स्वीकार करते हुए भी अपनत्व बनाए रखा है। 'निति सिआला सिंह सम जूझअ···' 'धुन धुन धुन डालूँ अब मन को···' आदि उक्तियों में सिद्ध और सन्त समान अवश्य हैं फिर भी सन्तों ने जो भावभूमि तैयार की है वह अपने आप में विरल तथा पूर्ण है जिसका आधुनिक कालीन काव्य पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि सन्तकाव्य प्रतीक विधान की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। परम्परागत प्रतीकों को यथैव स्वीकार करते हुए भी इनका साधना एवं अनुभूतिपरक स्वरूप सर्वत्र ही झांकता दृष्टिगत होता है। सन्त सन्त हैं, संसार के माया-जाल से दूर साधना के पवित्रतम क्षणों में अर्जित स्वानुभूति का इन्होंने मुक्त हस्त से दान किया है—बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत

१. अथर्ववेद
२. अभिज्ञान शाकुन्तल—कालिदास
३. अग्नि पुराण
४. अमरकोश
५. अलंकार शेखर
६. अलंकार सर्वस्व—रुय्यक
७. ईशादि नौ उपनिषद्—गीताप्रेस गोरखपुर
८. ईशोपनिषद्
९. ऋग्वेद
१०. ऐतरेय ब्राह्मण
११. काव्यप्रकाश—मम्मट
१२. काव्यादर्श—दण्डी
१३. काव्यालंकारसूत्र—वामन
१४. कुमारसम्भव—कालिदास
१५. कौशीतकी ब्राह्मण
१६. चन्द्रालोक—जयदेव
१७. जैमिनी उपनिषद्
१८. तन्त्रवार्तिक—कुमारिल भट्ट
१९. तन्त्रलोक—(बम्बई १९२०)
२०. ताण्ड्य महाब्राह्मण—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, संवत् १९९१
२१. तैतिरियोपनिषद्
२२. देवी भागवत
२३. ध्वन्यालोक—आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य विश्वेश्वर कृत टीका
२४. निरुक्त
२५. नीतिशतक—भर्तृहरि
२६. पद्म पुराण
२७. पारस्करं गृह्यसूत्र
२८. प्रश्नोपनिषद्
२९. बृहदारण्यकोपनिषद्
३०. ब्रह्मवैवर्त पुराण

३१. भरतनाट्यशास्त्र
३२. भागवत पुराण
३३. भामिनीविलास—पण्डितराज जगन्नाथ
३४. महाभारत
३५. मनुस्मृति
३६. मुण्डकोपनिषद्
३७. मेघदूत—कालिदास
३८. मैत्रायणी संहिता
३९. यजुर्वेद
४०. योगवासिष्ठ—निर्णयसागर, बम्बई
४१. योगदर्शन—पतंजलि
४२. रघुवंश—कालिदास
४३. ललित सहस्रनाम—सौभाग्यभाष्कर भाष्य, बम्बई (१९३५)
४४. वाल्मीकि रामायण
४५. वायुपुराण
४६. विष्णुपुराण
४७. शतपथ ब्राह्मण
४८. श्वेताश्वतरोपनिषद्
४९. शिवकवचस्तोत्रम्
५०. शिवसंहिता
५१. श्रीमद्भगवत गीता
५२. स्कन्दपुराण
५३. सांख्यदर्शन
५४. सामवेद
५५. साहित्यदर्पण—आचार्य विश्वनाथ
५६. सुभाषितरत्नभण्डागारम्
५७. हठयोग प्रदीपिका
५८. हेवज्रतन्त्र

हिन्दी काव्य ग्रन्थ

५९. अन्योक्तिकल्पद्रुम—दीनदयाल गिरि, सं० रामदास गौड, साहित्य भवन, प्रयाग (१९२५)
६०. अन्योक्ति दशक—कन्हैयालाल पोद्दार
६१. अन्योक्ति तरंगिणी—ईश्वरी प्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, (१९५०)
६२. अनुराग बांसुरी—नूरमुहम्मद, सं० चन्द्रबली पाण्डेय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वि० सं०

६३. आंसू —जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद
६४. इन्द्रावती —नूरमुहम्मद, सम्पा० डा० श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, (१९०५)
६५. उद्धवशतक—जगन्नाथ दास रत्नाकर, इण्डियन प्रेस, प्रयाग (१९५४)
६६. कविप्रिया—केशवदास, टीका० श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी, मातृभाषा मन्दिर, प्रयाग, प्र० सं० (१९५२)
६७. कविप्रिया—केशवदास, टीका० लाला भगवान दीन, कल्याणदास एण्ड ब्रादर्स ज्ञानवापी, वाराणसी (१९२८)
६८. कविकुल कल्पतरु—चिन्तामणि
६९. कवित्त रत्नाकर—सेनापति, सम्पा० उमाशंकर शुक्ल, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्र० सं०
७०. कवितावली—गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, नवम सं० (२००८)
७१. कबीर ग्रन्थावली—सम्पा० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, छठा सं०
७२. कबीर बीजक—सम्पा० हंसराज शास्त्री तथा महावीर प्रसाद, कबीर ग्रन्थ प्रकाशन, बाराबंकी, प्र० सं०
७३. कबीर साहब की शब्दावली—भाग १, २, ३, ४, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
७४. कबीर वचनावली—अयोध्यासिंह उपाध्याय
७५. कबीर साखी संग्रह, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
७६. काननकुसुम—जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, (२००७)
७७. कामायनी—जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, इलाहाबाद
७८. कुकुरमुत्ता—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
७९. काव्य-निर्णय—आचार्य भिखारीदास, सम्पा० जवाहरलाल चतुर्वेदी, प्र० सं०
८०. गरीबदास जी की बानी—बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
८१. गिरधर की कुण्डलियां—आदर्श कुमारी
८२. गाथा सप्तशती—सम्पा० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
८३. गीतावली—तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर (२०१४)
८४. गुलाल साहब की बानी, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
८५. गुरु ग्रन्थ साहेब—
८६. गुंजन—सुमित्रानन्दन पंत, भारती भंडार, प्रयाग (२००४)
८७. गोरखबानी—सम्पा० डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (२००३)
८८. चरनदास जी की बानी, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
८९. जगजीवन साहब की बानी, भाग १, २, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
९०. जायसी ग्रन्थावली—सम्पा० रामचन्द्र शुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग

९१. झंकार—श्री मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगांव, झाँसी (२००७)
९२, तारसप्तक, पहला, दूसरा, तीसरा—अज्ञेय
९३. तुलसी ग्रन्थावली—सम्पा० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (२००६)
९४. तुलसी साहेब (हाथरसवाले) की शब्दावली, भाग १, २ बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
९५. दरिया साहिब (बिहार वाले) का दरियासागर—बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
९६. दरिया साहिब के चुने हुए पद और साखी—बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
९७. दरिया ग्रन्थावली—(सन्त कवि दरिया, एक अनुशीलन,)—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
९८. दरिया साहिब (मारवाड़ वाले) की बानी, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
९९. दादूदयाल की बानी, भाग १, २, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१००. दीनदयाल ग्रन्थावली—सम्पा० परशुराम चतुर्वेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी प्र० सं० (२०२३)
१०१. दीदूदयाय ग्रन्थावली–सम्पा० डा० श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९७६)
१०२. दूलनदास जी की बानी, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१०३. दोहावली—तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर, नवां संस्करण (२००९)
१०४. दोहाकोश —सिद्ध सरहपा, सम्पा० राहुल सांस्कृत्यायन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, (१९५७)
१०५. धरनीदास जी की बानी, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१०६. धनी धर्मदास जी की शब्दावली, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१०७. नानकबानी—डा० जयराम मिश्र, मित्र प्रकाशन (प्रा० लि०) इलाहाबाद
१०८. पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी, सम्पा० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, साहित्य सदन, झांसी, प्रथम सं०
१०९. पलटू साहिब की बानी, भाग १, २, ३, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
११०. पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, प्रयाग (२००५)
१११. परिमल—सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ
११२. प्राण संगली—गुरुनानक देव, टीकाकार संत सम्पूर्णसिंह
११३. पारिजात—अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस (२०१२)
११४. प्रिय प्रवास—अयोध्यासिंह उपाध्याय, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस (२०१०)
११५. बिहारी रत्नाकर—टीका० जगन्नाथदास रत्नाकर, ग्रन्थ-कार, शिवाला, बनारस (१९५५)
११६. बीजक ग्रन्थ—टीका० एवं सम्पा० स्वामी हनुमान दास जी साहब, प्रका० फतुहा स्थान, अध्यक्षाचार्य श्री महन्त हरिदास
११७. बीजक, सम्पा० पूरन साहब

११८. बीजक —कबीर, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
११९. बीजक–टीका० स्वामी विचारदास शास्त्री, प्रका० रामनारायण लाल, प्रयाग
१२०. बुल्ला साहिब का शब्दसागर—बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१२१. बौद्धगान औ दोहा --पं० हरप्रसाद शास्त्री
१२२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—सम्पा० ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, द्वि० सं० (२०१०)
१२३. भीखा साहब की बानी—बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१२४. मीराबाई की पदावली—सम्पा० आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पंचम सं०
१२५. मूल बीजक—सं० पूरन साहब, खेमराज श्री कृष्णदास, बम्बई, (१९५१)
१२६. मतिराम ग्रन्थावली—सम्पा० कृष्ण विहारी मिश्र, गंगा पुस्तकालय, लखनऊ, (सं० १९८३)
१२७. मलूकदास जी की बानी, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१२८. मेघदूत—सम्पा० वासुदेव शरण अग्रवाल
१२९. यारी साहब की रत्नावली, बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१३०. यामा—महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, प्रयाग, तृतीय सं०, (२००८)
१३१. रसरहस्य—कुलपति
१३२. रज्जब साहब की बानी —बेलविडियर प्रेस. प्रयाग
१३३. रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर (२०१२)
१३४. रामचन्द्र भूषण—गोप कवि
१३५. रैदास जी की बानी— बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१३६. ललित ललाम—मतिराम
१३७. विद्यापति—सम्पा० मित्र और मजूमदार
१३८. विद्यापति की पदावली—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (२०१८)
१३९. विनयपत्रिका—गो० तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर (२०१४)
१४०. विनय पत्रिका—सम्पा० वियोगीहरि, साहित्य सेवा सदन, काशी (२००५)
१४१. शब्द-रसायन—देव
१४२. शूलफूल—नरेन्द्र शर्मा
१४३. शिवराज भूषण —भूषण
१४४. सन्त सुधा सार—सम्पा० वियोगी हरि, सस्ता साहित्य प्रकाशन, दिल्ली (१९५३)
१४५. सन्त कबीर—सम्पा० डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद (१९४७)
१४६. सन्त काव्य संग्रह —सम्पा० श्री परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद प्रथम सं० (१९५२)

१४७. सहजोबाई की बानी—बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१४८. साहित्य लहरी—सम्पा० प्रभुदयाल मीतल
१४९. साकेत—श्री मैथिली शरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी (२०१०)
१५०. सुन्दर ग्रन्थावली, दो भाग–सम्पा० पं० हरिनारायण पुरोहित, राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता, प्रथम सं०
१५१. सुन्दर विलास—बेलविडियर प्रेस, प्रयाग
१५२. सूरसागर, भाग १, २–सम्पा० नन्ददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
१५३. सूरसागर सार—सम्पा० डा० धीरेन्द्र वर्मा, साहित्य भवन, प्रयाग (२०११)
१५४. सूर सारावली—प्रेम नारायण टण्डन, हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ, (१९६१)
१५५. सूर के सौ कूट—सम्पा० चुन्नीलाल 'शेष', हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस प्रथम सं० (२०१३)
१५६. स्वामी दादूदयाल की बानी—सम्पा० चण्डिका प्रसाद त्रिपाठी
१५७. श्री दादूदयाल की बानी—सम्पा० सुधाकर द्विवेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९०६)
१५८. स्वर्ण किरण—सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, इलाहाबाद (१९३१)
१५९. स्वर्णधूलि—सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, इलाहाबाद (२००४)
१६०. हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांस्कृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद (१९४५)

आलोचना ग्रन्थ

१६१. अपभ्रंश साहित्य—डा० हरिवंश कोछड़, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, (२०१३ वि०)
१६२. अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति—डा० अम्बा प्रसाद पन्त
१६३. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—भाग १, २, डा० दीनदयालु गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० (२००४)
१६४. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—डा० केसरी नारायण शुक्ल, सरस्वती मन्दिर, काशी (२००४)
१६५. आधुनिक काव्य धारा—डा० केसरीनारायण शुक्ल, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, चतुर्थ सं० (१९६१)
१६६. आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा और प्रयोग—डा० गोपाल दत्त सारस्वत, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद (१९६१ ई०)
१६७. आधुनिक हिन्दी कविता में शिल्प—डा० कैलाश वाजपेयी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली (१९६३ ई०)
१६८. आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक विधान—डा० नित्यानन्द शर्मा, साहित्य सदन, देहरादून

१६९. आधुनिक हिन्दी काव्य में रहस्यवाद—डा० विश्वनाथ गौड, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, प्रथम सं० (१९६१)
१७०. इस्लाम के सूफी साधक—रेनाल्ड ए० निकलसन, अनु० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद
१७१. ईरान के सूफी कवि—डा० बाँके बिहारी लाल
१७२. उत्तर भारत की सन्त परम्परा—आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम सं०
१७३. उपनिषद्-चिन्तन—श्री देवदत्त शास्त्री, किताब महल, इलाहाबाद (१९५६)
१७४. कवि निराला और उनका काव्य साहित्य—श्री गिरीशचन्द्र तिवारी, साहित्य भवन, इलाहाबाद (२०११)
१७५. कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, छठा सं० मई (१९६०)
१७६. कबीर—सम्पा० डा० विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० (१९६५)
१७७. कबीर, एक विवेचन—डा० सरनामसिंह, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली प्रथम सं०
१७८. कबीर का रहस्यवाद—डा० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन लि०, प्रयाग, सप्तम सं०
१७९. कबीर की विचार धारा—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर प्रथम सं० (२००९)
१८०. कबीर और जायसी का रहस्यवाद, तुलनात्मक अध्ययन—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य सदन, देहरादून, प्रथम सं०
१८१. कबीर की भाषा—डा० महेन्द्र, शब्दकार, तुर्कमान गेट, दिल्ली
१८२. कबीर साहित्य की परख—श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, प्रयाग प्रथम सं०
१८३. काव्य विमर्श—पं० रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना (१९५१)
१८४. काव्य में अप्रस्तुत योजना—पं० रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना, प्रथम सं०
१८५ काव्य में रहस्यवाद—डा० बच्चूलाल अवस्थी, ग्रन्थम, कानपुर, प्रथम सं०
१८६. काव्य में अभिव्यंजनावाद—लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
१८७. कामायनी दर्शन—डा० फतेहसिंह, सुमति सदन, कोटा, (राजस्थान) संवत् (२०१०)
१८८. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन—डा० द्वारका प्रसाद, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, (१९५८)
१८९. काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास—डा० शकुन्तला दुबे, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

१९०. कूट काव्य : एक अध्ययन—डा० रामधन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, (१९६३)
१९१. गीता-माता—महात्मा गांधी
१९२. गीता रहस्य—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, अनु० माधव राव सप्रे, पूना, पंचम मुद्रण, (१९२५)
१९३. गोस्वामी तुलसीदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१९४. चिन्तामणि—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१९५. छायावाद के गौरव चिन्ह—श्रीपाल सिंह 'क्षेम'
१९६. छायावाद युग—डा० शम्भूनाथ सिंह, सरस्वती मन्दिर, बनारस
१९७. जायसी की बिम्ब योजना—डा० सुधा सक्सेना
१९८. तसव्वुफ अथवा सूफीमत—चन्द्रबली पांडेय, सरस्वती मंदिर, बनारस, द्वितीय सं० (१९४८)
१९९. तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य—श्री नागेन्द्र नाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम सं०
२००. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, तृ० सं० (१९५३)
२०१. तुलसीदास और उनका युग—डा० राजपति दीक्षित, ज्ञानमण्डल लि०, बनारस (२००९)
२०२. धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ—धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ समिति (१९६०)
२०३. ध्वनि सम्प्रदाय और सिद्धान्त—डा० भोलाशंकर व्यास, नागरी प्रचारिणी सभा, प्र० सं० (२०१३)
२०४. नाथ सम्प्रदाय—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश (१९५०)
२०५. नाथ और सन्त साहित्य (तुलनात्मक अध्ययन), डा० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस
२०६. नाथ-सिद्ध : एक विवेचन—श्री नगेन्द्र धीर, साहित्य संगम, लुधियाना (१९६०)
२०७. नाथ पंथ के हिन्दी कवि—डा० शान्ति प्रसाद चन्देल
२०८. प्रसाद का काव्य—डा० प्रेमशंकर, भारती भंडार, प्रयाग, सं० (२०१२)
२०९. निर्गुण काव्य दर्शन—श्री सिद्धि नाथ तिवारी, अजन्ता प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण (१९५३)
२१०. नालन्दा विशाल शब्द सागर—न्यू इम्पीरियल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली
२११. पद्मावतभाष्य—डा० मुंशीराम शर्मा
२१२. निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० मोतीसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

२१३. पुराण विमर्श—डा० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी प्रथम सं० (१९६५)
२१४. पुराण दिग्दर्शन—पं० माधवाचार्य शास्त्री
२१५. पद्मावत का काव्य सौन्दर्य—प्रो० शिव सहाय पाठक, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लि० बम्बई (१९५६)
२१६. पुरातत्व निबन्धावली–राहुल सांस्कृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद (१९५८)
२१७. प्रतीकवाद—डा० पद्मा अग्रवाल
२१८. भक्तिकाव्य में रहस्यवाद—डा० रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (१९६६)
२१९. भारतीय प्रतीक विद्या—डा० जनार्दन मिश्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना (१९५९)
२२०. भारतीय साहित्य शास्त्र—डा० बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद, काशी, (२००५)
२२१. भागवत सम्प्रदाय –डा० बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद, काशी (२००५)
२२२. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधना सदन, कानपुर द्वि० सं० (२०१७)
२२३. भोजपुर के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्र० सं० (१९५८)
२२४. भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय
२२५. मध्यकालीन प्रेम साधना—श्री परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य भवन लि०, प्रयाग (१९५२)
२२६. मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लि०, प्रयाग (१९५२)
२२७. मध्यकालीन सन्त साहित्य—डा० रामखेलावन पाण्डेय, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम सं० (१९६५)
२२८. मध्यकालीन सन्त, विचार और साधना—डा० केशनी प्रसाद चौरसिया, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम सं० (१९६५)
२२९. मनोविश्लेषण—फ्रायड, अनु० देवेन्द्र कुमार विद्यालंकार, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली प्र० सं०, (१९५८)
२३०. मलिक मुहम्मद जायसी—डा० कमल कुलश्रेष्ठ, साहित्य भवन लि० प्रयाग (१९४७)
२३१. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली (१९५२)
२३२. मीरा की प्रेम साधना—भुवनेश्वरनाथ मिश्र, 'माधव' अजन्ता प्रेस लि०, पटना (१९५७)

२३३. मानस की राम कथा—श्री परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद (१९५३)
२३४. रहस्यवाद—श्री परशुराम चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम सं० (१९६२)
२३५, रहस्यवाद—डा० रामरतन भटनागर, किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय सं० (१९५१)
२३६. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र, गौतम बुक डिपो, दिल्ली(१९५३)
२३७. रामकथा–डा०रेवरंड फादर कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग (१९५०)
२३८. वेदरहस्य, ३ भागों में—श्री अरविन्द, अनु० सम्पा० अभयदेव विद्यालंकार, प्रथम सं० (१९४९)
२३९. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद (१९५३)
२४०. श्रीराधा का क्रमिक विकास—शशिभूषण दास गुप्ता, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी (१९५६)
२४१. शांकर अद्वैत वेदान्त का निर्गुण काव्य पर प्रभाव—डा० शान्तिस्वरूप त्रिपाठी, रणजीत प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली
२४२. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन--डा० देवराज
२४३. वैदिक देवशास्त्र—प्रो० ए० ए० मैक्डानल, अनु० डा० सूर्यकान्त
२४४. सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना (१९५९)
२४५. सन्त परम्परा और साहित्य—(धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ) धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, पटना
२४६. सन्त रविदास और उनका काव्य—श्री स्वामी रामानन्द शास्त्री एवं वीरेन्द्र पाण्डेय, श्री भारतीय रविदास सेवा संघ' रविदास आश्रम, ज्वालापुर, हरिद्वार, प्रथम सं०
२४७. सन्त दादू और उनका काव्य—डा० भगवत प्रसाद मिश्र, दिनेश प्रकाशन कुटीर, सिकन्दराउ, अलीगढ़, प्रथम सं० (१९६४)
२४८. सन्त साहित्य—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, ग्रन्थम्, रामबाग कानपुर, प्रथम सं० (१९६५)
२४९. सन्त साहित्य—डा० सुरजीतसिंह मजीठिया, रूपकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० (१९६२)
२५०. सन्त साहित्य—डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर, प्रथम सं० (१९४१)
२५१. साहित्य विज्ञान—डा० गणपति चन्द्र गुप्त, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, प्रथम सं० (१९६४)

२५२. सिद्ध साहित्य—डा० धर्मवीर भारती, किताब महल, इलाहाबाद (१६५५)
२५३. सन्त साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि—डा० सावित्री शुक्ल, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ (१६६३)
२५४. सुन्दर दर्शन—डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, किताब महल, प्रथम सं० (१६५३)
२५५. सूफी मत और हिन्दी साहित्य—डा० विमलकुमार जैन, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली (१६५५)
२५६. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंश लाल शर्मा, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़
२५७. सूर की भाषा—डा० प्रेम नारायण टंडन
२५८. सूरदास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२५६. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग (१६५०)
२६०. हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य—डा० प्रभाकर माचवे, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, (१६६०)
२६१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, अनु० परशुराम चतुर्वेदी, अवध पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ
२६२. हिन्दी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह—परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद (१६५२)
२६३. हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य पर पुराणों का प्रभाव—डा० शशि अग्रवाल
२६४. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—आचार्य विनय मोहन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम सं० (१६५३)
२६५. हिन्दी सन्त साहित्य—डा० त्रिलोक नारायण दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं० (१६६३)
२६६. हिन्दी साहित्य, खंड दो, सम्पा० डा० धीरेन्द्र वर्मा, तथा डा० ब्रजेश्वर वर्मा, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, (१६५६)
२६७. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विशम्भर नाथ उपाध्याय, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा प्र० सं० (२०१२)
२६८. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति—डा० संसार चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, (१६६०)
२६९. हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास–डा० वीरेन्द्रसिह, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
२७०. हिन्दी साहित्य में कूट काव्य की परम्परा—डा० रघुवर दयाल वार्ष्णेय, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, (१६६६)
२७१. हिन्दी साहित्य में विविधवाद—डा० प्रेमनारायण शुक्ल, पद्मजी प्रकाशन, कानपुर (२०१०)

२७२. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई, (१९५९)

२७३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सप्तम सं०

२७४. हिन्दी साहित्य कोश—ज्ञान मण्डल लि०, काशी

२७५. हिन्दी कविता में युगान्तर—डा० सुधीन्द्र, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, (१९५०)

२७६. हिन्दी विश्वकोश—कलकत्ता

२७७. हिन्दी काव्य में अन्तश्चेतना—डा० राजाराम रस्तोगी, शिक्षा साहित्य प्रकाशक, मेरठ, प्र० सं० (१९५४)

२७८. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य—डा० कमल कुलश्रेष्ठ

२७९. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य निकेतन, कानपुर (१९६१)

२८०. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री त्रिवेणी प्रसाद सिंह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना (१९५५)

पत्र-पत्रिकाएँ

२८१. कल्याण, योगांक, शिवांक, सन्त वाणी अंक

२८२. ब्राह्मण (मासिक) सं० प्रतापनारायण मिश्र (१८८३-८४)

ENGLISH

1. A General introduction to psycho-analysis. by Dr. Sigmund Freud. Garden city Publishing Co. Inc. New York (1943)
2. Elements of Hindu Iconography. Vol. II, by Gopinath Rao.
3. Encyclopaedia of Britanica Vol., XXVI.
4. Encyclopaedia of Religion and Ethics. Vol. XII.
5. Exploring poetry by M. L. Rusentheland & A. J. M. Smith.
6. Future poetry by Aurobindo, Pondichery
7. Gitanjali by Tagore.
8. Heritage of symbolism. by C. M. Bawra, Macmillan & Co., London (1947)
9. Indian Architecture, by E. B. Havell, London (1913).
10. Introductory lectures on psycho-Analysis. by sigmund Freud.
11. Kabir and Kabir Panth. by G. H. Westcott, Sushil Gupta (India) Ltd, 35, chitaranjan Avanue, Calcutta—12, 2nd edition.
12. Language and Reality. by W.M. Urban George Allen & Union, London (1951).
13. Mysticism. by E. Underhill, Metheun Co., London, (1924) 10th Edition.
14. On the Veda. by Shri Aurobindo, Pondichery (1956).
15. Pathway to God in Hindi Literature. by R. D. Ranade, Bharatia Vidya Bhawan, Chowpatty, Bombay (1959).
16. poems. by Shelley—Blackie and Sons.
17. Puranas in the light of Modern Science. by K.N. Aiyer. The Theosophical Society, Madras (1916).
18. Psycho-analysis and Aesthetics.
19. Psychology of the unconcious. by C. G. Jung. Translated by B. M. Hinkle, Kegan paul Co. Ltd. London (1918).
20. Symbols and Values (An initial study)—edited by Sydney G. Margolin. Harper & Bros., London, New York (1954).

21. The encyclopaedea of Americana. Vol. XXIII, New York.

22. The Life Divine. by Shri Aurobindo. Vol I & II, Arya Publishing House. Calcutta, 1943

23. The mysterious kundalini. by Vasant G. Rele.

24. The Mystics of Islam. by Roynold A. Nicholson. willian & Norgat, London (1820).

25. The House that Freud Built. by Joseph Jastrov. Rider & Co., London (1924).

26. The symbolic life in literature. by Anthur Symans.

27. The Statesman's Manual, complete works—Vol. I. by S. T. Coleridge.

28. The way of Mystricism. by John Drink Water.

29. Websters New International Dictionary of English Language, second Edition-1953.
